इब्ने ख़लदून का मुक़द्दमा

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—४८

इब्ने ख़लदून का मुक़द्दमा

[विश्व-इतिहास की प्रस्तावना]

लेखक

अब्दुर्रहमान इब्ने ख़लदून

(१३३२–१४०६ ई०)

अनुवादक

सैयिद अतहर अब्बास रिज़वी

एम० ए०, पी-एच० डी०, यू० पी० एजूकेशनल सर्विस,

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण
१९६१

मूल्य
१० रुपये

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय

यह पुस्तक अरबों के विस्तृत साम्राज्य के इतिहास की भूमिका (मुक़द्दमा) के रूप में लिखी गयी थी। हज़रत मुहम्मद के निधन के बाद एक शताब्दी बीतते-बीतते उनके अनुयायियों का राज्य बिस्के से सिन्ध तक फैल गया और इसके परिणामस्वरूप सभ्यता एवं संस्कृति का जो दौर आरंभ हुआ, उसी का विश्लेषण इब्ने खलदून ने अपने 'विश्व-इतिहास' में किया है। उसने स्वयं कई स्थानों की यात्रा की थी, पुराने अवशेष खुद अपनी आँखों से देखे थे। बीस वर्ष तक उसने राजनीति में सक्रिय भाग लिया था और इस अवधि में अनेक पदाधिकारियों, राजदूतों एवं विद्वानों से बातचीत करने का अवसर उसे मिला। जीवन के अंतिम २३ वर्ष उसने मिस्र में व्यतीत किये, जिसमें उसने गहन अध्ययन-मनन का प्रयत्न किया और अपने पुराने विचारों में भी संशोधन किया।

ऐतिहासिक तथ्यों से उसने महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं और उनका समावेश अपनी पुस्तक में किया है। १४वीं से १८वीं शताब्दी तक अनेक विद्वानों ने उसके विचारों से प्रभावित होकर लाभ उठाने का प्रयत्न किया। १९वीं शताब्दी में यूरोपवालों का ध्यान भी "मुक़द्दमा" की ओर गया और उन्होंने उसका महत्त्व समझा। फ़्रेञ्च, जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाओं में ही नहीं, उर्दू में भी इसका अनुवाद हो चुका है। हिन्दी के पाठक भी इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में अभिव्यक्त विचारों और तथ्यों से लाभान्वित हो सकें, इस दृष्टि से इसका यह हिन्दी अनुवाद हिन्दी समिति द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

यह ग्रन्थ हिन्दी समिति ग्रन्थमाला का ४८ वाँ पुष्प है। इसके अनुवादक डा० सैयिद अतहर अब्बास रिज़वी अरबी-फारसी के अच्छे ज्ञाता और इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। पी-एच० डी० की उपाधि आपने आगरा विश्वविद्यालय से प्राप्त की थी और आपके शोध-प्रबन्ध का विषय था, "अबुल फज़्ल ऐण्ड हिज़ टाइम्ज़"। आपने फारसी तथा अरबी के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी में किया है। आपकी भाषा सरल और मुहावरेदार होती है। आशा है, आपकी यह रचना भी, अपने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक महत्त्व के कारण, हिन्दी में समादृत होगी।

अपराजिता प्रसाद सिंह

सचिव, हिन्दी समिति

दो शब्द

इब्ने खलदून के मुक़द्दमे के महत्त्व, हस्तलिखित पोथियों, संस्करण तथा फ़ांसीसी, अंग्रेज़ी एवं उर्दू भाषान्तर के विषय में भूमिका में विस्तार से उल्लेख कर दिया गया है। प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद में मुक़द्दमे के केवल उन्हीं अंशों का अनुवाद किया गया है जो सभ्यता के विकास तथा समाज-शास्त्र एवं इतिहास के दर्शन से सम्बन्धित हैं। इब्ने खलदून ने इसी क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण मौलिक योगदान किया है। भूगोल तथा इस्लाम के धार्मिक सिद्धान्तों एवं अरबी साहित्य से सम्बन्धित अंशों का अनुवाद नहीं किया गया है। यह अनुवाद बूलाक़ तथा क्वातरमेर के संस्करण पर आधारित है और मिस्र के बाद के संस्करणों, विशेष रूप से डा० अली अब्दुल वाहिद वाफ़ी के संस्करण (१९५८–५९ ई०) से भी लाभ उठाया गया है। अनुवाद करते समय फ़ांसीसी, अंग्रेज़ी तथा उर्दू के अनुवादों से भी सहायता ली गयी है। शब्दार्थ की अपेक्षा भावार्थ को अधिक महत्त्व दिया गया है। फ़ांसीसी अनुवाद में अधिकांशतः तथा अंग्रेज़ी अनुवाद में कहीं-कहीं १४वीं शती के पारिभाषिक शब्दों के लिए २०वीं शती ई० के ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिनसे अनेक प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद में इस बात का प्रयत्न किया गया है कि इन शब्दों का मूल रूप में ही प्रयोग किया जाय और ऐसे शब्दों का प्रयोग न किया जाय जो उस समय प्रचलित न थे।

मैं डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, अध्यक्ष हिन्दी समिति का विशेष रूप से आभारी हूँ कि उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के अनुवाद करने का मुझे आदेश दिया और समय-समय पर मेरी कठिनाइयों का समाधान करते रहे। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के अरबी विभाग के अध्यक्ष डा० अब्दुल हलीम, रीडर डा० मक़बूल अहमद, इतिहास विभाग के अध्यक्ष डा० नूरुल हसन तथा पुस्तकालयाध्यक्ष प्रोफ़ेसर बशीरुद्दीन का भी मैं आभारी हूँ, जिनकी कृपा द्वारा मुझको सभी सहायक ग्रंथ मिलते रहे और जो अनुवाद की कठिनाइयों में भी मेरा हाथ बटाते रहे।

अन्त में मैं अपने उन सब हितैषियों एवं मित्रों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके प्रयत्नों के फलस्वरूप यह ग्रंथ इस रूप में प्रकाशित हो रहा है और जिनके नाम कुछ कारणों से मैं नहीं लिख सका हूँ।

सैयिद अतहर अब्बास रिज़वी

विषय-सूची

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

परिशिष्ट

नोट—तारांकित खंडों का अनुवाद नहीं किया गया है।

चित्रों तथा मानचित्रों की सूची

* ये चित्र अलग से छपे हैं

इब्ने खलदून का चित्र

(एक मिस्री कलाकार द्वारा)

भूमिका

"मुक़द्दमे" की पृष्ठ-भूमि

इब्ने ख़लदून ने "मुक़द्दमे" की रचना अरबों के विशाल साम्राज्य के इतिहास की प्रस्तावना के रूप में की है। १४वीं शती ईसवी के पश्चिम एवं पूर्व की राजनीतिक उथल-पुथल तथा संसार की अनेक सभ्यताओं के अभ्युदय एवं ह्रास के आलोचनात्मक अध्ययन ने उसके समक्ष मानव-सभ्यता एवं संस्कृति से सम्बन्धित कुछ विशेष समस्याएँ प्रस्तुत कर दीं, जिनका उसने इतिहास की पृष्ठ-भूमि में समाधान करने का प्रयत्न किया है। सभ्यता एवं संस्कृति के प्राचीन केन्द्रों, अरबों, अजमियों एवं उत्तरी अफ़्रीक़ा के बरबरों के इतिहास तथा उनकी संस्कृति का उसने बड़ा गहन अध्ययन किया था। इन देशों की सभ्यता के अवशेषों का उसने घूम-घूमकर निरीक्षण भी किया और वहाँ के विद्वानों से भेंट करके उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अतः "मुक़द्दमे" को भली-भाँति समझने के लिए विश्व-सभ्यता के इतिहास के साथ-साथ अरबों के साम्राज्य की उस रूप-रेखा को भली-भाँति समझ लेना परमावश्यक है जिसकी पृष्ठ-भूमि में "मुक़द्दमे" की रचना हुई। इस स्थान पर अरबों के साम्राज्य एवं संस्कृति का सविस्तर इतिहास देना तो सम्भव नहीं, अतः केवल उन्हीं घटनाओं की ओर संकेत किया जाता है जिनका "मुक़द्दमे" में बार-बार उल्लेख हुआ है और जिनसे इब्ने ख़लदून ने महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं।[1]

अरब

यद्यपि अरब को इस्लाम के अभ्युदय के पूर्व विश्व-इतिहास में अधिक महत्त्व न प्राप्त हो सका था, किन्तु अरब के आस-पास के देश प्राचीन काल से ही सभ्यता की क्रीड़ा-

१. **विशेष समस्याओं की संक्षिप्त जानकारी के लिए,** "*Encyclopaedia of Islam* **(इंसाइक्लोपीडिया आफ़ इस्लाम) तथा** J. P. Hughes, "*A Dictionary of Islam*" London 1935 **(टी. पी. हृचेस : ए डिक्शनरी आफ़ इस्लाम, लन्दन १९३५ ई०) देखिए।**

भूमि रह चुके थे। उत्तर में सीरिया (शाम) तथा इराक़ (मेसोपोटामिया), पश्चिम में मिस्र, पूर्व से कुछ दूरी पर ईरान और उत्तर-पश्चिम में कुछ दूर हटकर एशिया माइनर (कोचक अथवा लघु) तथा क़ुस्तुन्तुनिया हैं। समुद्र के उस पार दूसरी ओर हिन्दुस्तान है और ग्रीस (यूनान) का फ़ासिला भी अधिक नहीं।

वैसे तो अरब का बहुत बड़ा भाग रेगिस्तान है और पहाड़ों का जाल सारे देश में फैला हुआ है, किन्तु यहाँ की भौगोलिक दशा, जल-वायु, रहन-सहन एवं इतिहास को देखते हुए इसे दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है—उत्तरी अरब तथा दक्षिणी अरब। उत्तरी अरब का प्रमुख भाग हिजाज़ है जहाँ कभी-कभी तीन-तीन वर्ष तक सूखा पड़ा रहता है और कभी तूफ़ान के साथ थोड़े समय के लिए इतने ज़ोर की वर्षा हो जाती है कि सैलाब तक आ जाते हैं। इसी से यहाँ कुछ बाग़ लग जाते हैं और कहीं-कहीं उपजाऊ भूमि की छोटी-छोटी पट्टियाँ भी दिखाई देने लगती हैं। अतः यहाँ के निवासी प्रायः यायावरों के समान जीवन व्यतीत करते हैं। वे अपने बालों के खेमे तथा डेरे लिये हुए एक स्थान से दूसरे स्थान का चक्कर लगाया करते हैं। दक्षिणी अरब के कुछ भागों में नियमित रूप से वर्षा भी हो जाती है और कृषि भी होती रहती है। इस भूभाग का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपजाऊ स्थान यमन है। यहाँ के निवासी तथा हज़रमौत एवं समुद्रीय तट के अन्य नगरों एवं क़स्बों में बसनेवाले घर बनाकर निवास करते हैं। उत्तरी अरब के निवासी शुद्ध अरबी तथा क़ुरान की भाषा बोलते हैं और दक्षिणी अरब के निवासी अपनी प्राचीन सामी भाषा में बातचीत करते हैं, जो सबाई अथवा हमीरी कही जा सकती है और अफ़्रीक़ा के "इथियोपिक" से मिलती-जुलती है। दक्षिणी अरबवालों ने सभ्यता के क्षेत्र में प्राचीन काल से ही कुछ-न-कुछ उन्नति करना प्रारम्भ कर दिया था और तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी अपना स्थान बना लिया था। सुमेरिया, बेबिलोनिया, असीरिया, ईरानी यहूदियों तथा ईसाइयों की सभ्यता की भी गहरी छाप इन पर पड़ती रही। लोबान और मसालों के अतिरिक्त मिदियान से यमन तक की खानों में निकलनेवाला शुद्ध सोना भी इनके गर्व का बहुत बड़ा विषय था।

दक्षिणी अरब के राज्य

दक्षिणी अरब में कुछ महत्त्वपूर्ण राज्य भी हुए हैं। इनका प्राचीनतम राज्य, जिसका पता चल सका है, "मईनी" अथवा "मीनियन" राज्य था जो १२०० से ६५० ईसा-पूर्व तक चलता रहा। "सबाई" अथवा "सैबियन" राज्य ६५० से ११५

ईसा-पूर्व तक बताया जाता है। मारिब के प्रसिद्ध बाँध का इसी राज्यकाल में निर्माण हुआ। इनके राज्य में कुछ समय तक बड़ी सुख-शान्ति रही और वाणिज्य तथा व्यापार की भी उन्नति होती रही। ११५ ईसा-पूर्व में "हमीरी" राज्य ने "सबाई" राज्य पर अधिकार जमा लिया। इस राज्यकाल में बदवियों अथवा बद्दुओं से रक्षा के लिए ग़ुमदान के प्रसिद्ध क़िले का निर्माण हुआ, जिसकी अरब भूगोलवेत्ताओं ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कहा जाता है कि इसमें २० मंज़िलें थीं जिनमें से प्रत्येक १०–१० हाथ ऊँची थी। ३४०–३७८ ई० तक अबीसीनियावालों ने आक्रमण करके इनके राज्य पर अधिकार जमा लिया, किन्तु ३७८ ई० में हमीरी राज्य पुनः स्थापित हो गया और ५२५ ई० तक चलता रहा। इनके राज्य में ७० ई० से यहूदी और ३५६ ई० से ईसाई धर्म का प्रचार प्रारम्भ हो गया, अतः दोनों धर्मों में धीरे-धीरे संघर्ष रहने लगा, जिसने बाद में उग्र रूप धारण कर लिया। ५२३ ई० में अबीसीनिया के बादशाह नेगस ने दक्षिणी अरब के ईसाइयों की सहायता के बहाने से यमन की विजय करके ५२५ ई० में अपना राज्य स्थापित कर लिया। वे लोग ५७५ ई० तक दक्षिणी अरब में राज्य करते रहे। उनके एक बादशाह अबरहा ने अपने राज्यकाल में सना में एक भव्य गिरजाघर का निर्माण कराया। उसने मक्के पर भी अधिकार जमाने का प्रयत्न किया और ५७० अथवा ५७१ ई० में वह हाथी पर बैठकर मक्के पर आक्रमण हेतु पहुँचा। हिजाज़वालों ने हाथी काहे को देखा था। वे इस सेना से बड़े प्रभावित हुए। किन्तु अबीसीनिया की सेनावालों में चेचक की महामारी फैल गयी और यह सेना नष्ट हो गयी।[1]

उत्तरी अरब के राज्य

व्यापार के कारण उत्तरी अरब में भी कहीं-कहीं छोटे-छोटे राज्य स्थापित होते रहे, जिनमें प्राचीनतम "नब्तियो" अर्थात् "नबातियंस" का राज्य है। "ये लोग एक ख़ानाबदोश क़बीले से सम्बन्धित थे और ईसा-पूर्व छठी शती में उत्तरी अरब के किन्हीं-किन्हीं भागों में अपने राज्य स्थापित करने लगे। १०५ ई० के लगभग इनके प्रभुत्व का अन्त हो गया।

१. देखिए, नबेह ए फ़ेरिस, द ऐन्टीक्वीटीज़ आफ़ साउथ अरेबिया (Nabih A Faris *The Antiquities of South Arabia*, Princeton 1938) तथा अरबी में "सिफ़त जज़ीरतुल अरब" (लाइडेन १८८४), मसूदी, "मुरूजुज़-ज़हब"। अबरहा के आक्रमण का क़ुरान शरीफ़ में भी उल्लेख हुआ है।

उत्तर-पश्चिमी अरब में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग़स्सानियों का राज्य हुआ है जो अपने आपको दक्षिणी अरब के एक क़बीले से सम्बन्धित बताते थे। इन्हें अधिक प्रसिद्धि छठी शती ईसवी में प्राप्त हुई। इस शती में हारिस द्वितीय (५२९–५६९ ई०) को बड़ी उन्नति प्राप्त हो गयी। वह बज़ंटाइन राज्य (रोमन साम्राज्य का पूर्वी भाग) का बहुत बड़ा समर्थक था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी मुंज़िर के राज्यकाल में भी बैज़ंटाइन वालों से इन लोगों का बड़ा मेल-जोल रहा।

अरब के उत्तर-पूर्वी भाग के लाख़मीद[1] का राज्य तीसरी शती ईसवी के अन्त में स्थापित हुआ। इनकी राजधानी हीरह में थी और ईरानियों के राज्य से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। ४१८ से ४६२ ई० के मध्य में हीरहवालों ने ईरान के राजनीतिक मामलों में भी हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था। मुंज़िर तृतीय (५०५–५५४ ई०) के राज्यकाल में हीरह उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच गया। बाद में लाख़मीद के शासकों ने भी ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। इनका अन्तिम बादशाह नोमान तृतीय अबू क़ाबूस (५८०–६०२ ई०) हुआ है। ६०२ ई० के बाद ईरानियों ने अरब के राज्य पर पूर्ण रूप से अपना अधिकार जमा लिया, किन्तु ६३३ ई० में ख़ालिद बिन वलीद ने हीरह को विजय करके मुसलमानों के राज्यों में सम्मिलित कर लिया।

४८० ई० के लगभग मध्य अरब के किन्दह क़बीले को भी बड़ी उन्नति प्राप्त हुई, किन्तु वे लोग अधिकांश दक्षिणी अरब के प्रभाव-क्षेत्र के अधीन रहे। इस्लाम के प्रारम्भ में किन्दह क़बीले के बहुत-से लोगों को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हो गया था। अशस बिन क़ैस, हज़रमौत के सरदार ने शाम तथा इराक़ की विजय में उल्लेखनीय भाग लिया।[2]

हिजाज़

इस्लाम की जन्म-भूमि हिजाज़ भी छठी शती ईसवी के कुछ पूर्व सबाई तथा हमीरी राज्य के प्रभुत्व के अधीन थी, किन्तु इस्लाम के अभ्युदय तथा इन राज्यों के पतन के बीच का समय "जाहीलिया" युग के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका यह अर्थ नहीं कि उस युग में अरब असभ्य थे, अपितु उनमें उस उच्च स्तर की सभ्यता न पायी जाती थी जो

१. बनी लख़्म अथवा बनू लख़्म।
२. देखिए, अरबी में इब्ने अब्द रब्बीही, "इक़्द" भाग १, तबरी भाग २ तथा अंग्रेज़ी में हित्ती, "हिस्ट्री आफ़ द अरब्ज़"।

दक्षिणी अरब के नगरों में वर्तमान थी। हिजाज़ तथा नज्द के निवासी, जैसा पहले कहा जा चुका है, बदवी जीवन व्यतीत करते थे। "अय्यामुल अरब" अथवा अरबों का युग इसी बदवी जीवन के युग का दूसरा नाम है। इस युग में मवेशियों, चरागाहों तथा झरनों के लिए विभिन्न क़बीले इधर-उधर मारे-मारे फिरा करते थे। स्वाधीनता, स्वाभिमानिता, आत्म-विश्वास, वीरता, पौरुष तथा इनके साथ-साथ कविता एवं वाक्पटुता उनके जीवन की मुख्य विशेषताएँ थीं। वे अतिथि-सत्कार के उच्च उदाहरण भी प्रस्तुत करते रहते थे। ६०५ ई० के लगभग तय क़बीले के प्रसिद्ध सरदार हातिम ने बदवियों के अतिथि-सत्कार को अमर बना दिया। बदवी अपने क़बीले के सरदार अथवा शेख़ के आदेशानुसार हर बलिदान के लिए तैयार रहते थे। उनका धर्म तथा अध्यात्मवाद प्रकृति पर आधारित था और प्रकृति के महान् तत्त्वों का मुक़ाबिला करने में जब वे असमर्थ हो जाते तो उन्हीं के आगे शीश नवा देते और उन्हें अपना इष्ट-देव मान लेते थे। बदवियों के जीवन में बहुत थोड़ी-सी ही चीज़ों को महत्त्व प्राप्त हो सका है। उनमें खजूर, घोड़े तथा ऊँट प्रमुख हैं। हज़रत मुहम्मद का यह आदेश बड़ा प्रसिद्ध है कि "तुम अपनी चाची खजूर का सम्मान करो जो कि उसी मिट्टी से बनी है जिस मिट्टी से आदम बने थे।"[१] ऊँट के बिना तो उनका जीवन सम्भव ही न था। बदवियों की सारी सम्पत्ति का मूल्यांकन ऊँटों की संख्या से ही किया जाता था। बदवी ऊँट का मांस खाते, जल के स्थान पर उसका दूध पीते, उसकी खाल के खेमे-डेरे बनवाते तथा बालों के कपड़े पहनते थे। हज़रत उमर का यह कथन कि "अरब वहीं उन्नति कर सकता है जहाँ उसका ऊँट" बड़ा सारगर्भित है। घोड़ा यद्यपि अरब की विशेष सम्पत्ति समझा जाता था, किन्तु वह केवल गण्यमान्य व्यक्तियों एवं धनी लोगों के पास ही होता था।

बदवी अपने शेख़ के आदेशों का आँख बन्द करके पालन करते थे और अपने क़बीले के लिए प्रत्येक बलिदान करने को उद्यत रहते थे। वे अपने अतिरिक्त किसी अन्य को उन्नति के पथ पर नहीं देख सकते थे। अरब क़बीलों को उनकी आर्थिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं एवं मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के कारण निरन्तर एक-दूसरे पर छापा मारना पड़ता था। उमय्या राज्यकाल का एक कवि कहता है—"हमारा तो काम ही अपने शत्रुओं पर, अपने पड़ौसियों पर तथा अपने भाइयों पर, यदि भाई के अतिरिक्त कोई अन्य छापा मारने के लिए न मिले, आक्रमण करना है।"[२] "ग़ज़्व" ने, जो उनके

१. सुयूती, "हुस्न अल-मुहाज़रह" (क़ाहेरा १३२१ हि०) भाग २ पृ० ५५
२. अबू तम्माम "अशआर अल-हमासह" (बोन १८२८ ई०) पृ० १७१

क़ौमी खेल-कूद थे, इसी वजह से अत्यधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया था। मुहम्मद साहब के युद्धों को भी ग़ज़्व के नाम से पुकारा जाता है और उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

क़बीलों के अलग-अलग रहने तथा सभी आदमियों के एक-दूसरे पर निर्भर होने के कारण इन लोगों में एक प्रकार का प्रेम-भाव पैदा हो जाता था, जिसकी वजह से क़बीलों तथा क़ौमों के संगठन में अत्यधिक सहायता मिलती थी। यह भावना "असबियह" अथवा "असबियत" के नाम से प्रसिद्ध है। इसी के कारण एक क़बीला अपनी मर्यादा की रक्षा हेतु दूसरे क़बीले से युद्ध करते समय अपने प्राणों की बलि देना बड़ी साधारण बात समझता था। बदवी भाट का यह गीत सर्वदा उसके क़बीले में गूँजता रहता था कि "अपने क़बीले के प्रति निष्ठावान् रहो। क़बीले का हक़ इतना अधिक है कि पति अपनी पत्नी को त्याग सकता है।"[१] क़बीले के नाम पर ही अरबों के नाम रखे जाते थे और एक क़बीले के सभी प्राणी उसके "बनू" अथवा संतान कहे जाते थे।

इस्लाम ने इन भावनाओं से पूर्ण रूप से लाभ उठाया और जब इस्लामी सेनाओं का संगठन हुआ तो सेना के विभिन्न दस्तों को क़बीलों के विभाजन के आधार पर बाँटकर उन्हें एक-दूसरे से आगे बढ़ जाने की प्रेरणा दी जाने लगी। किन्तु जब विजय तथा आगे बढ़ने का मार्ग धीरे-धीरे बन्द होने लगा तो इसी भावना के कारण अरबों का राज्य टुकड़े-टुकड़े भी हो गया।[२]

हिजाज़ का रेगिस्तानी भू-भाग भी अपने तीन नगरों, ताएफ़, मक्के तथा मदीने पर गर्व कर सकता है। ताएफ़, मक्के की अपेक्षा अधिक उपजाऊ एवं आकर्षक नगर है।

१. **अल-मुबर्रद, "अल-कामिल" (लाइपजिग १८६४ ई०) पृ० २२९**

२. **देखिए अरबी में फ़ुतूहुल बुल्दान (अंग्रेजी अनुवाद: हित्ती; द ओरिजिंस आफ़ द इस्लामिक स्टेट**—*The Origins of the Islamic State*, New York 1916; **अंग्रेजी में टी. ई. लारेंस "सेविन पिलर्स आफ़ विज़्डम** (T. E. Lawrence : *Seven Pillars of Wisdom*); William R. Brown, *The Horse of the Desert* (New York 1929); *The Manners and Customs of the Rawala Bedouins* (New York 1928); Hamidullah *"Place of Islam in the History of Modern International Law"*; *"The City States of Mecca* (Islamic Culture, Hyderabad, July 1938 : *"The Muslim Conduct of State"*.

लाल सागर से ४० मील पर एक उजाड़, पथरीली घाटी में स्थित मक्का, इस्लाम के अभ्युदय के पूर्व व्यापार का बड़ा भारी केन्द्र था। वहाँ के प्रसिद्ध पूजागृह "काबा" के कारण, जो क़ुरैश क़बीले की देख-रेख में था और जहाँ दूर-दूर से यात्री आया करते थे, नगर बड़ा समृद्ध हो गया था। उक़ाज़ का मेला केवल व्यापार का ही साधन न था, अपितु बड़े-बड़े विद्वान् भी उस समय वहाँ एकत्र होते थे। यसरिब अथवा मदीना, मक्के से लगभग तीन सौ मील उत्तर में स्थित है और उस समय भी यमन तथा शाम (सीरिया) के व्यापारियों द्वारा लाभान्वित हुआ करता था। यहाँ की भूमि भी उपजाऊ है। बनू नज़र तथा बनू क़ुरैज़ह नामक यहूदी क़बीलों ने यहाँ की कृषि का विशेष रूप से उत्कर्ष किया था। इस प्रकार हिजाज़वाले भी सभ्यता के कुछ केन्द्रों से प्रभावित होते रहते थे। दक्षिणी अरब के प्रभाव के अतिरिक्त अबीसीनिया, ईरान तथा शामवालों की छाप भी यहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति पर थी।

काबे की मूर्तिपूजा के साथ-साथ इस्लाम के अभ्युदय के समय हिजाज़ में यहूदी तथा ईसाई धर्म का भी काफ़ी ज़ोर हो गया था, यद्यपि यह धर्म अपने मूल सिद्धान्तों की उपेक्षा के कारण पतनशील थे। एकेश्वरवाद की आवाज़ें उठानेवाले भी कहीं-कहीं मिल जाते थे जो "हनीफ़ी" धर्म के अनुयायी कहलाते थे। अन्य मूर्तियों के साथ-साथ "इलह" अथवा क़ुरान शरीफ़ के शब्दों में "अल्लाह" को भी अरबवाले बड़ा महत्त्व देते थे।[1] "और यदि इन लोगों (काफ़िरों) से पूछो कि आकाश तथा भूमि को किसने पैदा किया और चंद्रमा तथा सूर्य को किसने अपने वश में रखा, तो बोल उठेंगे कि अल्लाह ने, फिर किधर बहके जा रहे हैं।[2]"

हज़रत मुहम्मद

इसी वातावरण में २० अप्रैल ५७१ ई० को मुहम्मद साहब का मक्के के क़ुरैश क़बीले में जन्म हुआ। इनके पूर्वजों में क़ुसैय को मक्के के इतिहास में बड़ा महत्त्व

१. देखिए, ताहा हुसेन, "अल अदबल जाहिली" (क़ाहेरा १९२७ ई०), इब्ने क़ुतैबह, "अल-शेर वल शुअरा" (लाइडेन १९०४), अल-अज़रक़ी, "अख़बार मक्का" (लाइपज़ेग १८५८ ई०), इब्ने बत्तूता, Anne and Wilfred S. Blunt, "*The Seven Golden Odes of Pagan Arabia*" (London 1903); John L. Burckhardt, "*Travels in Arabia*(London 1829)

२. क़ुरान शरीफ़, सूरा अन्कबूत ६

प्राप्त है। क़ुरैश को संगठित करके उन्होंने काबे के यात्रियों के लिए भोजन और विशेष रूप से जल का प्रबन्ध किया। क़ुसैय के छः पुत्रों में अब्दे मनाफ़ उनके उत्तराधिकारी बने। अब्दे मनाफ़ के भी छः ही बेटे थे जिनमें हाशिम को उनके पिता के जीवन-काल में ही बड़ा महत्त्व प्राप्त हो गया। काबे के हाजियों के पीने के जल की इन्होंने बड़ी अच्छी व्यवस्था की। बैज़ंटाइन के शाहंशाह ने उन्हीं के प्रयत्न से क़ुरैश को व्यापारिक कर से मुक्त कर दिया। अबीसीनिया के बादशाह से भी उन्होंने इसी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त कीं। हाशिम के पुत्र, अब्दुल मुत्तलिब ने ज़मज़म के कुंवे का पता लगवाकर उसे साफ़ कराया। हज़रत मुहम्मद के पिता अब्दुल्लाह इन्हीं के पुत्र थे, किन्तु अब्दुल मुत्तलिब के जीवनकाल में ही वे युवावस्था में मृत्यु को प्राप्त हो गये। हज़रत मुहम्मद का पालन-पोषण प्रारम्भ में उनके दादा और उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके चाचा अबू तालिब ने किया, किन्तु अब्दुल मुत्तलिब की मृत्यु से हाशिम की संतान को बड़ा धक्का पहुँचा और अब्दुल मुत्तलिब का उत्तराधिकारी उमय्या का पुत्र हरब हो गया।

मुहम्मद साहब बाल्यावस्था से ही चिंतनशील व्यक्ति थे। अतः मक्के की विभिन्न विचारधाराओं का उनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। बाल्यावस्था से ही उन्होंने अपने चाचा अबू तालिब के साथ व्यापार के संबंध में विभिन्न स्थानों की यात्रा प्रारम्भ कर दी और आस-पास के देश घूम-घूमकर देखे। २५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने ख़दीजा नामक एक धनी विधवा से विवाह कर लिया और उनके व्यापार के सम्बन्ध में विभिन्न स्थानों की यात्रा करने लगे। जो समय उनका अन्य कार्यों से बचता उसे वे मक्के के बाहर हिरा नामक गुफा में ध्यान-मग्न रहने में व्यतीत किया करते थे। इसी बीच में मुसलमानों के विश्वास के अनुसार ६१० ई० में उन्हें ईश्वर की ओर से प्रेरणा प्राप्त हुई कि ईश्वर एक है और वे उसके रसूल हैं और उन्हें इस्लाम धर्म का प्रचार करना चाहिए। वे अपने कार्य हेतु कटिबद्ध हो गये। इस्लाम की शिक्षा के अनुसार वे मक्केवालों की मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे। इस कारण मक्केवालों ने उन्हें नाना प्रकार से तंग करना प्रारम्भ कर दिया। ६२० ई० में यसरिब के ख़ज़रज क़बीले के कुछ लोग उक़ाज़ के मेले में मक्के पहुँचे और हज़रत मुहम्मद के प्रवचन से बड़े प्रभावित हुए और उन्हें मदीने आमंत्रित कर लिया। हज़रत मुहम्मद अपने लगभग २०० अनुयायियों को गुप्त रूप से मदीने भेजकर स्वयं २४ सितम्बर ६२२ ई० को मक्के से मदीने चले गये। यह प्रसिद्ध प्रवास "हिजरत" कहलाता है और मक्के से मदीने जानेवाले हज़रत मुहम्मद के मित्र तथा सहायक "महाजिर" अथवा "हिजरत करनेवाले" कहलाते हैं। १७ वर्ष उपरान्त ख़लीफ़ा उमर ने १६ जुलाई से प्रारम्भ करके हिजरत

की महत्त्वपूर्ण घटना के आधार पर एक नये संवत् का प्रचलन कर दिया। मदीने में पहुँचकर हज़रत मुहम्मद के जीवन ने एक नयी करवट ली और वहाँवालों की सहायता से इस्लाम को बड़ी उन्नति प्राप्त हुई।

हज़रत मुहम्मद के मदीने के सहायक "अंसार" के नाम से प्रसिद्ध हुए। मदीने पहुँचते ही हज़रत मुहम्मद ने एक मस्जिद तथा अपनी पत्नियों के लिए छोटे-छोटे घरों का निर्माण कराया। "महाजिरों" ने छोटे-छोटे व्यापार प्रारम्भ कर दिये और मुहम्मद साहब के आदेशानुसार "महाजिर" तथा "अंसार" लोग भ्रातृ-भाव में बँध गये। किन्तु मक्केवालों के विरोध की भावनाएँ दब न सकीं और उन्होंने मदीने के यहूदियों को मुसलमानों के विरुद्ध भड़काना प्रारम्भ कर दिया और स्वयं भी आक्रमण की तैयारियाँ करने लगे। ६२४ ई० में मदीने से दक्षिण-पश्चिम में २० मील पर स्थित बद्र नामक स्थान पर हज़रत मुहम्मद का मक्केवालों से युद्ध हुआ जिसमें मक्केवाले पराजित हो गये। ६२५ ई० में मक्केवालों ने उहुद के युद्ध में अपनी पराजय का बदला ले लिया। ६२७ ई० में मक्केवालों, बदवियों तथा अबीसीनिया के व्यापारियों ने मदीनेवालों पर पुनः चढ़ाई की, किन्तु हज़रत मुहम्मद ने अपने एक ईरानी सहायक सलमान के कहने पर खाई खुदवाकर इस प्रकार अपनी रक्षा की कि मक्केवाले तंग आकर भाग गये। ६२८ ई० में हज़रत मुहम्मद १४०० मुसलमानों सहित मक्के पहुँचे और "हुदैबिया" की सन्धि द्वारा प्राचीन शत्रुता को कुछ हद तक कम कर दिया। ६३०–३१ ई० में हज़रत मुहम्मद ने तबूक नामक ग़स्सानियों के राज्य के सीमांत पर पहुँचकर ईसाइयों से सन्धि कर ली और इसी वर्ष मक्के को भी पूर्ण रूप से विजय कर लिया और इस प्रकार काबे पर मुसलमानों का अधिकार स्थापित हो गया।

६३०–३१ ई० से ही दक्षिणी अरब एवं विभिन्न क़बीलों के दूत हज़रत मुहम्मद की सेवा में पहुँचने लगे और उन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया। धीरे-धीरे बहुत-से बदवी क़बीले मुसलमान हो गये। ६३१–३२ ई० में हज़रत मुहम्मद ने अपने साथियों सहित बड़ी शान से मक्के का हज किया। किन्तु वे इसके उपरान्त अधिक दिन जीवित न रह सके और ८ जून ६३२ ई० को उनका निधन हो गया।[1]

१. देखिए, अरबी में इब्ने हिशाम, "सीरत"; अल-बुख़ारी, "सहीह"; तबरी, वाक़ेदी, "मग़ाज़ी"; इब्ने साद, "तबक़ात"; शहरस्तानी, "मिलल वलनिहल" (लन्दन १८४२–६ ई०), Hitti, "*History of the Arabs*"; C, Brockelmann, "*History of the Islamic People,*" Pringle Kenne-

इस्लाम

मुसलमानों के विश्वास के अनुसार हज़रत मुहम्मद को समय-समय पर ईश्वर के आदेश 'जिबरील" फ़िरिश्ते द्वारा प्राप्त होते रहते थे। यह आदेश हज़रत मुहम्मद के जीवनकाल में तो लोग कंठस्थ कर लेते थे, किन्तु बाद में इन्हें खजूर की पत्तियों एवं सफ़ेद पत्थर की तख्तियों पर लिखवाकर सुरक्षित किया जाने लगा। जब हज़रत उस्मान (६४४–६५६ ई०) खलीफा हुए तो ६५१ ई० में उन्होंने इन्हीं आदेशों अथवा 'क़ुरान" को बड़े सु-व्यवस्थित ढंग से संकलित करा दिया। हज़रत मुहम्मद के आचार-व्यवहार एवं उनकी वाणी भी बाद में धीरे-धीरे संकलित हुई और यह संकलन "हदीस" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस्लाम का धर्मविधान अथवा "शरीअत" या "शरा" क़ुरान तथा हदीस पर ही आधारित है। क़ुरान के अध्याय अथवा सूरे दो विभिन्न भागों में विभाजित हैं। एक तो वे सूरे जो 'हज़रत' के मक्के के जीवन काल से सम्बन्धित हैं, और दूसरे वे जो उनके मदीने के जीवनवृत्त पर आधारित हैं। इन दोनों में स्पष्ट अन्तर है। मक्के के सूरों में ईश्वर तथा मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों एवं ईश्वर के प्रति प्रेम भावनाओं का समावेश है। यह सूरे छोटे-छोटे हैं और इनकी संख्या लगभग ९० है, किन्तु मदीने के जीवन काल के सूरे संख्या में २४ हैं और क़ुरान के लगभग एक तिहाई भाग के बराबर हैं। वे नमाज़, रोज़े, हज, ज़कात, जेहाद सम्बन्धी आदेशों एवं अन्य धार्मिक नियमों पर प्रकाश डालते हैं। चोरी, सूद, व्यभिचार एवं चरित्र सम्बन्धी अन्य समस्याओं तथा दासों के प्रति व्यवहार एवं अन्य क़ानूनों का इन्हीं सूरों से पता चलता है। इनके अतिरिक्त प्राचीन काल के इतिहास से सम्बन्धित आद, समूद, लुक़मान, अबरहा, सात सोनेवालों, आदम, नूह, इबराहीम, इस्माईल, मूसा, याक़ूब, यूसुफ़, दाऊद, सुलेमान इत्यादि पैग़म्बरों की कहानियाँ, जिनमें अधिकांश इंजील (बाइबिल) की ही कहानियों के समान हैं, क़ुरान में दी हुई हैं।

हज़रत मुहम्मद के बाद के प्रथम चार ख़लीफ़ा

हज़रत मुहम्मद की मृत्यु के उपरान्त सबसे बड़ा प्रश्न उनके उत्तराधिकारी की नियुक्ति का था। उत्तराधिकारी के प्रश्न पर मतभेद हो जाना कोई आश्चर्य की बात न थी और प्रारम्भ में इस मतभेद ने कोई उग्र रूप धारण नहीं किया। हज़रत मुहम्मद

dy, *Arabian Society at the time of Muhammad*" (उर्दू) **शिबली नोमानी, "सीरतुन्नबी"**

सातवीं ईसवी शती - प्रथम हिजरी शती
अतलान्तिक महासागर
फ्रैंकस
गोथ
बैजेन्टाइन
बलगारिया
खजर
पश्चिमी तुर्क
खुजन्द
समरकन्द
बुखारा
काकेशस
कास्पियन सागर
काला सागर
मर्व
काबुल
तूस
नीशापुर
एशिया माइनर
बर्बर
सिसली
भूमध्य सागर
सासानी राज्य
हिरात
कन्धार
इस्फहान
दमिश्क
कूफा
बसरा
शीराज
तानूख
फारस की खाड़ी
लीबिया
गतफान
यसरिब
किन्दा
हनीफा
सकीफ
मक्का
तायफ
नखला
मुराद
नूबिया
अरब सागर
हिन्द सागर
हबशी
इथोपिया
मील
0 100 200 300 400 500 600 700 800 900 1000
अनुमानित सीमायें 600 ई०
जिन पर पूरी शती ईसाइयो का अधिकार रहा
जिन पर अन्य जातियो का पूरी शती अधिकार रहा
मुसलमानो द्वारा ईसाइयो से विजित प्रदेश
मुसलमानो द्वारा अन्य जातियों से विजित प्रदेश
ईसाइयो द्वारा अन्य जातियों से विजित प्रदेश
अन्य जातियों द्वारा ईसाइयो से विजित प्रदेश
ऐसे प्रदेश जिनको मुसलमानो ने ईसाइयो से जीता पर बाद मे जिनपर ईसाइयो ने पुन अधिकार जमा लिया
ऐसे प्रदेश जिनको मुसलमानो ने अन्य जातियो से जीता पर बाद मे अन्य जातियो ने जिनपर पुन अधिकार जमा लिया

के ससुर वृद्ध अबू बक्र प्रथम ख़लीफ़ा नियुक्त हो गये। वे केवल दो वर्ष (६३२–६३४ ई०) तक ही ख़लीफ़ा रह सके। इसी बीच अरब के बहुत से क़बीलों ने विरोध प्रारम्भ कर दिया। ख़ालिद बिन वलीद ने छः मास में इस विरोध का दमन करके मध्य अरब में एक प्रकार की शान्ति स्थापित कर दी, किन्तु अब अरबवालों को अन्य ऐसे स्थानों की खोज करना अनिवार्य था जहाँ वे इस्लाम के प्रचार के नाम पर अपने संगठन तथा युद्ध के नये नियमों की परीक्षा कर सकते। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय के बदवी समाज में क़ुरान की शिक्षा के कारण महान् क्रान्ति आ गयी थी और इस्लाम ने बदवियों के जीवन में एक नव-चेतना तथा नव-स्फूर्ति का संचार कर दिया था। वे सब जब एक धर्म के सूत्र में बँधकर अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रेगिस्तानी क्षेत्र से निकलकर समृद्ध स्थानों की ओर बढ़े तो प्रत्येक स्थान पर विजय ने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया। ईरान के प्रसिद्ध सेनापति रुस्तम ने तो खुल्लमखुल्ला अरब आक्रमणकारियों से कह दिया कि "तुम्हारी आवश्यकताओं एवं दरिद्रता ने, जो कुछ तुम कर रहे हो उसके लिए तुम्हें विवश कर दिया है।[1]" प्रारम्भ में तो अरबों के इन छापों का उद्देश्य केवल अधिक धन-सम्पत्ति प्राप्त करना ही रहा होगा, किन्तु धीरे-धीरे एक दृढ़ साम्राज्य की नींव भी पड़ गयी। जो स्थान विजित हुए वहाँ के सब निवासियों ने तुरन्त ही न तो स्वयं इस्लाम धर्म स्वीकार किया न उन सबको मुसलमान बनाया ही जा सका, वे १००–२०० वर्ष बाद तक विभिन्न परिस्थितियों में शनैः-शनैः मुसलमान होते गये। अतः इन विजयों को अरबी संगठन की विजय ही कहना चाहिए, किन्तु इस तथ्य की भी उपेक्षा सम्भव नहीं कि इस्लाम ही इस संगठन का एक मात्र स्रोत था और अरबवाले शाम, मेसोपोटामिया, ईरान तथा अन्य देशों की ओर बढ़ते चले गये। उस समय के निरंकुश साम्राज्यों एवं ज़ालिम पुजारियों तथा पादरियों के कारण वहाँ के निवासियों को नित्य घोर कष्टों का सामना करना पड़ता था, अतः वे कोई न कोई परिवर्तन चाहते ही थे। इस्लाम ने इस कमी को पूरा किया।[2]

१. फ़ुतूहुल बुल्दान पृ० २५६–५७, हित्ती द्वारा अंग्रेज़ी में अनुवाद पृ० ४११–१२.

२. प्रारम्भिक विजयों के विषय में देखिए, तबरी, वाक़ेदी, याक़ूबी, इब्न अल-असीर तथा मसऊदी के इतिहास एवं अल बसरी की फ़ुतूह-अल-शाम, इब्ने असाकिर की "तारीख़ अल-कबीर", "फ़ुतूहुल बुल्दान", इब्न अल-तिक़तक़ा, "अल फ़ख़री", दीनावरी, "अल-अख़बार अल-तिवाल," इब्न अब्द अल हकम, "फ़ुतूह मिस्र" तथा अंग्रेज़ी में Olmstead, *"History of Palestine"*, A. S.Butler,

सितम्बर ६३५ ई० में ६ मास के अवरोध के उपरान्त खालिद ने दमिश्क़ को विजय कर लिया। ७४० ई० तक उत्तर से दक्षिण तक पूरा सीरिया अथवा शाम मुसलमानों के अधीन हो गया। सीरिया से अरब आक्रमणकारी सुगमतापूर्वक मिस्र और तदुपरान्त उत्तरी अफ़्रीक़ा में पहुँच गये। वहीं से अरमीनिया, उत्तरी मेसोपोटामिया, जौर्जिया, अज़रबाईजान भी शनैः-शनैः विजय कर लिये गये।

ईरान की विजय के लिए ख़लीफ़ा उमर (६३४–६४४ ई०) ने साद इब्ने अबी वक़्क़ास को चुना। उसने अपने ६ हज़ार सैनिकों को लेकर ३१ मई ६३७ ई० अथवा प्रथम जून को ईरान के सेनापति रुस्तम को हीरह् के समीप क़ादिसिया के रणक्षेत्र में घोर युद्ध के उपरान्त पराजित कर दिया। रुस्तम मारा गया। जून में ही साद ने फ़ारसवालों की राजधानी मदायन पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया। ऐवाने किसरा अथवा किसरा के भव्य भवनों को देखकर अरबों का चकित हो जाना स्वाभाविक ही था। यदि इस अवसर पर उन लोगों ने काफ़ूर का प्रयोग नमक के स्थान पर करना प्रारम्भ कर दिया तो कोई आश्चर्य न होना चाहिए। इब्ने खलदून ने अपने मुक़द्दमे में इन ऐतिहासिक तथ्यों से बड़े महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं।

ईरान की विजय के उपरान्त अरबों ने बसरा को अपनी छावनी बनाकर अपने आक्रमणकारियों को विभिन्न दिशाओं में भेजना प्रारम्भ कर दिया। प्राचीन नैनवा के स्थान पर स्थित मोसल नामक नगर ६४१ ई० में अरबों के अधिकार में आ गया। ६४९–५० ई० में इसतख़ पर भी विजय प्राप्त हो गयी। इससे पूर्व ही अरब आक्रमणकारी ख़ुरासान तथा आक्सस तक पहुँचने लगे। ६४३ ई० में बिलोचिस्तान के समुद्र के किनारे के मकरान नामक भाग पर अरबों का अधिकार स्थापित हो गया। ६४२ ई० में बैज़ंटाइन अथवा रूम के पूर्वी साम्राज्य के अरमीनिया पर आक्रमण हेतु हबीब इब्न मसलमह् को भेजा गया और ६५२ ई० में उसने पूर्णरूप से विजय प्राप्त कर ली। कूफ़े की छावनी अरबों के इस नये साम्राज्य की राजधानी बन गयी और हज़रत उमर के आदेश के विरुद्ध मदायन के राजप्रासादों के नमूने के महल बनवाने के प्रयत्न किये गये।

"*The Arab Conquest of Egypt*", Hitti "*History of the Arabs*", C. Brockelmann, "*History of the Islamic People*", Lane Poole, "*The First Mohammedan Treaties with Christians*" (Proceedings of the Royal Irish Academy. Vol. 24, 1904)

सभ्यता का प्राचीन केन्द्र मिस्र, शाम तथा हिज़्ाज़ दोनों से ही अत्यधिक निकट है। यहीं से उत्तरी अफ़्रीक़ा पर आक्रमण करने के द्वार खुल जाते हैं। सिकन्दरिया उस समय बैज़ंटाइन के समुद्री बेड़े का मुख्य केन्द्र था। इसके अतिरिक्त यहाँ की धन-सम्पत्ति एवं उपजाऊ भूमि की प्रशंसा से अरबी साहित्य भरा हुआ था। यद्यपि ख़लीफ़ा उमर तथा उस्मान दोनों मिस्र पर आक्रमण करने के पक्ष में न थे, किन्तु ४५ वर्षीय योद्धा अमर बिन आस, जो जाहिलिया के युग से मिस्र से परिचित था, दिसम्बर, ६३९ ई० में उत्तरी मिस्र के प्रसिद्ध नगर फ़रमा (पेलूसियम) की ओर पहुँच गया और एक मास के युद्ध के उपरान्त उसे विजय कर लिया। जुलाई, ६४० ई० में अरब सेनाओं को मिस्र के विरुद्ध एक बहुत बड़ी विजय प्राप्त हो गयी। इसी बीच में अमर इब्ने आस के पास २० हज़ार अरब सैनिक और पहुँच गये जिनकी सहायता से वह सिकन्दरिया तक बढ़ता चला गया और ८ नवम्बर ६४१ ई० को वहाँ के मुख्य पादरी से सन्धि कर ली। सितम्बर ६४२ ई० में सिकन्दरिया की सेनाओं ने नगर ख़ाली कर दिया और अमर इब्ने आस को पूर्णरूप से उस पर अधिकार प्राप्त हो गया। हेलियोपोलिस नामक छाँवनी पर फ़ुज़्तात नामक एक अन्य नगर बसाया गया जो कि शाम की जाबियह तथा बसरा और कूफ़ा के समान अरब सेना की छावनी बन गया।

६४९ ई० में मुआविया ने क़ुबरुस (सिपरस) पर, जो कि बैज़ंटाइन राज्य का समद्रीय केन्द्र था, अधिकार जमा लिया। इस प्रकार अरब समुद्री युद्ध में भी धीरे-धीरे भाग लेने लगे। ६५५ ई० में मुआविया के शामी-मिस्री बेड़े ने बैज़ंटाइन के ५०० जहाज़ी बेड़े फ़िनिक्स के समीप अपने अधिकार में कर लिये। ६६८ अथवा ६६९ ई० में एक जहाज़ी बेड़ा सिक़िल्लिया (सिसली) तक पहुँच गया और उसने वहाँ पर भी लूट-मार की।

मेसोपोटामिया, ईरान तथा मिस्र की विजय के उपरान्त अरब न केवल एक बहुत बड़े साम्राज्य के ही स्वामी हुए अपितु उन्होंने विश्व की सभ्यता के प्राचीनतम केन्द्रों पर भी अधिकार जमा लिया। कला, ज्ञान-विज्ञान, राजनीति तथा सभ्यता एवं संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में बदवियों ने किसी प्रकार कोई उन्नति न की थी, अतः वे इन स्थानों को केवल "ईश्वर की वाणी" तथा हज़रत मुहम्मद के चरित्र के उच्च उदाहरणों के अतिरिक्त कोई अन्य बात सिखा ही क्या सकते थे। अतः इन देशों की सभ्यताओं ने अरब वालों पर अपनी पूरी-पूरी छाप डाली। जिस प्रकार विजयी रोमनों के राज्य में पराजित यूनानी सभ्यता की ज्योति सदा ही जलती रही, उसी प्रकार अरब के बदवियों की सभ्यता ने भी मिस्री, इराक़ी, ईरानी तथा यूनानी सभ्यता से प्रभावित होकर अरबी भाषा

द्वारा एक नया रूप धारण कर लिया। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि अरब सभ्यता मेसोपोटामिया की प्राचीन सैमिटिक सभ्यता का ही ऐसा रूप बन गयी जो असीरिया, बेबीलोनिया, फ़िनीशिया, अरमीनिया तथा हेब्रू सभ्यता पर आधारित था।

हज़रत अबू बक्र के समय में विजयों का जो क्रम प्रारम्भ हुआ वह हज़रत उमर के ज़माने में उन्नति के शिखर पर पहुँच गया, पर हज़रत अली (६५६–६६१ ई०) के समय तक पहुँचते-पहुँचते यह धारा रुक गयी। इस प्रकार हज़रत मुहम्मद के निधन के उपरान्त एक ही पीढ़ी में अरब राज्य आक्सस से उत्तरी अफ़्रीक़ा तक पहुँच गया। अब सभ्यता एवं संस्कृति के उस चक्र का चलना स्वाभाविक ही था जिसका विश्लेषण इब्ने ख़लदून ने अपने मुक़द्दमे में विस्तार से किया है।

हज़रत मुहम्मद की मृत्यु के उपरान्त ही कुछ लोग उनके भाई एवं उनकी प्रिय पुत्री फ़ातेमा के पति हज़रत अली को अपना इमाम अथवा नेता मानने लगे थे और उनका विचार था कि हज़रत अबू बक्र का ख़लीफ़ा होना घोर अन्याय था। इस प्रकार मुसलमानों के बहुत से दल बन गये जिनमें शीओं का दल खुल्लमखुल्ला सुन्नियों का विरोधी हो गया। ६५६ ई० में हज़रत अली, हज़रत उस्मान के स्थान पर ख़लीफ़ा हुए, किन्तु उन्हें मुहम्मद साहब की पत्नी एवं हज़रत अबू बक्र की पुत्री हज़रत आयशा के घोर विरोध का सामना करना पड़ा। हज़रत आयशा ऊँट पर सवार होकर अपने सहायकों सहित हज़रत अली से युद्ध करने निकलीं। ९ दिसम्बर ६५६ ई० को बसरा के बाहर हज़रत आयशा की पराजय हुई। हज़रत आयशा के ऊँट पर सवार होने के कारण यह युद्ध जमल (ऊँट) का युद्ध कहलाता है। हज़रत अली ने अपनी राजधानी क़ूफ़े में बनायी, किन्तु शाम के गवर्नर मुआविया इब्ने अबी सुफ़यान ने आपका विरोध प्रारम्भ कर दिया। फ़ुरात नदी के पश्चिम में रक़्क़ा के समीप सिफ़्फ़ीन के रण-क्षेत्र में हज़रत अली की इराक़ी तथा मुआविया की शाम की सेनाओं में युद्ध हुआ जो कई सप्ताह तक चलता रहा, किन्तु २६ जुलाई ६५७ ई० को जब हज़रत अली को विजय प्राप्त होनेवाली थी, अमर इब्ने आस की युक्ति से विवाद का निर्णय मध्यस्थों को सौंप दिया गया। मुआविया की ओर से अमर इब्ने आस तथा हज़रत अली की ओर से मूसा अल-अशअरी मध्यस्थ नियुक्त हुए। अमर इब्ने आस ने मूसा से अपनी युक्ति द्वारा हज़रत अली को पदच्युत करा दिया। इससे हज़रत अली की शक्ति को बड़ा धक्का पहुँचा। उनके सहायकों का एक बहुत बड़ा समूह मध्यस्थों की नियुक्ति पर हज़रत अली का विरोधी बन गया। ये लोग ख़ारजी कहलाये और ६५९ ई० में हज़रत अली को नहरवान नामक नहर के किनारे उन लोगों से युद्ध करना पड़ा। यद्यपि वे पराजित

हो गये, किन्तु उनकी शक्ति किसी प्रकार कम न हुई और वे अब्बासियों के राज्य-काल तक विभिन्न प्रकार के आंदोलन चलाते रहे। जनवरी ६६१ ई० में हज़रत अली की हत्या करा दी गयी और उनके स्थान पर मुआविया (६६१–६८० ई०) ईलिया में (यरोशलम के समीप) खलीफ़ा हो गये। मुआविया ने दमिश्क़ को ही राजधानी बनाये रखा। उनके खलीफ़ा हो जाने के उपरान्त हज़रत मुहम्मद के बाद के प्रथम चार खलीफ़ाओं का युग समाप्त हो गया और बनी उमय्या की खिलाफत प्रारम्भ हुई।

मुआविया ने अपने पुत्र यज़ीद (६८०–६८३ ई०) को अपने स्थान पर खलीफ़ा नियुक्त किया। यज़ीद के राज्यकाल में १० मुहर्रम ६१ हि० (१० अक्टूबर ६८० ई०) को अमर इब्ने साद ने लगभग ४००० अश्वारोहियों सहित कूफ़े से २५ मील उत्तर-पश्चिम में करबला में हज़रत अली के पुत्र इमाम हुसेन एवं उनके १०० से कम सहायकों को घेरकर शहीद कर दिया। इमाम हुसेन के वध के कारण शीओं का विरोध और भी बढ़ गया। बनी उमय्या के विरोधी इस करुणाजनक घटना को बहाना बनाकर उनके विरुद्ध नाना प्रकार के षड्यन्त्र करने में सफल होने लगे।

उमय्या खलीफ़ाओं में अब्दुल मलिक (६८५–७०५ ई०) तथा वलीद (७०५–७१४ ई०) बड़े प्रसिद्ध हुए हैं। उनके समय में नये देशों की विजय का दूसरा क्रम प्रारम्भ हुआ। हज्जाज इब्ने यूसुफ़ जो हिजाज़ में स्थित तायफ़ नामक स्थान का एक अध्यापक था, ६९२ ई० में अरब का गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। दो वर्ष में उसने हिजाज़ के विद्रोहियों को बुरी तरह कुचल दिया। ६९४ ई० में वह इराक़ के विभिन्न राजनीतिक एवं धार्मिक दलों के विद्रोह के दमन हेतु नियुक्त किया गया। उसने कुछ ही वर्षों में इराक़ तथा ईरान के बहुत बड़े भाग की अशान्ति का कुछ समय के लिए अन्त कर दिया। उसके एक सेनापति क़ुतेबह इब्ने मुस्लिम ने ७०५ ई० में बल्ख, ७०६–९ ई० में बुखारा तथा आसपास के स्थान (७१०–१२ ई०) एवं समरक़न्द, ख्वारिज़्म तथा पश्चिम की ओर के अन्य देश विजय कर लिये। ७१३–१५ ई० में उसने फ़रग़ाना पर भी आक्रमण किया। बुखारा, बल्ख तथा समरक़न्द बौद्ध धर्म के केन्द्र थे। इस प्रकार अरबों को एक नयी संस्कृति के सम्पर्क में आने का अवसर मिल गया। खलीफ़ा हिशाम (७२४–४३ ई०) द्वारा नियुक्त ट्रांसाक्ज़ियाना का गवर्नर नस्र ७३८–४० ई० के बीच चीन तक पहुँच गया। ७५१ ई० में अरबों ने समरक़न्द के उत्तर-पूर्व में स्थित शाश (ताशक़न्द) को भी विजय कर लिया। इस प्रकार मध्य एशिया में मुसलमानों का प्रभुत्व पूर्णरूप से स्थापित हो गया। बौद्ध धर्म के उपरान्त अरबों का सम्पर्क चीनियों से भी हुआ और मंगोलों ने इस्लाम के इतिहास में महत्त्वपूर्ण

भाग लिया। ७१० ई० में मुहम्मद बिन क़ासिम मुकराम को पूर्णरूप से अपने अधिकार में करता हुआ ७११–१२ ई० में सिन्ध पहुँचा और सिन्ध विजय करते हुए ७१३ ई० में मुल्तान तक पहुँच गया।

मिस्र की विजय के बाद ही पश्चिम दिशा में इफ़रीक़िया पर भी आक्रमण प्रारम्भ कर दिये गये थे। ६७० ई० में मुआविया के एक सेनापति उक़बा इब्ने नाफ़े ने क़ैरवान नगर की स्थापना करके बरबर क़बीलों पर छापे मारना प्रारम्भ कर दिये। ६७८ ई० में हस्सान इब्ने नोमान ग़स्सानी ने बैज़नटाइन शक्ति का अन्त करके कारथेज पर अधिकार जमा लिया और बरबर क़बीलों को अच्छी तरह कुचल दिया। हसन लगभग ६९९ ई० तक इफ़रीक़िया का गवर्नर रहा। उसके उपरान्त मूसा इब्ने नुसैर को उसका उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया और क़ैरवान की राजधानी को मिस्र से पृथक् करके दमिश्क़ के खलीफ़ा के अधीन कर दिया गया। उसने अपने राज्य को तनजा (तांजीर) तक बढ़ा लिया। जब मूसा ने उत्तरी अफ़्रीक़ा के समुद्रीय तट को अटलांटिक तक विजय कर लिया तो दक्षिण-पश्चिमी यूरोप की विजय के द्वार भी खुल गये। ७११ ई० में मूसा का एक बरबर सहायक तारिक़ स्पेन तक पहुँच गया और शीघ्र ही उन्दलुस (आईबेरियन पेनिंसुला) पर भी अधिकार जमा लिया गया। वे निरन्तर बढ़ते ही गये और फ्रांस में प्रविष्ट होकर दक्षिणी यूरोप में फैल गये, किन्तु फ्रैंक एवं अन्य जातियों ने चार्ल्स मोर्टल के नेतृत्व में फ़्रांस में पाइतिये के पास तूर के युद्ध में अरबों को पराजित करके (७३२ ई०) उनके क़दम रोक दिये।

इस प्रकार हज़रत मुहम्मद के निधन से ७३२ ई० तक अर्थात् १०० वर्ष के भीतर उनके अनुयायियों ने बिसके की खाड़ी से लेकर सिन्ध नदी तथा चीन तक और अरब सागर से लेकर नील नदी तक अपना राज्य स्थापित कर लिया। अरबों की राजधानी दमिश्क़ के नव-निर्मित गगनचुम्बी राजप्रासाद, उद्यान एवं भोग-विलास के साधन साधारण बदवियों को उस समय भी आश्चर्यचकित करते रहते थे।

बनी उमय्या की राज्यव्यवस्था

बनी उमय्या तथा बनी अब्बास के राज्यकाल में भी प्रान्तों का विभाजन बैज़नटाइन तथा ईरानी साम्राज्य के विभाजन के आधार पर रहा।[1] मुख्य प्रान्त इस प्रकार थे—

१. पृ० १२ पर जिन ग्रंथों का उल्लेख हुआ है उनके अतिरिक्त देखिए "अल-मावरदी", "अल-अहकाम-अल-सुल्तानियह" इब्ने खलदून, "मुक़द्दमा" अंग्रेजी में, J. B.
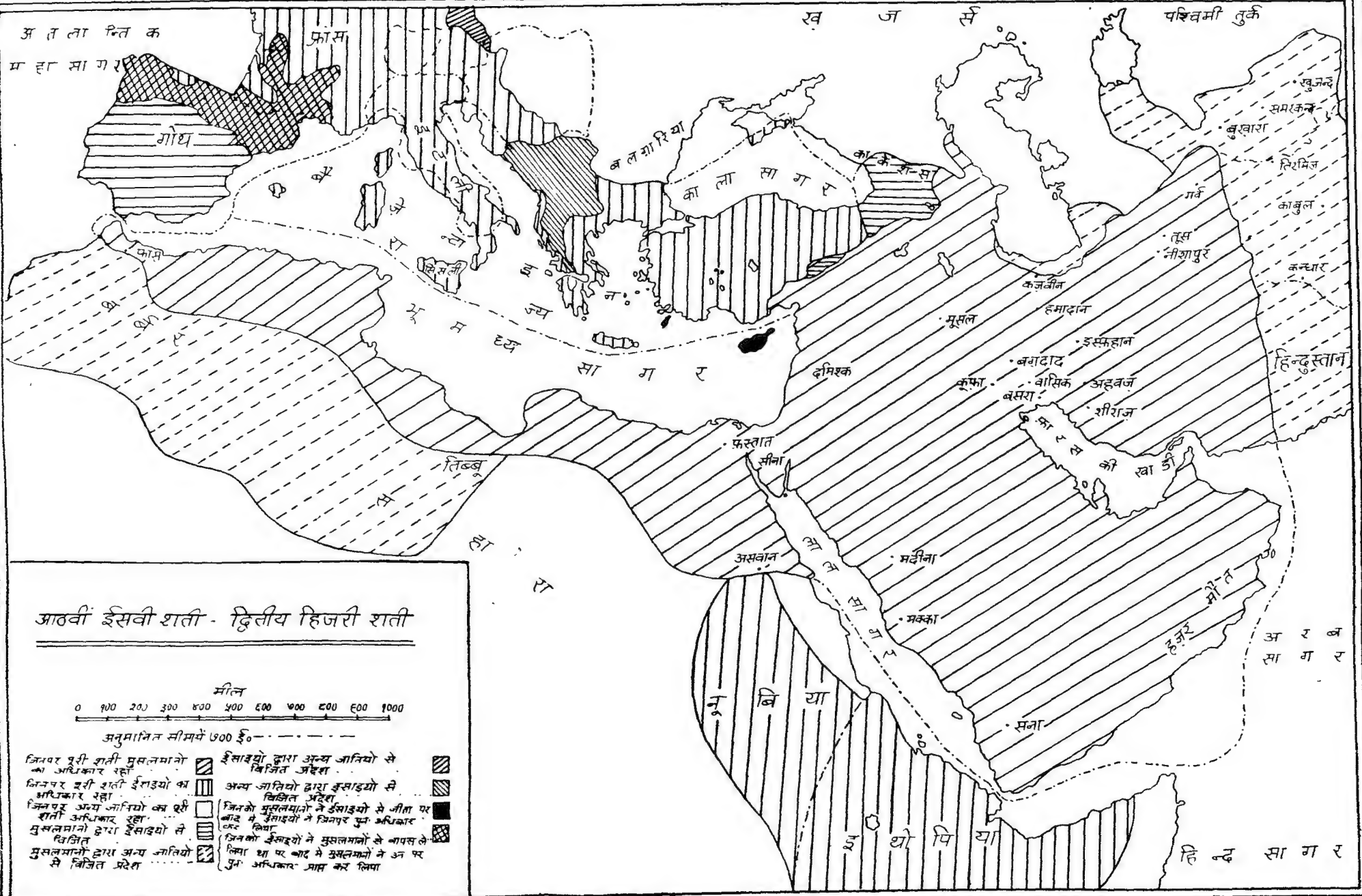
अतलान्तिक महासागर
फ्रांस
खजर्स
पश्चिमी तुर्क
गोथ
बलगारिया
काकेशस
काला सागर
खुजन्द
समरकन्द
बुखारा
तिरमिज
काबुल
मर्व
तूस
नीशापुर
कन्धार
कज़वीन
हमादान
मूसल
इस्फ़हान
बग़दाद
वासिक
अहवज
कूफ़ा
बसरा
शीराज
हिन्दुस्तान
दमिश्क
सिसली
रूम सागर
फ़ारस की खाड़ी
फ़स्तात
सीना
तिब्बू
असवान
मदीना
मक्का
लाल सागर
हजर
अरब सागर
सना
नूबिया
इथोपिया
हिन्द सागर
आठवीं ईसवी शती - द्वितीय हिजरी शती
मील
0 100 200 300 400 500 600 700 800 900 1000
अनुमानित सीमायें 700 ई०
जिनपर पूरी शती मुसलमानो का अधिकार रहा
जिनपर पूरी शती ईसाइयो का अधिकार रहा
जिनपर अन्य जातियो का पूरी शती अधिकार रहा
मुसलमानो द्वारा ईसाइयो से विजित
मुसलमानों द्वारा अन्य जातियो से विजित प्रदेश
ईसाइयो द्वारा अन्य जातियो से विजित प्रदेश
अन्य जातियो द्वारा इसाइयो से विजित प्रदेश
जिनको मुसलमानों ने ईसाइयो से जीता पर बाद मे ईसाइयों ने जिनपर पुनः अधिकार कर लिया
जिनको ईसाइयों ने मुसलमानों से वापस ले लिया था पर बाद मे मुसलमानों ने उन पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया

१—सीरिया, फ़िलिस्तीन।

२—कूफ़ा इराक़ सहित।

३—बसरा, ईरान, सिजिस्तान, ख़ुरासान, बहरैन, उमान तथा नज्द एवं यमाम सहित।

४—अरमीनिया।

५—हिजाज़।

६—करमान तथा भारत के सीमान्त प्रान्त।

७—मिस्र।

८—इफ़रीक़िया।

९—यमन तथा शेष दक्षिणी अरब।

कुछ समय उपरान्त थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके समस्त अरब राज्य पाँच मुख्य अधिकारियों के अधीन कर दिया गया। मुआविया ने बसरे तथा क़ूफ़े के राज्य को मिला दिया और कूफ़े को राजधानी बना दिया। बाद में इराक़ के गवर्नर को अपना नायब ख़ुरासान तथा ट्रांसाक्ज़ियाना के लिए अलग से नियुक्त करने की अनुमति दे दी गयी जो कि साधारणतः मर्व में रहता था। इसी प्रकार सिन्ध तथा पंजाब के हाकिम अलग हो गये। हिजाज़, यमन तथा मध्य अरब को एक हाकिम के अधीन कर दिया गया। अल जज़ीरह, दजला तथा फ़ुरात के बीच का भाग, अरमीनिया में मिला दिया गया और अज़रबाईजान तथा एशिया माइनर (कोचक, लघु) के कुछ भागों को मिलाकर तीसरा प्रान्त बन गया। मिस्र के ऊपर तथा नीचे के भाग को मिलाकर चौथा प्रान्त और इफ़रीक़िया को, जिसमें उत्तरी अफ़्रीक़ा तथा सिसली और आस-पास के द्वीप सम्मिलित थे, पाँचवाँ प्रान्त बनाया गया। यहाँ की राजधानी क़ैरवान थी। हाकिम (गवर्नर) राज्यकर वसूल करने के लिए अपने आमिल (अधिकारी) नियुक्त करता था। स्थानीय व्यय वहीं की आय से पूरा किया जाता था और जो कुछ बचता था वह ख़लीफ़ा के ख़जाने में भेज दिया जाता था। क़ज़ा (न्याय) विभाग केवल मुसलमानों

Bury, "*The Imperial Administrative System in the Ninth Century*", Morris Jastrow Jr., "*The Civilization of Babylonia and Assyria*", K. A. C. Creswell, "*Early Muslim Architecture*", A.S.Wensinck, "*A Hand book of early Muhammedan Tradition*, Nicholson, "*A Literary History of the Arabs*"

के लिए सीमित था। अन्य लोग अपनी प्राचीन प्रथाओं का ही पालन करते थे। सेना का प्रबन्ध बैज़नटाइन नियमों पर आधारित था। सेना पाँच भागों में विभाजित थी। मध्य भाग, दायाँ और बायाँ भाग तथा आगे और पीछे के भाग। दमिश्क़ में जो सेना भरती की जाती थी उसमें सीरिया निवासी अथवा शामी अरब होते थे। जहाज़ी बेड़ा बैजंटाइन नियमों पर तैयार किया गया।

सामाजिक दशा

राज्य में प्रमुख स्थान मुसलमानों को प्राप्त था। उन बदवी अरबों तथा लोगों को, जो ख़लीफ़ाओं के निकटवर्ती अथवा विश्वासपात्र होते थे, विशेष अधिकार प्राप्त होते थे। उनसे नीचे के ऐसे मुसलमान, जो बाद में इस्लाम स्वीकार करते थे, मवाली कहलाते थे। वे निम्नवर्ग के समझे जाते थे। यद्यपि कहने को तो इस्लाम ने सभी मुसलमानों को भाई-भाई बना दिया था, किन्तु वास्तव में ऊँच-नीच का अन्तर अरब राज्य में भी समाप्त न हो पाया था। मवालियों ने धीरे-धीरे उच्च वंश के अरबों से सम्पर्क स्थापित करके तथा शादी-ब्याह द्वारा ऊँच-नीच के भेदभाव को मिटाने का थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया और बहुत-से राजनीतिक आन्दोलन चलाकर अपने लिए उच्च स्थान प्राप्त करने की कोशिश की, किन्तु समस्त भेद-भाव पूर्णरूप से कभी न मिट सके। उस समय के अरब राज्य में तीसरा वर्ग ज़िम्मियों अथवा उन ईसाइयों, यहूदियों आदि का था जिन्होंने इस्लाम स्वीकार न किया था, अपितु जिज़िया अदा किया करते थे, जिसके कारण उनकी हर प्रकार की रक्षा करना मुसलमानों का कर्त्तव्य समझा जाता था। सर्वप्रथम यह अधिकार कुरान के अनुसार केवल यहूदियों तथा ईसाइयों को ही प्राप्त था, किन्तु धीरे-धीरे यह अधिकार अग्निपूजकों और बरबर काफ़िरों तथा अन्य जातिवालों को भी प्राप्त हो गया। सबसे निम्नवर्ग दासों का था। यद्यपि इस्लामी शरीअत के अनुसार कोई मुसलमान दास न बनाया जा सकता था, किन्तु अन्य धर्मवाले इस्लाम स्वीकार कर लेने के उपरान्त भी वास्तव में समाज में बहुत अधिक न उठ पाते थे। पूर्व तथा मध्य अफ़्रीक़ा के काले दास, फ़रग़ाना, चीन तथा तुर्किस्तान के पीले ग़ुलाम और निकट पूर्व एवं दक्षिणी यूरोप के सफ़ेद दास बाज़ारों में बिकते थे और उनका मूल्य उनकी योग्यता तथा रूप-रंग के अनुसार निश्चित होता था। दासियों अथवा कनीज़ों के साथ विवाह तो नहीं हो सकता था, किन्तु वे रखैल स्त्रियों के समान होती थीं। उनसे जो संतान उत्पन्न होती वह स्वामी की होती थी और दासी को "उम्मे वलद" अथवा बच्चों की

माता का सम्मान प्राप्त हो जाता था। वह अपने पति-स्वामी द्वारा बेची नहीं जा सकती थी, अपितु मृत्यु के उपरान्त मुक्त कर दी जाती थी।

उमय्या काल का सांस्कृतिक जीवन

उमय्या राज्य में जाहीलिया युग के निकट होने के कारण साहित्य तथा ज्ञान-विज्ञान की उतनी उन्नति तो न हो सकी, जितनी कि अब्बासियों के राज्यकाल में हुई, किन्तु फिर भी संस्कृति के क्षेत्र में उमय्या वंशवालों ने थोड़ा-बहुत योगदान अवश्य किया। कूफ़ा और बसरा दोनों नगर उमय्या राज्यकाल में उन्नति के शिखर पर पहुँच गये। क़ुरान शरीफ़ के अध्ययन तथा इस्लाम के धर्मविधान को नियमित रूप देने की आवश्यकता के कारण अरबी भाषाविज्ञान की बड़ी उन्नति हुई और साथ ही साथ हज़रत मुहम्मद की हदीसें जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं के लिए ढूँढ़ी जाने लगीं और कुछ लोगों ने तो विशेष रूप से हदीसें गढ़ना अपना व्यवसाय बना लिया। इस्लामी धर्म-विधान अथवा फ़िक़ह, जिसका स्रोत क़ुरान शरीफ़ तथा हदीस हैं, रोमन क़ानून के समान निश्चित रूप में तैयार होने लगी। अरब इतिहास-रचना के काल का भी उसी युग से अभ्युदय हुआ। हदीस अर्थात् हज़रत मुहम्मद की सीरत (जीवनी) तथा विजयों (मग़ाज़ी) के विवरणों के संकलन की आवश्यकता ने इतिहास के ज्ञान को उन्नति प्रदान की।

उमय्या काल से ही अनेक धर्मों पर आधारित दार्शनिक आन्दोलन प्रारम्भ हो गये थे। ८वीं शती ई० के प्रथम आधे भाग में वासिल इब्ने अता ने मोतज़ेला (हेतुवादी) विचारों को फैलाना प्रारम्भ कर दिया। वह हसन बसरी (जन्म ६४२ ई०, मृत्यु ७२८ ई०) का शिष्य था जो क़दर[1] के सिद्धान्तों को मानता था। इसी सिद्धांत से मोतज़ेला दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। उनका मुख्य सिद्धान्त था कि "जो गुनाहे कबीरा[2]

१. क़दर अथवा तक़दीर, मुसलमानों के धार्मिक विश्वासों का एक मुख्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार जो कुछ अच्छा या बुरा हो गया, अथवा हो रहा है या होगा, सबका सब ईश्वर की इच्छा से होता है, जो कि भाग्य की लेखनी द्वारा "लोहे महफ़्ज़" (सुरक्षित तख़्ती) पर लिख दिया गया है।

२. गुनाह अथवा पाप मुसलमानों के अनुसार दो भागों में विभाजित किये जाते हैं, सग़ीरह (साधारण) और कबीरा अथवा घोर पाप, जिनका कड़े शब्दों में निषेध हुआ है और जिनके लिए बड़े-बड़े दंड निश्चित हुए हैं।

करता है वह धर्मनिष्ठ मुसलमानों की श्रेणी से गिर जाता है, किन्तु क़ाफ़िर नहीं हो जाता अपितु मध्य की श्रेणी का स्वामी होता है। मनुष्य जो कुछ करता है वह स्वयं करता है।"

कला के क्षेत्र में उमय्या काल में मस्जिदों के निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया गया। मस्जिदों में अधिक संख्या में लोगों के नमाज़ पढ़ने का प्रबन्ध करना पड़ता है, अतः इस आवश्यकता की दृष्टि से स्थानीय शैलियों के आधार पर मेहराब, मक़सूरा एवं गुम्बद के निर्माण की कला को उन्नत किया गया। जिस दिशा में नमाज़ पढ़ी जाती है उसका पता मेहराब से चलता है। मक़सूरा की आवश्यकता ख़लीफ़ाओं की प्रतिरक्षा के विचार से हुई, जहाँ वे सबसे अलग भी रह सकते थे और एकान्त में ईश्वर का ध्यान भी कर सकते थे। इसी प्रकार बनी उमय्या युग में मीनारों की भी आवश्यकता हुई और उन्हें भी मस्जिद का विशेष अंग बना लिया गया। उमय्या काल में कुछ विशाल भवन बनवाये गये, किन्तु महलों के निर्माण में कोई अधिक प्रगति न हुई।

यद्यपि इस्लाम ने संगीत पर विशेष प्रतिबन्ध लगा रखा था, किन्तु उमय्या काल में यह बंधन धीरे-धीरे टूटता गया और संगीत के बिना राजप्रासाद की महफ़िलें सूनी ही समझी जाने लगीं। इस्लाम के अनुशासन का पालन कुछ थोड़े-से ही लोगों तक सीमित था, अन्यथा अरबों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में बहुत बड़ी क्रान्ति आ गयी। भोगविलास के साधन, जिनके लिए हज़रत उमर भी कभी-कभी अपने सेनापतियों को फटकारा करते थे, बढ़ते गये। मुआविया के पुत्र यज़ीद के राज्यकाल में तो खुल्लमखुल्ला मदिरा का प्रयोग होने लगा। संगीत तथा नृत्य के बिना ख़लीफ़ा को किसी समय चैन न आता था। यज़ीद के बाद भी मदिरापान, संगीत तथा नृत्य दरबार की विशेषता बने रहे। महल को सजाने के लिए चित्रकला, जिसका निषेध भी इस्लाम द्वारा हुआ है, खुल्लम-खुल्ला प्रचलित हुई।

अब्बासियों का प्रचार

इस प्रकार उमय्या राज्यकाल में ही इस्लाम के बहुत से कट्टर नियमों की या तो खुल्लम-खुल्ला अवहेलना होने लगी और या उनके लिए इस्लामी धर्मशास्त्रों से ढूंढ़-ढूंढ़कर कोई-न-कोई बहाने तराशे जाने लगे और जैसा कि इब्ने ख़लदून ने सिद्ध किया है, सभ्यता एवं संस्कृति की आवश्यकताओं को इस्लाम के सारे नियमों पर प्राथमिकता प्राप्त हो गयी। अब्बासी राज्यकाल में तो यह धारा उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गयी। किन्तु अब्बासियों ने भी प्रारम्भ में उमय्या राज्य को समाप्त करने

के लिए उनकी इन धर्म-विरोधी बातों का प्रचार करके लोगों को बुरी तरह उभारा। हज़रत अली के अनुयायी, जो इमाम हुसेन के वध को कभी न भूल सके थे, उमय्या राज्यकाल के अन्त में उनका खुल्लम-खुल्ला विरोध करने लगे। इराक़वाले, जिनकी अधिक जनसंख्या शीआ हो चुकी थी, राष्ट्रीयता की भावनाओं के आधार पर भी शामियों के प्रभुत्व को अच्छी दृष्टि से न देखते थे। अब्बासी, जो मुहम्मद साहब के चाचा अब्बास इब्ने अब्दुल मुतल्लिब इब्ने हाशिम की संतान थे, हज़रत अली के सहायकों को मिलाकर बनी उमय्या के विरोधी दलों के नेता बन गये। उन्होंने डेड-सी के दक्षिण में स्थित हुमेयमह् नामक स्थान को जो एक प्रकार से अलग-थलग भी था और दूसरी ओर से विभिन्न कारवानों के मार्ग पर पड़ता था, अपने प्रचार का केन्द्र बना लिया। ईरानी, जो अपनी सभ्यता के स्वर्णयुग को न भुला सके थे, मुसलमान हो जाने पर भी अरब बदवियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। शीओं पर जो अत्याचार उमय्या काल में हुए उनके कारण ईरानवालों की सहानुभूति उनसे हो गयी थी। इस प्रकार शीओं, खुरासानियों तथा अब्बासियों ने हज़रत मुहम्मद के चाचा अब्बास की संतान के एक व्यक्ति, अबुल अब्बास अस्सफ़्फ़ाह् की पताका के नीचे इस्लाम के प्राचीन शुद्ध रूप के पुनरुत्थान का दावा करके अपना संगठन अलग बना लिया। अबू मुस्लिम खुरासानी नामक एक ईरानी ने इस आन्दोलन का बड़ी योग्यता से नेतृत्व किया और ९ जून ७४७ ई० को इस आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। सन् ७५० ई० में उमय्या राज्य को नष्ट-भ्रष्ट करके अबुल अब्बास अस्सफ़्फ़ाह् ने अब्बासी राज्य की स्थापना कर दी।

वनी अब्बास का राज्य [1]

क्योंकि इस्लाम के पुनरुत्थान की आड़ में इस आन्दोलन का संचालन किया गया था, अतः अब अब्बासी खलीफ़ा हज़रत मुहम्मद के बुरदे (चुग़े) को पहनकर शुक्रवार

१. **पृ० ११, १२, १७ पर जिन ग्रंथों की चर्चा की गयी है उनके अतिरिक्त निम्नांकित ग्रंथ देखिए, क़ुदामह, "किताब अल-खराज", "अल, मिलल वन्नहल", अल इदरीसी, "सिफ़त अल मग़रिब," "फ़िहरिस्त," अल-बेरूनी, "तहक़ीक़ मा ले अल-हिन्द", दमीरी "हयात अल हैवान"; हाज्जी खलीफ़ा तथा इब्ने खल्लिकान के ग्रंथ, इख़वान, "रसाएल", ग़ज़्ज़ाली "अह्या अल-उलूम", अल-नवबख़्ती, "फ़िरक़ अल-शीअह" तथा अंग्रेजी में,** Le Strange, *"Eastern Caliphate"*, William Willcocks, *"Irrigation of Mesopotamia"*, E.G.Browne, *"A Literary History of Persia"*, *"Arabian Medicine"*, W.A. Green-

की सामूहिक नमाज़ों में उपस्थित होने लगे और शरीअत के विद्वानों का मजमा अपने चारों ओर एकत्र रखने लगे। इन लोगों ने ऐसी हदीसें गढ़नी प्रारम्भ कर दीं जिनके आधार पर अब्बासी राज्य को एक पवित्र धार्मिक रूप देकर अत्यन्त दृढ़ बना दिया गया। यद्यपि इस्लामी राज्य के बहुत बड़े भाग पर अब्बासियों का अधिकार स्थापित हो गया, किन्तु स्पेन, उत्तरी अफ़्रीक़ा, उमान, सिन्ध, यहाँ तक कि ख़ुरासान में भी उनकी कुछ न चल पायी। मिस्र ने तो केवल नाम मात्र को उनकी अधीनता स्वीकार की। शाम में सर्वदा झगड़े होते ही रहे। अब्बासी तथा हज़रत अली के समर्थक भी संगठित न रह सके। उनमें से जो लोग यह समझ रहे थे कि अब्बासी लोग उनके लिए युद्ध

hill, "*A Treatise On Small-Pox and Measles*" (Translation); O. Cameron Gruner, "*A Treatise on the Canon of Medicine of Avicenna*", Chaucer, "*A Treatise on the Astrolobe*" Daoud S. Kasir, "*The Algebra of Omar Khayyam*", "*Introduction to the History of Science*", Alfred Guillaume, "*The Traditions of Islam*", Khalil A. Totah, "*The Contribution of the Arabs to Education*", Reubern Levy, "*A Baghdad Chronicle*", W. Barthold, "*Turkestan down to the Mongol Invasion*", Thomas W. Arnold and Adolf Grohmann, "*The Islamic Book*", B. Moritz, "*Arabic Paldeography*", "Farmer, "*Arabian Music*", Thomas Arnold and Alfred Guillaume, "*The Legacy of Islam*", Reynold A. Nicholson, "*The Mystics of Islam*", "*Kashf-al-Mahjub*" of Hujwiri, Margaret Smith, "*Rabia the Mystic and Her Fellow Saints in Islam*", "*Al Ghazzali*", W. Ivanow, "*A Guide to Ismaili Literature*", Henry Yule, "*The book of Senor Marco Polo, the Venetian*", relevant topics in, "*Encyclopaedia of Islam*", A. S. Tritton, "*The Caliphs and their Non-Muslim Subjects*", S. Khuda Bakhsh, "*A History of Islamic People*", "*The Orient under the Caliphs*", "*Islamic Civilization*", Vols. I, II; Margaret Graham Weir, "*The Arab Kingdom and its fall* by J. Wellhausen".

कर रहे हैं, उन्हें शीघ्र ही निराश होना पड़ा। इस प्रकार पूरी इस्लामी आबादी एक ख़लीफ़ा के अधीन न रह सकी और मावरदी इत्यादि इस्लामी राजनीति के विद्वानों को इन घटनाओं की दृष्टि में ख़िलाफ़त के बड़े विचित्र सिद्धान्त बनाने पड़े। इब्ने ख़लदून ने सभ्यता के विकास की पृष्ठ-भूमि के सिलसिले में इन नियमों पर प्रकाश डाला है।

सफ़्फ़ाह ने अपने राज्य को दृढ़ रूप से स्थापित करने के लिए कूफ़ा तथा बसरा दोनों को त्याग कर फ़ुरात नदी के बायें तट पर तथा इराक़ के उत्तर में स्थित अम्बर नामक स्थान पर हाशिमिया नगर बसाया। वह अधिक दिन जीवित न रह सका और ७५४ ई० में उसका देहान्त हो गया। उसका भाई अबू जाफ़र मंसूर (७५५–७७५ ई०) उसके स्थान पर ख़लीफ़ा हुआ। उसने समस्त विरोधी दलों एवं अन्य राजनीतिक तथा सामाजिक आन्दोलनों को बुरी तरह कुचल दिया और ७६२ ई० में अलिफ़ लैला के प्रसिद्ध नगर बग़दाद का निर्माण करवाया। बग़दाद, जिसका नाम मंसूर ने दारुस्स-लाम रखा था, दजला (टिगरिस) नदी के पश्चिमी तट पर, जहाँ इससे पूर्व कई बड़ी-बड़ी राजधानियाँ बनकर मिट चुकी थीं, बसाया गया। इसके निर्माण में ४८,८३,००० दिरहम व्यय हुए और लगभग एक लाख मेमार तथा कारीगर चार वर्ष तक इसका निर्माण करते रहे।

उसके राज्यकाल में प्रधान मन्त्री का पद ख़ालिद इब्ने बरमक को, जो बरमक वज़ीरों के प्रसिद्ध वंश का संस्थापक था, प्राप्त हुआ। उसका पिता बरमक बल्ख़ के बौद्ध-विहार का एक प्रभावशाली नेता था। मंसूर के उत्तराधिकारी महदी (७७५-७८५ ई०) ने अपने पुत्र हारून की शिक्षा-दीक्षा ख़ालिद बरमकी के पुत्र यहया को सौंप दी थी। हारून उसे पिता कहता था। जब हारून ख़लीफ़ा हुआ तो उसने यहया को अपना प्रधान मंत्री बनाकर उसे असीमित अधिकार सौंप दिये। ८०५ ई० में यहया की मृत्यु हो गयी और उसके पुत्र फ़ज़्ल तथा जाफ़र ७८६–८०३ ई० तक बड़ी शान से शासन-प्रबन्ध करते रहे। बग़दाद के उत्तर में इनके महल दान-पुण्य एवं कलाकारों तथा साहित्यकारों के आश्रय के केन्द्र बन गये। उनकी धन-सम्पत्ति की विशालता एवं उदारता की कहानियों को अरबी तथा फ़ारसी साहित्य ने अमर बना दिया है।

अब्बासी वंश को हारूनुर्रशीद (७८६–८०९ ई०) तथा मामूनुर्रशीद (८१३–८३३ ई०) के राज्यकाल में विशेष उन्नति प्राप्त हुई। कहा जाता है कि अब्बासी ख़लीफ़ाओं का राज्य वास्तव में मंसूर के समय से प्रारम्भ हुआ, मामून के राज्यकाल में उन्नति के शिखर पर पहुँचा और मोतज़िद (८९२–९०२ ई०) के राज्यकाल में

पतन के गर्त में पहुँच गया, यहाँ तक कि १२५८ ई० में मंगोलों ने उसे हमेशा के लिए समाप्त कर दिया।

हारून की उदारता एवं दानशीलता के कारण शीघ्र ही राजधानी में कवियों, गायकों, नर्तकियों तथा अन्य कलाकारों का एक बहुत बड़ा समूह एकत्र हो गया। हारून के मित्र अबूनुवास नामक कवि ने अपनी रचनाओं द्वारा उसके दरबार की शान व शौकत को अमर बना दिया। अब्बासी ख़लीफ़ाओं के समान उनके वज़ीर तथा बेग़में भी साहित्य एवं संस्कृति की उन्नति करने का प्रयत्न किया करती थीं। हारून की पत्नी ज़ुबैदह ने अनेक नये-नये फ़ैशन निकाले। ख़लीफ़ा महदी (७७५–७८५ ई०) की पुत्री तथा हारून की सौतेली बहिन उलय्यह भी इस मामले में किसी से पीछे न थीं। शादी-ब्याह के अवसरों पर तो व्यय की कोई सीमा ही न रहती थी। ख़लीफ़ा मामून के विवाह में, जो उसके वज़ीर हसन इब्ने सहल की १८ वर्षीय पुत्री बूरान से हुआ, इतना अधिक धन व्यय किया गया कि उसकी कहानियों ने अरबी साहित्य की रोचकता में चार चाँद लगा दिये। संसार के विभिन्न भागों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गये थे और दूर-दूर से विचित्र एवं अद्‌भुत वस्तुएँ राजधानी में पहुँचने लगी थीं। अन्य व्यवसायवालों की भी उन्नति होना स्वाभाविक ही था।

ख़लीफ़ा महदी के ज़माने से जो बौद्धिक जागृति प्रारम्भ हुई वह हारून तथा मामून के समय में उन्नति के शिखर पर पहुँच गयी। संस्कृत, ईरानी, शामी तथा यूनानी ग्रन्थों के अनुवाद के कारण अरबी भाषा समृद्ध हो गयी। ७७१ ई० में ही एक भारतीय यात्री ने बग़दाद में सिद्धांत (सिन्द हिन्द) नामक ज्योतिष के ग्रन्थ को प्रचलित करा दिया। मंसूर के आदेशानुसार मुहम्मद बिन इबराहीम अल फ़ज़ारी ने ७९६–८०६ ई० के मध्य में इसका अरबी भाषान्तर तैयार किया। उसी यात्री द्वारा गणित के एक ग्रन्थ को भी प्रसिद्धि प्राप्त हुई और 'संख्या' का ज्ञान, जिसे यूरोपवाले अरबी, और अरबवाले हिन्दी कहते हैं, इस्लामी संसार में प्रचलित हो गया। कुछ समय-उपरान्त अरब की गणित विद्या में दशमलव प्रणाली भी प्रचलित हो गयी। यह भी भारत की ही देन थी। ईरानियों ने पंचतंत्र (कलीला व दिमना) नामक राजनीतिक कहानियों के ग्रन्थ को, जो नोशीरवाँ के युग में ईरान पहुँचा था, अरबी में प्रचलित करा दिया। अल-अग़ानी, अल-इक़्द, अल-फ़रीद तथा तुरतूशी के "सिराजुल-मुलूक" में इन कहानियों के हवाले भरे पड़े हैं।

यूनानी ग्रन्थों के प्रारम्भिक अनुवादकों में यह्या इब्न-अल-बतरीक़ (७९६ ई० अथवा ८०६ ई० के लगभग) हुआ है, किन्तु अनुवादकों का नेता, अथवा अरबी के शब्दों

में "शेख़," हुनियन इब्ने इसहाक़ (८०९–७३ ई०) था। अरस्तू के कई ग्रन्थों के अनुवाद उसी ने किये। साबित इब्ने क़ुरा (८३६–९०१) ने दूसरे क्षेत्र में अधिक योगदान किया। उसने हुनियन के अनेक ग्रन्थों में संशोधन करके कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद किये।

कुछ अनुवादकों ने कई मौलिक ग्रन्थों की भी रचनाएँ कीं। ७५० से ८५० ई० तक के लगभग १०० वर्ष के अनुवादों के युग के उपरान्त मौलिक ग्रन्थों की रचना का युग प्रारम्भ हुआ। इस क्षेत्र में सबसे अधिक उन्नति चिकित्सा शास्त्र में हुई। अबू बक्र मुहम्मद इब्ने ज़करिया राज़ी (८६५–९२५ ई०) जिसका जन्मस्थान तेहरान के समीप रैय था, चिकित्सा शास्त्र के लेखकों में सर्वोच्च माना जाता है। उसके ग्रन्थों की संख्या भी बहुत अधिक है और वे मौलिक भी कहे जाते हैं। शल्य-चिकित्सा में भी उसने कुछ आविष्कार किये। फ़ेहरिस्त नामक ग्रन्थ के अनुसार उसने ११३ बड़े तथा २८ छोटे ग्रन्थों की रचना की। "किताबुल असरार" अथवा "रहस्यों की पुस्तक" नामक उसकी रचना को बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त हुई। उसने चेचक के उपचार के विषय में "अल-जुदरी वलहसबा" नामक ग्रन्थ की रचना की। "हावी" नामक उसका ग्रन्थ तो एक प्रकार से चिकित्सा शास्त्र का कोश है। राज़ी के बाद इब्ने सीना (९८०–१०३७ ई०) जिसे अरब लोग शैखुर्रईस कहते हैं, चिकित्सा शास्त्र के अतिरिक्त दर्शन, भाषा एवं काव्य के सम्बन्ध में भी कई ग्रन्थों का रचयिता हुआ है। उसके ग्रन्थों में "किताब-अल-शिफ़ा" जो एक प्रकार से दर्शन शास्त्र का कोश है तथा "क़ानून फ़ी-अल-तिब" जिसमें यूनानी तथा अरबी चिकित्सा शास्त्र के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है, बड़े प्रसिद्ध हैं।

दर्शन शास्त्र में अरबों ने कोई मौलिक योगदान तो नहीं किया, किन्तु यूनानी दर्शन शास्त्र को अपने ढंग से इस्लामी रंग में रंगकर अरबी भाषा में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उनके दर्शन में, दर्शन तथा धर्म दोनों की सीमाएँ एक दूसरे से मिलती-जुलती देख पड़ती हैं। धीरे-धीरे अरबों में दार्शनिकों के दो समूह बन गये, जो फ़िलासफ़ह अथवा हुकमा एवं मुतकल्लेमून अथवा अहल-अल-कलाम के नाम से प्रसिद्ध हुए। मुतकल्लेमून ने अपने तर्क के लिए धर्म का सहारा लिया, किन्तु दार्शनिक अथवा फ़िलासफ़ह या हुकमा वे लोग थे जो धर्म की चिन्ता किये बिना दार्शनिक सिद्धान्तों पर अपने विचार आधारित करते थे। अबू यूसुफ़ याक़ूब इब्ने इसहाक़ अलकिन्दी ९वीं शती ई० में कूफ़े में पैदा हुआ और बग़दाद में उसे उन्नति प्राप्त हुई। अरब-वंशीय होने के कारण वह अरबों का दार्शनिक कहा जाता है। नव-अफ़लातून-वादी सिद्धान्तों के आधार

पर उसने अफ़लातून तथा अरस्तू के विचारों को अपने दर्शन में मिलाकर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। वह नव-पायथागोरस-वादी गणित को सभी विज्ञानों का आधार मानता था। उसने इस्लामी सिद्धान्तों का यूनानी दर्शन के साथ समन्वय करने का बड़ा प्रयत्न किया। उसकी यह कोशिश 'अल-फ़ाराब' ने भी जारी रखी। मुहम्मद इब्ने तरखान अबू नसर अल-फ़ाराबी मावराउन्नहर में पैदा हुआ। उसने अफ़लातून, अरस्तू तथा सूफ़ियों के सिद्धान्तों को मिलाकर अपने दर्शन का आधार बनाया। इब्ने सीना ने भी, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, दर्शन शास्त्र में काफ़ी योगदान किया। ९७० ई० के समीप बसरा में कुछ ऐसे दार्शनिकों का समूह एकत्र हो गया जो पायथा-गोरस-वादी सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट थे और इख्वानुस्सफ़ा (निष्ठा पर आधारित विचारों के माननेवाले भाई) कहलाते थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों द्वारा बाद के लेखकों एवं दार्शनिकों को बड़ा प्रभावित किया।

यद्यपि अरबों का ज्योतिष हिन्दुस्तानी, ईरानी तथा यूनानी सिद्धान्तों पर आधारित था और ९वीं शती ई० के प्रारम्भ में उन लोगों ने वेधशालाएँ तैयार करानी प्रारम्भ कर दी थीं, किन्तु मामून के समय में इस ज्ञान को विशेष उन्नति प्राप्त हुई। ज्योतिष के साथ-साथ भूगोल को भी अरबों के व्यापारिक जीवन के कारण अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। टालोमी के "अलमगेस्ट" के अनुवाद का प्रयत्न यहया इब्ने खालिद इब्ने बरमक के समय से ही प्रारम्भ हो गया था। इसके बाद कई अन्य विद्वानों ने इस ग्रन्थ के अरबी भाषान्तर तैयार किये, जिनमें हज्जाज इब्ने मतर (८२७–८२८ ई०), हुनयन इब्ने इस्हाक़ एवं साबित इब्ने क़ुर्रा (९०१ ई०) के अनुवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी बीच में अरबवालों को भारत की प्रसिद्ध वेधशाला का, जो उज्जैन में थी, ज्ञान प्राप्त हो गया और उज्जैन नगर उनके ग्रन्थों में अरीन के नाम से स्थान पा गया। इब्ने खुराज़बेह (लगभग ९१२ ई०), इस्तखारी इब्ने हौक़ल, मक़-दिसी, इब्ने वाज़ेह अल-याक़ूबी तथा हसन इब्ने अहमद अल-हमदानी ९वीं तथा १०वीं शती ई० के विख्यात भूगोलवेत्ता हुए हैं। याक़ूत इब्ने अब्दुल्लाह अल-हमवी (११७९-१२२९ ई०) के "मोजमुल बुल्दान" को भूगोल का कोश समझा जाता है।

इतिहास की रचना में तो अब्बासी राज्यकाल उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया। कूफ़े के हिशाम अल कलबी (८१९ ई०) ने इस्लाम से पूर्वकाल के इतिहास पर विस्तार से प्रकाश डाला है, किन्तु प्रारम्भिक इतिहासकार केवल हज़रत मुहम्मद की जीवनी एवं चरित्र अथवा "सीरते रसूल अल्लाह" विषयक ग्रन्थों की रचना करते थे। इब्ने इस्हाक़ (मृत्यु लगभग ७६७ ई०) ने सर्वप्रथम मुहम्मद साह के जीवन से सम्बद्ध-

एक बृहत् ग्रंथ की रचना की, किन्तु वह ग्रन्थ अब प्राप्य नहीं है। इब्ने हिशाम ने, जिसकी मृत्यु ८३४ ई० में क़ाहेरा में हुई, इब्ने इस्हाक़ के ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत किया। हज़रत मुहम्मद की जीवनी के साथ-साथ उनके प्रारम्भिक युद्धों पर भी ग्रन्थ लिखे गये। मूसा इब्ने उक़बह् (७५८ ई०) तथा वाक़ेदी (८२३ ई०) ने, जो मदीने के निवासी थे, इस क्षेत्र में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। इब्ने अब्दुल हकम (८७०–७१ ई०) ने जो मिस्र निवासी था, "फ़ुतूह मिस्र व अख़बारोहा" में मिस्र तथा उत्तरी अफ़्रीक़ा एवं स्पेन की विजयों के विषय में एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। अहमद इब्ने यहया अल बलाज़ुरी (८९२) ने "फ़ुतूहल बुल्दान" एवं "अन्साबुल अशराफ़" नामक ग्रन्थ लिखकर ऐतिहासिक रचनाओं के द्वार खोल दिये।

प्रारम्भिक इतिहासकारों में मुहम्मद इब्ने-मुस्लिम अल-दीनावरी अथवा इब्ने क़ुतैबह् (मृत्यु ८८९ ई० बग़दाद) ने "किताबुल मआरिफ़" नामक ग्रन्थ की रचना की। उसके समकालीन अबूहनीफ़ा अहमद इब्ने दाऊद अल दीनावरी (८९५ ई०) ने "अल-अख़बार अल-तिवाल" नामक ग्रन्थ की रचना की। उसी युग का एक महत्त्वपूर्ण भूगोलवेत्ता तथा इतिहासकार इब्ने वाज़ेह अल याक़ूबी था।

प्रमुख इतिहासकारों में अबू जाफ़र मुहम्मद इब्ने जरीर अल-तबरी (८३८–९२३ ई०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह अपने बृहत् ग्रंथ ("अख़्बार अल-रूसुल वल-मुलूक" के लिए बड़ा प्रसिद्ध है। बाद के इतिहासकारों ने उसके लिखे इतिहास को ही अपनी रचनाओं का आधार बनाया है। उसने हज़रत आदम से लेकर अपने काल तक की विभिन्न तिथियों की अनेक मुख्य घटनाओं का उल्लेख करते हुए ९१५ ई० तक का इतिहास लिखा है। तबरी को अपने कार्य में इतनी रुचि थी कि वह ४० वर्ष तक ४० पृष्ठ प्रति दिन के हिसाब से लिखता रहा। सामग्री की खोज में उसने ईरान, इराक़, शाम तथा मिस्र की यात्राएँ कीं। इसी सिद्धान्त पर वाक़ेदी अपने ग्रन्थ की रचना कर चुका था और उसी का अनुसरण मिसकवये, इबनुल असीर, अबुल फ़िदा (१२७३–१३३१ ई०) तथा अलज़हबी (१२७४–१३४८ ई०) ने किया।

अबुल हसन अली अल-मसऊदी (मृत्यु ९५६ ई०) ने, जो अरबों का हेरोडोटस कहलाता है, अपने इतिहास को विभिन्न विषयों के क्रमानुसार विभाजित किया। उसने प्रत्येक वर्ष का अलग-अलग इतिहास लिखने के स्थान पर विभिन्न शाही वंशों, अमीरों तथा अन्य लोगों का इतिहास लिखा। इब्ने ख़लदून तथा बाद के अन्य इतिहासकारों ने उसी का अनुसरण किया। उसके बहुत-से ग्रन्थ नष्ट हो गये किन्तु "मुरुजुज़्ज़हब

व मादन अल जवाहर" नामक उसका ग्रन्थ, जिसमें ९४७ ई० तक का इतिहास दिया हुआ है, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक ज्ञान का कोश है।

मुसलमानों की धार्मिक आवश्यकताओं के अनुसार हदीस के ज्ञान की उन्नति होना स्वाभाविक ही था। क़ुरान के पश्चात्, सुन्नत अथवा मुहम्मद साहब के कारनामे तथा वाणी इस्लामी विधान के मूल आधार हैं। वास्तव में हदीस हज़रत मुहम्मद के ही कारनामों एवं वाणी का संग्रह है, किन्तु इसमें मुहम्मद साहब के सहायकों, साथियों, मित्रों एवं संतान का भी उल्लेख आ जाता है। हज़रत मुहम्मद की मृत्यु के ढाई सौ वर्ष के भीतर हदीसों का एक बहुत बड़ा संग्रह एकत्र हो गया। प्रत्येक राजनीतिक तथा धार्मिक कठिनाई के समय वास्तविक अथवा गढ़ी हुई हदीसों से काम लिया जाता था। प्रामाणिक हदीसों के लिए दो चीज़ें परमावश्यक हैं—"इस्नाद" अथवा जिन लोगों द्वारा वह हदीस सुनी गयी उनका क्रम तथा "मत्न" अथवा हदीस के शब्द। क्रम इस प्रकार होता है—"क" ने मुझे यह हदीस बतायी जिसे उसने "ख" से सुना और "ख" ने "ग" से और "ग" ने "घ" से। इस प्रकार के क्रम में हदीस सुनानेवालों की प्रसिद्धि एवं चरित्र पर बड़ा ज़ोर दिया जाता था। इसी आधार पर हदीसों का विभाजन तीन भागों में होता था—'सहीह' (प्रामाणिक), 'हसन' (ठीक) तथा 'ज़ईफ़' (कमज़ोर)। हदीस के ग्रंथों में मुहम्मद इब्ने इस्माईल अल-बुख़ारी (८१०–७० ई०) के ग्रन्थ को बड़ा सम्मान प्राप्त है। मुस्लिम इब्ने अल हज्जाज (८७५ ई०) ने भी हदीसों को संकलित करके एक बृहत् ग्रन्थ तैयार किया और बुख़ारी के ग्रन्थ के समान अपने ग्रन्थ का नाम "सहीह" रखा। हदीस के इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त बसरे के अबू दाऊद (८८८ ई०) की "सुनन", तिरमिज़ी (८९२ ई०) के "जामे", इब्ने माजा क़ज़वीनी (८८६ ई०) के "सुनन" तथा नसाई (मृत्यु ९१५ ई०) के "सुनन" को भी महत्त्व प्राप्त है।

हदीस के साथ-साथ फ़िक़्ह का ज्ञान भी अरबों का ही आविष्कार है और रोमनों के बाद मध्ययुगीन अरब ही इस क्षेत्र में सबसे आगे दृष्टिगत होते हैं। फ़िक़्ह, साधारणतः क़ुरान तथा सुन्नत एवं मुहम्मद साहब की हदीसों पर आधारित हैं। इनके अतिरिक्त 'क़यास' (सादृश्य, व्यापक से व्याप्य का तर्क) तथा 'इजमा' (मुसलमानों की सर्वसम्मति) को भी फ़िक़्ह में विशेष स्थान प्राप्त है। इन्हीं के आधार पर इस्लाम के धर्मविधान अथवा शरीअत का निर्माण हुआ। फ़िक़्ह के क्षेत्र में चार विद्वानों ने विशेष रूप से योगदान किया। नोमान इब्ने साबित अबू हनीफ़ा, जिन्होंने अपना अधिकांश जीवन कूफ़े तथा बग़दाद में व्यतीत किया और ७६७ ई० में मृत्यु को प्राप्त हुए,

इस्लाम के धर्म-विधान के निर्माताओं में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। उनके एक शिष्य अबू यूसुफ़ (७९८ ई०) ने उनकी शिक्षाओं एवं उनके सिद्धांतों को "किताबुल ख़राज" नामक ग्रन्थ में संकलित किया। समस्त सुन्नी संसार का लगभग आधा भाग उन्हीं का अनुयायी है। आटोमन राज्य, हिन्दुस्तान तथा मध्य एशिया के सुन्नी मुसलमान उन्हीं की व्याख्या के समर्थक हैं। मालिक इब्ने अनस (७१५–७९५ ई०) की "मुवत्ता," मालिकी धर्मविधान का प्राचीनतम ग्रन्थ है। मिस्र के नीचे के भाग को छोड़कर पूरे उत्तरी अफ़्रीक़ा के सुन्नी इसी विधान को मानते हैं। मुहम्मद इब्ने इदरीस अल-शाफ़ई द्वारा इस्लाम के विधान की व्याख्या को जो लोग स्वीकार करते हैं, वे शाफ़ई कहलाते हैं। शाफ़ई का जन्म ७६७ ई० में ग़ज़्ज़ह में हुआ और वे ८२० ई० में क़ाहेरा में मृत्यु को प्राप्त हुए। मिस्र के नीचे के भाग, पूर्वी अफ़्रीक़ा, फ़िलिस्तीन तथा पश्चिमी और दक्षिणी अरबवाले और हिन्दुस्तान के समुद्र तट के भाग के कुछ सुन्नी मुसलमान उन्हीं के धर्म-विधान के अनुयायी हैं। अहमद इब्ने हम्बल (मृत्यु ८५५ ई०) शाफ़ई के शिष्य थे। अपने कट्टर सिद्धान्तों के कारण उन्हें अपने जीवन-काल में बड़े-बड़े कष्ट भोगने पड़े। उन्होंने मोतज़ेला विचारकों का घोर विरोध किया और ख़लीफ़ा मामून ने, जो मोतज़ेला का समर्थक था, उन्हें मृत्युदंड भी दिया, किन्तु बग़दादवाले इनका सर्वदा अत्यधिक आदर-सम्मान करते रहे। इनके अनुयायियों की संख्या बहुत कम है और केवल वहाबी ही इनके धर्म-विधान को मानते हैं। इन चार विद्वानों के अतिरिक्त सुन्नियों के मतानुसार इजतेहाद (शरीअत अथवा सुन्नत की व्याख्या) के द्वार बन्द हो गये और अब किसी को इस दिशा में कोई मौलिक कार्य करने का अधिकार नहीं। केवल उन्हीं विद्वानों के सिद्धान्तों पर टीका-टिप्पणी की जा सकती है।

अब्बासी राज्यकाल कलाकौशल की उन्नति के लिए भी बड़ा प्रसिद्ध है। यद्यपि इस समय जो भवन वर्तमान हैं उनमें बहुत थोड़े-से ही प्रारम्भिक अब्बासी ख़लीफ़ाओं के बताये जाते हैं, किन्तु कला के अन्य क्षेत्रों के, विशेषतः सुलेख और चित्रकला की उन्नति के तत्कालीन बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। संगीत की जो उन्नति उमय्या राज्यकाल में हुई वह अब्बासी दौर में भी जारी रही। हारूनुर्रशीद के दरबार में संगीतज्ञों को विशेष प्रोत्साहन मिलता था। ख़लीफ़ा मामून तथा ख़लीफ़ा मुतवक्किल (८४७–८६१ ई०) का मुसाहिब इसहाक़ इब्ने इबराहीम मौसवी (७६७–८५० ई०) संगीत का बड़ा माहिर समझा जाता था। नृत्य के क्षेत्र में भी बग़दाद का दरबार दमिश्क के दरबार से किसी प्रकार पीछे न था। अब्बासी राज्यकाल में संगीत के कई ग्रन्थों के अनुवाद हुए और कई मौलिक ग्रन्थों की रचना भी की गयी।

धर्म के क्षेत्र में नये विचारों का प्रचार हुआ और बहुत-से नये धार्मिक आन्दोलन एवं विचारधाराएँ प्रचलित हो गयीं। मोतज़ेला आन्दोलन, जो उमय्या खलीफ़ाओं के समय में ही प्रारम्भ हो चुका था, अब्बासी खलीफ़ा मामून के समय में बड़ी उन्नति कर गया। खलीफ़ा की दर्शन-शास्त्रीय रुचि ने इस आन्दोलन को राज्य के धर्म का रूप दे दिया। मामून ने ८२७ ई० में क़ुरान के "खल्क़" होने के विषय में घोषणा करा दी। वास्तव में यह बड़ा ही साहसपूर्ण क़दम था। कट्टर धर्मनिष्ठ लोग क़ुरान को ईश्वर की वाणी कहते हैं और उनका विचार है कि जिन शब्दों में ईश्वर का आदेश हुआ, वे मूल रूप में क़ुरान में सुरक्षित हैं। मोतजेला इसका खंडन करते हैं। "खल्क़" का सिद्धांत यह है कि "शब्द मनुष्य के बनाये हुए हैं।" मामून ने अपने समस्त अधिकारियों को इसी सिद्धान्त को मानने पर विवश किया। अहमद इब्ने हम्बल को प्राचीन कट्टर विचारों से विचलित न होने के कारण मृत्युदण्ड भोगना पड़ा। मामून के दो उत्तराधिकारियों के राज्यकाल में मोतज़ेला सिद्धान्तों का ही ज़ोर रहा, किन्तु ८४८ ई० में मुतवक्किल ने इस नयी विचारधारा का दमन करा दिया। इस समय के मोतज़ेला विद्वानों में नज़्ज़ाम (८४५ ई०) बड़ा प्रसिद्ध हुआ है।

मोतज़ेला विचारधारा का विरोध करनेवालों में प्रमुख बग़दाद का अबुल हसन अली अल अशअरी (९३५–३६ ई०) था। वह भी प्रारम्भ में मोतज़ेला विद्वानों का शिष्य रह चुका था। उसने "कलाम" के ज्ञान का प्रचार किया। अशअरी के सिद्धान्तों का अधिक प्रचार अबू हामिद अल ग़ज़्ज़ाली (जन्म १०५८ ई०, मृत्यु ११११ ई०) द्वारा हुआ। उन्होंने इस्लाम के शुद्ध नियमों के पालन पर विशेष ज़ोर दिया। बाद में उनके ऊपर सूफ़ी मत का अधिक प्रभाव पड़ा और वे इस्लाम के कट्टर अनुयायियों के एक प्रकार के नेता हो गये।

तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ी मत की भी अधिक उन्नति इसी युग में हुई। यह लोग भी अपने सिद्धांतों को क़ुरान तथा हदीस पर आधारित करते थे। प्रारम्भ में केवल दरवेशों अथवा सन्तों का समूह ही इसमें सम्मिलित रहा, किन्तु धीरे-धीरे नव-अफ़लातून-वादी, ज्ञेयवादी तथा बौद्ध आदि मतों की भी गहरी छाप उनके ऊपर पड़ी और उनमें से अधिकांश सर्वेश्वरवाद सम्बन्धी दर्शन को मानने लगे।

शीआ

उमय्या राज्यकाल के समान अब्बासी राज्यकाल में भी शीओं का जीवन कष्ट में ही व्यतीत हुआ। यद्यपि अब्बासी राज्य की स्थापना में शीओं का भी बड़ा हाथ था

किन्तु अब्बासियों ने इनके दमन में कोई कसर न उठा रखी थी। ख़लीफ़ा मुतवक्किल तो अपने कट्टरपन में उमय्या ख़लीफ़ाओं से भी बढ़ गया। ८५० ई० में उसने नजफ़ में हज़रत अली तथा करबला में इमाम हुसेन के रौज़ों को नष्ट करा दिया। शीआ भी अपनी स्थिति से भली-भाँति परिचित थे और दमनचक्र के बावजूद जब कभी उन्हें अवसर मिल जाता वे ख़लीफ़ाओं को हानि पहुँचाने से न चूकते। उन्होंने अपनी बचत के लिए "तक़ीयह" अथवा अपने वास्तविक विचारों को गुप्त रखने का सिद्धान्त निकाल लिया। शीओं का दावा था कि हज़रत अली केवल हज़रत मुहम्मद के राज्य के ही उत्तराधिकारी नहीं हैं अपितु मुहम्मद साहब के धर्म के रहस्यों से भी वे ही पूर्ण रूप से अवगत हैं और अन्य लोग उन्हें नहीं जानते। शीआ इस बात का प्रचार करते थे कि इमाम केवल ईश्वर की ओर से ही नियुक्त होता है और उसका हज़रत अली की संतान होना परमावश्यक है। १२ इमामों के माननेवाले "असना अशअरी" कहलाये, किन्तु शीओं के कुछ समूह ऐसे भी हुए जो इनसे कम इमामों को भी मानते थे और इस आधार पर उनके बहुत से गिरोह हो गये हैं।

छठे इमाम जाफ़र सादिक़ (मृत्यु ७६५ ई०) के पुत्र इस्माईल से जिनका उनके पिता के ही जीवनकाल में निधन हो गया था (७६० ई०), एक अन्य शाखा निकली जो इस्माईली कहलाती है। उन्होंने अपने विचारों का बड़े रहस्यमय ढंग से प्रचार किया और राजनीति के क्षेत्र में वे सुन्नियों के कड़े विरोधी सिद्ध हुए। उन्होंने बहुत-से स्थानों पर अपने गुप्त केन्द्र बनवा लिये, जहाँ से वे भीतर ही भीतर अब्बासी ख़लीफ़ाओं का तख़्ता पलटने का प्रयत्न किया करते थे। बड़े-से-बड़े सुन्नी आलिम तथा हाकिम की हत्या करा देना उनके बायें हाथ का खेल था। इस प्रकार के इस्माईली बातिनी (गुप्त रहनेवाले) कहलाते थे। उनका विचार था कि क़ुरान के अर्थ को उसके रहस्य का पता लगाकर ही समझा जा सकता है। क़ुरान के शब्दों के अर्थ का कोई अधिक महत्त्व नहीं। महत्त्व केवल उस रहस्यमय व्याख्या का है जो वे किया करते थे। इस्माईली सिद्धान्तों का सबसे अधिक प्रचार अब्दुल्लाह द्वारा सर्वप्रथम बसरा में, तदुपरान्त उत्तरी शाम स्थित सलामिया नामक स्थान से हुआ। वह लोगों को महदी[1] के प्रकट होने के विषय में आश्वासन दिलाया करता था। उसकी मृत्यु ८७४ ई० के लगभग हुई किन्तु इससे पूर्व ही हमदान क़रमत नामक एक इराक़ी किसान उसका शिष्य बन गया, जिसने बड़े उत्साह से अब्दुल्लाह के सिद्धांतों का प्रचार किया और उसके माननेवाले क़रामती

१. महदी के विषय में इब्ने ख़लदून ने इस ग्रंथ में विस्तार से लिखा है।

कहलाने लगे। ८९० ई० के लगभग उसने कूफ़े के समीप अपने प्रचार का एक केन्द्र बना लिया। नबती किसानों तथा अरबों की बहुत बड़ी संख्या उसके सिद्धांतों को मानने लगी। बसरे में ज़ंज (नीग्रो) लोगों ने ८६८ ई० तथा ८८३ ई० के मध्य ख़लीफ़ाओं के विरुद्ध जो संघर्ष प्रारम्भ किया उसमें उसने उनका साथ देकर ख़लीफ़ाओं को बहुत तंग किया। ८९९ ई० में क़रमत के एक प्रचारक सईद अल हसन अल जन्नाबी ने फ़ारस की खाड़ी के पश्चिमी तट पर एक अन्य राज्य स्थापित कर लिया, जिसकी राजधानी अल-आहसा (अल-हुफ़ूफ़) निश्चित हुई। शीघ्र ही इस राजधानी ने बग़दाद के राज्य की नींव हिला दी। असहा से इस्माईलियों के विभिन्न समूह अब्बासी राज्य के आस-पास के स्थानों पर आक्रमण करने लगे। अल जन्नाबी ९०३ ई० के लगभग यमामह को अपने अधिकार में करके उमान तक छापे मारने लगा। उसके पुत्र अबू-ताहिर सुलेमान ने इराक़ के नीचे के अधिकांश भाग नष्ट-भ्रष्ट करके ९३० ई० में मक्के पर अधिकार जमा लिया। १० वीं तथा ११वीं शती ई० में क़रमत एवं अल जन्नाबी के अनुयायी अपने केन्द्र सलामिया से निकलकर शाम तथा इराक़ पर छापे मारने लगे, यहाँ तक कि ख़ुरासान और यमन तक भी सुरक्षित न रह सके।

इन्हीं सिद्धान्तों को लेकर १२वीं शती ईसवी में हसन इब्ने सब्बाह (११२४ ई०) ने हशाशून (अथवा हशीश नामक एक प्रकार का नशा खिलानेवालों के समूह) का संगठन किया, जो अंग्रेज़ी में 'असेसिन' कहलाते हैं। १०९० ई० में उसने क़ज़वीन के दक्षिण-पश्चिम में स्थित अल-अमूत नामक पर्वतीय क़िले को अपने अधिकार में कर लिया। वहाँ से वह अपने शिष्यों को, जो उसके धर्म के दाई (प्रचारक) कहलाते थे, अब्बासी राज्य के विभिन्न प्रांतों में भेजने लगा। उनके संगठन के निम्न वर्ग में फ़िदाई होते थे जो अपने स्वामी के प्रत्येक आदेश का पालन करने के लिए सर्वदा कटिबद्ध रहते थे। १०९२ ई० में इन लोगों ने प्रसिद्ध सलजूक़ वज़ीर निज़ामुल मुल्क की हत्या कर दी। ख़लीफ़ा तथा अन्य सुल्तानों ने इनके विनाश का बड़ा प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें सफ-लता न मिल सकी। अन्त में १२५६ ई० में हुलाकू ने इन्हें पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया।

पूर्व के राज्य तथा अब्बासी ख़लीफ़ाओं का पतन[1]

जहाँ एक ओर हारूनुर्रशीद एवं मामूनुर्रशीद के राज्य का ऐश्वर्य तथा गौरव इतिहास के पाठकों को आश्चर्य-चकित किये बिना नहीं रहता, वहाँ दूसरी ओर उमय्या

१. पृ० २१ व २२ पर जिन ग्रंथों की चर्चा की गयी है उनके अतिरिक्त अंग्रेज़ी में देखिए

वंश के विशाल राज्य का क्षेत्र अब्बासी राज्य की स्थापना के समय से ही कम होने लगा था। उन्दुलुस, मग़रिब और बाद में मिस्र अब्बासियों के हाथ से निकल गये। पूर्व में भी राजधानी से दूर के स्थानों को धीरे-धीरे उन्हीं के ईरानी तथा तुर्क दासों ने उनके अधिकार-क्षेत्र से बाहर निकालना प्रारम्भ कर दिया।

ताहिरी वंश—सर्वप्रथम जिस व्यक्ति ने बग़दाद के अधिकार-क्षेत्र से पृथक् होकर स्वतंत्र-जैसा राज्य स्थापित किया, वह ख़ुरासान का एक ईरानी दास ताहिर इब्न अल-हुसेन, मामूनुर्रशीद का सेनापति था, जिसे ८२० ई० में मामून ने बग़दाद के पूर्व के अपने समस्त राज्य का हाकिम नियुक्त कर दिया था। उसने अपनी राजधानी मर्व में बनायी और अपनी मृत्यु के पूर्व ही खलीफ़ा का नाम भी ख़ुत्बों से पृथक् करा दिया। ताहिर के उत्तराधिकारियों ने अपना राज्य हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त तक बढ़ा लिया और अपनी राजधानी नीशापुर में बनायी। वे ८७२ ई० तक राज्य करते रहे।

सफ़्फ़ारी वंश—८७२ ई० में याक़ूब इब्न अल-लैस अल-सफ़्फ़ार (८६७–८७८ ई०) ने, जो एक साधारण वंश का व्यक्ति था, अपनी वीरता से ताहिरी वंश का अन्त कर दिया और यह वंश ९०८ ई० तक राज्य करता रहा, किन्तु सामानियों ने इसके राज्य को नष्ट कर दिया।

सामानी वंश—सामानी राज्य के संस्थापक का पूर्वज बल्ख़ का सामान नामक एक ज़रदुश्त्री था। उसके एक पौत्र नस्र इब्न-अहमद (८७४–८९२ ई०) ने सामानी राज्य की स्थापना की, किन्तु उसकी उन्नति उसके भाई तथा उत्तराधिकारी इस्माईल (८९२–९०७ ई०) के द्वारा ही हुई। सामानियों के राज्यकाल में ही मावराउन्नहर (ट्रांसाक्ज़ियाना) पर पूर्ण रूप से अधिकार प्राप्त हुआ। उनकी राजधानी बुख़ारा और उनका प्रसिद्ध नगर समरक़न्द, दोनों बग़दाद का मुक़ाबला करने लगे।

ग़ज़नवी—अपने राज्य में सामानियों ने उत्तर से आनेवाले तुर्क ख़ानाबदोशों को अत्यधिक आश्रय दिया। इस प्रकार तुर्कों का प्रभुत्व बढ़ता ही गया। ९६१ ई० में

Stanley Lane Poole, "*The Mohammadan Dynasties*", M. Nazim, "*The Life and times of Sultan Mahmud of Ghazna*" Harold Bowen, *The Life and Times of Ali Ibn Isa the Good Vizier*, Stanley Lane Poole, "*Catalogue of Oriental Coins in the British Museum*" **तथा फ़ारसी में, "राहत अल-सुदूर", जुवैनी, "तारीख़े जहां कुशा" रशीदुद्दीन, फ़ज़लुल्लाह, "जामे-उत्तवारीख़".**

अलप्तगीन नामक एक तुर्क दास को सामानियों ने ख़ुरासान का हाकिम नियुक्त कर दिया। उसने ९६२ ई० में ग़ज़नी पर अपना अधिकार जमा लिया और अपना एक पृथक् राज्य स्थापित कर लिया। उसके दास तथा जामाता सुबुक्तगीन (९७६–९९७ ई०) ने अपना राज्य ख़ुरासान तथा हिन्दुस्तान में पेशावर तक बढ़ा लिया। ९९४ ई० में ग़ज़नवियों ने सामानियों के राज्य का आक्सस के दक्षिण का पूरा भाग अपने अधिकार में कर लिया। सुबुक्तगीन का पुत्र महमूद (९९९ ई०–१०३० ई०) अपने हिन्दुस्तान के आक्रमणों के लिए प्रसिद्ध है। तुर्कों के इस्लामी राजनीति में प्रविष्ट हो जाने के उपरान्त ईरानियों के प्रभुत्व का अन्त हो गया, परन्तु इनके राज्य का संगठन भी सामानियों अथवा सफ़्फ़ारियों की भाँति सैनिक शक्ति पर आधारित था। सैनिक शक्ति के ह्रास के साथ-साथ बड़े राज्यों का पतन भी होने लगता है। महमूद की मृत्यु के उपरान्त उसका राज्य भी टुकड़े-टुकड़े हो गया। उत्तर तथा पश्चिम में तुर्किस्तान के ख़ानों ने तथा ईरान के सलजूक़ों ने ग़ज़नवियों का राज्य छीन लिया। ११८६ ई० में आधुनिक अफ़ग़ानिस्तान के ग़ोरियों ने इनके राज्य को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया। इनकी शक्ति का मुख्य आधार इनका सैन्य-संगठन था और इनकी राजनीति प्राचीन ईरान की राजनीति पर आधारित थी। धार्मिक विचारों में ईरान के प्राचीन धर्म एवं बौद्ध मत से भी ये बड़े प्रभावित हुए थे और सबको मिला-जुलाकर इस्लामी चोला पहना दिया था।

बुवय्या—इधर तो अब्बासियों का पूर्वी राज्य विभिन्न ईरानी तथा तुर्क वंशों के अधिकार में चला गया, उधर बुवहयिद अथवा बुवय्या ईरानियों एवं सलजूक़ तुर्कों ने अब्बासियों पर इस प्रकार अधिकार प्राप्त कर लिया कि इनका राज्य बग़दाद में केवल नाम मात्र को रह गया।

८वें अब्बासी ख़लीफ़ा अल मोतसिम (८३३–४२ ई०) ने अपने रक्षार्थ ४००० तुर्कों की एक सेना बनायी थी। यह सेना विशेष रूप से ख़ुरासानियों को, जिनकी सहायता से अब्बासियों ने राज्य स्थापित किया था, वश में रखने के लिए नियुक्त की गयी थी, किन्तु अब्बासियों को शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि वे रक्षक नहीं अपितु उनके लिए भक्षक सिद्ध हो रहे हैं। उनके अत्याचार से बचने के लिए ८३६ ई० में ख़लीफ़ा मोतसिम अपनी राजधानी बग़दाद से टिगरिस तट पर ६० मील दूर स्थित सामर्रा नगर को ले गया। उसने इस नगर का नाम "सुर्रा मन रा" (धन्य हो वह जो उसे देखे) रखा। यहाँ मस्जिदों एवं महलों का निर्माण कराया गया। सन् ८३६ से ८९२ ई० तक यह नगर अब्बासियों की राजधानी बना रहा।

दिसम्बर ८६१ ई० में ख़लीफ़ा मुतवक्किल (८४७–८६१ ई०) की हत्या तुर्कों द्वारा उसके पुत्र ने करा दी। उसकी मृत्यु के उपरान्त तो ख़लीफ़ा तुर्कों के हाथ की कठपुतली हो गये। अन्तःपुर की स्त्रियों ने अपने पुत्रों एवं आश्रितों के राज्य के लिए खुल्लम-खुल्ला उनसे मिलकर षड्यंत्र रचना आरम्भ कर दिया और लगभग २०० वर्ष तक अब्बासी ख़लीफ़ाओं की राजधानी में यही खेल खेला जाता रहा।

दिसम्बर, ९४५ ई० में ख़लीफ़ा अल मुस्तकफ़ी (९४४–४६ ई०) के समय में अहमद बिन बुवय्या ने, जो अपने-आपको ईरान के प्राचीन सासानी वंश से सम्बन्धित बताता था, तुर्कों का प्रभुत्व समाप्त कर दिया और ख़लीफ़ा अल-मुस्तकफ़ी (९४४–९४६ ई०) ने उसे "अमीरुल उमरा" तथा "मुइज़्ज़ुद्दौला" की उपाधियाँ प्रदान कीं। इन लोगों ने शीराज़ को अपनी राजधानी बनाया और ९४५–१०५५ ई० तक ये ख़लीफ़ाओं को कठपुतली बनाये रहे। ये लोग शीआ थे। अतः शीओं की प्रथाए दरबार में प्रचलित हो गयीं। उनमें सबसे प्रसिद्ध अज़दुद्दौला (९४९- ९८३ ई०) हुआ, जिसने अपने राज्य का क्षेत्र बहुत बढ़ा लिया और शाहंशाह की उपाधि धारण कर ली। किन्तु १०५५ ई० में सलजूक़ तुर्कों ने तुग़रिल बेग के नेतृत्व में बग़दाद में प्रविष्ट होकर बुवय्या वंश का अन्त कर दिया।

सलजूक़ वंश—९५६ ई० के लगभग सलजूक़ तुर्कों ने अपने तुर्कमान गुज़्ज़ क़बीले की शक्ति बुख़ारा के आस-पास बढ़ानी प्रारम्भ कर दी। सलजूक़ का एक पौत्र तुग़रिल अपने भाई के साथ ख़ुरासान तक धावे मारने लगा। १०३७ई० में दोनों ने मर्व तथा नीशापुर को ग़ज़नवियों के हाथ से छीन लिया और बल्ख़, जूरजान, तबरिस्तान, ख़्वारिज़्म, हमदान, रैय एवं इस्पहान तक अपना राज्य बढ़ाते-बढ़ाते १८ दिसम्बर १०५५ ई० को तुग़रिल बेग अपने तुर्क सैनिकों को लेकर बग़दाद के द्वार पर पहुँच गया। बुवय्या का तुर्क सेनापति एवं बग़दाद का रक्षक नगर छोड़कर भाग गया। ख़लीफ़ा ने उसका भव्य स्वागत करके उसे "अस्सुल्तान" की उपाधि प्रदान की और समस्त अधिकार उसे सौंप दिये। तुग़रिल (१०३७–१०६३ ई०), उसके भतीजे तथा उत्तराधिकारी अल्प अरसलान, (१०६३ ई० १०७२ ई०) तथा अल्प अरसलान के पुत्र मलिक शाह (१०७२–१०९२ ई०) ने सलजूक़ राज्य की शक्ति बहुत बढ़ा दी। अल्प अरसलान के सैनिकों ने बाइज़ंटाइन शक्ति के छक्के छुड़ा दिये और एशिया माइनर (लघु) को अपने अधिकार में कर लिया। १०८४ ई० में कूनियह (इकूनियम) सलजूक़ों के उस क्षेत्र की राजधानी बन गया। अल्प अरसलान तथा मलिक शाह के राज्यकाल में उनके ईरानी वज़ीर निज़ामुल् मुल्क को बड़ा प्रभुत्व प्राप्त हो गया। इब्ने ख़लदून के

अनुसार मलिक शाह के २० वर्ष के राज्यकाल में समस्त अधिकार निज़ामुल् मुल्क को ही प्राप्त रहे। "सियासतनामा" नामक राजनीति का प्रसिद्ध ग्रन्थ उसी की रचना बताया जाता है। उमर ख़य्याम (मृत्यु ११२३ ई०) निज़ामुल् मुल्क का ही आश्रित था। मलिक शाह के बाद सलजूक़ राज्य का भी पतन हो गया।

ख़लीफ़ा अल-नासिर (११८०–१२२५ ई०) ने सलजूक़ों की शक्ति का अन्त करने के लिए ख़्वारिज़्म के बादशाह तकश (११७२–१२०० ई०) को, जो ख़्वारिज़्म-शाही तुर्क वंश से था, सलजूक़ों के इराक़ अजम (मेड़िया) पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। सलजूक़ों को परास्त करने के उपरान्त ख़्वारिज़्म-शाहियों ने उनका स्थान ले लिया और ख़लीफ़ा की सारी आशाएँ समाप्त हो गयीं। उसके पुत्र अलाउद्दीन मुहम्मद (१२००–१२२० ई०) ने ईरान का बहुत बड़ा भाग, बुख़ारा, समरक़न्द तथा ग़ज़नी अपने अधिकार में कर लिये। वह बग़दाद पर भी दाँत लगाने तथा हज़रत अली की किसी संतान को बादशाह बनाने की योजना बनाने लगा।

इसी बीच में मंगोलों के क़बीलों को संगठित करके चिगीज़ ख़ां (लगभग ११५५–१२२७ ई०) ने बुख़ारा, समरक़न्द, बल्ख़ तथा ख़्वारिज़्म को बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। १२५३ ई० में चिगीज़ ख़ां का पौत्र हुलाकू मंगोलिया से एक बहुत बड़ी सेना लेकर निकला। उसने ख़लीफ़ा अल मुस्तासिम (१२४२–१२५८ ई०) को इस्माईलियों के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए लिखा, किन्तु उसे इसका कोई उत्तर न प्राप्त हुआ। १२५६ ई० में मंगोलों ने इस्माईलियों के सभी प्रसिद्ध क़िले यहाँ तक कि अल अमूत तक पर अधिकार जमा लिया। १० फ़रवरी १२५८ ई० तक हुलाकू के सैनिकों ने बग़दाद को अपने अधिकार में कर लिया और २० फ़रवरी को ख़लीफ़ा तथा उसके उच्च पदाधिकारियों की हत्या करके बग़दाद की ईंट से ईंट बजाकर अब्बासी ख़लीफ़ाओं के राज्य को समाप्त कर दिया। १२६० ई० में हुलाकू ने शाम पर चढ़ाई कर दी, किन्तु वह मिस्र के ममलूक सेनापति क़ूतुज़ का मुक़ाबला न कर सका। इस प्रकार मंगोलों का तूफ़ान पश्चिम की ओर न बढ़ पाया, किन्तु आमू दरिया से शाम के सीमान्त तक के प्रदेश मंगोलों के अधीन हो गये। हुलाकू ने ईल ख़ान की उपाधि धारण कर ली, किन्तु उसके सातवें उत्तराधिकारी ग़ाज़ान महमूद (१२९५–१३०४ ई०) ने इस्लाम स्वीकार कर लिया। मंगोल भी ईरानियों की सेवाओं की उपेक्षा न कर सके। जुवैनी वंशवाले, विशेष रूप से "तारीख़े जहां कुशा" का लेखक अता मलिक जुवैनी (मृत्यु १२८३ ई०) तथा "जामे–उत्तवारीख़" का लेखक रशीदुद्दीन फ़ज़्लुल्लाह (मृत्यु १३१८ ई०) उनके दरबार के बहुत बड़े विद्वान् हुए हैं।

अफ़्रीक़ा, मिस्र तथा स्पेन

अफ़्रीक़ा—बनी अब्बास के राज्य की स्थापना के बाद भी स्पेन में बनी उमय्या के राज्य का अन्त न हो सका और न उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा के बरबरों ने अब्बासी राज्य की अधीनता स्वीकार की। बरबर यद्यपि मुसलमान हो गये थे, किन्तु उन्हें अरबों का प्रभुत्व पसन्द न था, अतः विभिन्न धार्मिक एवं राजनीतिक आन्दोलनों को जितनी सफलता उत्तरी अफ़्रीक़ा में मिली उतनी किसी अन्य स्थान पर नहीं मिली।

इदरीसी वंश—७८५ ई० में जब इदरीस इब्ने अब्दुल्लाह् अल हसन के एक प्रपौत्र को मदीने में हज़रत अली के सहायकों के प्रचार में सफलता प्राप्त न हुई तो वह मग़रिब (मोराको, उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा) भाग गया और वहाँ उसने इदरीसी वंश के राज्य की स्थापना की जो ७८८ से ९७४ ई० तक चलता रहा। इनकी राजधानी फ़ास अथवा फ़ेज़ में थी और यह शीओं का प्रथम स्वतंत्र राज्य हुआ। इनको बरबरों से, यद्यपि वे सुन्नी थे, विशेष सहायता मिली, किन्तु मिस्र के फ़ातेमी तथा स्पेन के उमय्या वंश के बीच में होने के कारण इन्हें सर्वदा दोनों राज्यों से ख़तरा बना रहता था।

(१) **इब्ने इज़ारी, "अख़्बार मसमूआ फ़ी फ़तह् अल-उन्दुलुस", अल-इदरीसी, "ज़िक्र अल-उन्दुलुस", इब्ने ख़लदून, "किताबुल इब्र", अल, ज़रकशी, "तारीख़ अल-दौलतैन अलमुवहहेदिया वहल हफ़सियह", इब्ने बस्साम, "अल-ज़ख़ीरह फ़ी महासिन अहल अल जज़ीरह", अल दब्बी, "बुग़यत अल मुल्तामिस फ़ी तारीख़ रिजाल अल-उन्दुलुस, इब्न अलक़ूतियह, "तारीख़े इफ़तिताह् अल उन्दुलुस", अब्दुल वाहिद अल मुर्राकुशी "अलमीजिब फ़ी तल्ख़ीसअ ख़्बार अल-मग़ारिब, "इब्नअल-ख़तीब", अल-इहातह फ़ी अख़्बार ग़रनाता", "अख़्बार अल-अस्र फ़ी इनक़िज़ा दौलत बनी नस्र" तथा अंग्रेजी में** Stanley Lane Poole and Arthur Gilman, "*The Moors in Spain*", Edward Creasy, "*The Fifteen Decisive Battles of the World,*" S.P. Scott, "*History of the Moorish Empire in Europe*", Henry Coppee, "*History of the Conquest of Spain by the Arab Moors*" Francis G. Stokes, "*Spanish Islam*", John W. Draper, "*A History of the Intellectual Development of Europe*", "*The Cambridge Medieval History.*"

फिर भी वे लगभग २०० वर्ष तक राज्य करते ही रहे, किन्तु कारडोवा (स्पेन) के ख़लीफ़ा हकम द्वितीय (९६१–९७६ ई०) के राज्यकाल में इस वंश का अन्त हो गया।

बनी अग़लब––जिस प्रकार इदरीसियों ने उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा में अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की उसी प्रकार बनी अग़लब अथवा अग़लाबइद्स ने उत्तर-पूर्वी अफ़्रीक़ा में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। इस राज्य के संस्थापक इबराहीम इब्न अल-अग़लब को हारूनुर्रशीद ने इफ़रीक़िया (टयुनिस तथा उसके आस-पास के भूभाग) का हाकिम नियुक्त किया था, किन्तु उसने स्वतंत्र रूप से राज्य करना प्रारम्भ कर दिया और फिर किसी अब्बासी ने अपना कोई हाकिम वहाँ नियुक्त नहीं किया। उन्होंने अमीर की उपाधि धारण कर ली और ८००–९०९ ई० तक राज्य करते रहे। इबराहीम के बहुत से उत्तराधिकारी उसी के समान साहसी तथा वीर थे। वे अपने जहाज़ी बेड़े इटली, फ़्रांस तथा सारडीनिया तक भेजने लगे। ९०२ ई० में इन लोगों ने सिसली पर पूर्ण रूप से अधिकार जमा लिया। ज़ियादतुल्लाह प्रथम (८१७–८३८ ई०) ने अपने राज्यकाल में क़ैरवान की मस्जिद का निर्माण प्रारम्भ कराया जो इबराहीम द्वितीय (८७४–९०२ ई०) के राज्यकाल में पूरी हुई। यह मस्जिद पूर्व के देशों की भव्य मस्जिदों से किसी प्रकार कम नहीं। मक्के, मदीने तथा बैतुल मुक़द्दस (येरोशलम) की मस्जिदों के समान इसे भी मुसलमानों ने स्वर्ग के चौथे द्वार में सम्मिलित कर लिया। १०९ वर्ष के राज्य के उपरान्त ९०९ ई० में ज़ियादतुल्लाह तृतीय (९०३–९०९ ई०) के राज्यकाल में फ़ातेमियों ने उनके राज्य पर अधिकार जमा लिया।

मिस्र

फ़ातेमी वंश—८९० ई० के लगभग मुहम्मद अल हबीब, जो अपने को हज़रत अली एवं उनकी पत्नी हज़रत फ़ातेमा की संतान बताता था, यह प्रचार करने लगा कि उन्हीं के वंश से महदी पैदा होनेवाले हैं। वह शीओं की इस्माईली शाख़ा का समर्थक था। सना (यमन) के अबू अब्दुल्लाह अल हुसेन अल शीई नामक एक व्यक्ति ने, जो मुहम्मद का शिष्य हो गया था, हज के समय उत्तरी अफ़्रीक़ा के बरबरों, विशेष रूप से क़ुतामह बरबरों को मिला लिया और ९०९ ई० में उसने बनी अग़लब के ज़ियादतुल्लाह तृतीय को पराजित कर उसकी राजधानी अर्रक्क़ादह पर, जो क़ैरवान के समीप है, अधिकार जमा लिया। इसी बीच में फ़ातेमी मुहम्मद की मृत्यु हो गयी किन्तु उसका पुत्र उबैदुल्लाह (९०९–९३४ ई०) भागकर अफ़्रीक़ा पहुँचा और अबू अब्दुल्लाह ने

उसे ९१० ई० में अरंक्क़ादह में सिंहासनारूढ़ कर दिया। उसने मोराको तक अपना अधिकार बढ़ा लिया और महदीया नामक अपनी राजधानी अलग बसायी। ९१४ ई० में उसकी सेना ने सिकन्दरिया पर अधिकार जमा लिया, किन्तु सेना को वापस होना पड़ा। ९२१ ई० में उसके पुत्र अबुल क़ासिम को भी पराजित होकर लौट जाना पड़ा।

९३७ ई० में मुहम्मद इब्ने तुग़्ज़ नामक अब्बासियों के तुर्क हाकिम ने खलीफ़ा अर्राज़ी से प्रार्थना की कि उसे इख़शीद की उपाधि प्रदान करके अधिक अधिकार दे दिये जायँ। ख़लीफ़ा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उसने शाम, फ़लस्तीन तथा मक्का-मदीना अपने अधिकार में कर लिये। ९४६ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी और क़ाफ़ूर नामक उसके एक हब्शी ख्वाजा सरा ने उसके पुत्रों की ओर से राज्य करना प्रारम्भ कर दिया। ९६६ ई० से उसने स्वतंत्र रूप से शासन करना शुरू कर दिया। ९६८ ई० में काफ़ूर की मृत्यु हो गयी और ५ फ़रवरी ९६९ ई० को फ़ातेमी सेनापति जौहर रक़्क़ादह से एक बहुत बड़ी सेना लेकर निकला और ९ जुलाई ९६९ ई० को सिकन्दरिया पर पूर्ण रूप से अधिकार जमा लिया। जौहर ने क़ाहेरा अल-मुइज़्ज़िया नामक नया नगर बसाया जो ९७३ ई० से फ़ातेमियों की राजधानी बना। ९७२ ई० में उसने अल अज़्हर की मस्जिद का निर्माण कराया। अल-शीई के बाद जौहर ही फ़ातेमी राज्य का दूसरा महान् संस्थापक कहा जा सकता है। मिस्र के साथ उत्तरी अफ़्रीक़ा भी उसने विजय कर लिया। इस वंश के पाँचवें बादशाह मंसूर निज़ार अल अज़ीज (९७५–९९६ ई०) के राज्यकाल में फ़ातेमी वंश का राज्य एटलांटिक से लाल सागर, यमन, मक्का तथा दमिश्क़ तक पहुँच गया। उसने क़ाहेरा में बहुत-सी मस्जिदों, महलों, पुलों तथा नहरों का निर्माण कराया। वह बग़दाद तथा कारडोवा पर भी लोभ की दृष्टि डालने लगा। फ़ातेमियों ने अब्बासियों की भाँति तुर्कों एवं हबशियों को बहुत बड़ी संख्या में नौकर रखा, जो बाद में उनके राज्य के पतन का कारण बन गये। १०४३ ई० से सलजूक़ों के प्रभुत्व के कारण शाम और बाद में अफ़्रीक़ा के प्रान्त फ़ातिमी राज्य से पृथक् होने लगे। ऊपरी मिस्र की बनी हिलाल तथा सुलैम जातियाँ १०५२ ई० से त्रिपोली एवं टयुनिस में धावे मारने लगीं। सिसली फ़ातेमियों के अधिकार से निकल गया। १०९९ ई० में सलीबी योद्धाओं ने येरोशलम पर अधिकार जमा लिया और ईसाइयों के निरन्तर आक्रमणों के उपरान्त सलाहुद्दीन अय्यूबी ने ११७१ ई० में मिस्र विजय करके फ़ातेमी वंश का अन्त कर दिया। फ़रवरी ११९३ ई० में सलाहुद्दीन की मृत्यु हो गयी। उसके उत्तराधिकारी १२४९ ई० तक मिस्र में राज्य करते रहे।

ममलूक सुल्तान—१२४९ ई० में अय्यूबी अल-सालेह् की विधवा ने मिस्र का राज्य अपने अधिकार में कर लिया और ८० दिन तक उत्तरी अफ़्रीक़ा तथा पश्चिमी एशिया में राज्य करती रही। जब अमीरों ने उसके सेनापति इज़्ज़ुद्दीन ऐबक को अपना सुल्तान बना लिया तो उसने उससे विवाह् कर लिया। ऐबक (१२५०–१२५७ ई०) पहला ममलूक सुल्तान हुआ है। वह अपना अधिकांश जीवन शाम, फ़िलिस्तीन एवं मिस्र के रण-क्षेत्रों में व्यतीत करता रहा। १२६० ई० में ममलूक नायब तथा सेनापति अल मुज़फ़्फ़र सैफ़ुद्दीन क़ूतूज़ (१२५९–६० ई०) ने हुलाकू की सेना से टक्कर लेकर मंगोलों के तूफ़ान को आगे बढ़ने से रोक दिया। प्रारम्भिक ममलूक सुल्तानों में अल मलिक, अल-ज़ाहिर रुक्नुद्दीन बेबर्स अल् बुन्दु क़दारी जो एक तुर्क दास था, बड़ा प्रतापी बादशाह् हुआ। वास्तव में ममलूक वंश का संस्थापक उसी को कहना चाहिए। उसने क़ाहेरा तथा दमिश्क़ के मध्य में अत्यन्त द्रुतगामी डाक का प्रबंध कराया। जलसेना का पुनरुत्थान तथा शाम के क़िले को दृढ़ बनवाना उसके अन्य कारनामों में सम्मिलित हैं। अपने राज्य को धार्मिक लोगों की दृष्टि में अधिक पवित्र बनाने के लिए उसने जून १२६१ ई० में अब्बासी ख़लीफ़ा अल ज़ाहिर (१२२५–२६ ई०) के पुत्र को दमिश्क़ से बुलवाकर अल मुस्तनसिर के नाम से ख़लीफ़ा बना दिया। ख़लीफ़ा मुख्य रूप से प्रबंध किया करते थे और ममलूक सुल्तानों की इच्छानुसार बनाये-बिगाड़े जाते थे। ममलूक सुल्तानों का वंश दो शाखाओं में विभाजित हो गया था। राज्य की स्थापना से १३८२ ई० तक जिन ममलूकों का राज्य रहा वे बहरी कहलाते थे। १३८२ ई० से सरकेशियन तुर्क ममलूकों का राज्य प्रारम्भ हुआ जो १५१७ ई० तक चलता रहा। ये बुरजी ममलूक कहलाते थे। इनका संस्थापक इब्ने ख़लदून का आश्रयदाता अज़्ज़ाहिर सैफ़ुद्दीन बरक़ूक़ (१३८२–१३९८ ई०) था। उसके पुत्र अल नासिर नासिरुद्दीन फ़रज के राज्यकाल (१३९८–१४०५ ई०) में तीमूर ने आक्रमण किया।

तीमूर ने तातारी क़बीलों की एक बहुत बड़ी सेना संगठित करके १३८० ई० से अपनी विश्व-विजय की योजना के अनुसार आक्रमण प्रारम्भ कर दिये। १३९३ ई० में उसने बग़दाद पर अधिकार जमा लिया। १३९४ ई० में उसकी सेनाओं ने मेसोपोटामिया में बुरी तरह् लूट-मार की। १३९५ ई० में उसने क़िपचाक़ के भूभाग पर आक्रमण किया और एक वर्ष से अधिक वर्त्तमान काल के मास्को पर अपना अधिकार जमाये रहा। १३९८–९९ ई० में वह देहली तक पहुँच गया और तूफ़ान की भाँति १४०१ ई० में उत्तरी शाम को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। तीन दिन तक अलेप्पों में लूट-मार होती रही। २०,००० मुसलमानों के सिरों का एक बहुत बड़ा मीनार तैयार

कराया गया। सुल्तान फ़रज की सेना पराजित हुई और तीमूर ने दमिश्क़ पर अधिकार जमा लिया, किन्तु वह मिस्र तथा अफ़्रीक़ा की ओर न बढ़ सका और शीघ्र ही बग़दाद वापस चला गया, जहाँ पुनः हत्याकांड एवं लूटमार प्रारम्भ कर दी और सिरों के १२० मीनार बनवाये। २१ जुलाई, १४०२ ई० को उसने अंकरा में उतमान सेना को पराजित करके सुल्तान बायज़ीद प्रथम को बन्दी बना लिया। १४०४ ई० में तीमूर की मृत्यु हो गयी और उसकी मृत्यु के साथ मंगोलों के विश्व विजय के स्वप्न भी समाप्त हो गये। इन बाहरी आक्रमणों तथा साधारण आंतरिक विद्रोहों के बावजूद मिस्र, इब्ने ख़लदून के अनुसार ममलूकों के राज्यकाल में मुसलमानों के अन्य राज्यों की अपेक्षा सबसे अधिक उन्नत एवं सभ्य था। पश्चिमी शाम, मक्का-मदीना सहित हिजाज़ प्रान्त मिस्र के राज्य के अधीन थे और यमन तक उसकी सीमा फैली हुई थी। भारत के व्यापारिक मार्ग पर मिस्रवालों को पूरा अधिकार प्राप्त था। ममलूक बादशाहों ने अपनी धन-धान्य-सम्पन्नता के कारण कला, साहित्य, दर्शन, विज्ञान एवं संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में बड़ी उन्नति कर ली थी। इब्ने ख़लदून ने एक आदमी से जो हज करके लौटा था, क़ाहेरा के विषय में प्रश्न किया तो उसने उत्तर दिया कि जिसने क़ाहेरा नहीं देखा, वह इस्लाम के ऐश्वर्य एवं गौरव का अनुमान कर ही नहीं सकता। १५१७ ई० में उतमान सुल्तान सलीम ने मिस्र पर अधिकार जमाकर उसे अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

स्पेन तथा उत्तरी अफ़्रीक़ा—जब ७५० ई० में अब्बासी ख़लीफ़ा सफ़्फ़ाह ने बनी उमय्या के वंशवालों की हत्या करानी प्रारम्भ कर दी तो १०वें उमय्या ख़लीफ़ा हिशाम (७२४–७४३ ई०) का पौत्र अब्दुर्रहमान, अब्बासी ख़लीफ़ाओं के चंगुल से निकलकर उत्तरी अफ़्रीक़ा होता हुआ सितम्बर ७५५ ई० में स्पेन पहुँचा और १५ मई ७५६ ई० को उसने कारडोवा पर अधिकार जमा लिया। वहाँवालों ने उसे "अमीर" स्वीकार कर लिया। ३२ वर्ष के घोर संघर्ष के उपरान्त जब ७८८ ई० में उसकी मृत्यु हुई तो उसने अपने पुत्र हिशाम के लिए स्पेन का दृढ़ एवं विस्तृत राज्य तथा एक बहुत बड़ी सेना छोड़ी, किन्तु अरब अमीरों का पारस्परिक विरोध तथा नव-मुस्लिमों के अधिक अधिकार की अभिलाषा दब न सकी। अब्बासियों के समान अब्दुर्रहमान को भी अपनी रक्षा हेतु अन्य क़ौमों की नियुक्ति करनी पड़ी। अब्दुर्रहमान द्वितीय (८२२–८५२ ई०) के राज्यकाल में ईसाइयों ने मुसलमानों की शक्ति का मुक़ाबला करना पुनः प्रारम्भ कर दिया। उसके उत्तराधिकारी मुहम्मद प्रथम (८५२–८८६ ई०) के राज्यकाल में स्थिति और भी ख़राब हो गयी। अब्दुर्रहमान तृतीय (९१२–९६१ ई०) ने अपने राज्यकाल

के लगभग ५० वर्षों में अपनी शक्ति के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। उसके राज्यकाल में फ़ातेमियों ने उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न किया। ९२९ ई० में उनके दल-बल को तोड़ने एवं मुसलमानों में अपनी राज्यसत्ता को दृढ़ बनाने के लिए अब्दुर्रहमान तृतीय ने खलीफ़ा तथा अमीरुल मोमनीन के साथ-साथ "नासिर ले दीनिल्लाह" की उपाधि धारण कर ली और उत्तरी अफ़्रीक़ा के कुछ भागों को विजय करके फ़ातेमियों को आगे बढ़ने से रोक दिया। बग़दाद के तुर्क दासों के समान स्पेन के सक़ालेबा दास (सलाव) भी, जो अधिकांश युद्ध में बन्दी बनाये जाते थे, खलीफ़ाओं के बड़े विश्वासपात्र थे और अरबों को उनका प्रभुत्व पसन्द न था। उसके राज्यकाल में उन्दुलुस (आईबेरियन प्रायद्वीप) सभ्यता एवं संस्कृति का केन्द्र बन गया। कृषि, कलाकौशल एवं व्यापार की बड़ी उन्नति हुई। प्रथम बनी उमय्या अमीर के समय से ही मस्जिदों एवं महलों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था और भवननिर्माण कला की एक नयी शैली उन्नति करने लगी थी। अब्दुर्रहमान तृतीय के राज्यकाल में ९३६ ई० में कारडोवा के समीप उत्तर में अज़्ज़हरा नामक नगर बसाना प्रारम्भ किया गया। साहित्य, दर्शन-शास्त्र एवं इतिहास की रचना को भी प्रश्रय प्रदान किया गया।

मुलूकुत्तवाएफ़—अब्दुर्रहमान तृतीय, हकम द्वितीय (९६१—९७६ ई०) तथा अल हाजिब उल मंसूर (९७७–१००२ ई०) के राज्य के बाद स्पेन के विशाल राज्य का पतन होने लगा। बरबर, अरब, सक़ालेबा तथा स्पेनवाले राज्य के टुकड़े-टुकड़े करके आपस में बाँटने का प्रयत्न करने लगे। ११वीं शती ई० के प्रथम आधे भाग में लगभग २० छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये। इस स्थिति को अरबवाले मुलूकुत्तवाएफ़ अथवा विभिन्न दलों के बादशाहों का राज्य कहते हैं।

बनू अब्बाद—इन राज्यों में सेविल का बनू अब्बाद का राज्य (१०२३–१०९१ ई०) सबसे अधिक शक्तिशाली था। इस राज्य के शासक अपने आपको हीरह के लाखमीद बादशाहों की संतान बताते थे। इनके राज्य के अन्तिम काल में ईसाइयों ने अपनी शक्ति बढ़ानी प्रारम्भ कर दी थी, किन्तु यूसुफ़ इब्ने तशफ़ीन नामक मोराको के शक्तिशाली बरबर ने नवम्बर १०९० ई० में ग़रनाता और १०९१ ई० में सेविल पर अधिकार जमा लिया। इन लोगों ने टोलेडो एवं सरगोसा के अतिरिक्त स्पेन के समस्त इस्लामी राज्य पर अधिकार जमा लिया।

मुराबेतीन—मुराबेतीन ने ११वीं शती ई० के मध्य में एक धार्मिक दल के रूप में अपनी शक्ति बढ़ानी प्रारम्भ की। सर्वप्रथम सिनहाजा क़बीले की लमतूना शाखा ने

इनका साथ दिया। सिनहाजा क़बीलेवाले सहारा के विशाल रेगिस्तान में खाना-बदोशों के समान जीवन व्यतीत करते थे। धीरे-धीरे इन लोगों ने पूरे उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा पर अपना प्रभुत्व जमा लिया और बाद में स्पेन को भी अपने अधिकार में कर लिया।

मुराबेतीन राज्य के संस्थापक यूसुफ़ इब्ने ताशफ़ीन (१०६१–११०६ ई०) ने १०६२ ई० में मराकश अथवा मोराको नामक नगर बसाया, स्पेन में क़रतेबा (कारडोवा) के स्थान पर सेविल को अपनी राजधानी बनाया। ५० वर्ष से अधिक काल तक मुराबेतीन शक्ति उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा तथा दक्षिणी स्पेन में अपनी राज्यसत्ता जमाये रही। वे अब्बासी खलीफ़ाओं के अनुयायी तथा धर्म के सम्बन्ध में इतने कट्टर थे कि यूसुफ़ के पुत्र एवं उत्तराधिकारी अली (११०६–११४३ ई०) के राज्य में अलग़ज़्ज़ाली के ग्रन्थ स्पेन तथा मग़रिब में इस कारण जलवाये गये कि उनमें फ़क़ीहों के, विशेष रूप से मालिकी फ़क़ीहों के, विरुद्ध बातें पायी जाती थीं। इन लोगों ने "अमीरुल मुस्लेमीन" की उपाधि धारण की। मुराबेतीन बरबर भी शीघ्र ही मोराको एवं उन्दुलुस नगरों की संस्कृति तथा भोग-विलास के शिकार हो गये और मुवह्‌हेदीन ने ११४७ ई० में इनके राज्य का अन्त कर दिया।

मुवह्‌हेदीन—मुवह्‌हेदीन वंशवालों ने भी अपना संगठन बरबर क़बीलों में धार्मिक प्रचार के रूप में प्रारम्भ किया। बरबर की मसमूदह शाखा के मुहम्मद इब्ने तूमर्त (१०७८–११३० ई० लगभग) ने महदी की उपाधि धारण कर ली और वे इस बात का दावा करने लगे कि वे इस्लाम के तौहीद (एकेश्वरवाद) के सिद्धान्त का प्राचीन शुद्धतम रूप मनवाना चाहते हैं। इसी कारण उनके अनुयायी मुवह्‌हेदीन कहलाने लगे। ११३० ई० में इब्ने तूमर्त की मृत्यु हो गयी और ज़नातह क़बीले के एक कुम्हार अब्दुल मोमिन इब्ने अली ने उसका स्थान ले लिया और ११४४ से ११४६ ई० के मध्य में मुराबेतीन की सेना को तलेम्सान के समीप पराजित करके फ़ास, क्योटा, तांजीर तथा अग़मात को अपने अधिकार में कर लिया। ११ मास के अवरोध के उपरान्त (११४६–४७ ई०) मराकश को विजय करके उसने मुराबेतीन के राज्य का अन्त कर दिया। तदुपरान्त पाँच वर्ष के भीतर उसने स्पेन को पूर्ण रूप से अपने अधिकार में कर लिया। ११५२ ई० में इन्होंने अलजीरिया, ११५८ ई० में ट्युनिस तथा ११६० ई० में त्रिपोली पर अधिकार जमा लिया। ११६३ ई० में अब्दुल मोमिन की मृत्यु हो गयी। ११७० ई० में मुवह्‌हेदीन ने अपनी राजधानी सेविल में बना ली। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध बादशाह अब्दुल मोमिन का पौत्र अबू यूसुफ़ याक़ूब अल मंसूर (११८४–

११९९ ई०) हुआ है। सलाहुद्दीन अय्यूबी (सलादिन) ने उसी के दरबार में बहुमूल्य उपहार सहित अपने राजदूत भेजकर सलीबी युद्ध लड़नेवाले ईसाइयों (कुरुसेडर्स) के विरुद्ध सहायता मँगवायी। उसके राज्यकाल में कला एवं संस्कृति को विशेष प्रोत्साहन प्रदान हुआ। उसने मोराको में सिकन्दरिया के नमूने पर रिबात अल-फ़तह का निर्माण कराया और एक अस्पताल भी बनवाया जिसे वहाँवाले संसार की अद्वितीय वस्तु समझते थे। मुवह्हेदीन ने स्पेन में ईसाइयों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का भी प्रयत्न किया। मंसूर का पुत्र मुहम्मद अल-नासिर (११९९–१२१४ ई०) १२१२ ई० में कारडोवा के ७० मील पूर्व "लस नवास डा तोलोसा" में, जिसे अरब उक़ाब पर्वत कहते हैं, ईसाई बादशाहों की संगठित सेना से बुरी तरह पराजित हो गया। कहा जाता है कि उसके ६ लाख सैनिकों में से केवल १००० सिपाही ही बचकर वापस जा सके। अल-नासिर मराकश भाग गया, जहाँ दो वर्ष उपरान्त उसकी मृत्यु हो गयी।

बनू नस्र-मुवह्हेदीन का स्पेन का राज्य ईसाई बादशाहों ने आपस में बाँट लिया। मुसलमानों का राज्य स्पेन की एक छोटी-सी दक्षिणी पट्टी के चारों ओर ग़रनाता तक सीमित रह गया, जहाँ बनू नस्र ने एक नये वंश की स्थापना की जो १२३२ ई० से १४९२ ई० तक चलता रहा। मोराको का राज्य ख़लीफ़ा मुहम्मद अल-नासिर के उत्तराधिकारी अब्दुल मोमिन की संतान के अधिकार में १२६९ ई० तक रहा। तदुपरान्त बनू मरीन नामक बरबरों की एक शाखा ने उस राज्य पर अधिकार जमा लिया।

बनू नस्र (१२३२–१४९२ ई०) का संस्थापक मुहम्मद इब्ने यूसुफ़ नस्र था जो इब्न अल-अहमर कहलाता था। इसी कारण यह वंश बनू अल अहमर भी कहलाता है। मुहम्मद (१२३२–१२७३ ई०) मदीने के ख़ज़रज क़बीले से सम्बन्धित होने का दावा करता था। उसने अल-ग़ालिब की उपाधि धारण कर ली और ग़रनाता के दक्षिण-पूर्व में अल-हमरा नामक क़िले का निर्माण कराया। उसके वंश के प्रयत्न से अल हमरा के क़िले की गणना संसार के उच्चकोटि के क़िलों में होने लगी।

मुहम्मद पंचम (१३५४–५९ ई०) तथा मुहम्मद षष्ठ (१३६२–१३९१ ई०) सरीखे इस वंश के बादशाहों ने स्पेन के गिरते हुए गौरव को सँभालने का बड़ा प्रयत्न किया और साहित्य एवं कला की उन्नति की।

मग़रिब

त्रिपोली से ग़रनाता तक का भाग जिसे अरब मग़रिब कहते थे, इब्ने खलदून के अनुसार उन्नति एवं सभ्यता में मिस्र का पासंग भी न था। १३ वीं शती ई० के मध्य से

उत्तरी अफ़्रीक़ा तीन राज्यों में विभाजित हो गया, जो १४ वीं शती ईसवी के अन्त तक आपस में निरंतर युद्ध करते रहे—

(१) पूर्वी अलजीरिया, ट्युनीसिया एवं त्रिपोलितानिया के हफ़्सी।

(२) मोराको के मरीनी।

(३) पश्चिमी अलजीरिया के ज़यानी।

हफ़्सी—हफ़्सी उत्तरी अफ़्रीक़ा के एक बरबर क़बीले से सम्बन्धित थे। उन्होंने तीन शताब्दियों (१२२८–१५७४ ई०) से अधिक इफ़रीक़िया पर राज्य किया। इस वंश का नाम हितता के सरदार शेख़ अबू हफ़्स उमर के नाम पर पड़ा जो इब्ने तूमर्त के मुख्य चेलों एवं अब्दुल मोमिन के विश्वास-पात्रों में था। १२२८ ई० तक हफ़्सी मुवह्हेदीन के अधीन रहे। १२२८ ई० में अबू ज़करिया नामक इफ़रीक़िया के हाकिम ने ट्युनिस में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया और धीरे-धीरे क़सन्तीना, बिजाया, तलेम्सान इत्यादि पर अधिकार जमा लिया। मरीनियों तथा मिकान्सा वालों ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और उसका राज्य क्योटा से तांजीर और भूमध्यसागर से सिजिलमासा तक फैल गया। जब १२४९ ई० में उसकी मृत्यु हुई तो उस समय के मुसलमानों के अफ़्रीक़ी राज्य का वह सबसे अधिक शक्तिशाली बादशाह था।

बनी हफ़्स का राज्य स्थापित हो जाने से इफ़रीक़िया में कुछ वर्षों के लिए शान्ति एवं समृद्धि का संचार हो गया और ट्युनिस न केवल राज-सत्ता का ही केन्द्र बना अपितु सांस्कृतिक एवं आर्थिक उन्नति का भी वहाँ विशेष संचार होने लगा। इस वंश के बादशाहों ने यूरोप के ईसाई बादशाहों से मैत्री के सम्बन्ध स्थापित रखा, जिसके फलस्वरूप यूरोप एवं अफ़्रीक़ा के व्यापार की बड़ी उन्नति हुई। किन्तु १२८३ ई० तक हफ़्सी राज्य दो शाखाओं में विभाजित हो गया। ट्युनिस पर अबू हफ़्स का राज्य रहा और बिजाया में अबू ज़करिया का (१२८४ ई०)। तेईस वर्ष तक इन दोनों का आपस में घोर युद्ध होता रहा जिसमें इफ़रीक़िया तथा मध्य मग़रिब के अरब क़बीलों एवं तलेम्सान के अब्दुल वादियों ने कभी इस पक्ष का और कभी उस पक्ष का साथ देकर ख़ूब लाभ उठाया। १३१८ ई० में अबू यहया ने ट्युनिस में पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर लिया और इफ़रीक़िया एवं मध्य मग़रिब के राज्य को अपने अधीन कर लिया। उसे अपने शत्रुओं के घोर विरोध के कारण चार बार राज्य से वंचित होना पड़ा किन्तु अन्त में मरीनियों की सहायता से उसे पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त हो गयी। १३४६ ई० में अबू यहया की मृत्यु के उपरान्त पुनः अशान्ति फैल गयी। राज्य के अधिकारी अबुल

अब्बास को हटाकर अबू हफ़स स्वयं बादशाह बन बैठा। यह देखकर मरीनी वंश के सुल्तान अल हसन ने क़सन्तीना तथा बिजाया पर अधिकार जमा लिया और १३४७ ई० में ट्युनिस को विजय कर लिया। किन्तु १३४८ ई० में उसे विद्रोही अरबों ने क़ैरवान के समीप पराजित कर दिया। उधर उसके पुत्र अबू इनान ने भी विद्रोह कर दिया था अतः वह अपने जीते हुए स्थानों को अपने अधिकार में न रख सका। हफ़सियों ने बिजाया तथा क़सन्तीना विजय कर लिया, किन्तु १३५३ ई० में मरीनी अबू इनान ने बिजाया पर अधिकार जमा लिया और १३५७ ई० में क़सन्तीना एवं ट्युनिस को भी हथिया लिया, किन्तु शीघ्र ही अरबों के आक्रमण के कारण उसे बनी हफ़स का राज्य छोड़ देना पड़ा और अबू इस्हाक़ द्वितीय ने ट्युनिस पर अधिकार जमाकर बनी हफ़स का राज्य पुनः स्थापित कर लिया, किन्तु राज्य में अशान्ति एवं उथल-पुथल उसी प्रकार होती रही। अबू इस्हाक़ द्वितीय ट्युनिस का स्वामी था, बिजाया पर अबू अब्दुल्लाह ने अधिकार जमा लिया और क़सन्तीना पर अबुल अब्बास ने। अन्त में अबुल अब्बास ने बनी हफ़स के प्राचीन राज्य के बहुत बड़े भाग को विजय कर लिया (१३६८–६९ ई०) और उसका पुत्र तथा उत्तराधिकारी अबू फ़ारिस अज़ीज़ (१३९३-१४३४ ई०) मग़रिब की शक्तियों में संतुलन रखने में बहुत बड़ी सीमा तक सफल रहा।

मरीनी वंश—बनू मरीन ने १२१६ ई० से अपनी शक्ति बढ़ानी प्रारम्भ की और ५३ वर्ष में मेकनेस, फ़ास, रहत तथा सेल पर अधिकार जमा लिया। १२६९ ई० में अमीर अबू यूसुफ़ याक़ूब ने मराकश को विजय करके मरीनी राज्य दृढ़ बना लिया। १३४० ई० तक वे लोग स्पेन के युद्धों में भाग लेते रहे किन्तु यूरोप के ईसाई बादशाहों द्वारा स्पेन में अधिक प्रभुत्व प्राप्त कर लेने के कारण इन लोगों ने उस ओर से निराश होकर केवल उत्तरी अफ़्रीक़ा की राजनीति में अधिक-से-अधिक भाग लेना प्रारम्भ कर दिया और तलेम्सान पर आक्रमण आरम्भ कर दिये। कई बार वहाँ वालों को मरीनियों ने बुरी तरह पराजित कर दिया। १२९९ ई० से ८ वर्ष तथा ३ मास तक वे तलेम्सान वालों को घेरे रहे। इसी बीच में मरीनियों के स्थायी शिविर के कारण मनसूरा नामक नगर बस गया। १३३७ ई० में मरीनी बादशाह अबुल हसन ने तलेम्सान पर अधिकार जमा लिया और वह तथा उसका पुत्र २२ वर्ष तक वहाँ राज्य करते रहे।

१३४७ ई० में अबुल हसन ने इफ़रीक़िया पर आक्रमण किया, किन्तु अप्रैल १३४८ ई० में अरब क़बीलों ने उसे बुरी तरह पराजित कर दिया और मग़रिब में मरीनियों की शक्ति डाँवाडोल हो गयी। उसके पुत्र अबू इनान ने भी इफ़रीक़िया विजय करने का प्रयत्न किया किन्तु उसे कोई सफलता न प्राप्त हुई। अबुल हसन तथा अबू इनान के
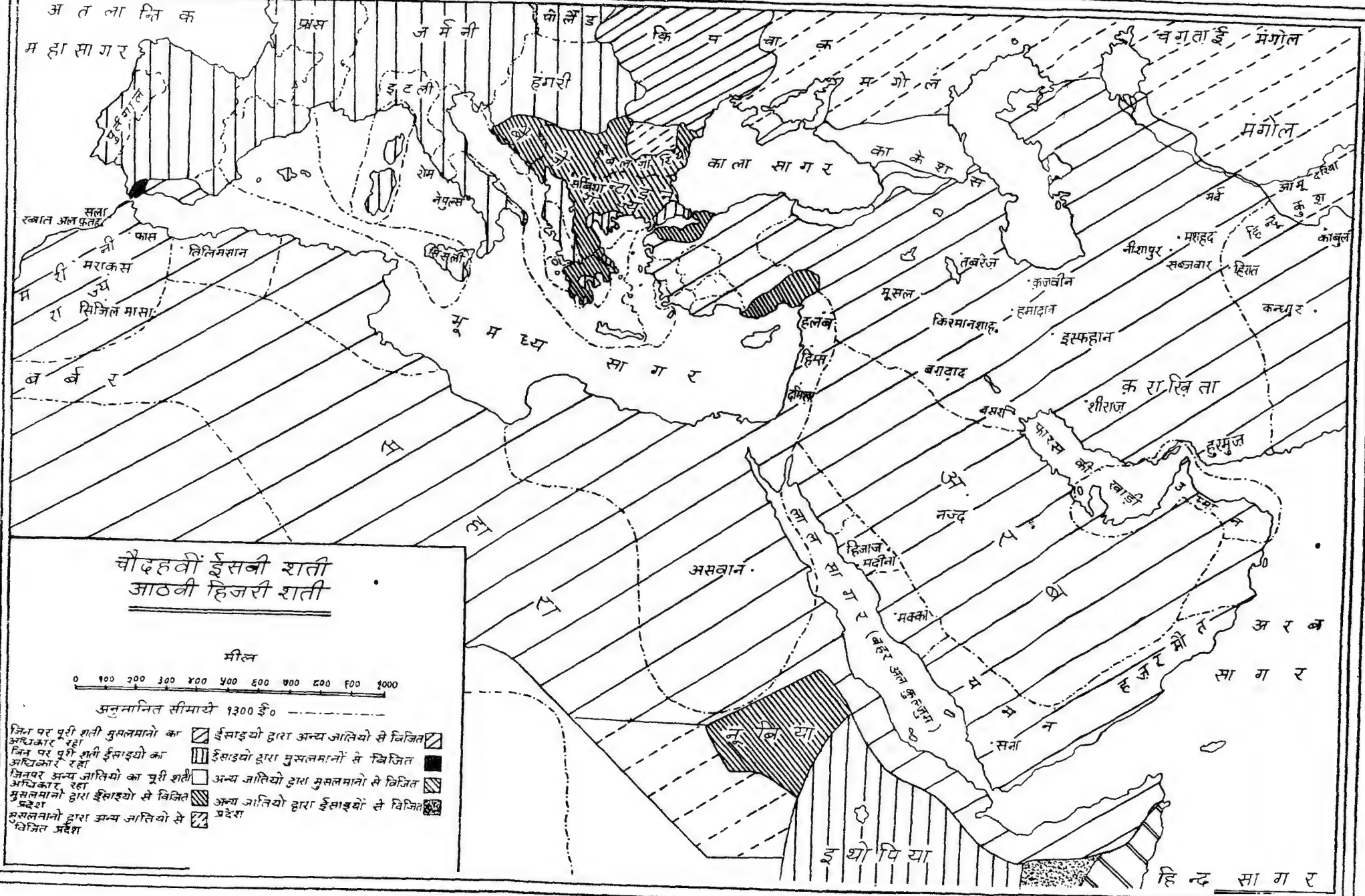
चौदहवीं ईसवी शती
आठवी हिजरी शती
मील
0 100 200 300 400 500 600 700 800 900 1000
अनुमानित सीमायें 1300 ई०
जिन पर पूरी शती मुसलमानो का अधिकार रहा
जिन पर पूरी शती ईसाइयो का अधिकार रहा
जिनपर अन्य जातियो का पूरी शती अधिकार रहा
मुसलमानो द्वारा ईसाइयो से विजित प्रदेश
मुसलमानो द्वारा अन्य जातियो से विजित प्रदेश
ईसाइयो द्वारा अन्य जातियो से विजित
ईसाइयो द्वारा मुसलमानों से विजित
अन्य जातियो द्वारा मुसलमानो से विजित
अन्य जातियो द्वारा ईसाइयों से विजित प्रदेश
अ त ला न्ति क
म हा सा ग र
फ्रांस
ज र्म नी
पोलैंड
कि प चा क
चग़ताई मंगोल
म गो ल
मंगोल
हंगरी
इटली
रोम
नेपुल्स
सिसली
पुर्तगाल
सला
रबात अल फ़तह
फास
तिलिमसान
मरीनी
मराकस
राज्य
सिजिल मासा
ब र्ब र
मू म ध्य
सा ग र
का ला सा ग र
का कै श स
आमू दरिया
मर्व
मशहद
नीशापुर
सब्ज़वार
हिरात
काबुल
कन्धार
तबरेज़
क़ज़वीन
मूसल
हमादान
किरमानशाह
इस्फहान
हलब
हिम्स
दमिश्क
बग़दाद
बसरा
क़ राखि ता
शीराज़
फ़ारस की खाड़ी
हुरमुज़
स
अ
नज्द
हिजाज़
मदीना
मक्का
असवान
लाल सागर (बहर अल क़ुलज़ुम)
य म न
सना
हज़रमौत
अ र ब सा ग र
नू बि या
इ थो पि या
हि न्द सा ग र

राज्यकाल में फ़ास के दरबार को बड़ी उन्नति प्राप्त हो गयी थी और अब्दुर्रहमान इब्ने खलदून तथा इब्नुल ख़तीब सरीखे विद्वान् एवं इब्ने बत्तूता सरीखा पर्यटक इस दरबार द्वारा आश्रय प्राप्त करते रहे। अबू इनान (१३४८–५८ ई०) ने स्पेन के मुसलमान शिल्पकारों एवं भवन निर्माण करनेवालों को बुलवाकर अपनी राजधानी फ़ेज़ अथवा फ़ास की बड़ी उन्नति की।

इफ़रीक़िया विजय में असफलता के कारण तथा अबू इनान की मृत्यु के उपरान्त मरीनी राज्य की प्रतिष्ठा को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा। क़बीलों ने कर अदा करने की ओर से उपेक्षा प्रारम्भ कर दी और जब तक वे विवश न हो जाते, कर न देते थे। बड़े-बड़े पद पिता से पुत्र को प्राप्त होने लगे। शाही वंशवाले भी षड्यंत्र रचने में किसी से पीछे न थे। वे किसी-न-किसी बालक को सिंहासनारूढ़ करके उसे कठपुतली बनाये रखते, यदि उनमें से कोई अपने अधिकार बढ़ाना चाहता तो वे उसे हटाकर दूसरे को सिंहासनारूढ़ कर देते। इसी सिलसिले में मरीनी सुल्तान अबू सालिम के सैनिकों ने १३६१ ई० में उसकी हत्या कर दी।

ज़यानी वंश—बनी हफ़्स तथा मरीनी वंश के बाद बरबर क़बीले के ज़यानियों का नाम लिया जा सकता है, जो तलेम्सान पर राज्य करते थे। १२३६ ई० से यग़मुरासन नामक ज़यानी वंश के सुल्तान ने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। १३३७ से १३४८ ई० तथा १३५२ से १३५९ ई० तक दो बार मरीनियों ने इनके राज्य पर अधिकार जमाया, किन्तु १३४८ ई० में अबू हम्मू प्रथम ने मरीनियों को पराजित किया। पर १३५२ ई० में वह पुनः पराजित हो गया, पर १३५९ ई० में उसने अपना राज्य दुबारा विजय कर लिया, जो १५५४ ई० तक उसी के वंश में चलता रहा।

(२)

इब्ने ख़लदून

अब्दुर्रहमान इब्ने मुहम्मद हज़रमी[1] का जन्म ट्युनिस में १ रमज़ान ७३२ हि० (२७ मई १३३२ ई०) को हुआ। अरबों में पुत्र के नाम के सम्बन्ध से भी पिता का

१. इब्ने ख़लदून की जीवनी जो इन पृष्ठों में दी गयी है, उसकी "आत्मकथा" अत्तारीफ़ बे-इब्ने ख़लदून व रिहलतुहू ग़रबन व शरक़न (मुहम्मद तावीत अत्तंजी द्वारा संकलित तथा क़ाहेरा से १९५१ ई० में प्रकाशित) पर आधारित है। अत्तंजी

नाम प्रसिद्ध हो जाता है। इस प्रकार वह अबू ज़ैद अथवा ज़ैद का पिता भी कहलाता था। उसकी उपाधि बलीउद्दीन थी, किन्तु वह इब्ने ख़लदून के नाम से प्रसिद्ध है। उसके पूर्वज अपने आपको यमन के एक क़बीले का बताते थे जो हज़रमौत में निवास करता था। इस कारण वह हज़रमी कहलाता था। ८वीं शती ईसवी में जब बनी उमय्या के स्थान पर बनी अब्बास सिंहासनारूढ़ हुए तो उनके समर्थक स्पेन की ओर भाग गये। ख़लदून, जिसके नाम पर यह वंश चला, बनी उमय्या अमीरों का राज्य दृढ़ हो जाने के उपरान्त वहाँ पहुँचा। यद्यपि इब्ने ख़लदून के वंश को समकालीन राज्यों में समय-समय पर बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त होती रही, किन्तु उनके विषय में स्वयं उसे भी अधिक ज्ञान नहीं था। उसने उनके विषय में जो कुछ लिखा है वह स्पेन के इतिहासों

ने इब्ने ख़लदून के बहुत से संकेतों तथा हवालों को टिप्पणियों द्वारा स्पष्ट भी कर दिया है और उन बहुत से लोगों की जिनका इब्ने ख़लदून ने उल्लेख किया है, संक्षिप्त जीवनियाँ भी दी हैं। आत्मकथा के अतिरिक्त इब्ने ख़लदून के समकालीन इब्नुल ख़तीब के ग़रनाता के इतिहास "अल-इहातह फ़ी अख़बार ग़रनातह" (क़ाहेरा से १९०१ ई० में दो भागों में प्रकाशित) तथा इब्ने ख़लदून के मुक़द्दमे एवं बरबरों के इतिहास से विशेष सहायता ली गयी है। फ़्रांसीसी तथा अंग्रेज़ी में इब्ने ख़लदून की जीवनी एवं मुक़द्दमे के विषय में कई लेख तथा ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनका उल्लेख "सहायक ग्रंथों की सूची" में कर दिया गया है। इन सबमें मुहसिन महदी का ग्रंथ, "इब्ने ख़लदून्स फ़िलासफ़ी आफ़ हिस्ट्री (*Ibn Khaldun's Philosophy of History*) लन्दन से १९५७ ई० में प्रकाशित बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। डॉ० अली अब्दुल वाहिद वाफ़ी द्वारा संकलित, "मुक़द्दमये इब्ने ख़लदून" में भी, जो मिस्र से १९५७-५८ ई० में प्रकाशित हुआ है, (पृ० १-२०३ में) अरबी भाषा में इब्ने ख़लदून की जीवनी तथा मुक़द्दमे के विषय में विस्तार से लिखा गया है। फ़्रैंज रोज़ेंटहाल द्वारा अंग्रेज़ी में तीन भागों में अनूदित तथा लन्दन से १९५८ ई० में प्रकाशित इब्ने ख़लदून के "मुक़द्दमे" में भी इब्ने ख़लदून की जीवनी तथा मुक़द्दमे के विषय में लिखा गया है। इब्ने ख़लदून के मुक़द्दमे को भली भाँति समझने में फ़्रैंज रोज़ेंटहाल के निम्नांकित दो ग्रंथ भी बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं—*The Technique and Approach of Muslim Scholarship* (१९४७ ई०) तथा *A History of Muslim Historiography* (१९५२ ई०).

पर आधारित है। ९वीं शती ईसवी के अन्त में उसके पूर्वजों में एक व्यक्ति कुरयब हुआ है, जिसने उमय्या वंश के विरुद्ध विद्रोह करके सेविल में एक स्वतंत्र-जैसा राज्य स्थापित कर लिया। वह राज्य लगभग १० वर्ष तक चलता रहा। ८९९ ई० में उसकी हत्या करा दी गयी।

११वीं शती ईसवी के प्रारम्भ में जब स्पेन का केन्द्रीय राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था तो इब्ने ख़लदून के वंश को सेविल के क्रान्तिकारियों के नेतृत्व के कारण बड़ा महत्त्व प्राप्त हो गया। उसका एक पूर्वज अबू मुस्लिम उमर बिन अहमद इब्ने ख़लदून (मृत्यु १०५७–५८ ई०) दर्शन-शास्त्र एवं विज्ञान में अपनी रुचि के कारण बड़ा प्रसिद्ध हुआ। वह अपने समय के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक मसलमा अल मजरीती का शिष्य था। जब ट्युनिस के हफ़स वंश के संस्थापक सेविल में हाकिम थे तब इब्ने ख़लदून के पूर्वज लोग उनके विश्वासपात्र बन गये। वहाँ की राजनीति पर उनका गहरा प्रभाव था। १३वीं शती ईसवी के लगभग जब ईसाई लोग सेविल पर प्रबल आक्रमण करने लगे तो इब्ने ख़लदून के पूर्वजों का वंश सेविल की पराजय (१२४८ ई०) के पूर्व ही उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा चला गया, जहाँ के दरबार की ओर से उसका भली-भाँति स्वागत हुआ।

सर्वप्रथम जो व्यक्ति उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा पहुँचा, वह उसके परदादा का परदादा अलहसन बिन मुहम्मद था। वह सर्वप्रथम क्योटा पहुँचा और वहाँ से हज करने चला गया। हज से लौटकर वह बनी हफ़स के सुल्तान अबू ज़करिया के पास बोन पहुँचा। वहाँ उसे जागीर प्रदान की गयी। उसके कुछ अन्य वंशवालों को भी बनी हफ़स द्वारा उच्च पद प्राप्त हुए। उन्होंने वहाँ के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया। "मुक़द्दमे" में कई स्थानों पर इस बात की चर्चा हुई है कि किस प्रकार स्पेन के शरणार्थियों ने उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा के सांस्कृतिक जीवन को उन्नति पर पहुँचाया। अपने पूर्वजों के इस कारनामे पर इब्ने ख़लदून सर्वदा गर्व करता हुआ दृष्टिगत होता है और स्पेन की सभ्यता एवं संस्कृति की छाप उसके मस्तिष्क से कभी भी न मिट सकी।

हसन बिन मुहम्मद के पुत्र अबूबक्र मुहम्मद को "साहिबुल अशग़ाल" का उच्च पद प्राप्त हो गया था, किन्तु १२८३ ई० में इब्ने अबी उमरा की, बनी हफ़स के विरुद्ध विद्रोह कर देने के कारण हत्या कर दी गयी। उसने राजनीति सम्बन्धी एक छोटे-से ग्रंथ की रचना भी की थी जिससे सम्भवतः इब्ने ख़लदून ने पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त की।

इब्ने ख़लदून के दादा मुहम्मद को बनी हफ़स के राज्य में नायब हाजिब का पद प्राप्त था। किन्तु समकालीन राजनीति की अनिश्चित दशा एवं बनी हफ़स के

राज्य के पतन के कारण उसने अपने अन्तिम जीवन काल में एकान्तवास ग्रहण करके धार्मिक जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया और यही परामर्श उसने अपने पुत्र को भी दिया। दोनों अबू अब्दुल्लाह ज़ुबैदी नामक एक प्रसिद्ध सूफ़ी के शिष्य हो गये। मुहम्मद की १३३६-३७ ई० में मृत्यु हो गयी। उसका पुत्र अर्थात् इब्ने ख़लदून का पिता मुहम्मद पठन-पाठन के कार्य में ही जीवन व्यतीत करता रहा और १३४८-४९ ई० की भीषण प्लेग में मुहम्मद की मृत्यु हो गयी। इब्ने ख़लदून के अनुसार उसके पिता को सर्वदा उसकी शिक्षा की चिन्ता रहा करती थी। इब्ने ख़लदून के वंश में उच्च कोटि की शिक्षा एवं राजनीति दोनों की ही परंपराएँ वर्तमान थीं।

इब्ने ख़लदून ने अपने पिता एवं अपने अनेक समकालीन आलिमों से शिक्षा ग्रहण की थी। उसके अधिकांश गुरुओं के पूर्वजों का वतन स्पेन था। नक़ली[1] एवं अक़ली[2] ज्ञान के सभी क्षेत्रों में उसे अच्छी शिक्षा प्राप्त हुई थी। धार्मिक विषयों के अतिरिक्त उसे तर्क-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र इत्यादि की भी शिक्षा मिली थी। रचनाशैली में कुशलता एवं इतिहास के ज्ञान में दक्षता भी उसने प्राप्त की थी।

१३४७ ई० में फ़ास (फ़ेज) के मरीनी सुल्तान अबुल हसन ने, जो १३३७ ई० से अब्दुल वाद वंश के तलेम्सान पर अधिकार जमाये हुए था, ट्युनिस विजय कर लिया, किन्तु १३४८ ई० में अरब क़बीलों द्वारा क़ैरवान में पराजित होकर उसे ट्युनिस छोड़ना पड़ा और १३५७ ई० तक बनी हफ़्स का राज्य बड़े ख़तरे में रहा। १३५७ ई० में अबुल हसन के पुत्र अबू इनान ने ट्युनिस को विजय कर लिया, किन्तु १३५८ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी और फिर कुछ समय के लिए उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा को आक्रमणों से मुक्ति प्राप्त हो गयी।

१३४७ ई० में मरीनी वंश की विजय के उपरान्त ट्युनिस में अबुल हसन के साथ कुछ प्रसिद्ध विद्वान् भी पहुँचे। इब्ने ख़लदून ने इनमें से मुहम्मद (बिन अली) बिन सुलेमान अस्सत्ती, अब्दुल मुहैनन बिन मुहम्मद अल हज़रमी (१२७७-७८ से १३४९ ई०) और सबसे प्रमुख मुहम्मद बिन इबराहीम अल अबिली (१२८२-८३ से १३५६ ई०) से शिक्षा ग्रहण की। अबिली के ट्युनिस से चले जाने के

१. कथन पर आधारित (क़ुरान शरीफ़ तथा हदीस पर आधारित) ज्ञान, देखिए अध्याय ६।
२. बुद्धि अथवा तर्क पर आधारित ज्ञान, गणित, दर्शनशास्त्र इत्यादि, देखिए अध्याय ६।

उपरान्त इब्ने ख़लदून का भी मन अपने वतन में न लगा और वह वहाँ से चल खड़ा हुआ।

प्लेग के कारण इब्ने ख़लदून के पिता एवं माता की मृत्यु हो चुकी थी और केवल उसका बड़ा भाई मुहम्मद ही वंश के बड़े-बूढ़ों में रह गया था। २० वर्ष की अवस्था में वह "साहिब अल-अलामह" अथवा हस्ताक्षर करने का अधिकारी नियुक्त हो गया। इस पद के अन्तर्गत उसे फ़रमानों पर शीर्षक लिखना पड़ता था। यद्यपि यह कोई बहुत बड़ा पद न था, किन्तु वह हफ़सी वंश का विश्वास-पात्र था। फिर भी वह १३५२ ई० में ट्युनिस से मरीनी राज्य में चला गया और १३५३ ई० की गरमी में उसने अबू इनान से भेंट की। १३५३-५४ ई० में वह बिजाया में रहा जो मरीनी वंश के उच्च पदाधिकारियों के अधीन था।

फ़ास (फ़ेज) में

१३५४ ई० में वह अबुल हसन के पुत्र अबू इनान के निमंत्रण पर फ़ास (फ़ेज़) पहुँचा और वहाँ के विद्वानों की गोष्ठियों से लाभान्वित होने लगा। वह वहाँ क़ुरान के प्रसिद्ध विद्वान् मुहम्मद बिन अस्सफ़ार व एक अन्य विद्वान् मुहम्मद बिन मुहम्मद अल मक़्क़री के सम्पर्क में आया। उसने दर्शन-शास्त्र के माने हुए विद्वान् मुहम्मद बिन मुहम्मद अलवी (१३१०-११ से १३६९-७० ई०) से भी शिक्षा ग्रहण की, जो कहा जाता है कि इब्ने ख़लदून के ट्युनिस के एक गुरु मुहम्मद इब्ने अब्दुस्सलाम का भी गुरु था। वह क़ाज़ी मुहम्मद बिन अब्दुर्रज़्ज़ाक़ तथा मुहम्मद बिन यहया अल बरज़ी (१३१०-११ से १३८४ ई०) की गोष्ठियों में भी रहा। उसकी वहाँ प्रसिद्ध ज्योतिषी एवं चिकित्सक इबराहीम बिन जर्रार से भी भेंट हुई। उसको फ़ेज़ में शरीफ़ मुहम्मद बिन अहमद अस्सबती (१२९७-९८ से १३५९ ई०) से भी मिलने का अवसर प्राप्त हुआ और वह प्रसिद्ध विद्वान् अबुल बरकात मुहम्मद बिन मुहम्मद अल बल्लाफ़ीक़ी (मृत्यु १३७०ई०) की शिक्षा से भी, जिसके हवाले उसने मुक़द्दमे में कई स्थानों पर दिये हैं, लाभान्वित हुआ।

फ़ज में इब्ने ख़लदून कुछ समय तक विद्याध्ययन में ही व्यस्त रहा, किन्तु उसे शीघ्र ही दरबार के विद्वानों के साथ अबू इनान के दरबार से भी सम्बन्धित होना पड़ा। १३५५ ई० में उसे अबू इनान ने अपना कातिब (सचिव) नियुक्त कर लिया और सुल्तान की सेवा में जो प्रार्थनापत्र प्रस्तुत होते उन पर एवं अन्य काग़ज़ों पर वह शाही आदेश लिखा करता था। उसे यह कार्य पसन्द न था। वह लिखता है कि "उसके पूर्वजों ने इस प्रकार का कार्य कभी न किया था। वे सुल्तानों की परामर्श-

गोष्ठियों के मुख्य अंग रह चुके थे और समकालीन राजनीति एवं क्रान्तियों में भाग लिया करते थे।" यद्यपि उसने इस पद पर अधिक समय तक कार्य न किया, किन्तु इसके सहारे से उसे अन्य देशों के राजदूतों से विचार-विनिमय करने तथा समकालीन उत्तरी अफ़्रीक़ा एवं मुसलमानी स्पेन की राजनीतिक दशा का अच्छा ज्ञान प्राप्त हो गया।

वह बनी हफ़्स के शाहज़ादे अबू अब्दुल्लाह का, जो उन दिनों फ़ेज़ में था, बड़ा घनिष्ठ मित्र हो गया। अबू इनान अबू अब्दुल्लाह की सहायता से ट्युनिस से बनी हफ़्स में फूट डालकर उस देश पर भी अपना प्रभुत्व जमाना चाहता था, किन्तु थोड़े दिन बाद अबू इनान को यह सन्देह हो गया कि इब्ने ख़लदून अबू अब्दुल्लाह से मिलकर उसके विरुद्ध षड्यंत्र रच रहा है, अतः उसने १० फ़रवरी १३५७ ई० को इब्ने ख़लदून तथा अबू अब्दुल्लाह को बन्दी बना लिया। उसके बाद ही अबू इनान ट्युनिस पर आक्रमण हेतु रवाना हो गया। ऐसी अवस्था में वह इब्ने ख़लदून को मुक्त रहने ही किस प्रकार दे सकता था। अबू अब्दुल्लाह को तो कुछ समय उपरान्त बन्दीगृह से छोड़ दिया गया, किन्तु इब्ने ख़लदून बन्दीगृह में ही रहा। २७ नवम्बर १३५८ ई० को अबू इनान की मृत्यु हो गयी और २१ मास के उपरान्त उसे बन्दीगृह से मुक्त कर दिया गया। अबू इनान की मृत्यु के पश्चात् मरीनी वंश का पतन प्रारम्भ हो गया। राज्य के वज़ीरों ने प्रभुत्व प्राप्त कर लिया और प्रत्येक उच्च पदाधिकारी शाही वंश के किसी न किसी व्यक्ति का समर्थक बनकर षड्यंत्र रचने लगा। इब्ने ख़लदून ने राज्यों की इस प्रकार की अव्यवस्थित दशा से अपने मुक़द्दमे में बड़े ही महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं।

इब्ने ख़लदून ने स्वयं अबू इनान के भाई अबू सालिम की, जो देश से निर्वासित हो चुका था, वापिसी के लिए प्रयत्न किया। अबू सालिम ने जुलाई १३५९ ई० में २६ वर्ष की अवस्था में मरीनी राजसिंहासन पर अधिकार जमा लिया। उसने इब्ने ख़लदून को "कातिब-अल सिर वल तौक़ी वल इन्शा" नियुक्त कर दिया। बाद में उसने उसे अपने राज्य के "मज़ालिम" विभाग का मुख्य अधिकारी बना दिया। इस विभाग के अन्तर्गत उन अभियोगों के निर्णय की देखरेख करनी पड़ती थी जिनका सम्बन्ध "शरा" से न होता था। उसे अपना यह नया कार्य पसन्द भी था और इस विभाग के अध्यक्ष के रूप में उसने जो सेवाएँ कीं उनसे वह संतुष्ट भी था। अबू सालिम, इब्ने ख़लदून की आशा के विरुद्ध, बुद्धिमान् एवं न्यायकारी बादशाह न निकला और दरबार के षड्यंत्र का शिकार हो गया। १३६१ ई० में राज्य के अधिकारियों ने अबू सालिम के विरुद्ध विद्रोह करके उसकी हत्या कर दी।

उस समय अब्दुल वादियों ने अपनी शक्ति का पुनर्गठन करके तलेम्सान पर अधिकार जमा लिया था। सुदूर पूर्व में बिजाया, क़िसिन्तीना तथा ट्युनिस में बनी हफ़स अपनी शक्ति का पुनरुद्धार करने लगे थे। इस अनिश्चित वातावरण के कारण इब्ने ख़लदून ने फ़ेज़ से चला जाना ही उचित समझा। किन्तु वहाँ वालों को यह भय हुआ कि कहीं वह अपने अफ़्रीक़ा की राजनीति के ज्ञान से किसी अन्य पक्ष को अनुचित लाभ न पहुँचा दे, अतः उन्होंने उसे इस शर्त पर जाने की अनुमति दी कि वह अफ़्रीक़ा के किसी राज्य में न जायगा अपितु स्पेन चला जायगा। तदनुसार वह फ़ेज़ से प्रस्थान करके २६ दिसम्बर १३६२ ई० को ग़रनाता पहुँच गया।

स्पेन में

ग़रनाता के मुहम्मद पंचम (१३५४-१३९१ ई०) से, अबू सालिम के राज्यकाल में इब्ने ख़लदून की मित्रता हो गयी थी। १३५९ ई० में मुहम्मद के दरबार वालों ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र करके उसके भाई को उसके स्थान पर बादशाह बना दिया। मुहम्मद भागकर अबू सालिम के पास पहुँचा। उस समय इब्ने ख़लदून अबू सालिम का सचिव था। उसने मुहम्मद का भव्य स्वागत कराया। कुछ समय उपरान्त अबू सालिम के प्रयत्न से मुहम्मद के प्रधान मंत्री इब्नुल ख़तीब को भी ग़रनाता वालों ने मुक्त कर दिया और वह मुहम्मद के पास फ़ेज़ पहुँच गया। इब्नुल ख़तीब की विद्वत्ता से इब्ने ख़लदून अत्यधिक लाभान्वित हुआ और उसी की प्रेरणा से उसने अल बरजी की कविता के विषय में कुछ विशेष बातें लिखीं, जिन्हें इब्नुल ख़तीब ने अपने ग़रनाता के इतिहास में संकलित कर लिया। इब्ने ख़लदून के प्रयत्न से मुहम्मद को ग़रनाता का राज्य प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिली। जब मुहम्मद अपने राज्य पर पुनः अधिकार जमाने के लिए १३६१ ई० में ग़रनाता रवाना हुआ तो अपने परिवार को इब्ने ख़लदून की ही देख-रेख में छोड़ गया। इस कारण जब इब्ने ख़लदून ग़रनाता पहुँचा तो बादशाह एवं प्रधान मंत्री दोनों ने उसे हाथों हाथ लिया और वह उनका विश्वासपात्र बन गया।

१३६४ ई० में कास्तिल्ला के ईसाई बादशाह पेडरो प्रथम "अत्याचारी" के पास उसे एक शिष्ट-मंडल का नेता बनाकर इस आशय से भेजा गया कि वह ईसाई बादशाह एवं मुसलमानों में सन्धि करा दे। इब्ने ख़लदून की पेडरो से सेविल में, जो उसके पूर्वजों का वतन था, भेंट हुई। पेडरो इब्ने ख़लदून के उत्तरी अफ़्रीक़ा की राजनीतिक दशा के ज्ञान के विषय में सुनकर तथा यह जानकर कि उसके पूर्वज सेविल

के ही निवासी थे, बड़ा प्रभावित हुआ। उसने इब्ने ख़लदून को अत्यधिक प्रोत्साहन प्रदान किया और उसके पूर्वजों की जागीर उसे वापस कर देने तथा अपने राज्य में ठहर जाने का उससे आग्रह किया। किन्तु इब्ने ख़लदून ने यह स्वीकार न किया और अपना कार्य समाप्त करके बादशाह के उपहार लेकर वह ग़रनाता लौट आया। पेडरो के राज्य में उसे मुसलमानों के प्राचीन राज्य के ऐश्वर्य एवं गौरव के अवशेष देखने एवं मुसलमानों की वर्तमान स्थिति पर ग़ौर करने का अवसर मिला। उसने देखा कि मुसलमानों का प्रभुत्व किस प्रकार घटता जा रहा है। वह जिस सन्धि के लिए गया था वह बराबर के राज्य वालों की सन्धि न थी, अपितु एक उन्नति के पथ पर अग्रसर तथा दूसरे पतनशील राज्य के मध्य की सुलह थी।

ग़रनाता में इब्ने ख़लदून ने अपने परिवार को भी क़िसिन्तीना से बुलवा लिया। मुहम्मद पंचम युवक एवं जागरूक भी था, अतः इब्ने ख़लदून ने उसे अपने विचारों से प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया। इब्ने ख़लदून समझता था कि सम्भवतः उसकी शिक्षा द्वारा मुहम्मद अपने राज्य को उसकी कल्पना के "आदर्श राज्य" में परिवर्तित कर सकेगा। अबू सालिम के दरबार में उसे इस दिशा में कोई सफलता न प्राप्त हुई थी, सुल्तान ने उसकी ओर अधिक ध्यान न दिया था। उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा में सभ्यता एवं संस्कृति की वे परम्पराएँ भी न थीं जो स्पेन में थीं, अतः वह मुहम्मद की शिक्षा में अपनी पूरी योग्यता का प्रयोग करने लगा। उसने "अल्लका लिल सुल्तान" नामक एक ग्रंथ की रचना भी की जिसमें सुल्तानों के लिए जिस तर्क-शास्त्र की आवश्यकता होती है उसका उल्लेख किया।

सुल्तान का प्रधान मंत्री इब्नुल ख़तीब, इब्ने ख़लदून एवं मुहम्मद की गोष्ठियों के विषय में सन्देह करने लगा। जब उसे इब्ने ख़लदून की योजनाओं का पता चला तो उसके क्रोध की कोई सीमा न रही। इब्नुल ख़तीब का संभवतः विचार था, जो बाद में ठीक ही निकला कि इब्ने ख़लदून मुहम्मद को जिस मार्ग पर ले जाना चाहता है, मुहम्मद उसके योग्य नहीं। इससे राज्य को बड़ी हानि उठानी पड़ेगी। वह इब्ने ख़लदून की विद्वत्ता से प्रभावित था और इब्ने ख़लदून भी आजीवन उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता रहा।

बिजाया में

इसी बीच में बनी हफ़स के अबू अब्दुल्लाह ने जून १३६४ ई० में बिजाया पर अधिकार जमा लिया। उसने इब्ने ख़लदून को भी अपने राज्य में आमंत्रित किया और

उसे हाजिब बना देने का आश्वासन दिलाया। इब्ने खलदून ग़रनाता से चल दिया और मार्च १३६५ ई० में बिजाया पहुँच गया। मुहम्मद पंचम उसके प्रस्थान से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने ११ फ़रवरी १३६५ ई० को इब्नुल खतीब से लिखवाकर उसके पास एक पत्र भिजवाया जिसमें उसकी अत्यधिक प्रशंसा की गयी थी। इब्ने खलदून अपने बिजाया के जीवन से बड़ा संतुष्ट था। वह अपनी आत्म-कथा में लिखता है—"सुल्तान ने आदेश दिया कि दरबारी रोजाना प्रातःकाल मेरे दरबार में उपस्थित हुआ करें। मैंने शासन का कार्य संभाल लिया और राज्य के हित एवं अन्य समस्याओं का पूर्ण रूप से समाधान करने लगा।"

"सुल्तान ने क़स्बा के महाविद्यालय के आचार्य का पद भी मुझे प्रदान कर दिया। मैं अत्यन्त व्यस्त रहने के बावजूद, दिन के प्रथम भाग में अपना कार्य समाप्त करके क़स्बा महाविद्यालय में जाकर बैठ जाता और वहाँ पठन-पाठन का कार्य प्रारम्भ कर देता और उसे कभी न त्यागता।"

अबू अब्दुल्लाह यद्यपि युवक था, किन्तु उसमें एक गुणवान् बादशाह बनने की योग्यता न थी। शीघ्र ही उसकी प्रजा उसकी कठोरता एवं निष्ठुरता के कारण उससे बुरी तरह असंतुष्ट हो गयी। उसी समय में अबू अब्दुल्लाह का चचेरा भाई अबुल अब्बास भी क़िसिन्तीना का बादशाह था। उसने अबू अब्दुल्लाह की प्रजा की सहायता से उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध में इब्ने खलदून ने अबू अब्दुल्लाह के राज्य की बड़ी सहायता की। बिजाया में धन की कमी हो जाने के कारण वह बिजाया के पर्वतीय बरबरों से कर वसूल करने के लिए तैयार हो गया, यद्यपि यह कार्य बड़ा खतरनाक था। मई १३६६ ई० में अबू अब्दुल्लाह की मृत्यु हो गयी। इब्ने खलदून ने उसके उत्तराधिकारी के राज्य में रहना पसन्द न किया और वह अबुल अब्बास के पास चला गया। किन्तु उसने वहाँ पहुँचते ही भाँप लिया कि अबुल अब्बास से उसकी अधिक दिनों तक नहीं निभ सकती और उसने आग्रह करके वहाँ से चले जाने की अनुमति प्राप्त कर ली।

बिस्करा में

ट्युनिस से १३५२ ई० में उसके चले जाने के उपरान्त रियाह दवाविदह अरबों को राज्य प्राप्त हो गया। उनकी अनुमति से उसने बिस्करा में निवास करना प्रारम्भ कर दिया। इसी बीच में उसे पता चला कि उसके भाई यहया को अबुल अब्बास ने बन्दी बना दिया है। अब इब्ने खलदून बड़े असमंजस में पड़ गया।

उस समय उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा में, तलेम्सान में अब्दुल वादियों का राज्य था जिनका बादशाह अबू हम्मू था। ट्युनिस के अबू हफ़्स उसके सहायक थे। उनके विरोधियों में वे अब्दुल वादी थे जो तलेम्सान पर अपनी राज्यसत्ता स्थापित करना चाहते थे। बनी हफ़्स का अबुल अब्बास, जो क़िसिन्तीना तथा बिजाया का बादशाह था, उनका सहायक था। अरब के क़बीले इस अवसर पर कभी इस पक्ष का और कभी उस पक्ष का साथ देने लगते थे। इब्ने ख़लदून ने इस स्थिति से पर्याप्त लाभ उठाया। उसे अरब क़बीलों का बड़ा अच्छा ज्ञान हो गया था और वह जिस प्रकार चाहता उनसे लाभ उठा लेता था।

तलेम्सान के अबू हम्मू का विवाह बिजाया के अबू अब्दुल्लाह से हुआ था जो इब्ने ख़लदून का मित्र तथा आश्रयदाता था। उसने इब्ने ख़लदून को अपने राज्य में प्रधान मंत्री बना देने का आश्वासन दिलाकर आमंत्रित किया। उसका एक पत्र मार्च १३६८ ई० को प्राप्त हुआ, किन्तु इब्ने ख़लदून ने अपने भाई यहया को जो बंदीगृह से मुक्त हो गया था, तलेम्सान भेज दिया और वह स्वयं कहीं न गया। उस समय वह राजनीति की अनिश्चित दशा से निराश हो गया था और अब कुछ समय विद्याध्ययन में व्यतीत करना चाहता था।

इसी बीच मरीनी वंश ने फ़ेज़ के सुल्तान अब्दुल अज़ीज़ (१३६६-१३७२ ई०) के नेतृत्व में बहुत अधिक उन्नति प्राप्त कर ली थी। १३७० ई० में उसने तलेम्सान पर चढ़ाई की। इस कारण अबू हम्मू की स्थिति डाँवाडोल हो गयी। अप्रैल १३७० ई० में अबू हम्मू से इब्ने ख़लदून ने भेंट की, किन्तु अब्दुल अज़ीज़ की विजयों के कारण वह समझ गया कि उसका उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा में रहना उचित नहीं और उसने स्पेन भाग जाना निश्चय कर लिया, किन्तु इसमें वह सफल न हो सका। मार्ग में ही उसे बन्दी बना लिया गया और अब्दुल अज़ीज़ की सेवा में उपस्थित किया गया, किन्तु उसे मुक्त कर दिया गया और वह तलेम्सान के समीप अल-उब्बाद चला गया। एक दो सप्ताह बाद ही अब्दुल अज़ीज़ ने उसे अपनी सेवा में सम्मिलित हो जाने के लिए विवश कर दिया। वह ४ अगस्त १३७० ई० को बिस्करा पहुँच गया और अरब क़बीलों की राजनीति में भाग लेने लगा। दो वर्ष उपरान्त अब्दुल अज़ीज़ ने उसे फ़ेज़ बुलवा लिया और ११ सितम्बर १३७२ ई० को वह अपने परिवार को बिस्करा छोड़कर फ़ेज़ की ओर चल दिया, किन्तु मार्ग में ही उसे अब्दुल अज़ीज़ की मृत्यु का समाचार प्राप्त हुआ। अबू हम्मू के पक्षपाती बद्दुओं ने उसे मार्ग में बड़े कष्ट पहुँचाये। वह लिखता है—"उन लोगों ने हमारा मार्ग रोका और जो कुछ हमारे पास था वह

सब लूट लिया। हममें से कुछ लोग अपने प्राण लेकर दबदू पर्वत की ओर भाग गये और कुछ पैदल ही गये। मैं भी उन्हीं लोगों में था। दो दिन मैंने बिना वस्त्र के काटे। अन्त में आबादी में पहुँचा और दबदू में जाकर अपने साथियों से मिल गया।" इस तरह की कठिनाइयाँ झेलता हुआ वह किसी न किसी प्रकार फ़ेज़ पहुँच गया।

पुनः स्पेन में

वहाँ की अनिश्चित राजनीति के कारण उसने फ़ेज़ से स्पेन चला जाना ही अपने लिए हितकर समझा। उस समय ग़रनाता में इब्नुल ख़तीब के स्थान पर इब्ने ज़मरक प्रधान मंत्री था। इब्नुल ख़तीब की भाँति वह भी अबू सालिम के समय में फ़ेज़ पहुँचा था और इब्ने खलदून ने उसका भी बड़ा भव्य स्वागत कराया था। किन्तु इब्ने खलदून के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ थीं। फ़ेज़ तथा ग़रनाता के सम्बन्ध उस समय बहुत बिगड़ चुके थे और युद्ध छिड़ जाने तक की नौबत आ गयी थी। फ़ेज़ के शासन ने उसे जाने की अनुमति न दी, किन्तु १३७४ ई० में वह ग़रनाता पहुँच गया।

ग़रनाता के सुल्तान मुहम्मद में भी इस समय बड़ा परिवर्तन आ चुका था। इब्नुल ख़तीब को जैसा भय था वही हुआ। इब्ने खलदून का, दर्शन-शास्त्र से रुचि रखनेवाला बादशाह, बहुत बड़ा अत्याचारी बन चुका था। उसने इब्नुल ख़तीब को ग़रनाता से निर्वासित कर दिया। जब वह मरीनी दरबार में चला गया तब भी मुहम्मद उसकी हत्या कराये बिना संतुष्ट न हुआ। जब मुहम्मद को यह ज्ञात हुआ कि इब्ने खलदून ने इब्नुल ख़तीब की सहायता की थी, तो उसने उसे अपने राज्य से निकलवा दिया।

क़िला इब्ने सलमह में

इब्ने खलदून ग़रनाता से हुनैन पहुँचा। हुनैन उस समय तलेम्सान के अधीन था जहाँ सुल्तान अबू हम्मू शासन कर रहा था। अबू हम्मू से इब्ने खलदून के सम्बन्ध अच्छे न थे, किन्तु अबू हम्मू बिजाया-विजय के स्वप्न देख रहा था, अतः उसने इब्ने खलदून से काम लेने का निश्चय कर लिया। इब्ने खलदून के एक मित्र ने भी उसकी बड़ी सहायता की। वह अबू हम्मू के राज्य में अल-उब्बाद के समीप निवास करने लगा। ५ मार्च १३७५ ई० को उसका परिवार भी फ़ेज़ से वहीं पहुँच गया।

इसी बीच अबू हम्मू ने उसे एक शिष्ट-मंडल का नेतृत्व सौंपकर दवाविह अरबों के पास जाने का आदेश दिया। इब्ने खलदून ने एकान्तवास करने का निश्चय कर लिया था, किन्तु अबू हम्मू के आग्रह पर उसे यह सेवा स्वीकार करनी ही पड़ी। उसने सोचा कि सम्भवत: इस प्रकार शासन की सेवा से उसे मुक्ति प्राप्त हो जाय। तलेम्सान से प्रस्थान करके वह अरब जुग़बह नामक क़बीले की सुवैद शाखा के प्रमुख वंश औलाद आरिफ़ के साथ ठहर गया और अपने परिवार को भी वहीं बुलवा लिया। औलाद आरिफ़ ने पूरे परिवार को क़िला इब्ने सलमह में निवास करने की अनुमति दे दी। यह उरान प्रान्त का एक ग्राम तथा क़िला था जिसे मरीनी वंश के अबू इनान ने इन्हें प्रदान कर दिया था। वहाँ इब्ने खलदून को तीन वर्ष से अधिक शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने का अवसर मिल गया।

अब उसकी अवस्था लगभग ४० वर्ष की हो चुकी थी। अपने जीवन के २० वर्ष तक मुसलमानों के पश्चिमी राज्यों की राजनीति में भाग लेने के कारण उसे इस विषय का उत्तम ज्ञान हो गया था। उसे अनेक महत्त्वपूर्ण राजदूतों, पदाधिकारियों, शासकों, क़बीले के सरदारों एवं विद्वानों से विचार विनिमय का अवसर भी प्राप्त हो चुका था। इतने अधिक वैयक्तिक ज्ञान एवं विद्वत्ता की पृष्ठभूमि में उसने क़िला इब्ने सलमा में अपने इतिहास-ग्रंथ की रचना प्रारम्भ की। वह लिखता है—"नवम्बर १३७७ ई० में मैं वहाँ के शान्त वातावरण में ईश्वर की कृपा से पाँच महीने में प्राक्कथन (मुक़द्दमे) की रचना पूरी कर सका।" तदुपरान्त इब्ने ख़लदून ने अरब, बरबर एवं जनाता का इतिहास लिखना प्रारम्भ किया। वहाँ कोई बड़ा पुस्तकालय प्राप्त न था। अब तक उसने जो कुछ लिखा था वह अपनी स्मृति एवं उन टिप्पणियों के आधार पर लिखा था जो उसके पास थीं। इसी बीच में वह रुग्ण हो गया। वह किसी अच्छे पुस्तकालय की खोज में था, जहाँ बैठकर शान्तिपूर्वक अपने इतिहास की रचना कर सकता। वह लिखता है कि "मेरा हृदय तूनिस (ट्युनिस) की ओर आकृष्ट हुआ जहाँ मेरे पूर्वजों का घर, अवशेष तथा मक़बरे थे।

इस समय ट्युनिस में बनी हफ़्स का अबुल अब्बास शासन कर रहा था। ११ वर्ष पूर्व इब्ने खलदून का अबुल अब्बास से संघर्ष हो चुका था, किन्तु उसने जो कार्य प्रारम्भ किया था उसे पूरा करने का अवसर ट्युनिस में ही मिल सकता था, अत: उसने अबुल अब्बास को पत्र लिखकर वहाँ के पुस्तकालयों में अध्ययन करने एवं अपने जन्म-स्थान तथा अपने पूर्वजों के मक़बरों के दर्शन करने की अनुमति माँगी। अबुल अब्बास ने उसकी एवं उसके पूर्वजों की विद्वत्ता के कारण उसे तत्काल अनुमति दे दी

और वह नवम्बर अथवा दिसम्बर १३७८ ई० में ट्युनिस पहुँच गया। अबुल अब्बास अब ४३ वर्ष का हो चुका था। समकालीन राजनीति का उसे अच्छा ज्ञान हो गया था और वह उत्तरी अफ़्रीक़ा की समस्याओं को भली-भाँति समझने लगा था तथा उनका समाधान करके अपने राज्य को दृढ़ बनाना चाहता था। उसे इब्ने ख़लदून के ज्ञान से लाभान्वित होने की बड़ी इच्छा थी, अतः उसने उसे अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। वह लिखता है कि "सुल्तान ने मेरा भली-भाँति स्वागत किया और मुझे संतुष्ट रखने का बड़ा प्रयत्न किया, राज्य की समस्याओं के विषय में मुझसे परामर्श किया। फिर मुझे तूनिस (ट्युनिस) भेजा और अपने हाकिम को आदेश दे दिया कि वह मेरे निवास, वृत्ति एवं अन्य आवश्यकताओं का उचित प्रबन्ध कर दे" किन्तु दरबार के विश्वासपात्रों ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचना प्रारम्भ कर दिया।

इब्ने ख़लदून ने वहाँ शिक्षा देनी प्रारम्भ कर दी, परन्तु प्रसिद्ध फ़क़ीह इब्ने अरफ़ह अल वरग़मी (१३१६-१४१० ई०) ने उसका विरोध प्रारम्भ कर दिया, कारण कि अधिकांश विद्यार्थी इब्ने अरफ़ह के पास से भाग-भागकर इब्ने ख़लदून के पास पहुँचने लगे। दरबारवालों ने अबुल अब्बास के कान भरने प्रारम्भ कर दिये और उसे समझा दिया कि इब्ने ख़लदून को ट्युनिस में छोड़ना ख़तरे से खाली नहीं, अतः अबुल अब्बास इब्ने ख़लदून से अभियानों पर जाने का आग्रह करने लगा। इब्ने ख़लदून को पठन-पाठन का जीवन त्यागना पसन्द न था। अक्तूबर १३८२ ई० में जब अबुल अब्बास एक अभियान पर जा रहा था तो इब्ने ख़लदून को भय हुआ कि कहीं उससे फिर अभियान पर जाने का आग्रह न किया जाय। उसी समय ट्युनिस के बन्दरगाह से एक जहाज़ सिकन्दरिया जा रहा था, अतः इब्ने ख़लदून ने हज करने के लिए मक्का चले जाने की अनुमति माँगी। अबुल अब्बास ने उसे अनुमति दे दी और २४ अक्तूबर १३८२ ई० को वह जहाज़ से इस्कन्दरिया के लिए रवाना हो गया। उसका परिवार ट्युनिस में ही रह गया।

इब्ने ख़लदून ने अपने चार वर्ष के ट्युनिस के निवास-काल में अपने इतिहास-ग्रंथों में उस सामग्री के आधार पर, जो ट्युनिस में प्राप्त थी, संशोधन एवं परिवर्तन किये। उसने अबुल अब्बास को भी अपने इतिहास की एक प्रति भेंट की, किन्तु इसमें समकालीन बादशाह की प्रशंसा न थी। इससे अबुल अब्बास को और भी अधिक शंका हो सकती थी, अतः उसने उसके समाधान हेतु अबुल अब्बास की सेवा में एक क़सीदा भेंट किया, जिसके १०१ शेरों में बादशाह की प्रशंसा के साथ-साथ इतिहास के विषय में इस प्रकार लिखा गया था—

शेर

और आपके सामने युग एवं युगवालों के कुचक्र के सम्बन्ध में उन शिक्षाओं को प्रस्तुत कर रहा हूँ जिनके गौरव को वे लोग स्वीकार करेंगे जो न्याय-कारी हैं।

* * *

यह पृष्ठ भूतकाल के लोगों के इतिहास की व्याख्या कर रहे हैं। ये किसी घटना का संक्षिप्त रूप में और किसी का विस्तार से उल्लेख करते हैं।

* * *

जो तबाबेआ, अमालेक़ा और उनसे भी प्राचीन क़ौमों, समूद एवं प्रारंभिक आद के गुप्त हाल को ज़ाहिर करते हैं।

* * *

मुजार एवं बरबर में से उन लोगों के इतिहास को भी, जो इस्लाम स्वीकार करने के बाद इस्लाम पर दृढ़ रहे।

* * *

इन पृष्ठों की रचना में मैंने प्राचीन काल के विद्वानों की रचना का सारांश प्रस्तुत किया है और जिन बातों की ओर से उन्होंने उपेक्षा दर्शायी उनका प्रारम्भ से उल्लेख कर दिया है।

* * *

इस अपरिचित विवरण को, जो वनपशुओं के समान वश में न आता था, मैंने ऐसा वश में कर लिया कि अब वाणियाँ मेरे विवरण का अनुकरण करेंगी।

इब्ने ख़लदून मिस्र में

४० दिन से अधिक की यात्रा के उपरान्त वह ८ दिसम्बर १३८२ ई० को सिकन्दरिया पहुँचा। इस बार वह हज के लिए मक्का न जा सका और ६ जनवरी १३८३ ई० को क़ाहेरा के लिए रवाना हो गया। उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा के देशों के विपरीत यहाँ नगर की सभ्यता एवं संस्कृति उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। राजधानी के ऐश्वर्य तथा गौरव ने उसे चकित कर दिया। वहाँ की राजनीतिक दशा उस समय तक पतित न हुई थी। ममलूकों के अधीन मिस्र काफ़ी

धन-धान्यसम्पन्न था, किन्तु इब्ने ख़लदून को शीघ्र पता चल गया कि उन्नत सभ्यता के साथ-साथ वहाँ चरित्रहीनता एवं नैतिक पतन का भी अभाव नहीं। एक नये देश में उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा अथवा स्पेन के समान कोई पद प्राप्त कर लेना सरल न था। किन्तु क़ाहेरा के कुछ विद्वान् उसके पहुँचने के पूर्व ही उसकी विद्वत्ता से प्रभावित हो चुके थे और उसे वहाँ पहुँचते ही हाथों हाथ लिया गया तथा अल अज़हर विश्व-विद्यालय में आचार्य के पद पर नियुक्त कर दिया गया।

उसके पहुँचने के कुछ मास पूर्व मलिक अज़्ज़ाहिर बरक़ूक़ (१३८२-१३९९ ई०) मिस्र का सुल्तान हो गया था। नये-नये विद्वानों को आश्रय प्रदान करने में उसकी बड़ी रुचि थी। इब्ने ख़लदून शीघ्र ही उसका विश्वासपात्र बन गया और बरक़ूक़ की मृत्यु (१३९९ ई०) तक दोनों के सम्बन्ध अच्छे रहे। इब्ने ख़लदून आजीवन उसके प्रति आभार प्रदर्शित करता रहा। मिस्र पहुँचने पर अल्तून बूग़ा अल जुबानी (मृत्यु १३९० ई०) इब्ने ख़लदून का मित्र हो गया। वह बड़ा प्रभावशाली तुर्क अधिकारी था। उसने इब्ने ख़लदून का बरक़ूक़ से भी परिचय कराया और मिस्र के दरबार के अन्य उच्च पदाधिकारियों से भी।

इब्ने ख़लदून अपने जीवनकाल के शेष २३ वर्षों में कभी आचार्य, कभी महा-विद्यालय के प्रधान और कभी क़ाज़ी के पदों पर आरूढ़ होता रहा। यदि उसकी युवावस्था में उसे यह पद प्राप्त होते तो वह इनको कभी अच्छी दृष्टि से न देखता, किन्तु अब उसने जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लिया था उसके अनुसार यह पद बड़े ही महत्त्वपूर्ण थे। उसे अपनी रचनाओं में संशोधन एवं परिवर्धन का भी समय मिलने लगा और वह अधिक शान्ति से इतिहास एवं मुक़द्दमे को उच्च कोटि के ग्रंथ बनाने के लिए समय निकाल सका।

मिस्र के निवास-काल में उसे पूर्व एवं पूर्व के देशों के इतिहास तथा राजनीति के अध्ययन का भी अच्छा अवसर प्राप्त हो गया। बरक़ूक़ ने इब्ने ख़लदून के अफ़्रीक़ी देशों की राजनीति के ज्ञान से बड़ा लाभ उठाया। वह जितने वर्ष मिस्र में रहा प्रायः अपने देश के ही वस्त्र धारण किया करता था और अपने देशवासियों की यथा-संभव सहायता किया करता था। अपने देश की स्मृति उसके हृदय से न मिट सकी और वह उसे किसी प्रकार की हानि पहुँचते न देख सकता था।

अज़हर विश्वविद्यालय में कुछ समय तक आचार्य पद पर कार्य कर लेने के उपरान्त बरक़ूक़ ने उसे क़महीयह महाविद्यालय में मालिकी फ़िक़ह का आचार्य नियुक्त कर दिया। उसने १९ मई १३८४ ई० से इस महाविद्यालय में आचार्य पद का कार्य भार

सँभाल लिया। इस अवसर पर उसने जो उद्घाटन-वक्तव्य दिया तथा अन्य स्थानों पर आचार्य पद पर नियुक्ति-विषयक जो उद्घाटन-भाषण दिये उन्हें अपनी आत्म-कथा में उद्धृत किया है।

क़महीयह महाविद्यालय के उद्घाटन-भाषण में उसने तुर्कों एवं बरक़ूक़ की प्रशंसा के साथ-साथ यह बताया कि वह किस प्रकार आचार्य के कर्त्तव्यों का पालन करना चाहता है। ज़ाहिरीयह महाविद्यालय नया स्थापित हुआ था, अतः उसने वहाँ दूसरे ही प्रकार से अपना भाषण दिया। वहाँ उसने महाविद्यालय के निर्माता बरक़ूक़ की प्रशंसा विशेष रूप से की। उसका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्घाटन-भाषण सुरग़तमिशीयह महाविद्यालय का था। बरक़ूक़ की प्रशंसा से प्रारम्भ करके उसने यह बताया कि आचार्य के रूप में उसके कार्य के क्या मुख्य सिद्धान्त होंगे। इसके साथ-साथ उसने इमाम मालिक की "मुवत्ता" का बड़ा विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण किया। इन तीनों भाषणों से मिस्र के विद्वान् बड़े प्रभावित हुए और उसकी विद्वत्ता का लोहा मानने लगे।

आचार्य के रूप में उसे प्रायः फ़िक़ह तथा हदीस की शिक्षा देनी पड़ती थी, किन्तु वह इतिहास के विषय में भी भाषण किया करता था और "मुक़द्दमे" पर भी।

८ अगस्त १३८४ ई० को बरकूक़ ने उसे मुख्य मालिकी क़ाज़ी नियुक्त कर दिया। बीच-बीच में वह इस पद से पृथक् होता रहा, किन्तु फिर भी वह पाँच बार इस पद पर नियुक्त हुआ और जब उसकी मृत्यु हुई तो भी वह मुख्य क़ाज़ी के पद पर आरूढ़ था। वह कर्त्तव्य परायणता के सामने आलोचकों की अधिक चिन्ता न करता था। उसने भ्रष्टाचार का अन्त कराने तथा "शरीअत" के अनुसार निर्णय करने का घोर प्रयत्न किया। बड़े से बड़ा पदाधिकारी अथवा सम्मानित व्यक्ति उसे प्रभावित करके कर्त्तव्य के सन्मार्ग से विचलित न कर सकता था। स्पेन तथा उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा में उसे सुल्तानों को राजनीति की शिक्षा दे-कर एक आदर्श राज्य स्थापित करने में असफलता हो चुकी थी। विभिन्न सामाजिक ढाँचों के गहन अध्ययन के कारण उसे विश्वास हो गया था कि किसी प्रकार के प्रचार अथवा भाषण द्वारा सामाजिक सुधार सम्भव नहीं। उसने भली-भाँति यह समझ लिया था कि यदि शासक अपने राज्य को दृढ़ बना ले, अपनी प्रजा की रक्षा कर सके तथा विद्वानों को आश्रय प्रदान कर सके और आलिम लोग शरीअत एवं देश के क़ानून को भली भांति समझकर उसका पालन कर सकें तो जहाँ एक ओर समाज का कल्याण हो सकेगा वहाँ दूसरी ओर राज्य भी उन्नति कर सकेगा। इब्ने

खलदून ने क़ाज़ी के पद पर आरूढ़ होकर उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार आचरण करने का घोर प्रयत्न किया।

क़महीयह महाविद्यालय के आचार्य का पद ग्रहण करने के उपरान्त ही उसने अपने परिवार को भी मिस्र बुलवा लेने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। अबुल अब्बास, इब्ने ख़लदून के परिवार को जाने की अनुमति न देना चाहता था। वह समझता था कि सम्भवतः उसके कारण इब्ने ख़लदून पुनः उत्तर–पश्चिमी अफ्रीका वापस आ जायेगा, किन्तु बरक़ूक़ ने अबुल अब्बास को एक पत्र इब्ने ख़लदून के परिवार को मिस्र आने की अनुमति देने के लिए ८ अप्रैल १३८४ ई० को ट्युनिस भेजा। अबुल अब्बास ने इब्ने ख़लदून के परिवार को जाने की अनुमति दे दी, किन्तु जिस जहाज़ में उसका परिवार आ रहा था वह सिकन्दरिया के बन्दरगाह के समीप अक्तूबर-नवम्बर १३८४ ई० में नष्ट हो गया। इब्ने ख़लदून को इस दुर्घटना से बहुत बड़ा धक्का पहुँचा।

क़ाज़ी के पद से मुक्त हो जाने के उपरान्त उसे ज़ाहिरीयह महाविद्यालय में मालिकी फ़िक़ह का आचार्य नियुक्त कर दिया गया। २९ सितम्बर १३८७ ई० को वह हज के लिए मक्का रवाना हो गया और ८ मास की यात्रा के उपरान्त वापस आया। मार्ग में उसने पूर्व के बड़े-बड़े विद्वानों से भेंट की। वापसी के उपरान्त जनवरी १३८९ ई० में वह सुरग़तमिशीयह महाविद्यालय में हदीस का आचार्य नियुक्त कर दिया गया। इसके बाद ही बेबर ख़ानक़ाह के अध्यक्ष का पद भी रिक्त हो गया। आचार्य के पद के साथ-साथ अध्यक्ष का पद भी उसे प्रदान कर दिया गया।

१३८९ ई० में बरक़ूक़ के विरुद्ध मिस्र में विद्रोह हो गया और वह राज-सिंहासन से वंचित कर दिया गया, किन्तु २ फ़रवरी १३९० ई० को वह पुनः सिंहासनारूढ़ हो गया। इस बीच में इब्ने ख़लदून को भी मिस्र के अन्य फ़क़ीहों की भाँति बरक़ूक़ के विरुद्ध एक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने पड़ गये थे। बरक़क़ इससे अत्यधिक रुष्ट हुआ। इब्ने ख़लदून ने अपनी सफ़ाई में एक कविता की रचना करके उसे बरक़ूक़ की सेवा में प्रस्तुत किया। बरक़ूक़ कविता से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने अपने पुराने आश्रित को, जिसकी मिस्र में इतनी उन्नति उसी के कारण प्राप्त हुई थी, क्षमा कर दिया। किन्तु उसके शत्रुओं ने अवसर पाकर उसे बेबर ख़ानक़ाह की अध्यक्षता के पद से पृथक् करा दिया, यद्यपि बरक़ूक़ तथा इब्ने ख़लदून के पारस्परिक सम्बंध अधिक ख़राब न हो सके। २१ मई

१३९९ ई० को बरक़ूक़ ने उसे आचार्य पद के साथ मालिकी क़ाज़ी का पद भी प्रदान कर दिया।

एक मास उपरान्त बरक़ूक़ की मृत्यु हो गयी और उसका १० वर्ष का बालक फ़रज उसके स्थान पर सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने इब्ने ख़लदून को उन पदों पर, जो उसके पिता ने उसे प्रदान किये थे, आरूढ़ रहने दिया। १४०० ई० में वह फ़रज के साथ दमिश्क़ की यात्रा को गया। वापस होते समय उसने फ़लस्तीन, येरोशलम, बेथलेहेम तथा हरबोन के दर्शन किये। वहाँ से लौटने के उपरान्त कुछ षड्यंत्रकारियों के कारण वह क़ाज़ी के पद से हटा दिया गया।

उस समय तीमूर के तातारी (मुग़ुल अथवा मंगोल) शाम पर बढ़ते चले आ रहे थे और मिस्र ख़तरे में था। फ़रज सेना लेकर उनसे युद्ध करने के लिए तैयार हुआ। इब्ने ख़लदून को भी, यद्यपि वह क़ाज़ी के पद से मुक्त हो चुका था, फ़रज के साथ अपनी इच्छा के विरुद्ध जाना पड़ा। सेना नवम्बर १४०० ई० में युद्ध के लिए रवाना हुई और एक मास उपरान्त दमिश्क़ पहुँच गयी। तीमूर दमिश्क़ की ओर रवाना हो चुका था और फ़रज ने उसके पहुँचने के पूर्व नगर की प्रति-रक्षा की व्यवस्था कर ली। तीमूर के पहुँचने पर एक मास तक दोनों ओर से झड़पें होती रहीं।

जनवरी १४०१ ई० के प्रथम सप्ताह में फ़रज एवं उसके विश्वासपात्रों को पता चला कि सुल्तान के विरुद्ध मिस्र में षड्यंत्र हो रहा है और वे लोग वापस चले गये। दमिश्क़ वालों की समझ में न आता था कि वे क्या करें। उस समय सैनिक एवं असैनिक अधिकारियों में घोर मतभेद हो गया। सैनिक अधिकारी युद्ध को चलाते रहने के पक्ष में थे, किन्तु असैनिक अधिकारी, क़ाज़ी एवं फ़क़ीह इत्यादि, जिनमें इब्ने ख़लदून भी सम्मिलित था, दमिश्क़ को समर्पित कर देने की राय दे रहे थे। अन्त में दमिश्क़ समर्पित कर दिया गया जिसे तातारियों ने लूट-कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

जब दमिश्क़ के क़ाज़ी तीमूर की सेवा में उपस्थित हुए तो उसने इब्ने ख़लदून के विषय में प्रश्न किये और उससे भेंट करने की इच्छा प्रकट की। क्योंकि सैनिक लोग अब भी द्वारों पर अधिकार जमाये हुए थे, अतः इब्ने ख़लदून को दमिश्क़ की चहार-दीवारी के बाहर रस्सी बाँधकर लटका दिया गया और १० जनवरी १४०१ ई० को उसने तीमूर से भेंट की। इब्ने ख़लदून तीमूर से कई बार मिला और वह फ़रवरी १४०१ ई० तक उस युग के विश्वविजेता के साथ रहा।

इब्ने खलदून ने अपनी भेंटों के समय अपने साथियों एवं अपनी रक्षा के सम्बन्ध में घोर प्रयत्न किये। उसकी उपस्थिति से तीमूर ने पश्चिम के देशों के विषय में सविस्तर ज्ञान प्राप्त करने एवं उसके अनुभव से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। किन्तु इब्ने ख़लदून ने तीमूर को इस सम्बन्ध में जितने भी उत्तर दिये उनमें इस बात का प्रयत्न किया कि मिस्र अथवा पश्चिम के देशों की कमज़ोरी का तीमूर को जितना कम से कम ज्ञान हो वह अच्छा। तीमूर ने इब्ने ख़लदून को पश्चिम के देशों का सविस्तर भूगोल लिखने का आदेश दिया और उसका मंगोली भाषा में अपने तथा अपने सेनापतियों के लिए भाषांतर कराया। इब्ने ख़लदून को सम्भवतः अपने इस कार्य से बड़ा क्षोभ हुआ और जैसे ही वह तीमूर के अधिकार-क्षेत्र से बाहर हुआ, उसने उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा के निवासियों के नाम एक बड़ा लम्बा चौड़ा पत्र लिखा, जिसमें उसने तातारियों के इतिहास एवं तीमूर का बड़ा विशद वर्णन किया। तीमूर के पास से वापस आते हुए जहाज़ में इब्ने खलदून की मुलाक़ात एशिया माइनर के उतमान सुल्तान बायज़ीद यिलदिरिम के राजदूत से हो गयी। उसके द्वारा इब्ने खलदून को उस ओर के देशों का भी विस्तृत ज्ञान प्राप्त हुआ।

मार्च १४०१ ई० में इब्ने ख़लदून मिस्र वापस पहुँच गया, और अप्रैल १४०१ ई० में तीसरी बार पुनः क़ाज़ी नियुक्त कर दिया गया, किन्तु मार्च १४०२ ई० में वह अपने पद से पृथक् कर दिया गया। जुलाई १४०२ ई० में वह पुनः क़ाज़ी नियुक्त हुआ और सितम्बर १४०३ ई० में पदच्युत कर दिया गया। ११ फ़रवरी १४०५ ई० को वह फिर क़ाज़ी बनाया गया और मई १४०५ ई० के अन्त में पुनः इस पद से हटा दिया गया। मार्च १४०६ ई० में उसे फिर क़ाज़ी नियुक्त किया गया, किन्तु कुछ दिन उपरान्त १७ मार्च १४०६ ई० को उसकी मृत्यु हो गयी और क़ाहेरा के नस्र द्वार के बाहर सूफ़िया क़ब्रिस्तान में उसे दफ़न कर दिया गया।

इब्ने खलदून का परिवार

सम्भवतः उसका विवाह बनी हफ़स के सेनापति मुहम्मद बिन अल हकम (मृत्यु १३४३ ई०) की पुत्री से ट्युनिस में ही हो गया था, किन्तु जब १३६३ ई० में वह स्पेन जाने लगा तो उसे अपनी पत्नी एवं परिवार वालों को उसके भाई के घर क़िसिन्तीना भेज देना पड़ा। यद्यपि उसे अपने परिवार वालों से बड़ा स्नेह था, किन्तु किसी एक स्थान पर स्थायी रूप से न रहने के कारण उसे उनसे बार-बार पृथक् होना पड़ता था और कभी-कभी उसके कारण उन लोगों को स्वतंत्रता से वंचित कर दिया

जाता था। किन्तु जब उसे मिस्र में शान्ति से कुछ समय रहने का अवसर मिला तो उसने अपने परिवार को वहाँ बुला भेजा। पर जिस जहाज़ में वह परिवार आ रहा था, ट्युनिस से आते हुए वह नष्ट हो गया। उस जहाज़ में उसकी पत्नी एवं पाँच पुत्रियों की मृत्यु हो गयी, किन्तु दो पुत्र मुहम्मद तथा अली किसी न किसी प्रकार सुरक्षित पहुँच सके। सम्भवतः इब्ने खलदून ने मिस्र में पुनः विवाह किया।

(३)

मुक़द्दमा

इब्ने खलदून ने अपने इतिहास की प्रस्तावना के प्रारम्भ में केवल थोड़े से ही पृष्ठ लिखे थे, जिसमें इतिहास के महत्त्व एवं इतिहासकारों की सामान्य भूलों तथा उनके कारणों की चर्चा की थी और दिखाया था कि किस प्रकार अपने सामाजिक वातावरण से अनभिज्ञ होने के कारण बड़े बड़े इतिहासकार तक भूलें कर जाते हैं। "मुक़द्दमे" का शेष भाग वास्तव में उसके इतिहास (किताबुल इब्र) का प्रथम भाग है जिसमें उसने अपने निष्कर्षों की व्याख्या की है और उन्हें उदाहरण सहित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु इब्ने खलदून के जीवन-काल में ही प्रस्तावना एवं प्रथम भाग दोनों "मुक़द्दमे" के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे और एक ही ग्रंथ समझे जाते थे।

उसने "मुक़द्दमे" की प्रस्तावना में इतिहासकारों की भूलों के सम्बन्ध में १२ उदाहरण दिये हैं, जिनसे पता चलता है कि मनुष्य के प्रकृति एवं मानव-समाज संबंधी अज्ञान के कारण इतिहासकारों का भ्रम में पड़ जाना स्वाभाविक है। अतः उसके लेखानुसार इतिहासकारों के लिए यह आवश्यक है कि वे आलोचनात्मक दृष्टि से प्रत्येक बात की खोज का सर्वदा प्रयत्न करते रहें और किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व विभिन्न अवसरों पर घटनेवाली घटनाओं की तुलना किया करें। उसने जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनकी आलोचना उसने ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, सैनिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण से की है। किसी घटना को स्वीकार करने अथवा रद्द करने के पूर्व सुल्तानों के चरित्र, नैतिकता, धार्मिक विचारों एवं सामाजिक व्यवहार की भी उसने आलोचना की है और यह दिखाया है कि कभी कभी षड्यंत्रकारियों द्वारा भी बादशाहों के विरुद्ध झूठी-सच्ची बातें प्रसिद्ध हो जाया करती हैं। ईर्ष्या एवं द्वेष तथा अज्ञानता का भी झूठे समाचारों के प्रसिद्ध हो जाने में बड़ा हाथ होता है। प्रारम्भ के इतिहासकारों की भूल का परिणाम यह होता

है कि बाद के इतिहासकार, जो आलोचनात्मक दृष्टि से घटनाओं का विवेचन नहीं करते, वे आँख बन्द करके उनका अनुकरण करने लगते हैं और इतिहास विश्वास के योग्य नहीं रह जाता। अतः इब्ने खलदून ने इतिहास की रचना के लिए ऐतिहासिक घटनाओं की स्वाभाविक स्थिति के ज्ञान को परमावश्यक बताया है। घटनाओं के साथ-साथ उनके सूत्रों के विषय में भी प्रामाणिक ज्ञान की आवश्यकता के विषय में उसने विवेचना की है।

"किताबुल इब्र" की प्रस्तावना में सभ्यता की विशेषताएँ बताते हुए उसने मानव की आदि-कालीन स्थिति से लेकर प्राचीन काल के मेसोपोटामिया, दक्षिणी अरब, मिस्र, ईरान, यूनान एवं रोम की सभ्यताओं की पृष्ठभूमि में निष्कर्ष निकाले हैं।

पहले अध्याय में उसने मनुष्य के प्राकृतिक वातावरण का विश्लेषण करते हुए मनुष्य के सामाजिक वातावरण पर उसका प्रभाव सिद्ध किया है और यह दिखाया है कि मनुष्य के चरित्र पर किस प्रकार जलवायु का प्रभाव पड़ता है तथा अकाल और अल्प-मूल्यता से मनुष्य के शरीर एवं चरित्र किस तरह प्रभावित होते हैं। इसके अतिरिक्त इसी अध्याय में मनुष्य की परोक्ष की बातों में रुचि एवं उनके ज्ञान की प्राप्ति के प्रयत्न के सम्बन्ध में आलोचनात्मक परीक्षा की है।

दूसरे अध्याय में आदि-कालीन सभ्यता का मुख्य रूप, जिसे बदवी सभ्यता कहा जाता है, दिखलाया गया है। उस सभ्यता में मनुष्य की आवश्यकताएँ अधिक नहीं होतीं। अरब तथा अफ़्रीक़ा के बरबरों के जीवन एवं सभ्यता में इस समूह का जो स्थान है और ऐसा जीवन उनके चरित्र पर जो छाप डालता है और उनमें जिस प्रकार वीरता एवं प्रति-रक्षा की भावनाएँ उत्पन्न करता है, उसे भली-भाँति स्पष्ट किया है। "असबियत" एवं अरबों के सामाजिक जीवन पर उसके प्रभाव का विशेष विवेचन भी इस अध्याय में किया गया है।

तीसरे अध्याय में खिलाफ़त एवं सल्तनत के पारस्परिक सम्बन्ध, धार्मिक प्रचार का नयी सल्तनतों पर प्रभाव, सल्तनत की विशेषताएँ, उसके गुण एवं दोष, खिलाफ़त एवं सल्तनत के पद तथा दोनों के पदाधिकारियों के अधिकारों आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

चौथे अध्याय में नगरों की स्थापना, नगर के भवनों के निर्माण, नगर की संस्कृति एवं सभ्यता के विकास तथा सल्तनतों का नगर के जीवन एवं सभ्यता से सम्बन्ध और नगरों के पतन एवं विनाश की चर्चा की गयी है।

पाँचवें अध्याय में मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं एवं जीविकोपार्जन के साधनों, व्यापार, कृषि, कला-कौशल तथा बदवियों एवं नगर-वासियों के जीविकोपार्जन के साधनों के अन्तर का उल्लेख किया गया है।

छठे अध्याय में ज्ञान-विज्ञान की क़िस्मों, इस्लामी देशों की शिक्षा-पद्धति तथा मुसलमानों की समस्त प्रचलित ज्ञानशाखाओं का विस्तार से उल्लेख किया गया है। इस प्रकार तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति की कोई ऐसी शाखा शेष नहीं रही जिसकी इब्ने ख़लदून ने चर्चा न की हो।

इब्ने ख़लदून ने प्राचीन एवं मध्य-कालीन सभ्यता के अनेक बड़े-बड़े केन्द्र देखे थे। मिस्र में तो वह स्वयं २३ वर्ष तक रहा। अन्य स्थानों में या तो वह स्वयं पहुँचा और या उसने वहाँ के यात्रियों के मुँह से उन स्थानों के पर्यटन के वर्णन सुने। उन स्थानों की सभ्यताओं के अभ्युदय एवं उन्नति के ग्रंथों का उसने अध्ययन किया था और उनके अवशेष देखकर उनके प्राचीन गौरव का अनुमान लगाया था। इस प्रकार वह इस बात से संतुष्ट हो गया था कि सभ्यता की उन्नति मिल-जुलकर काम करने पर निर्भर है।

इब्ने ख़लदून के अनुसार समस्त सामाजिक संगठन दो विभिन्न वातावरणों से सम्बन्धित होते हैं। एक का सम्बन्ध है रेगिस्तान के उस जीवन से जिसे वह "बदवी" जीवन कहता है, और दूसरे का सम्बन्ध नगर के जीवन से है जिसे वह "हज़री जीवन" कहता है। पहले प्रकार के जीवन में मनुष्य की आवश्यकताएँ थोड़ी एवं उसका जीवन सरल तथा सादा होता है। "बदवी" जीवन से इब्ने ख़लदून का तात्पर्य प्रत्येक स्थान पर ख़ानाबदोशों के जीवन से नहीं, अपितु उन लोगों के जीवन से भी है जो ग्रामों में निवास करते हैं और कृषि एवं पशु पालन करके जीवन निर्वाह करते हैं। इसी प्रकार वह नगरों को कृषि एवं कृषकों से रहित नहीं समझता। इस प्रकार विभिन्न सामाजिक संगठन ही उसके अध्ययन का मूल विषय हैं। सामाजिक संगठन का मूल आधार उसने "असबियत" को बताया है।

"असबियत" अथवा 'असबिया' का ठीक हिन्दी अनुरूप शब्द बता सकना कठिन ह। इब्ने ख़लदून ने इसे अपने ग्रंथ भर में एक बड़ा प्रशंसनीय गुण बताया है। उसके अनुसार प्रत्येक सामाजिक संगठन इसी पर आधारित होता है। उसने "बदवी" समाज में इसे बड़ा महत्त्व दिया है और नगर की सभ्यता एवं संस्कृति के पतन तथा बड़े-बड़े राज्यों के विनाश का मूल कारण "असबियत" की कमी अथवा एकान्त अभाव ही बताया है।

अरबो साहित्य में भी "असबियत" शब्द का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। प्राचीन "बदवी" क़बीलों के जीवन का आधार ही, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, असबियत था। असबियत के अधीन कोई भी व्यक्ति अपने क़बीले के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति को जिन्दा रहने का पात्र न समझता था। अनुचित पक्षपात एवं न्याय अन्याय आदि सभी बातों में क़बीले का गुणगान करना ही "असबियत" माना जाता था। इस्लाम के अभ्युदय के उपरान्त इस भावना का इस्लाम की उन्नति के मार्ग में बाधक होना स्वाभाविक ही था, अतः इस्लाम ने "असबियत" की घोर निन्दा की है। किन्तु इब्ने ख़लदून ने क़बीले अथवा समूह वालों के पारस्परिक प्रेम, संगठन, दुःख-सुख में एक-दूसरे का साथ देने, युद्ध के समय एक-दूसरे की रक्षा करने एवं हाथ बटाने तथा अन्याय एवं अत्याचार को रोकने की भावनाओं को "असबियत" बताया है। इसका अर्थ केवल अनुचित पक्षपात, अंधा प्रेम एवं अपनी शक्ति का संगठन करके दूसरों पर अत्याचार करना नहीं है।

कुछ अन्य अरबी भाषा के लेखकों ने भी इस भावना को प्रशंसनीय बताया है। इतिहासकार इब्ने असीर के अनुसार क़बीलों की कठिनाई के समय सहायता करने का नाम "असबियत" है। इब्नुल ख़तीब ने लिखा है कि "असबियत का उपयोग देश अथवा क़ौम के प्रेम को जागृति देने के लिए किया जा सकता है, अतः इसकी कोई आलोचना नहीं करनी चाहिए।" 'बदवी' क़बीलों का, जिनमें न तो कोई शासन होता है और न कोई विधान, जीवन निर्वाह "असबियत" के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से सम्भव नहीं। यही सिद्धान्त पशुओं के लिए, चरागाहों की खोज में फिरनेवाले क़बीलों एवं उन ग्रामीणों के लिए भी लागू किया जा सकता है जो किसी शासन के अधीन नहीं होते। इस सम्बन्ध में वंशों अथवा कुलों के ऐक्य का भी बड़ा महत्त्व है। खून के रिश्ते बड़े मज़बूत होते हैं। उनके प्रभाव से यदि कोई मनुष्य अपने किसी निकटतम सम्बन्धी पर अत्याचार होते देखता है अथवा उसे खतरे में फँसा हुआ पाता है तो उसका रक्त खौलने लगता है। पारस्परिक स्नेह एवं प्रेम द्वारा भी सहानुभूति एवं निष्ठा की ऐसी ही भावना उत्पन्न हो जाती है। इसी आधार पर इब्ने ख़लदून ने "असबियत" को दो भागों में विभाजित किया है, एक साधारण और दूसरी विशेष। विशेष "असबियत" निकटतम सम्बन्ध के कारण उत्पन्न होती है और साधारण "असबियत" पूरे क़बीले अथवा समूह में पायी जाती है। इस प्रकार धीरे-धीरे क़बीलों के जिस वंश अथवा घराने में अत्यधिक "असबियत" पायी जाती है वही राज्य का स्वामी बन जाता है। उस पर अन्य क़ौम का कोई आदमी

शासन नहीं कर सकता। इस प्रकार इब्ने ख़लदून के अनुसार "असबियत" के कारण ही स्वाभाविक रूप से नये राज्यों एवं शासन का अभ्युदय होता है। "असबियत" के बल पर ही बादशाह अपनी क़ौमवालों तथा अपनी प्रजा पर अधिकार स्थापित रखता है। यदि एक क़बीले के विभिन्न घरानों की अलग अलग "असबियत" हो तो एक शक्तिशाली "असबियत" का होना परमावश्यक है जिसे देश अथवा राज्य की "असबियत" कहा जा सकता है। यदि ऐसी कोई "असबियत" न हो तो क़बीले एवं वंश का संगठन छिन्न-भिन्न हो जायगा। जिस क़ौम में "असबियत" की भावनाएँ दृढ़ हो जाती हैं उसका राज्य सुगमतापूर्वक नष्ट नहीं हो पाता। यदि एक वंश से राज्य निकल जाता है तो दूसरे वंश को प्राप्त हो जाता है। जब राज्य उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं तो अन्य क़ौमों एवं सभ्यताओं से उनका सम्पर्क बढ़ जाता है। उनकी "असबियत" की भावनाओं का धीरे धीरे पतन होने लगता है, इस कारण राज्य का भी विनाश हो जाता है। एक "असबियत" वाली शक्तिशाली क़ौम को दूसरी कमज़ोर "असबियत" वाली क़ौम पर शनैः शनैः राज्य प्राप्त करने में सुगमता होती है और उसके राज्य का क्षेत्र भी बढ़ जाता है, किन्तु एकाएक बहुत-से राज्यों को केवल "असबियत" के सहारे पर विजय कर लेना सम्भव नहीं।

इस स्थान पर अरबों की विजय के लिए, जो उन्होंने हज़रत मुहम्मद की मृत्यु के लगभग ३० वर्ष के भीतर प्राप्त कर ली, उसे एक पृथक् सिद्धांत निर्धारित करना पड़ा। इतने महान् कार्य को सम्पन्न कर लेना उसके निकट केवल "असबियत" द्वारा सम्भव न था। उसके लिए इब्ने ख़लदून को धर्म का सहारा लेना पड़ा। उसने एक नया सिद्धांत प्रस्तुत किया कि अरब वालों को जब कभी प्रभुत्व प्राप्त हुआ तो धर्म के प्रचार के कारण ही हुआ। उसने अरबों की विजयों में उनकी आर्थिक आवश्यकताओं का भी हाथ स्वीकार किया है, किन्तु इस विषय में वह अन्य मुसलमान विचारकों से अलग होकर स्वतन्त्र कारण न सोच सका और "असबियत" एवं आर्थिक आवश्यकताओं के सिद्धांत को अरबों की प्रारम्भिक विजयों पर लागू न कर सका। बनी उमय्या की ख़िलाफ़त के प्रति श्रद्धा के कारण उसने ख़िलाफ़त तथा इमामत के सिद्धान्तों और उनके कारनामों को साधारण सल्तनतों के सिद्धांतों से अलग कर दिया तथा दोनों का सविस्तर उल्लेख किया। पर वह अपने इस सिद्धांत को कहीं भी न भूला कि सभ्यता के विकास का अध्ययन मनुष्य की सामाजिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में करना चाहिए।

मुक़द्दमे की ख्याति

इब्ने ख़लदून ने अपने मुक़द्दमे में सभ्यता के विकास का जिस प्रकार तर्कपूर्ण विवरण दिया है, उसका अनुकरण कोई अरबी अथवा फ़ारसी लेखक न कर सका। सम्भवतः किसी ने इस प्रकार का कोई किसी अन्य ग्रंथ लिखने की चेष्टा भी नहीं की थी। किन्तु उसके कार्य के महत्त्व से उसके समकालीन एवं बाद के सभी विद्वान् प्रभावित दीख पड़ते हैं। इतिहास को उसके बताये हुए शोधपूर्ण नियमों के आधार पर अनेक विद्वानों ने लिखने का प्रयत्न किया है। मक्के के इतिहासकार अल-फ़ासी (१३७३–१४२९ ई०) ने अपने "इक़्द" नामक ग्रंथ में इब्ने ख़लदून के हवाले दिये हैं। १४२५ ई० के लगभग मुहम्मद बिन अहमद बिन मुहम्मद इब्ने अज़्ज़मलकानी ने इब्ने ख़लदून के इतिहास के कुछ अंश "तज़किरा" नामक अपने ग्रंथ में उद्धृत किये हैं। मक़रिज़ी, इब्ने हजर तथा सख़ावी, अस्सुयूती तथा अन्य १५वीं शती ईसवी के विद्वानों ने उसके ग्रंथ से लाभ उठाया है।

१६वीं तथा १७वीं शती ईसवी के विद्वानों ने भी उसकी रचना के महत्त्व को समझने का प्रयत्न किया है। १७वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा के एक विद्वान् अल मक़र्री ने उसकी रचनाओं का अपने ग्रन्थों में अत्यधिक प्रयोग किया है, किन्तु उतमान तुर्कों ने इब्ने ख़लदून की रचनाओं एवं विचारों से सबसे अधिक लाभ उठाया। विस्सी एफ़िन्दी, ताशकोम रूज़ादेह (१४९५–१५६१ ई०), हाज्जी ख़लीफ़ा (१६०९–५७ ई०), तबए बे (लगभग १६७०) नाएमा (१६८८–८९–१७१६ ई०) आदि विद्वान् तथा १८वीं शती ईसवी के एवं उसके बाद के तुर्की विद्वान् उसकी रचनाओं से प्रभावित थे।

१९वीं शती ईसवी के प्रारम्भ से यूरोप वालों ने भी इब्ने ख़लदून तथा उसके "मुक़द्दमे" का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। सामाजिक शास्त्र, राजनीति एवं इतिहास की रचना के सम्बन्ध में बहुत-से ऐसे नये विचार, जिनका प्रचार यरोप में बाद में हुआ, इब्ने ख़लदून १४वीं शती ईसवी में अपने मुक़द्दमे में व्यक्त कर चुका था।

ऐरनोल्ड जे. टुआइनबी (Arnold J. Toynbee) ने लिखा है—"अब्दुर्रहमान इब्ने मुहम्मद इब्ने ख़लदून अल हज़रमी ट्यूनिस निवासी (१३३२–१४०६ ई०) अरबी प्रतिभाशाली व्यक्ति था, जिसने व्यस्त आयु के कार्यरत जीवन के ५४ वर्षों की अवधि के ४ वर्ष से भी कम के समय में अपनी साहित्यिक जीवन-कृति

की रचना की, जिसकी तुलना, सूक्ष्म दृष्टि तथा कल्पना की गंभीरता, विस्तार एवं बौद्धिक शक्ति के विचार से थ्यूसीडाइड्स या मेकेवली की कृति से की जा सकती है। इब्ने ख़लदून का तारा उस अंधकार की, जिसमें से होकर वह चमकता है, पृष्ठभूमि में और भी अधिक प्रकाशमान है, क्योंकि यदि एक ओर थ्यूसीडाइड्स, मेकेवली तथा क्लेरेन्डन को अपने-अपने दीप्तिमान् देशों तथा कालों का चमकीला प्रतिनिधि माना जाय, तो दूसरी ओर इब्ने ख़लदून अपने देश के आकाश का एक मात्र नक्षत्र कहा जायगा। वास्तव में वह उस सभ्यता के, जिसका सामाजिक जीवन सम्पूर्णतः नीरस, दरिद्र, अपवित्र, क्रूर तथा अल्पकालिक था, इतिहास का एक मात्र प्रमुख व्यक्ति है। बौद्धिक क्रियाशीलता के अभीष्ट क्षेत्र में, ऐसा प्रतीत होता है कि वही अपने किसी भी पूर्वगामी से प्रेरित नहीं हुआ था और न अपने समकालीनों में ही उसे आत्मीयता का अनुभव हुआ। साथ ही साथ अपने अनुगामियों में भी उसने प्रेरणा की चिनगारी प्रज्ज्वलित की, तथापि उसने अपने विश्व-इतिहास के मुक़द्दमे में इतिहास के ऐसे दर्शन की कल्पना तथा उसका प्रतिपादन किया है जिसके कारण निःसन्देह ही वह अपनी भाँति की एक महान् कृति के रूप में है, जिसकी रचना किसी भी व्यक्ति ने किसी भी काल अथवा स्थान में कभी की है। व्यावहारिक क्रियाशीलता के जीवन के प्रति क्षणिक उपेक्षा ने ही इब्ने ख़लदून को अपने रचनात्मक विचारों को साहित्यिक रूप देने का अवसर दिया है।"[१]

जार्ज सार्टन (George Sorton) ने लिखा है—"इब्ने ख़लदून एक इतिहासकार, राजनीतिज्ञ, समाज-शास्त्र-वेत्ता, अर्थशास्त्र-ज्ञाता, मानवीय मामलों के वर्तमान तथा भविष्य के इतिहास को समझने के निमित्त उनका गहन अध्ययन करनेवाला तथा मानव जाति के भूतपूर्व इतिहास का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने का इच्छुक व्यक्ति था। वह मध्यकालीन युग का सबसे महान् ऐसा इतिहासकार ही केवल न था, जो बौने अल्पज्ञ इतिहासकारों के सम्मुख देव के समान प्रतीत होता है, अपितु वह इतिहास के प्रथम दार्शनिकों में से एक है और मेकेवली, वोडिन, वाइको, काम्ते तथा करनॉट का पूर्वगामी है। मध्ययुगीन ईसाई इतिहासकारों में केवल दो एक ही ऐसे हैं जिनकी तुलना उससे की जा सकती है। उदाहरणार्थ आटोवान फ्रेज़िग तथा

1. *A Study of History*, Vol. III, Arnold J. Toynbee. Royal Institute of International Affairs And Oxford University Press.

सैल्सवरी का 'जान', परन्तु वास्तविक रूप से उनमें व इसमें उससे भी अधिक अन्तर है जितना इसमें और वाइको में है। विलक्षण बात यह है कि इब्ने खलदून ने उन विधियों की कल्पना करने का साहस किया जो आजकल ऐतिहासिक शोध कार्य की विधियाँ कही जाती हैं।"[१]

राबर्ट फ्लिट (Robert Flint) ने कहा है—"जहाँ तक इतिहास, विज्ञान अथवा दर्शन क्षेत्र का सम्बन्ध है, अरबी साहित्य उसका एक अत्यन्त देदीप्यमान अलंकार है। न तो परिनिष्ठित और न ही मध्यकालीन ईसाई संसार में ऐसी चमक-दमक का निकटवर्ती कोई अन्य व्यक्ति पाया जाता है। केवल इतिहासकार की कोटि के इब्ने खलदून (१३३२-१४०६ ई०) से श्रेष्ठतर अनेक लोग अरबी लेखकों में हो चुके हैं, परन्तु इतिहास सिद्धान्तज्ञ (थ्योरिस्ट) के रूप में उनमें से किसी भी काल अथवा किसी भी देश में वाइको के समय तक, जिसका प्रादुर्भाव ३०० वर्ष बाद हुआ, इब्ने खलदून के तुल्य कोई न हुआ। अफ़लातून, अरस्तू तथा आगस्टाइन उसकी बराबरी के थे, शेष सब इस योग्य भी न थे कि उनका उल्लेख उसके नाम के साथ किया जाय। अपनी मौलिकता, दूरदर्शिता, विद्वत्ता तथा ग्रहणशीलता के कारण वह प्रशंसनीय था। ऐतिहासिक दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में वह अपने सहधर्मियों तथा समकालीनों में उसी प्रकार अद्वितीय एवं पृथक् था जिस प्रकार काव्यक्षेत्र में दान्ते तथा विज्ञान के क्षेत्र में रोजर बेकन अपने-अपने समकालीनों में थे। अन्य अरबी इतिहासकारों ने यद्यपि वह सब ऐसी सामग्री, जिसका प्रयोग वे कर सकते थे, अवश्य एकत्र की, किन्तु उसका वास्तविक उपयोग इब्ने खलदून ने ही किया।"[२]

मुक़द्दमे की हस्तलिखित प्रतियाँ

अरबी एवं फ़ारसी के बहुत कम ऐसे ग्रंथ होंगे जिनकी प्रामाणिक हस्तलिखित प्रतियाँ इतनी अधिक संख्या में मिलती हों, जितनी इब्ने खलदून के मुक़द्दमे की। सम्भवतः इसका कारण उसके ग्रंथ की प्रसिद्धि है जिससे प्रभावित होकर विद्वानों

1. *Introduction To The History of Science*, George Sorton. Baillier, Tindall and Cox.
2. *History of the Philosophy in History*, Robert Flint. Wm. Black & Sons Ltd.

ने १९वीं शती ई० से ही मुक़द्दमे की प्रामाणिक प्रतियों की खोज एवं रक्षा का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था।

प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति तुर्की के सुलेमानिया पुस्तकालय की दामाद इबराहीम पोथी है। इसमें ८६६ नं० की प्रति पर नक़ल करने की कोई तिथि नहीं दी है, किन्तु ८६७ नं० की प्रति उसी व्यक्ति की नक़ल की हुई है जिसने ८६६ नं० की प्रति नक़ल की है। ८६७ नं० की प्रति ४ सफ़र ७९७ हि० (२९ नवम्बर १३९४ ई०) को तैयार हुई थी। लिपिकार का नाम अब्दुल्लाह बिन हसन बिन शिहाब है। प्रति के प्रथम पृष्ठ से पता चलता है कि यह मिस्र के ममलूक सुल्तान अज़्ज़ाहिर बरक़ूक़ (१३८२–९९ ई०) के लिए तैयार की गयी थी और उसे इब्ने ख़लदून ने बरक़ूक़ को नम्रतापूर्वक समर्पित किया था।

(२) दूसरी प्रति 'फ़ेज़ प्रति' के नाम से प्रसिद्ध है जो ७९८ हि० (१३९६ ई०) में नक़ल की गयी थी। इब्ने ख़लदून ने अपने लिखे सम्पूर्ण इतिहास को फ़ेज़ की क़ैरवान मस्जिद को वक़्फ़ करके भेजा था। "मुक़द्दमा" इसी का एक भाग था।

(३) तुर्की येनी समी नं० ८८८, १० जमादि-उल-अव्वल ७९९ हि० (९ फ़रवरी १३९७ ई०) इब्ने ख़लदून के हाथ की लिखी हुई एक प्रति से नक़ल की गयी थी।

(४) तुर्की के अतिफ़ एफ़िन्दी पुस्तकालय की पोथी नं० १९३६ भी इब्ने ख़लदून के जीवन-काल में ही नक़ल की गयी थी। यह प्रति कई विद्वानों के पास रह चुकी है। इनमें से सर्वप्रथम टिप्पणी मुहम्मद बिन यूसुफ़ बिन मुहम्मद अल इस्फ़ीजाबी की है, जो कि शनिवार २४ शाबान ८०४ हि० (२९ अप्रैल १४०२ ई०) की लिखी हुई है।

(५) तुर्की की हुसेन चेलेबी की हस्तलिखित प्रति नं० ७९३ जो बरस्सा में है, इसकी नक़ल ८ शाबान ८०६ हि० (२० फ़रवरी १४०४ ई०) को समाप्त हुई। लिपिकार का नाम इबराहीम बिन ख़लील अस्सादी अश्शाफ़ेई अल-मिस्री है। यह भी कई विद्वानों के पास रह चुकी है जिनमें एक यहया बिन हिज्जी अश् शाफ़ेई थे, जिनकी ८५० हि० (१४४६–४७ ई०) की एक टिप्पणी भी हस्तलिखित प्रति पर वर्तमान है।

(६) अहमते तृतीय, ३४०२ नं० एक अन्य हस्तलिखित प्रति है जिसकी नक़ल करनेवाले ने कोई तारीख़ नहीं लिखी, किन्तु इस प्रति के एक स्वामी मुहम्मद बिन अब्दुर्रहमान अद्दारीब ने ८१८ हि० (१४१५–१६ ई०) तारीख़ उस पर डाली है।

इनके अतिरिक्त तुर्की, पेरिस, मिस्र एवं अन्य स्थानों पर बाद की तारीख़ों की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ हैं।

संस्करण

इब्ने ख़लदून के "मुक़द्दमे" के इस समय तक अनेक संस्करण भी हो चुके हैं जिनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण निम्नांकित हैं।

(१) ई० एम० क्वातरमेर (E. M. Quatremere) द्वारा सम्पादित १८५८ ई० का पेरिस का संस्करण Prolègomènes d' Ebn-Khaldoun (प्रोलेगेमेने डा इब्ने ख़लदून) के नाम से तीन भागों में प्रकाशित हुआ था। यह संस्करण चार हस्तलिखित पोथियों पर आधारित है।

(अ) बिबलोथेके नेशनेल नं० १५२४, जो ११४६ हि० (१७३३ ई०) की है।

(आ) आभर के कैटलाग की म्युनिख़ की हस्तलिखित प्रति नं० ३७३, जो ११५१ हि० (१७३८ ई०) की है।

(इ) दामाद इबराहीम की पोथी जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

(ई) १०६७ हि० (१६५६–५७ ई०) की क्वातरमेर की हस्तलिखित पोथी, जो अब बिबलोथिके नेशनेल की हस्तलिखित पोथी नं० ५१३६ है।

(२) लगभग उसी समय सफ़र १२७४ हि० (सितम्बर-अक्तूबर १८५७ ई०) में नस्र अल-हूरीनी द्वारा सम्पादित "मुक़द्दमा" क़ाहेरा के समीप बूलाक़ नामक स्थान से प्रकाशित हुआ।

(३) १२८४ हि० (१८४७–४८ ई०) में "इब्न" का सम्पूर्ण ग्रंथ बूलाक़ से सात भागों में प्रकाशित हुआ, जिसमें से प्रथम भाग "मुक़द्दमे" से सम्बन्धित है।

(४) मिस्र के डा० अली अब्दुल वाहिद वाफ़ी ने १९५७–५८ ई० में इब्ने ख़लदून के "मुक़द्दमे" का एक उत्तम संस्करण मिस्र से प्रकाशित कराया है, जिसमें बहुत-सी हस्तलिखित पोथियों का उपयोग करके पिछले संस्करणों की अनेक अशुद्धियाँ ठीक की गयी हैं।

(५) इन मुख्य संस्करणों के अतिरिक्त बूलाक़ के संस्करण के आधार पर बहुत-से संस्करण हुए हैं जिनमें एक १८७९–८० ई० में बैरूत से प्रकाशित हुआ था। इसके बाद १९०९ ई० तथा १९३० ई० में भी अनेक संस्करण हुए।

अनुवाद (तुर्की)

१७३० ई० में पीरज़ादे एफ़िन्दी ने मुक़द्दमे का आद्योपान्त अनुवाद किया, जो क़ाहेरा से १२७५ हि० (१८५९ ई०) में प्रकाशित हुआ।

फ़्रांसोसी

"मुक़द्दमे" का फ़्रांसीसी भाषा में अनुवाद तीन भागों में क्रमशः १८६२, १८६५, तथा १८६८ ई० में पेरिस से प्रकाशित हुआ। इसका अनुवाद डब्लू० एम० स्लेन (W. M. Slane) ने क्वातरमेर (Quatremere) के संस्करण के आधार पर किया था, किन्तु बूलाक़ के संस्करण तथा पेरिस की हस्तलिखित पोथियों से भी मुक़ाबला कर लिया गया था। १९३४–३९ ई० में पेरिस से ही इसको पुनः फ़ोटो विधि से छापा गया। यद्यपि कुछ विद्वानों ने अनुवाद में अनेक त्रुटियाँ बतायी हैं किन्तु अधिकांश शोध कार्य इसी अनुवाद के आधार पर होता रहा है।

अंग्रेजी

अंग्रेज़ी में अभी तक पूरे मुक़द्दमे का कोई अनुवाद न था, किन्तु १९५८ ई० में फ़्रेंज़ रोज़ेन्थाल (Franz Rosenthal) ने लन्दन से इसका अनुवाद तीन भागों में प्रकाशित कराया है। यह अनुवाद प्रकाशित संस्करणों के अतिरिक्त तुर्की में उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है। इससे पूर्व भी कुछ अंशों के निम्नांकित अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

(१) आर० ए० निकोल्सन (R. A. Nicholson) के Translation of Eastern Poetry and Prose नामक ग्रंथ में इसका कुछ अंश कैम्ब्रिज से १९२२ ई० में प्रकाशित हुआ था।

(२) १९५० ई० में लन्दन से प्रकाशित चार्ल्सी इसावी के An Arab Philosophy of History नामक ग्रंथ में इब्ने ख़लदून के मुक़द्दमे के कुछ आवश्यक उद्धरण प्रकाशित हुए थे।

जर्मन

(१) म्युनिख तथा बर्लिन से १९३२ ई० में अरविन रोज़ेन्थाल ने मुक़द्दमे के उद्धरण "गेडांकन यूबर डेन स्टाट" (Gedanken Uber den Staat) के नाम से प्रकाशित कराये थे।

(२) ए० शीमेल (A. Schimmel) ने १९५१ ई० में इब्ने खलदून के मुक़द्दमे के उद्धरण "आऊस गेवेलटे अब शेनेटे आउस डेयेर मुक़द्दमे" (Ibn Chaldun : Ausgewahlte Abschnitte aus der muqaddima) के नाम से प्रकाशित किया था।

उर्दू अनुवाद

(१) इब्ने खलदून के मुक़द्दमे का उर्दू अनुवाद सर्वप्रथम मौलवी अब्दुर्रहमान ने किया, जो २०वीं शती ई० के प्रारम्भ में तीन भागों में लाहौर से प्रकाशित हुआ था और इसके कई संस्करण हो चुके हैं।

(२) हाल में ही मौलाना साद हसन खाँ यूसुफ़ी ने पूरे "मुक़द्दमे" का अनुवाद कराची (पाकिस्तान) से प्रकाशित कराया है।

सै० अ० अ० रिजवी

मुक़द्दमा

प्रस्तावना तथा विश्व-इतिहास (किताबुल इब्र) का प्रथम भाग

प्राक्कथन

इतिहास की व्याख्या

इतिहास का ज्ञान सभी क़ौमों और नस्लों में प्रचलित है। उसे प्राप्त करने एवं उसके प्रचार हेतु लोग बड़ी खुशी से यात्रा के कष्ट भी उठाते रहे हैं। निम्न वर्ग के लोगों की भी इस ज्ञान में उतनी ही रुचि है जितनी कि गण्य-मान्य लोगों एवं सुल्तानों की। विद्वान् तथा अज्ञ दोनों ही इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं। इतिहास बाह्य रूप से भूतकाल की घटनाओं एवं पिछले राज्यों का हाल हमारे समक्ष प्रस्तुत किया करता है। बीते हुए दिन वह हमारे सामने लाकर रख देता है। नाना प्रकार के कथनों एवं उदाहरणों से वह परिपूर्ण होता है और हमारी गोष्ठियों के लिए विचार-विनिमय का बड़ा ही उत्तम विषय रहता है। इतिहास से यह भी पता चलता है कि संसार की दशा में समय-समय पर किस प्रकार परिवर्तन होता रहता है और किस प्रकार विभिन्न क़ौमों एवं राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ और किस प्रकार उन्हें उन्नति प्राप्त हुई, किस प्रकार वे पृथ्वी पर फैलीं और उसे आबाद किया। यहाँ तक कि उनके ऐश्वर्य का युग कैसे समाप्त हुआ और कैसे पतन ने उन्हें किसी अशुद्ध अक्षर की भाँति दुनिया के पर्दे से मिटा दिया। यह तो इतिहास का एक रूप है, किन्तु वास्तव में यदि गहन दृष्टि से देखा जाय तो इतिहास में बड़ी गूढ़ बातें भी मिलेंगी। उससे सृष्टि की रचना एवं तत्सम्बन्धी कारणों का पता भी चलता है। घटनाएँ जिस धारा में प्रवाहित होती रहती हैं उनका परिचय इतिहास द्वारा मिलता है। वह उनके कारणों एवं रहस्यों को बताता है। यही कारण है कि दर्शन-शास्त्र में इतिहास को भी एक स्थान प्राप्त है और यह उचित भी है कि उसकी गणना दर्शन-शास्त्र में की जाय।

इन्हीं कारणों से विश्वस्त इस्लामी इतिहासकारों ने संसार की समस्त घटनाओं को संकलित किया और फिर उन्हें ग्रन्थों के रूप में प्रस्तुत किया, किन्तु मूर्खों ने बातें गढ़-गढ़कर उसे असत्य एवं मिथ्या घटनाओं का भंडार बना दिया। झूठी, अप्रामाणिक

एवं निराधार बातें इधर-उधर से लेकर अथवा स्वयं गढ़कर इसमें सम्मिलित कर दीं। फिर बाद में आनेवाले उन्हीं को मानते रहे और सुनी-सुनायी बातें हम तक पहुँचा दीं। न उन्होंने घटनाओं के कारणों पर दृष्टि रखी और न उन विशेष परिस्थितियों पर ध्यान दिया जिनमें वे घटनाएँ घटीं और न निराधार एवं मिथ्या बातों को इतिहास से पृथक् किया। इस प्रकार के अधिकांश आधुनिक इतिहास शोध एवं अनुसंधान से शून्य हैं और निराधार एवं कपोल-कल्पित बातों के भंडार बने हुए हैं। लोग प्रायः आँख मूँदकर एक-दूसरे की नक़ल ही किया करते हैं और अयोग्य लोग ज्ञान-विज्ञान पर अधिकार जमाये रहते हैं तथा अज्ञान का अन्धकार संसार में व्याप्त रहता है। फिर भी सत्य से कोई टक्कर नहीं ले सकता और उसे सर्वदा विजय प्राप्त होती है। काल्पनिक एवं असत्य घटनाओं का इतिहास में मिश्रण करनेवाले जिस प्रकार चाहें झूठी-सच्ची बातों को मिलाते रहें, किन्तु परखनेवाले तथा समझने-वाले खरे-खोटे को पहचान ही लेते हैं, उनकी विद्वत्ता तथ्य की खोज कर ही लेती है।

कुछ इतिहासकार

इस प्रकार यद्यपि बहुत-से लोगों ने इतिहास लिखे हैं और क़ौमों के विभिन्न विवरणों को संकलित किया है। किन्तु ऐसे इतिहासकार जो प्रसिद्धि एवं श्रेष्ठता के क्षेत्र में अग्रसर हो सके और जिन्होंने अपने से पूर्व की रचनाओं का निचोड़ अपने ग्रंथों में भरने की चेष्टा की, इतने कम हैं कि उन्हें अँगुलियों पर गिना जा सकता है, अपितु यह कहना चाहिए कि वे तीन-चार से अधिक नहीं। उदाहरणार्थ इब्ने इसहाक़,[१] तबरी,[२] इब्नुल कलबी,[३] मुहम्मद बिन उमर अल वाक़ेदी,[४] सैफ़ बिन उमर अल असदी[५] तथा मसऊदी[६]।

१. मुहम्मद बिन इसहाक़, मुहम्मद साहब की प्रसिद्ध जीवनी के रचयिता। इनकी मृत्यु बग़दाद में १५० अथवा १५१ हि० (७६७–६८ ई०) में हुई। ये कुछ समय तक मदीने तथा मिस्र में भी रहे।

२. अबू जाफ़र मुहम्मद बिन जरीर अत्तबरी का जन्म आमुल में २२४ हि० (८३८–९ ई०) में तथा मृत्यु बग़दाद में ३१० हि० (९२३ ई०) में हुई। ये अपने ग्रंथ तारीख़ुर्रुसुल वल मुलूक के लिए बड़े प्रसिद्ध हैं।

३. हिशाम बिन मुहम्मद जिनकी मृत्यु २०४ अथवा २०६ हि० (८१९–२० अथवा ८२१–२२ ई०) में हुई।

यद्यपि मसऊदी एवं वाक़ेदी की रचनाओं की भी लोग कटु आलोचनाएँ करते हैं और विद्वान् एवं जानकार लोग उन्हें विश्वस्त नहीं समझते, किन्तु फिर भी बहुत बड़ी संख्या में लोग उन घटनाओं को विश्वास के योग्य समझते हैं जिनका वर्णन उनके इतिहासों में हुआ है और उनकी रचनाशैली की प्रशंसा तथा उनका अनुसरण करते हैं। संक्षेप में शोध में रुचि रखनेवाले व्यक्ति उनके विवरण को विवेक की तराज़ू में तौलकर स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि उसमें क्या-क्या त्याज्य है और क्या स्वीकार किया जा सकता है। वास्तव में संसार में जितनी घटनाएँ घटती हैं वे विशेष परिस्थितियों में ही घटती हैं और उन्हीं पर अवलम्बित होती हैं।

फिर इन इतिहासकारों के अधिकांश इतिहास साधारण प्रथा एवं नियम पर आधारित हैं। इनमें साधारणतः इस्लाम के दो राज्यों, बनी उमय्या एवं बनी अब्बास तथा उनके अधीनस्थ प्रदेशों का इतिहास होता है। प्रारम्भ से अन्त तक जो परिणाम उनके राज्यों का हुआ, उसका भी इनमें उल्लेख होता है। उनमें कुछ ऐसे इतिहासकार भी हैं जिन्होंने इस्लाम से पहले की क़ौमों एवं राज्यों का इतिहास भी विस्तार से लिखा है और उस युग की प्रसिद्ध घटनाओं का भी उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ मसऊदी अथवा उसका अनुसरण करनेवालों का नाम लिया जा सकता है। इसके उपरान्त वे लोग आये जिन्होंने स्वातंत्र्य के खुले मैदान को त्याग कर अनुकरण के सँकरे एवं अँधेरे मार्ग पर चलना प्रारम्भ किया। उन्होंने अत्यधिक प्राचीन घटनाओं के वर्णन की उपेक्षा करके केवल अपने ही काल के सविस्तर इतिहास की रचना की। उन्होंने केवल अपने नगर एवं देश की घटनाओं पर विशद दृष्टि डालकर अपने-अपने राज्यों एवं नगरों का इतिहास लिख डाला। उदाहरणार्थ उन्दुलुस का इतिहासकार अबू हय्यान[1] जिसने अपने इतिहास ग्रंथ में केवल उन्दुलुस एवं बनी उमय्या के

४. मुहम्मद बिन उमर अल-वाक़ेदी जिनका जन्म मदीने में १३० हि० (७४७–४८ ई०) तथा मृत्यु २०७ हि० (८२३ ई०) में हुई। ये अपने ग्रन्थ किताबुल मग़ाज़ी के लिए प्रसिद्ध हैं।

५. सैफ़ बिन उमर अल-असदी की मृत्यु १८० हि० (७९६–९७ ई०) में हुई।

६. अली बिन हुसेन अल मसऊदी प्रसिद्ध इतिहासकार एवं भूगोलवेत्ता हुए हैं। इनकी मृत्यु ३४५ अथवा ३४६ हि० (९५६ या ९५७ ई०) में हुई। मुरूजुज्जहब व मादनुल जवाहर नामक इनकी रचना बड़ी प्रसिद्ध है।

१. हय्यान बिन खलफ़, जन्म ३७७ हि० (८९७–८८ ई०) मृत्यु ४६९ हि० (१०७६ ई०)

राज्यकाल का इतिहास लिखा है। इसी प्रकार इब्नुर्रक़ीक़[1] ने, जो इफ़रीक़िया[2] का इतिहासकार था, इफ़रीक़िया एवं क़ैरवान के इतिहास के आगे कुछ अधिक नहीं लिखा।

इनके उपरान्त नक़्क़ालों तथा मूर्ख इतिहासकारों का युग प्रारम्भ हुआ। वे आँख बंद करके पुरातन लेखकों की नक़ल करने लगे और उनके कथन को प्रामाणिक मानने लगे। उन्हें इस बात का कोई ज्ञान न रहा कि कालचक्र के कारण कहाँ तक परिवर्तन हो चुके हैं। संसार की क़ौमों के स्वभाव तथा आचार-विचार में कितनी घोर क्रान्ति हो चुकी है। इस प्रकार जब वे राज्यों एवं भूतकाल की घटनाओं का चित्रण करते हैं तो वह चित्र बड़ा ही भद्दा एवं भोंड़ा होता है। उनकी अज्ञानता एवं असावधानी के कारण उनके द्वारा संकलित हुआ नवीन एवं प्राचीन घटनाओं का भंडार स्वीकार करने योग्य नहीं होता। वे न तो घटनाओं के कारणों का पता लगाते हैं और न अन्य सिद्धान्तों पर ध्यान देते हैं। केवल पिछले इतिहासकारों का अनुकरण करते हुए घटनाओं की पुनरावृत्ति करते रहते हैं। क़ौमों में इस समय तक जो-जो परिवर्तन हो चुके हैं उनकी ओर वे कोई दृष्टि नहीं डालते, क्योंकि ऐसा करने में उन्हें कष्ट उठाना पड़ता है, फलतः उनके इतिहासों में इस रहस्य का कोई जिक्र नहीं रहता। इसके अतिरिक्त जब वे किसी राज्य का इतिहास लिखने लगते हैं तो उसके स्रोतों एवं उसके कारणों पर वाद-विवाद किये बिना केवल अनुकरण के दायित्व को ही पूरा कर देते हैं और कल्पना अथवा सत्य के प्रकाश में घटनाओं का वर्णन करते जाते हैं। इस प्रकार उनके इतिहासों का अध्ययन करनेवाला राज्यों के अभ्युदय एवं उनकी श्रेणियों, उनकी शक्ति एवं उन्नति, पारस्परिक संघर्ष इत्यादि के कारण की खोज ही करता रह जाता है, उसे उसका कुछ पता नहीं चल पाता। इन सब बातों का हम आगे चलकर इस मुक़द्दमे में उल्लेख करेंगे।

इनके पश्चात् इतिहासकारों का ऐसा समूह आया जो बड़ा संक्षिप्त विवरण देने लगा और केवल सुल्तानों की नामावली को ही पर्याप्त समझने लगा। उनके वंशों एवं इतिहास पर भी उसने कुछ न लिखा। इस प्रकार इब्ने रशीक़[3] ने मीज़ानुल

१. इबराहीम बिन अल क़ासिम इब्नुर्रक़ीक़ १००० ई० के लगभग हुआ है।
२. रोमन राज्य का अफ़्रीक़ा प्रांत। इब्ने ख़लदून ने इसी शब्द का प्रयोग किया है।
३. हसन बिन रशीक़ का जन्म ३९० हि० (१००० ई०) के लगभग हुआ और वह ४५६ हि० या ४६३ हि०(१०६४ ई० अथवा १०७०–७१ ई०) तक जीवित रहा। मीज़ानुल अमल की कोई प्रति अब कहीं प्राप्य नहीं।

अमल में एवं उसका अनुसरण करनेवालों ने अपने-अपने इतिहासों में इसी शैली का पालन किया है। इतिहासकारों के प्रचलित नियमों एवं वर्णन-शैली की उपेक्षा करने के कारण उनके इतिहासों से कोई लाभ नहीं प्राप्त हो पाता। न उनके कथन का ही कोई विश्वास किया जा सकता है और न उनकी बात ही उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है।

जब मैंने ऐसे इतिहासों का अध्ययन किया और ऐतिहासिक सिद्धान्त के अनुसार उनका निरीक्षण किया तो मैं अचानक सावधान हो गया और स्वयं एक ग्रन्थ लिखने का संकल्प किया। इस मार्ग का अनुसरण करते समय अपनी अयोग्यता का ध्यान रखते हुए मैंने एक इतिहास की रचना की और क़ौमों के गुप्त रहस्यों को खोल दिया। प्रत्येक प्रकार की घटनाओं एवं वर्णनों के लिए विभिन्न अध्याय लिखे। इन अध्यायों में सभ्यता एवं संस्कृति के अभ्युदय तथा उन्नति के कारणों का विश्लेषण करते हुए विशेष रूप से उन क़ौमों के इतिहास पर अपने ग्रन्थ को आधारित किया, जो मग़रिब[1] (पश्चिम) में बसी हुई हैं और जिन्होंने उस दिशा के नगरों एवं उनके चारों ओर के स्थान को आबादी से ढँक दिया है। इन क़ौमों के अनेक छोटे बड़े राज्य एवं बहुत से प्रतिष्ठित लोग तथा सुल्तान वहाँ हुए हैं। मैंने उनके सुल्तानों एवं उनके सहायकों का इतिहास भी लिखा। पश्चिम दिशा या मग़रिब अरब एवं बरबर क़ौमों का निवास स्थान है। वे शताब्दियों से वहाँ निवास करती चली आयी हैं; यहाँ तक कि अब उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी क़ौम को मग़रिब जानता तक नहीं। अब वे ही वहाँ के मूल निवासी समझे जाते हैं।

इतिहास का विभाजन

मैंने इस इतिहास को शोध एवं अनुसंधान के आभूषणों द्वारा अलंकृत किया और इसको इस श्रेणी तक पहुँचा दिया कि विद्वान् एवं विशेष व्यक्ति भी इससे पूर्ण रूप से लाभ उठा सकते हैं। इसके संकलन एवं अध्यायों के विभाजन में एक ऐसे बड़े नवीन नियम का पालन किया गया है और ऐसी शैली का प्रयोग किया गया है जो वास्तव में विचित्र और निराली है। इसमें समाज-शास्त्र, सभ्यता एवं संस्कृति का विश्लेषण किया गया है और उसके साथ-साथ मानव-समाज में जो व्यक्तिगत एवं स्वाभाविक

१. हेस्पेरिया, अफ़्रीक़ा, बारबरे अथवा मोराको।

दोष उत्पन्न होते हैं, उन्हें भी सामने लाया गया है, ताकि सृष्टि के ढाँचे का भी ज्ञान हो जाय और यह भी पता चल सके कि किस प्रकार शासकों ने अपने शासन की रूपरेखा बनायी। इस प्रकार दूसरों के अनुकरण से मुक्ति भी प्राप्त हो गयी है और पिछली क़ौमों और उनके इतिहास का ठीक ठीक ज्ञान भी। इस तरह इस ग्रंथ को मने एक मुक़द्दमे एवं तीन भागों में विभाजित किया है। उनका विषय-विस्तार निम्नलिखित है—

मुक़द्दमा : इतिहास के ज्ञान की श्रेष्ठता, उसके विभिन्न नियमों का निश्चित होना एवं पहचान तथा इतिहासकारों की भूलों की ओर संकेत और उनकी समीक्षा।

भाग १ : सभ्यता एवं संस्कृति का वर्णन, उनसे सम्बन्धित संस्थाएँ उदाहरणार्थ देश, राज्य, जीविकोपार्जन, उद्योग-धंधे, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान एवं उनके साधन तथा कारण।

भाग २ : अरब, उसके क़बीले तथा नस्लें, उनके राज्य (आदि काल से आधुनिक समय तक) उनकी समकालीन क़ौमें तथा राज्य; उदाहरणार्थ नबत[1], सुरयानी[2], फ़ारस[3], बनी इसराईल[4], क़िब्त[5], यूनान[6], रूम[7], तुर्क तथा फ़िरंग[8]।

भाग ३ : बरबर[9] एवं उनसे सम्बद्ध जनता और उनके क़बीलों का प्रारम्भिक इतिहास, विशेष रूप से मग़रिब एवं वहाँ के राज्य।

१. उत्तरी अरब का प्राचीनतम राज्य। लगभग ३१२ ईसा-पूर्व में ये लोग काफ़ी शक्ति-शाली हो गये थे। १०५ ई० से इनका पतन प्रारम्भ हो गया।
२. सीरिया वालों का प्राचीन राज्य।
३. ईरान का प्राचीन राज्य।
४. इस्राईलाइट्स जिनका फ़लस्तीन पर राज्य था।
५. काप्ट्स, मिस्र के मूल निवासी।
६. ग्रीस।
७. बाईज़ण्टाइन।
८. फ़्रैंक अथवा यूरोप निवासी।
९. बारबरे।

इसके उपरान्त मैंने पूर्व की यात्रा की ताकि वहाँ के ज्ञान से लाभान्वित हो सकूँ और हज इत्यादि के उत्तरदायित्व को पूरा कर सकूँ। इसी अवसर पर मैंने ईरानियों एवं तुर्कों की सल्तनतों के इतिहास एवं उन राज्यों की अधिक जानकारी प्राप्त की। उनके आसपास की समकालीन क़ौमों एवं सुल्तानों का इतिहास पहले बड़ा संक्षिप्त था, किन्तु इस यात्रा के कारण सुगमतापूर्वक उसकी भी पूर्ति हो गयी। इसके साथ-साथ मैं प्रत्येक बात के कारणों पर भी वाद-विवाद कर सका हूँ। इस तरह इस ग्रंथ में सृष्टि का पूर्ण इतिहास आ गया है। यह नाना प्रकार के रहस्यों से परिपूर्ण है और राज्यों के कारणों एवं स्थिति के विषय में विस्तार से लिखा गया है। इस प्रकार इस ग्रंथ में दर्शन के रहस्य भी हैं और ऐतिहासिक वर्णन भी।

यतः इस ग्रंथ में अरब एवं बरबर जातियों के नागरिकों एवं बदवी[1] बस्तियों का इतिहास दिया गया है और उनके समकालीन बड़े बड़े राज्यों का वर्णन भी लिखा गया तथा इनके प्रारम्भिक एवं अन्तिम इतिहास के विषय में शिक्षाओं का एक भंडार भी प्रस्तुत किया गया है, अतः इस ग्रंथ का नाम **किताबुल इब्र व दीवानिल मुब्तेदा वल ख़बर फ़ी अय्यामिल अरब वल अजम वल बरबर व मन आसरहुम मिन ज़विस् सुल्तानिल अकबर**[2] रखा। यथासम्भव मैंने क़ौमों एवं राज्यों के प्रारम्भिक इतिहास का वर्णन बड़े विस्तार से किया है और पिछली शताब्दियों में जो परिवर्तन हुए तथा जो क्रान्तियाँ हुईं, उनके कारणों का विस्तृत उल्लेख करने में कोई कसर उठा नहीं रखी। उनकी सभ्यता एवं संस्कृति जो-जो रूप धारण करती रहीं उनका सविस्तर उल्लेख इस पुस्तक में मैंने किया है। उदाहरणार्थ उनके राज्य, उनके धर्म, उनके नागरिक एवं ग्रामीण जीवन, उनके सम्मान तथा अपमान, उनकी अधिकता एवं न्यूनता, उनके ज्ञान एवं उद्योग, उनके कला-कौशल और उनके परिवर्तनशील नागरिक एवं बदवी जीवन का विशेष वर्णन मैंने अपने इतिहास में किया है। इस सम्बन्ध में जो घटनाएँ घटीं उनके साथ-साथ भविष्य में संभाव्य घटनाओं का भी वर्णन किया गया है। इसके साथ-साथ इनकी विशेष परिस्थितियों एवं उनके कारणों का भी सविस्तर उल्लेख कर दिया है। इस प्रकार इस ग्रंथ में विचित्र और आश्चर्यजनक ज्ञान तथा अन्य रहस्यों के साथ-

१. **यायावर, अरब के भ्रमणकारी क़बीलों का जीवन।**
२. **शिक्षाओं का ग्रंथ, प्रारम्भिक एवं बाद के इतिहासों का संग्रह, अरब, ग़ैर अरब (अजम) बरबर तथा उनके समकालीन प्रतिष्ठित सुल्तानों का इतिहास।**

साथ सुबोध दर्शन भी समाविष्ट है। फिर भी मैं अपनी कमियों एवं त्रुटियों को स्वीकार करता हूँ। विद्वानों के समक्ष मैं यह अपनी तुच्छ सम्पत्ति प्रस्तुत करता हूँ। क्योंकि त्रुटियों का स्वीकार कर लेना आलोचनाओं एवं निंदा से मुक्ति दिला देता है, मुझे अपने भाइयों से भलाई की ही आशा है न कि बुराई की।...[१]

१. इसके उपरान्त ग्रंथ के समर्पण का उल्लेख है, जिसका अनुवाद नहीं किया गया।

प्रस्तावना

मुक़द्दमा

इतिहास के ज्ञान की श्रेष्ठता, उसके विभिन्न दृष्टिकोणों की खोज, इतिहासकारों की भूलें एवं त्रुटियाँ तथा उनके कारणों का संक्षिप्त वर्णन

यह सभी जानते हैं कि इतिहास बड़ी उच्च श्रेणी का ज्ञान है। उसके अनेकों लाभ और उत्कृष्ट परिणाम हैं। इतिहास द्वारा हमें पिछली उम्मतों[1] के कार्यकलापों, नबियों के जीवन-चरित्र, सुल्तानों की राजनीति तथा राज्य के नियमादि का ऐसा ज्ञान होता है, जिसके द्वारा यदि कोई इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी कार्यों में उपर्युक्त विषयों में से किसी का भी अनुसरण करना चाहे तो सफलतापूर्वक वह ऐसा कर सकता है। अतः इतिहासकार के लिए आवश्यक है कि इतिहास के विभिन्न सूत्रों का पता लगाये तथा विभिन्न ज्ञानसूत्रों से उसका परिचय हो। इसके लिए इतिहासकार में कुशाग्र बुद्धि एवं गहन अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए, ताकि वह सत्य की खोज कर सके और त्रुटियों तथा भूलों से अपने आपको सुरक्षित रख सके। कारण कि यदि घटनाओं को ज्यों की त्यों दूसरों के लेख से नक़ल कर लेना ही पर्याप्त समझ लिया जाय और स्वाभाविक नियमों, राजनीति के सिद्धांतों, संस्कृति की विचारधाराओं एवं मानवसमाज के संगठन पर दृष्टि न रखी जाय और भूतकाल को वर्त्तमान काल के प्रकाश में न देखा जाय तो भूलें होने, बहक जाने एवं सन्मार्ग से हट जाने की आशंका बनी रह सकती है। इस मार्ग के अनुगामी अधिकांश इतिहासकार, क़ुरान के टीकाकार एवं घटनाओं का वर्णन करनेवाले पहले भी घटनाओं के वर्णन में भूलें कर गये हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने केवल नक़ल पर भरोसा किया और इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि वे घटनाएँ स्वीकार करने योग्य थीं भी या नहीं। उन्होंने न तो उन्हें ऐतिहासिक सिद्धान्तों

१. राष्ट्रों।

की कसौटी पर जाँचा ही और न इस बात पर ध्यान दिया कि एक ही प्रकार की घटनाओं से किस प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। उन्होंने न तो सृष्टि की स्वाभाविक दशा तथा राजनीति के नियमानुसार उनकी परीक्षा की, न विवेक, बुद्धि एवं ज्ञान से काम लिया। इस कारण वे सत्य एवं सन्मार्ग से पृथक् हो गये और कल्पना एवं मिथ्या के जंगल में भटकते रहे। कहानियों में धन-सम्पत्ति एवं सेनाओं की संख्या के प्रश्न पर विशेष रूप से ऐसी भूलें हुई, क्योंकि कहानियों में झूठ एवं अशुद्ध वर्णन बहुत बड़ी सीमा तक प्रविष्ट हो सकते हैं। अतः नियमों एवं सिद्धान्तों के अनुसार इनकी परीक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

उदाहरणार्थ मसऊदी एवं बहुत से अन्य इतिहासकारों ने बनी इसराईल[1] की सेना की संख्या का विवरण देते हुए लिखा है कि जब मूसा[2] ने रेगिस्तान में सशस्त्र सैनिकों अर्थात् ऐसे सैनिकों की, जिनकी अवस्था २० वर्ष से अधिक थी, गणना करायी तो उनकी संख्या छः लाख अथवा इससे कुछ अधिक निकली। इसे लिखते समय इतिहासकार मिस्र एवं शाम[3] के राज्य पर दृष्टि रखना भूल गये और यह न सोचा कि वहाँ इतनी अधिक सेना रखी भी जा सकती है। उन्होंने नहीं सोचा कि जो राज्य बहुत बड़ा होता है उसमें ही इतनी बड़ी सेना रखी जा सकती है। राज्य की आय के अनुसार उस पर व्यय किया जाता है। आय को देखते हुए उससे अधिक सेना रख लेना सम्भव नहीं। इसका प्रमाण राज्यों की प्रसिद्ध घटनाओं एवं साधारण स्वभाव से मिल जाता है। फिर भी इतनी अधिक सेना के लिए युद्ध करना भी सम्भव नहीं, कारण कि वहाँ कोई ऐसा बड़ा मैदान नहीं जो दृष्टि के पहुँचने की दूरी से दुगुना, तिगुना अथवा इससे भी अधिक बड़ा हो जहाँ सेना की पंक्तियाँ खड़ी हो सकें। यदि वे किसी न किसी प्रकार खड़ी हो भी जायँ तो दोनों पक्षों का एक-दूसरे पर आक्रमण करना तथा एक-दूसरे के विषय में सूचनाएँ एवं विजय पाना सम्भव नहीं। इस प्रकार वर्त्तमान काल की घटनाओं का भूतकाल की घटनाओं से एवं भविष्य की घटनाओं का वर्त्तमान काल की घटनाओं से साम्य होना चाहिए।

फ़ारस का राज्य बनी इसराईल के राज्य से बहुत बड़ा था, जैसा कि बख़्त नस्र[4]

१. इसराईलाइटस।
२. मोज़ेज़।
३. सीरिया।
४. नेबुश्शादनज़र।

के उस पर प्रभुत्व से ज्ञात होता है। उसने उस राज्य को पददलित करके पूर्ण रूप से विजय कर लिया था। बैतुल मुक़द्दस[1] को, जो उनके धर्म एवं राज्य का केन्द्र था, उसने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, हालाँ कि वह फ़ारस के राज्य का केवल एक हाकिम ही था। उसके विषय में यह भी कहा जाता है कि वह पश्चिम दिशा के सीमान्त भू-भाग का एक सरदार था। फ़ारस वालों का राज्य दोनों इराक़[2], ख़ुरासान, मावराउन् नहर[3] और कैस्पियन सागर के दरबन्द तक फैला था। यह राज्य बनी इसराईल के राज्य से कहीं अधिक बड़ा था। फिर भी फ़ारस के राज्य की सेना इस संख्या तक न पहुँच सकी। उनकी बड़ी से बड़ी सेना की संख्या जो क़ादिसिया[4] में एकत्र हुई थी, सैफ़ बिन उमर अल असदी के वर्णन के अनुसार 1 लाख 20 हज़ार थी। यही इतिहासकार लिखता है कि फ़ारस के राज्य की सुव्यवस्थित सेना उस समय दो लाख थी। हज़रत आयशा[5] एवं ज़ुहरी[6] का कथन है कि क़ादिसिया में रुस्तम के नेतृत्व में जो सेना साद से युद्ध करने आयी थी उसकी संख्या केवल 60 हज़ार थी। यदि बनी इसराईल की सेना की संख्या इतनी भी होती तो उनके राज्य का क्षेत्र बहुत अधिक बड़ा हो गया होता और उनका राज्य दूर-दूर तक फैल चुका होता, क्योंकि देशों एवं राज्यों के क्षेत्रफल उनके सहायकों एवं उनकी सेना की अधिकता तथा न्यूनता के कारण घटते-बढ़ते रहते हैं।...[7]

1. येरोशलम।
2. मेसोपोटामिया तथा उससे मिला हुआ उत्तर-पश्चिमी फ़ारस।
3. ट्रांनसाक्ज़ियाना।
4. क़ादिसिया नजफ़ के दक्षिण तथा कूफ़े की छावनी से 18½ मील है। यहाँ हज़रत उमर के सेनापति साद इब्ने अबी वक़्क़ास और ईरान के सेनापति रुस्तम में 31 मई अथवा 1 जून 637 ई० को घोर युद्ध हुआ, जिसमें ईरानी हार गये।
5. हज़रत अबू बक्र, मुसलमानों के प्रथम ख़लीफ़ा की पुत्री तथा मुहम्मद साहब की प्रिय पत्नी। इनका 67 वर्ष की अवस्था में 678 ई० में निधन हुआ।
6. मुहम्मद बिन मुस्लिम जिसकी मृत्यु 123–125 हि० (740 और 742-43 ई०) के मध्य हुई।
7. इतिहासकारों की इस प्रकार की भूलों के सविस्तर उदाहरण यहाँ दिये गये हैं। उनका अनुवाद नहीं किया गया।

हम इन ऐतिहासिक भूलों का सविस्तर विवरण देकर अपने उद्देश्य से हटते जा रहे हैं, किन्तु हमने यह विवरण इस कारण दिया है कि बहुत से विश्वस्त एवं योग्य इतिहासकार भी इन विषयों का उल्लेख करते समय बहक जाते हैं और वे सत्य से पृथक् हो जाते हैं। उनके मस्तिष्क में ये भूलें जड़ पकड़ जाती हैं। अयोग्य एवं निष्कर्ष निकालने के नियमों से अनभिज्ञ लोगों ने जब इन भूलों को उद्धृत किया तो उन्हें इसी रूप में स्वीकार भी कर लिया और विवेक एवं आलोचना से काम नहीं लिया। इस प्रकार उनके ज्ञान के भंडार में इस तरह के मिथ्या विश्वास ने स्थान ग्रहण कर लिया और इतिहास का एक ऐसा भाग तैयार हो गया जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इस भ्रमपूर्ण भाग के अध्ययन से पाठक गण भ्रम में पड़ जाते हैं, अपितु यह कहना चाहिए कि इतिहास अपने उच्च स्तर से नीचे गिर गया और एक साधारण कला समझा जाने लगा।

इतिहासकार के लिए यह परमावश्यक है कि वह सृष्टि के प्राकृतिक एवं राजनीतिक नियमों तथा सिद्धान्तों को भली-भाँति समझता हो। उसे इस बात का ज्ञान हो कि चरित्र, नैतिकता, धर्म इत्यादि में भूमि, स्थान, राज्य एवं क़ौमों के परिवर्तन से क्या-क्या उलटफेर हो जाते हैं। उसमें इस बात की भी योग्यता होनी चाहिए कि वह वर्त्तमान एवं उपस्थित की, भूत एवं अनुपस्थित से तुलना करके देखे कि वे कहाँ तक एक दूसरे से मिलते-जुलते एवं भिन्न हैं। जो बातें मिलती हों उनके कारणों का भी पता लगाये और जो बातें भिन्न हों उनके कारणों की भी खोज करें। राज्यों एवं क़ौमों के सिद्धान्तों, उनके अभ्युदय एवं प्रादुर्भाव का पता लगाये। जिन लोगों का इन कार्यों में मुख्य हाथ हो उनके विषय में उसे पूर्ण ज्ञान होना चाहिए ताकि वह उन सूचनाओं के आधार पर प्रत्येक घटना के कारण का पता लगा सके और जो घटना उस तक पहुँची है, यदि वह उसके नियम तथा सिद्धान्त पर पूरी उतरती है तो उसको वह ठीक समझे अन्यथा उसे मिथ्या एवं असत्य समझकर त्याग दे।

इस प्रकार प्राचीन काल के लोगों ने इतिहास को जो महत्त्व प्रदान किया है वह इन्हीं नियमों के अनुसार हुआ है। यहाँ तक कि तबरी, बुख़ारी[1] एवं इब्ने इसहाक़ सरीखे विद्वानों ने इसे अपनी रचनाओं के लिए चुना, किन्तु सर्वसाधारण

१. मुहम्मद इस्माईल अल बुख़ारी अपने ग्रंथ सहीह-अल-बुख़ारी के लिए प्रसिद्ध हैं। यह मुहम्मद साहब की हदीसों का संग्रह है। उनकी मृत्यु ८७० ई० में बुख़ारा में हुई।

इस रहस्य से अनभिज्ञ हैं। फलतः इतिहास का अध्ययन अज्ञानतुल्य समझा जाने लगा और सर्वसाधारण तथा मूर्ख लोगों ने इसके अध्ययन एवं विवेचन को एक साधारण बात समझ लिया। इस प्रकार खरा-खोटा, असली-नक़ली, झूठ-सच मिल गये।

इतिहास में जो भूलें होती रहती हैं उनके कारण यद्यपि बहुत से हैं, किन्तु एक बड़ा ही गुप्त कारण, जिस पर लोगों की दृष्टि नहीं पड़ती, यह है कि युग के परिवर्तन एवं समय के बदलने की वजह से जो उलट-फेर क़ौमों एवं क़बीलों में हो जाते हैं उनका इतिहासकारों को ज्ञान नहीं होता। ये परिवर्तन दीर्घकाल में शनैः-शनैः इस प्रकार होते रहते हैं कि लोगों को उनका पता ही नहीं चल पाता और ऐसे बुद्धिमान् एवं अनुभवी बहुत कम लोग होते हैं जो इन परिवर्तनों को पहचान सकें। या यों कहिए कि संसार तथा संसार वाले एवं उनके स्वभाव और नियम सर्वदा एक ही प्रकार तथा एक ही रूप के नहीं रहते। इन सब बातों में युग के साथ परिवर्तन होता रहता है। जिस प्रकार मनुष्य एवं आबादियाँ एक ही स्थिति में नहीं रहतीं उसी प्रकार पृथ्वी, युग एवं राज्य भी स्थायी नहीं हुआ करते।

एक समय वह था जब संसार में प्राचीन फ़ारसी, सुर्यानी, नबत, तबाबआ[1], बनू इसराईल तथा क़िब्त आबाद थे और राज्य, राजनीति, कला-कौशल, शब्दार्थ, मुहावरों के प्रयोग तथा सामाजिक आदान-प्रदान में कुछ नियत नियमों का पालन करते थे, जैसा कि उनके अवशेषों से पता चलता है। फिर इनके उपरान्त दूसरे फ़ारसी, रूमी[2] तथा अरब आये, जिनके कारण एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। आदतें बदल गयीं, कुछ उनसे मिलती-जुलती रहीं और कुछ उनसे पूर्णतः भिन्न। तदुपरान्त मुज़रया[3] में इस्लाम का अभ्युदय हुआ और प्राचीन आचार-विचार कुछ के कुछ हो गये। उनकी बहुत-सी बातें वर्त्तमान से, जो उन्होंने अपने पूर्वगामी लोगों से ग्रहण की थीं, मिलती-जुलती थीं। उनके बाद अरबों का यह राज्य भी नष्ट-भ्रष्ट हो गया और उनका युग समाप्त हो गया। वे लोग जिन्होंने ऐश्वर्य एवं वैभव प्राप्त किया था, संसार से विदा हो गये और राज्य अजम[4] वालों के हाथ में आ गया। पूर्व में तुर्क, पश्चिम में बरबर एवं उत्तर में फ़िरंग राज्य करने लगे। इस प्रकार प्राचीन काल के लोगों के

१. यमन का तुब्बा राज्य।
२. बाइज़ण्टाइन।
३. फ़ुरात का मुज़ार वंश।
४. ग़ैर-अरब।

राज्य समाप्त हो जाने के उपरान्त क़ौमों की दशा, आचार-विचार, ऐश्वर्य एवं वैभव सभी में परिवर्तन हो गया और मस्तिष्क से उनका ख़्याल भी मिट गया।

स्थिति एवं आचार-विचार के परिवर्त्तन का एक व्यापक एवं बड़ा कारण यह है कि प्रत्येक क़ौम एवं जाति अपने बादशाहों के आचार-विचार का पालन करती है। यह दार्शनिक नियम कि "लोग अपने बादशाह के धर्म का पालन करते हैं," इस रहस्य की ओर संकेत करता है। जब एक राज्य वाले दूसरे राज्य वालों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं तो वे विवश होकर अपने से पहले के राज्य वालों की ओर आकृष्ट होते हैं और उनकी बहुत-सी बातों को अंगीकार कर लेते हैं, किन्तु वे अपनी क़ौमी विशेषताओं को भी नहीं त्यागते। इस प्रकार दोनों की आदतों में संघर्ष होता रहता है। इसके बाद जब कोई अन्य राज्य प्रारम्भ होता है तो पराजित राज्य एवं विजेता राज्य में पुनः टक्कर होती है किन्तु यह टक्कर पिछले संघर्ष से हलकी होती है। यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है, यहाँ तक कि क़ौमें अपने आचार-विचार में पिछले लोगों से पूर्णतः पृथक् हो जाती हैं।

संक्षेप में जब तक क़ौमों के राज्यों में निरन्तर रद्दोबदल होती रहेगी तो उनके आचार-विचार एवं चरित्र में भी इसी प्रकार परिवर्त्तन होता रहेगा।......

आज के युग में शिक्षा जीविकोपार्जन का एक साधन बन गयी है और वंश के गौरव एवं सम्मान का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। शिक्षक दरिद्र, अज्ञात एवं बड़ा साधारण व्यक्ति होता है, अतः बहुत से निम्न वर्ग के लोग तथा शिक्षा देने का व्यवसाय करनेवाले उस उच्च सम्मान का स्वप्न देखने लगते हैं जिसके वे कदापि पात्र नहीं होते। वे सुगमतापूर्वक उसे प्राप्त कर लेना सम्भव समझते हैं। संक्षेप में इन्हीं आशाओं में वे अपने आपको भूल जाते हैं। कभी उनकी आशाएँ टूट भी जाती हैं और वे निराशा के गर्त में गिर जाते हैं, किन्तु वे फिर भी उस उत्कृष्ट सम्मान की प्राप्ति असम्भव नहीं समझते। उन्हें यह ध्यान ही नहीं आता कि वे भी अन्य उद्योग एवं व्यवसाय करने-वालों के ही समान पेशेवर हैं और उस उत्कृष्ट सम्मान का उनसे क्या सम्बन्ध हो सकता है। इस्लाम के प्रारम्भ एवं बनी उमय्या तथा बनी अब्बास के राज्यकाल में शिक्षा की यह दशा न थी जो अब है। शिक्षा को उद्योग एवं व्यवसाय के रूप में न समझा जाता था, अपितु मुहम्मद साहब की रवायतों[1] को नक़ल करना ही शिक्षा समझा जाता था। इस्लाम की अज्ञात बातों को प्रचार की दृष्टि से सिखाना ही शिक्षा थी।

१. वाणी, कथन, परम्परा।

इस प्रकार उत्कृष्ट वंश वाले, सम्मानित व्यक्ति एवं क़ौम के बड़े-बड़े नेता ही शिक्षा दिया करते थे। क़ुरान एवं हदीस की शिक्षा वे प्रचार की दृष्टि से देते थे न कि व्यवसाय की दृष्टि से। उनकी दृष्टि में क़ुरान शरीफ़ वह किताब थी जो उनके रसूल पर उतरी थी। यही उनके पथप्रदर्शन का स्रोत थी। इस्लाम उनका धर्म था। इसी किताब की ख़ातिर उन्होंने काफ़िरों से युद्ध किया और इसी की वजह से उन्हें अन्य क़ौमों पर प्रभुत्व प्राप्त हुआ। इसी कारण उनकी सर्वदा यही महत्त्वाकांक्षा रहती थी कि वे इसकी शिक्षा अन्य लोगों को प्रदान करें। इस मार्ग में न उन्हें उनके सांसारिक उच्च पद रोक पाते थे और न वंश का गौरव। इसका खुला प्रमाण यह है कि मुहम्मद साहब ने बहुत बड़े-बड़े सहाबियों[1] को अरब में इस्लाम की शिक्षा का प्रचार करने के लिए अरबी शिष्ट-मंडलों के साथ भेजा। इस कार्य के हेतु मुहम्मद साहब ने अशरये मुबश्शेरा[2] को भी भेजा और उनके उपरान्त अन्य लोगों को भी। जब इस्लाम की नींव दृढ़ और उसकी जड़ें मज़बूत हो गयीं और संसार की दूर-दूर की क़ौमें भी इस्लाम से लाभान्वित हुईं तो विभिन्न परिस्थितियों में इस्लामी धर्मशास्त्र में इस्लाम के नियमों को ढूंढ़ निकालने की आवश्यकता पड़ने लगी। एक ऐसे विधान की आवश्यकता होने लगी जो लोगों को त्रुटियों, भूलों एवं दोषों से सुरक्षित रख सके। ज्ञानोपार्जन परमावश्यक हो गया। इस प्रकार ज्ञान भी कला-कौशल की श्रेणी को प्राप्त हो गया। इसका सविस्तर उल्लेख ज्ञान एवं शिक्षा के अध्याय में किया जायगा। क़ौमी असबियत[3] रखनेवालों ने देश एवं शासन की ओर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया। ज्ञान एवं शिक्षा का प्रचार अन्य लोगों के अधीन हो गया, मानो इस प्रकार ज्ञान ने केवल एक व्यवसाय का जामा पहन लिया हो। धन-धान्य से सम्पन्न लोग इसकी उपेक्षा करने और शिक्षा के कार्य को अपमानजनक समझने लगे। शिक्षा का कार्य निम्न वर्ग के लोगों के हाथ में चला गया। क़ौमी सम्मान के स्वामी तथा राज्य के वैभव-प्राप्त लोग इस कार्य को अपने सम्मान के विरुद्ध समझने लगे।

अब यह ज्ञात ही है कि हज्जाज बिन यूसूफ़ के पूर्वज, सक़ीफ़[4] के सम्मानित

१. मुहम्मद साहब के मित्र, सहायक।
२. मुहम्मद साहब के १० प्रमुख सहाबी—अबू बक्र, उमर, उस्मान, अली, तलहा, ज़ुबेर, अब्दुर्रहमान, इब्न औफ़ साद इब्ने अबी वक़्क़ास, सईद इब्ने ज़ैद, अबू उबैदह।
३. क़ौम से ऐसा प्रेम जो हर दशा में उसे संगठित रखता था।
४. अरब का एक सम्मानित क़बीला।

व्यक्तियों में से थे। वे अरबी असबियत एवं क़ुरेशी[1] सम्मान के भी स्वामी थे। साथ-साथ यह भी सच है कि इस युग में इस्लाम की शिक्षा ने वह रूप धारण न किया था जो आज है। वह एक व्यवसाय न बनी थी, अपितु जिस प्रकार इस्लाम के प्रारम्भ में उसे गर्व का विषय समझा जाता था, उसी प्रकार उस समय भी उसे एक सम्मानित वस्तु समझा जाता था।

इसी प्रकार का भ्रम इतिहास का अध्ययन करनेवालों को उस समय होता है जब वे क़ाज़ियों[2] के विषय में सुनते हैं। जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि वे सेनाओं के सेनापति भी होते थे, तो उनका उत्साह बढ़ जाता है और वे भी वैसा सम्मान प्राप्त करने की अभिलाषा करने लगते हैं। वे उस समय के क़ाज़ियों के पद को भी वैसा ही समझने लगते हैं जैसा कि वह आज है।[3]......प्राचीन काल में क़ाज़ी का पद उन्हीं को प्राप्त होता था जो राज्य से निकटतम सम्बन्ध रखते थे और राज्य के विश्वास-पात्र होते थे। उनकी स्थिति वैसी ही थी जैसी कि आजकल मग़रिब में वज़ीरों की है। उनका बड़ी-बड़ी सेनाएँ लेकर निकलना तथा महान् कार्य सम्पन्न करना इसका खुला प्रमाण है, कारण कि ये कार्य उन्हीं को सौंपे जाते थे जो विशेष असबियत रखते थे। ऐसी ही दशा में सुननेवालों को भ्रम हो जाता है और वे इस प्रकार की मिथ्या स्थिति से मनमाने निष्कर्ष निकाल लेते हैं। इस प्रकार की भूल अधिकांश इस युग के अल्प-दर्शी उन्दुलस वाले कर बैठते हैं। इसका कारण यह है कि उनके देश से असबियत बहुत समय पहले ही समाप्त हो गयी थी। जब से उनके राज्य का पतन हुआ और बर-बरों की असबियत के गुणों का उनमें अभाव हो गया, तब से अरब की वंशावलियाँ मात्र उनके पास रह गयीं। एक-दूसरे की सहायता करने का गुण उनमें न रहा, अतः अब उनकी गणना उस अपमानित प्रजा में होती है जो दूसरों के प्रभुत्व एवं अधीनता में दासों के समान जीवन व्यतीत कर रही है, किन्तु उन्हें भ्रम इसी बात का है कि उनका वंश ही उनके प्रभुत्व का कारण है। यदि आप वहाँ के उद्योग-धंधे एवं विभिन्न व्यवसाय करनेवालों को देखें तो आप उन्हें अपने उसी खोये हुए प्रभुत्व का स्वप्न देखते हुए पायेंगे। किन्तु जो लोग क़ौमों, क़बीलों एवं उनके राज्यों के विषय से भली-भाँति

१. अरब का एक प्रमुख क़बीला।
२. इस्लामी राज्य के न्यायाधीश।
३. इस स्थान पर कुछ प्राचीन क़ाज़ियों की कीर्ति पर प्रकाश डाला गया है। इसका अनुवाद नहीं किया गया।

परिचित हैं और जिन्हें इस बात की जानकारी है कि किस प्रकार क़ौमें एवं क़बीले एक दूसरे पर प्रभुत्व प्राप्त करते हैं, वे इस बारे में बहुत कम भूलें कर सकते हैं।

इसी प्रसंग में यह बात भी है कि इतिहासकार जब राज्यों तथा बादशाहों के शासनप्रबंध पर वाद-विवाद करने लगते हैं तो उनका नाम, वंश, पिता-माता, अन्तःपुर, उपाधि, अँगूठी, क़ाज़ी, हाजिब[1] तथा वज़ीर सभी का उल्लेख कर डालते हैं। वे लोग बनी उमय्या एवं बनी अब्बास के राज्यकाल के इतिहासकारों का आँख बन्द करके अनुसरण करते हैं। वे उनके उद्देश्यों को ध्यान में नहीं रखते और न सूझ-बूझ से काम लेते हैं। प्राचीन काल के इतिहासकार अपने समकालीन सुल्तानों अथवा आने-वाली संतान के लिए इस आशय से इतिहास लिखते थे कि वे अपने पूर्वजों के इतिहास से परिचित होकर उनका अनुसरण कर सकें और उन्हीं के पदचिह्नों पर चल सकें तथा उन सुल्तानों के उपरान्त उनकी संतान किसी को कोई बड़ा पद देने अथवा कोई प्रान्त प्रदान करने के समय अपने सम्बन्धियों को अन्य लोगों पर प्राथमिकता (तर-जीह) दे सके। उस युग में राज्य की ओर से असबियत वाले लोग ही क़ाज़ी नियुक्त किये जाते थे और उनकी गणना, जैसा कि हम लिख चुके हैं, वज़ीरों में होती थी। अतः प्राचीनकाल के इतिहासकारों के लिए यह परमावश्यक था कि वे ये सब बातें बिना कुछ घटाये बढ़ाये लिख दें। अब सल्तनतों में परिवर्तन हो चुका है और इतिहास का यह उद्देश्य हो गया है कि वह लोगों को बादशाह के व्यक्तिगत गुणों एवं उसके समय की घटनाओं की जानकारी कराये, जिससे पता चल सके कि किन-किन राज्यों ने एक दूसरे पर प्रभुत्व प्राप्त किया और यह भी ज्ञात हो सके कि किन-किन कौमों का अभ्यु-दय एवं विनाश हुआ। ऐसी स्थिति में, आधुनिक काल के इतिहासों में वर्णित संतानों, स्त्रियों, अँगूठी पर खुदे वाक्यों, उपाधियों या विरुदों, क़ाज़ियों, वज़ीरों तथा हाजिब आदि संबंधी सविस्तर उल्लेखों से क्या लाभ ? क्योंकि न तो अब वे नियम ही प्रच-लित हैं और न वंश और न वे पद अथवा रुतबे। यतः ये इतिहासकार प्राचीनकाल के लोगों के इतिहास के उद्देश्य को न समझ सके, अतः अपनी असावधानी एवं अ नुकरण की भावना के कारण इन लोगों ने अपने इतिहासों में इसी प्रकार की बातें लिख डाली हैं। हाँ, जो वज़ीर इतने प्रभावशाली हो गये कि उनके बादशाहों का यश भी उनकी

१. राज-दरबार का एक मुख्य अधिकारी जो सुल्तान एवं अन्य लोगों के बीच में मध्यस्थ रहता था।

उपस्थिति में साधारण प्रतीत होने लगा, उदाहरणार्थ हज्जाज, बनू मुहल्लब[१], बरामेका,[२] बनू सहल इब्ने नव बख़्त,[३] क़ाफ़ूर इख़शीदी,[४] इब्ने अबी आमिर इत्यादि, इनके पूर्वजों का अथवा इनका विवरण देने में कोई आपत्ति नहीं। कारण कि ये इस योग्य हैं कि बादशाहों की श्रेणी में ही इनकी गणना की जा सकती है।

अब हम यहाँ एक ऐतिहासिक रहस्य की चर्चा करके इस अध्याय को समाप्त करते हैं। वह इस प्रकार है कि इतिहास किसी विशेष युग अथवा विशेष क़ौम के हाल एवं अवशेष के वर्णन को कहते हैं, किन्तु संसार की क़ौमों तथा प्राचीन काल की सामान्य घटनाओं का उल्लेख भी इतिहासकार के लिए परमावश्यक होता है। इसका कारण यह है कि इतिहासकार के अधिकांश उद्देश्य इन्हीं पर अवलम्बित होते हैं, अतः उसके विवरण अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। कुछ इतिहासकार इसके लिए अपने ग्रंथ को अनेक भागों में विभक्त करते हैं। इसी लिए मसऊदी ने मुरूजुज् ज़हब में इस नियम का पालन किया है। उसने अपने युग तक की समस्त पश्चिम एवं पूर्व के संसार की क़ौमों की सविस्तर चर्चा की है। उनके धर्मों, स्वभाव, नगरों, पर्वतों, नदियों, प्रदेशों एवं राज्यों का वर्णन किया है। अरब एवं अजम के क़बीलों एवं क़ौमों की विभिन्न शाखाओं का अलग-अलग उल्लेख किया है। इसी कारण उसे इतिहासकारों में बड़ा ऊँचा दर्जा प्राप्त है। अन्य इतिहासकारों ने इसी लिए अपने अधिकांश अनुसंधानों का आधार इसी इतिहास को बनाया है। वे उसके कथन को मौलिक सिद्धान्त मानते हैं।

तदुपरान्त बकरी[६] का युग आया। सभ्यताओं एवं देशों का विवरण देने में उसने भी इसी नियम का पालन किया, किन्तु उसके काल में क़ौमों की दशा में अधिक

१. ये बनी उमय्या के राज्यकाल में हुए हैं।
२. ये प्रारम्भिक अब्बासी राज्यकाल में हुए हैं।
३. ये भी प्रारम्भिक अब्बासी राज्यकाल में हुए हैं।
४. अल-मिस्क काफ़ूर, फ़ुस्तात के इख़शीद वंश के राज्यकाल में वज़ीर नियुक्त हुआ किन्तु धीरे-धीरे उसने अत्यधिक अधिकार प्राप्त कर लिया और ९६६-९६८ ई० तक स्वतंत्र रूप से राज्य करता रहा।
५. इन लोगों ने स्पेन के उमय्या वंश के राज्यकाल में प्रभुत्व प्राप्त कर लिया था।
६. अब्दुल्लाह बिन मुहम्मद प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता, जिसका जन्म ४३२ हि० (१०४०-४१ ई०) तथा मृत्यु ४८७ हि० (१०९४ ई०) में हुई। इब्ने खलदून ने अपने ग्रंथ में कई स्थानों पर इसकी चर्चा की है। इसका एक ग्रंथ 'मीजम मा स्ताजम'

परिवर्तन नहीं हुआ था, अतः उसने उनकी उपेक्षा की। पर हमारे युग अर्थात् आठवीं शताब्दी हि० के अन्त (१४वीं शताब्दी ई०) में मग़रिब की दशा कुछ की कुछ हो गयी है। उसे अपनी आँखों से देख रहे हैं। बरबरी क़ौमों की प्राचीन दशा अचानक बदल गयी। पाँचवीं शताब्दी हि० (११वीं शताब्दी ई०) के प्रारम्भ में अरब उनके देश में जाने लगे थे और उन्होंने उन्हें पराजित करके अपने राज्य वहाँ स्थापित कर लिये थे। उनका देश उनके हाथ से छिन गया और जो भाग बरबरों के अधिकार में रह गये उनके शासन के मामलों में भी अरब लोग हस्तक्षेप करने लगे। आठवीं शताब्दी हिजरी के मध्य (१४वीं शताब्दी ई०) में समस्त पूर्व तथा पश्चिम में एक भयंकर प्लेग का प्रकोप हुआ। उसने बहुत-सी क़ौमों का समूलोन्मूलन कर दिया। आबादियों के रंग-रूप नष्ट हो गये। इस महामारी का प्रकोप ऐसे समय हुआ जब क़ौमें अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच, कर पतनोन्मुख हो रही थीं, अतः महामारी के कारण उनके ऐश्वर्य एवं वैभव में कमी हो गयी। उनका संगठन छिन्न-भिन्न हो गया। मनुष्यों के कम हो जाने के कारण, जनसंख्या में कमी हो गयी। नगर एवं प्रदेश उजड़ गये और उनके चिह्न मिट गये। बस्तियाँ नष्ट हो गयी और राज्य एवं क़बीले शक्तिहीन हो गये। पूर्व में भी वही विपत्ति आयी जो पश्चिम में आयी थी, किन्तु उसका परिणाम हुआ उनकी जन-संख्या एवं दशा के अनुरूप। एक ही बार में समस्त संसार विनाश के चंगुल में फँस गया। जब इस प्रकार संसार की दशा में पूर्ण परिवर्तन हो गया तो मानव जाति की दशा भी पहले की दशा के मुक़ाबले में कुछ से कुछ हो गयी और यह ज्ञात होने लगा कि जो संसार हम इस समय देख रहे हैं, उसका जन्म पुनः हुआ है। अतः इस समय यदि कोई व्यक्ति संसार, उसके प्राणियों, क़ौमों, क़बीलों तथा उनके धर्म का, जो पूर्णतः परिवर्तित हो गये हैं, इतिहास लिखे तो उसके लिए यह परमावश्यक है कि वह इतिहास लेखन में मसऊदी का अनुसरण करे ताकि उसके बाद के आनेवाले इतिहासकार उसकी नक़ल कर सकें।

यदि ईश्वर ने चाहा तो हम अपने इस ग्रंथ में यथासम्भव मग़रिब के इतिहास का इसी प्रकार का सविस्तर विवरण देंगे और घटनाओं तथा कहानियों के प्रसंग में संकेत द्वारा बतायेंगे कि हमने अपनी इस रचना में मग़रिब के ही क़बीलों एवं क़ौमों तथा राज्य का विशेष रूप से उल्लेख किया है, न कि समस्त संसार का। इसका

१९४५-५१ ई० में क़ाहेरा (केअरो) से प्रकाशित हो चुका है। दूसरा ग्रंथ 'अल मसालिक वल ममालिक' अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

कारण यह है कि हमें पूर्व के देशों एवं क़ौमों का पर्याप्त ज्ञान नहीं है और जिन बातों की हमें सूचना है उनसे उन बातों का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता जिन्हें हम आवश्यक समझते हैं।[1] मसऊदी को इन बातों का ज्ञान, जैसा कि उसने अपने ग्रंथ में लिखा है, अपनी लम्बी चौड़ी यात्राओं के कारण प्राप्त हो गया था। इस पर भी वह उचित रूप से मग़रिब का वर्णन नहीं कर सका है.....।[2]

१. इब्ने खलदून ने सम्भवतः शीघ्र ही अपनी योजना बदल दी, कारण कि उसने पूर्व के देशों का भी अपने इतिहास में विस्तार-सहित उल्लेख किया है।
२. यहाँ उन स्वरों के, जो अरबी नहीं हैं, लिखने की विधि इब्ने खलदून ने बतायी है। इस अंश का अनुवाद नहीं किया गया।

इब्ने खलदून का चित्र

(एक अन्य मिस्री कलाकार द्वारा)

किताबुल इब्र

प्रथम भाग

सभ्यता की विशेषताएं, बदवी और स्थिर जीवन-क्रम, एक-
दूसरे का पारस्परिक प्रभुत्व, जीविकोपार्जन के
साधन, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान तथा
सभ्यता को प्रभावित करनेवाली
अन्य बातें एवं उनके कारण

प्रस्तावना

इतिहास एवं सत्य

इतिहास वास्तव में ऐसी सूचना है जिससे उस मानवीय संगठन का, जिसे हम संसार की सभ्यता कहते हैं, ज्ञान प्राप्त होता है। सभ्यता की विभिन्न दशाओं के स्वाभाविक परिवर्तन का भंडार भी इतिहास ही है। पारस्परिक विरोध, मित्रता, पक्षपात, संगठन तथा विभिन्न मनुष्यों का एक-दूसरे पर प्रभुत्व एवं उसके स्वाभाविक प्रभाव के नाना प्रकार के रूप, राज्यों तथा सल्तनतों की स्थापना, उनकी विभिन्न श्रेणियाँ, उद्योग धंधे, व्यवसाय, ज्ञान-विज्ञान एवं कला-कौशल अथवा वे बातें जो संसार की सभ्यता से स्वभावतः उत्पन्न होती हैं तथा जिन पर मनुष्य अपने दैनिक जीवन में आचरण करने का प्रयत्न किया करता है, इतिहास द्वारा ही ज्ञात होती हैं। जब इतिहास सूचनाओं का नाम है, तो सूचनाएँ झूठ एवं असत्य भी हो सकती और होती हैं अतः इतिहास में भी झूठ एवं त्रुटियाँ प्रविष्ट हुईं और होती रहती हैं। इसके कई कारण हैं—

(१) विचारों एवं विश्वासों का वैभिन्य तथा पक्षपात की भावना। मनुष्य की यह स्वाभाविक विशेषता है कि वह अपने सरल स्वभाव के कारण जो समाचार सुनता है उसे आलोचनात्मक दृष्टि से जाँचता और परखता है। यहाँ तक कि सत्य को वह झूठ से पृथक् कर लेता है। परन्तु जब वह किसी विचार अथवा विश्वास का पहले से ही अनुयायी होता है तो अपने विचार एवं विश्वास के प्रति पक्षपात के कारण तदनुकूल सूचनाओं को तत्काल स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार इन विचारों एवं पक्षपातों के कारण वह शोध एवं आलोचना से वंचित रह जाता है। वह झूठ को स्वीकार कर लेने एवं उसे दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए विवश होता है।

(२) अधिकांश लोग सूचनाओं एवं समाचारों का विवरण देनेवालों को विश्वस्त समझ लेते हैं, हालाँ कि उनपर विश्वास करने के लिए उनके विषय में खोज एवं छानबीन परमावश्यक होती है।[1]

१. अल जिरह वत्तादील द्वारा सूचना देनेवालों एवं रवायत बयान करनेवालों के विषय में छानबीन की जाती है।

(३) अधिकांश सूचना तथा समाचार देनेवाले अपनी देखी-भाली अथवा सुनी-सुनाई बातों का वास्तविक उद्देश्य समझने में असावधानी बरतते हैं और केवल अपनी व्यक्तिगत कल्पनाओं के आधार पर समाचारों का विवरण दे देते हैं और इस प्रकार भूलें कर जाते हैं।

(४) कभी-कभी सत्यता का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। यह भ्रम कई प्रकार से उत्पन्न होता है। अधिकतर तो इस प्रकार कि समाचारों का विवरण देनेवालों को विश्वस्त समझ लिया जाता है। कभी इस प्रकार की वर्णित घटनाओं की प्रत्यक्ष रूप में घटनेवाली घटनाओं से तुलना नहीं की जाती, ताकि असत्य एवं काल्पनिक तत्त्वों से मुक्ति प्राप्त हो सके।

(५) अधिकांश लोग प्रभावशाली एवं सम्मानित लोगों की प्रशंसा करके अथवा उनकी यशोगाथा गाकर उनके विश्वासपात्र बनने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रशंसा या यशोगाथा के आधार पर बहुत से समाचार जनश्रुति के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं। कारण यह है कि मनुष्य स्वभावतः चाटुकारी पसन्द करता है और लोग उच्च श्रेणी एवं सम्मानित पद प्राप्त करने की आकांक्षा किया करते हैं तथा वास्तविक गुण एवं श्रेष्ठता की खोज नहीं करते।

(६) सबसे बड़ा कारण तो यह है कि लोग घटनाओं एवं विभिन्न परिस्थितियों से स्वाभाविक रूप में परिचित नहीं होते। संसार में जितनी घटनाएँ घटती हैं उनका अपनी विशेष परिस्थितियों एवं वातावरण के कारण एक पृथक् स्थान हुआ करता है। यदि श्रोता संसार में घटनेवाली घटनाओं की उस परिस्थिति तथा वातावरण से परिचित है तो उसका यह ज्ञान समाचारों की सत्यता की छान-बीन में उसका सहायक होगा। समाचारों की परीक्षा के लिए यह नियम बड़ा लाभदायक है। कभी-कभी श्रोता कुछ असम्भाव्य घटनाओं को सत्य मानकर उनका प्रचार करने लगते हैं और फिर अन्य लोग भी उनका अनुसरण प्रारम्भ कर देते हैं।

इसी प्रकार के प्रचार से प्रभावित होकर मसऊदी ने सिकन्दर के विषय में लिखा है कि जब समुद्री जानवरों ने उसे इसकन्दरिया[1] के निर्माण से रोका तो उसने शीशे का एक बक्स बनवाया और उसमें बैठकर समुद्र के धरातल में पहुँच गया। वहाँ उसने उन शैतानों[2] के, जो उसे मिले, चित्र बना लिये। तदुपरान्त उसने चित्रों के

१. अलेकज़ेंड्रिया।
२. भूत-प्रेत से तात्पर्य है।

अनुसार मूर्त्तियाँ बनवाकर उन्हें नगर की नींव के समक्ष स्थापित करा दिया। जब शैतान निकले तो वे उन मूर्त्तियों को देखकर भाग गये और सिकन्दर ने नगर का पूर्ण रूप से निर्माण करा दिया।

उसने जो बहुत-सी झूठी-सच्ची कहानियाँ लिखी हैं उनमें यह कहानी बड़ी लम्बी-चौड़ी है। इस घटना का होना अनेक कारणों से असम्भव है। सर्वप्रथम शीशे का बक्स बनना और उसका लहरों की थपेड़ों से सुरक्षित रह जाना किस प्रकार सम्भव है? दूसरी बात यह है कि बादशाह लोग अपने आपको ऐसे ख़तरों में नहीं डाला करते। इस प्रकार ख़तरे में पड़ना अपने आपको खुल्लम-खुल्ला मौत के मुँह में डालना है और अपने राज्य को अन्य लोगों के हाथों में चले जाने की अनुमति दे देना है। तीसरे जिन्नातों[1] का कोई रूप नहीं होता। वे अपने इच्छानुसार जिस रूप में चाहें प्रकट हो सकते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि उनके कई सिर होते हैं तो इसका अर्थ यह है कि वे बड़े भयानक होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उनके वास्तव में अनेक सिर होते ही हैं। ये सब बातें इस कहानी को असम्भव, असत्य एवं निराधार बना देती हैं। बुद्धिगम्य न होनेवाली सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि जब एक व्यक्ति बक्स में बन्द होकर जल में प्रविष्ट होगा तो उसके लिए साँस लेना कठिन हो जायगा और उसकी वहीं मृत्यु हो जायगी......।[2]

इसी प्रकार की बहुत सी झूठी कहानियाँ इतिहास में मिलती हैं जिनकी परीक्षा सभ्यता की स्वाभाविक एवं प्राकृतिक दशा के ज्ञान से हो सकती है। इनकी सत्यता की छान-बीन भी इसी आधार पर की जा सकती है, अपितु हमारी दृष्टि से समाज के स्वभाव की जानकारी से घटनाओं के विवरण देनेवालों के झूठ-सच का पता भली-भाँति लगाया जा सकता है। कारण कि विवरण देने वालों की सत्यता का पता तो उसी समय चल सकता है जब कि सर्वप्रथम समाचार के तथ्य का पता लग जाय कि उसका घटना सम्भव भी है अथवा नहीं। यदि उसका घटना ही सम्भव न हो तो विवरण देनेवालों के विषय में छानबीन करना आवश्यक नहीं।

शोध में रुचि रखनेवालों के लिए यह उचित नहीं कि घटनाओं के विवरण के शब्दों को बदलकर उनकी ऐसी व्याख्या की जाय जो बुद्धि-संगत न हो। इस प्रकार की

१. एक प्राणी जिसकी उत्पत्ति अग्नि से मानी जाती है और वह दिखाई नहीं देता।
२. इसके बाद इसी प्रकार की कुछ अन्य असम्भव एवं निरर्थक कहानियों को उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत करके उनकी आलोचना की गयी है।

व्याख्या एवं वाद-विवाद शरा[1] सम्बन्धी सूचनाओं के विषय में उचित भी हो सकता है, कारण कि शरा सम्बन्धी सूचनाएँ अधिकांशतः धार्मिक आदेशों एवं आवश्यकताओं के सम्बन्ध में होती हैं और शरा के निर्माता[2] ने उन पर आचरण करना परमावश्यक बताया है। इस प्रकार की व्याख्याओं द्वारा उन आदेशों की सत्यता के विषय में पुष्टि हो जाती है। किन्तु जो समाचार साधारण घटनाओं के विषय में हों उनके लिए यह आवश्यक है कि वे अपनी प्रकृत दशा में हों। जब उनका स्वाभाविक दशा में होना स्वीकार कर लिया जाय तब इस बात का पता लगाना चाहिए कि विवरण देनेवाला सच्चा है या झूठा। दोनों[3] में यह भी अन्तर है कि आदेश के पालन का लाभ आदेश द्वारा ही प्राप्त हो जाता है, किन्तु समाचारों से केवल उनके समाचारत्व के कारण ही कोई लाभ तब तक नहीं उठाया जा सकता जब तक वे अपने स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत न हों।

जब सच एवं झूठ तथा खरे और खोटे की परीक्षा के लिए यह कसौटी बन गयी तो प्राप्त सूचनाओं की जाँच करते समय तत्कालीन मानवसमाज की दशा को गहराई से देखना अनिवार्य हो जाता है। हमें इस बात का पता लगाना चाहिए कि समाज की विभिन्न स्थितियाँ कौन-कौन सी होती हैं और वे क्या सामाजिक भावनाओं के अनुकूल भी हैं अथवा नहीं। कौन-सी ऐसी स्थिति है जो उन परिस्थितियों में उत्पन्न ही नहीं हो सकती। हमें उन परिस्थितियों का पता लगाना चाहिए जो सभ्यता की सारभूत हैं और जो उसकी स्वाभाविक दशा के लिए परमावश्यक हैं। हमें उन बातों का भी ज्ञान होना चाहिए जिनका सभ्यता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं और जो अकस्मात् ही उससे सम्बद्ध हो गयी-सी प्रतीत होती हैं। यदि हम ऐसा करते हैं तो समाचारों के सत्य अथवा असत्य, झूठा या सच्चा होने के सम्बन्ध में हमें एक कसौटी प्राप्त हो जायगी, जिस पर कसकर तर्क-वितर्क करके समाचारों के तथ्य की पुष्टि की जा सकेगी और संदेह का कोई स्थान न रहेगा। तदुपरान्त जब हम सभ्यता संबंधी किसी घटना के विषय में सुनेंगे तो उक्त सिद्धान्त एवं नियम के आधार पर हम यह निर्णय कर सकेंगे कि वह समाचार स्वीकार करने योग्य है अथवा रद्द करने योग्य। या यों कहना चाहिए कि इतिहासकारों को यह एक ऐसा निश्चित मापदण्ड प्राप्त हो जायगा जिसके

१. शरीअत अथवा इस्लाम के धार्मिक नियम।
२. हज़रत मुहम्मद।
३. साधारण घटनाओं तथा शरा के आदेशों में।

द्वारा वे उन समाचारों तथा घटनाओं के, जो उन्हें प्राप्त होंगी, तथ्य का पता लगा सकेंगे। सत्य तो यह है कि इस ग्रंथ के इस भाग की रचना का वास्तविक उद्देश्य यही है। यह एक पृथक् ज्ञान के समान है। इसका विषय सभ्यता एवं मानवसमाज और तत्संबंधी अनेक समस्याएँ हैं।

यह बात भली-भाँति स्पष्ट होनी चाहिए कि घटनाओं का इस प्रकार का तर्क-वितर्कपूर्ण विवेचन एक विचित्र एवं नवीन बात है, जिससे नाना प्रकार के लाभ होते हैं और इसका ज्ञान बड़ी कठिनाई, मनन एवं सोच विचार के उपरान्त उत्पन्न होता है। इसको न तो व्याख्या-विषयक ज्ञान कह सकते हैं और न राजनीति-विषयक। क्योंकि व्याख्या का उद्देश्य लोगों को संतुष्ट करना होता है। इसकी सहायता से लोगों को किसी मत को स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने के लिए तैयार किया जाता है। चरित्र एवं बुद्धिमत्ता पर आधारित शासन प्रबंध के ज्ञान को राजनीति कहते हैं, उस पर आचरण करके सर्वसाधारण ऐसे सन्मार्ग पर चलने लगते हैं जिससे मानव की रक्षा एवं वैयक्तिक जीवन की स्थिरता की व्यवस्था हो जाती है।

ऐतिहासिक ज्ञान की विषयवस्तु उपर्युक्त दोनों ज्ञानों से पृथक् है। संक्षेप में यह एक मौलिक ज्ञान है और मुझे जहाँ तक ज्ञात है, किसी ने इस विषय पर इस प्रकार अभी तक कुछ नहीं लिखा है। मैं यह नहीं कह सकता कि इस उपेक्षा का क्या कारण है? सम्भव है कि इस विषय पर किसी ग्रन्थ की रचना की गयी हो और उसमें उचित रूप से इसकी व्याख्या भी हो, किन्तु वह हमें प्राप्य नहीं। कारण कि ज्ञातव्य विषयों की संख्या बेहद बढ़ गयी है और मानवजाति में बहुत बड़े-बड़े दार्शनिक हो चुके हैं। जो ज्ञान हमें प्राप्त हो चुका है, वह उस ज्ञान की अपेक्षा, जो हमें अभी तक नहीं प्राप्त हुआ, बहुत कम है। उदाहरणार्थ फ़ारस की उन विभिन्न विद्याओं का पता नहीं जिन्हें हज़रत उमर ने ईरान की विजय के उपरान्त नष्ट कर दिया। इसी प्रकार कल्दानियों[1], बिबलोनिया एवं सुरयानियों[2] की वे विद्याएँ एवं अवशेष जिन्हें काल-चक्र ने नष्ट कर दिया है, अब उपलब्ध नहीं हैं। आज क़िब्तियों[3] एवं उनसे पहले के लोगों के ज्ञान के विषय में कौन जानता है? हमें केवल यूनान वालों के ज्ञान का पता चल सका है और वह भी मामून

१. कल्डियन्स।
२. शाम वालों।
३. काप्टस्।

के कारण, जिसे इन विषयों के ग्रन्थों के अरबी भाषांतर तैयार कराने में बड़ी रुचि थी। उसने बहुत बड़ी संख्या में अनुवाद करनेवाले एकत्र किये थे और अपार धन इस काम पर व्यय किया था। अन्य विषयों के ज्ञान का हमें पता ही क्या हो सकता है।

क्योंकि प्रत्येक ज्ञान की वास्तविकता का आधार कोई विशिष्ट प्रकृत वस्तु होती है, अतः इस विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसी विशिष्ट प्रकृत वस्तु की स्थिति के विषय में तर्क-वितर्क किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक विषय एवं तथ्य से सम्बन्धित एक विशेष ज्ञान संकलित हो सकता है, और यह बात असम्भव नहीं कि दार्शनिकों ने इस विषय पर रचनाएँ की हों और शोध कार्य किये हों। किन्तु हमारे विषय का क्षेत्र केवल ऐतिहासिक घटनाओं की सत्यता की खोज तक सीमित है। यह विषय यद्यपि बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, किन्तु केवल ऐतिहासिक घटनाओं एवं सूचनाओं से, जिनको अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, सम्बद्ध होने के कारण सम्भव है इसकी उपेक्षा की गयी हो और इसे महत्त्व न दिया गया हो। वास्तविक बात का ज्ञान तो केवल ईश्वर को ही है। "और तुम्हें बहुत कम ज्ञान प्रदान हुआ है।"[१]

इसी ज्ञान की, जो इस समय विवादास्पद है, अनेक ऐसी समस्याएँ हैं जिनका प्रयोग विद्वान् लोग अपने तर्क में किया करते हैं और वे इस योग्य हैं कि उन्हें इस ज्ञान के उद्देश्यों एवं विषयों में सम्मिलित किया जाय। उदाहरणार्थ दार्शनिक एवं विद्वान् लोग नबियों की आवश्यकता को प्रमाणित करने के लिए कहते हैं कि क्योंकि स्वाभाविक रूप से मनुष्य का जीवन एक-दूसरे की सहायता पर निर्भर है, अतः उसके सफल संचालन के लिए एक न्यायकारी शासक का होना परमावश्यक है। फ़िक़ह[२] के सिद्धान्तों में भाषा की आवश्यकताओं को प्रमाणित करने के लिए कहा जाता है कि क्योंकि मनुष्य एक-दूसरे की सहायता पर निर्भर रहता है और चूँकि वह स्वभावतः सामाजिक जीवन व्यतीत करने का आदी है, अतः उसे अपनी हार्दिक इच्छाओं को व्यक्त करने के लिए ऐसी भाषा की आवश्यकता होती है जो सुगमतापूर्वक उसकी इच्छाओं एवं उद्देश्यों को दूसरों तक पहुँचा सके।[३] फ़क़ीह[४] लोग यह सिद्ध करने के लिए कि शरा के आदेशों के विशेष

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
२. इस्लाम का धर्म-विधान।
३. अल-आमिदी ने, "अल एहकाम फ़ी उसूल अल एहकाम" (क़ाहेरा से १९१४ में प्रकाशित) में भाषा-संबंधी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।
४. फ़िक़्ह-वेत्ता।

उद्देश्य होते हैं, इस बात का उल्लेख करते हैं कि व्यभिचार एक ऐसा कुकर्म है जिससे लोगों के वंश संकरित हो जाते हैं और उसके कारण मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। इसी प्रकार वे यह भी कहते हैं कि हत्या करना भी मानव के लिए हानिकारक है। अत्याचार आबादियों को उजाड़कर नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। इसी प्रकार वे उन सब विभिन्न शरा-सम्बन्धी आदेशों का उल्लेख करते हैं जिनका कोई-न-कोई विशेष उद्देश्य होता है। सभी का अन्तिम लक्ष्य यह होता है कि सभ्यता की रक्षा हो और मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर सके। इस प्रकार अन्य ज्ञानों में भी समाजशास्त्र के विभिन्न अंगों पर तर्क-वितर्क किया गया है।

इसी प्रकार इसकी कुछ समस्याएँ हमको किन्हीं-किन्हीं विद्वानों के विभिन्न कथनों में भी मिल जाती हैं, किन्तु वे किसी एक स्थान पर पूर्ण रूप से संकलित नहीं। उदाहरणार्थ मसऊदी उल्लू की कहानियों में मोबेज़[1] बहराम बिन बहराम के कथन की नक़ल करते हुए लिखता है कि "हे बादशाह! राज्य के गौरव को शरीअत के आदेशों के प्रचार, ईश्वर की आज्ञाकारिता और उसके आदेशों के पालन द्वारा उन्नति प्राप्त होती है। बिना राज्य एवं देश के शरीअत का कोई अस्तित्व नहीं रह सकता। देश का सम्मान वहाँ के निवासियों के हाथ में है और लोगों का अस्तित्व एमारह[2] के कारण है। धन-सम्पत्ति एमारह से प्राप्त होती है। एमारह न्याय पर आधारित है। न्याय एक तराजू है जिसे ईश्वर ने अपने प्राणियों के बीच स्थापित किया है। इसका अस्तित्व एवं स्थायित्व बादशाह के हाथों में है।"

नौशीरवाँ[3] के कथन भी इसी से मिलते-जुलते हैं। वह कहता है कि "राज्य सेना के कारण स्थापित रहता है और सेना धन से, धन कर से तथा कर एमारह से और एमारह न्याय से और न्याय उचित पदाधिकारियों से। पदाधिकारियों की योग्यता वज़ीरों के उचित व्यवहार पर निर्भर होती है। इन सबसे बढ़कर तो यह है कि बादशाह अपनी प्रजा की देख-रेख करे और उसमें उसके पालन-पोषण

१. ज़रदुश्त्री पुजारी।
२. "आबादी में कृषि आदि द्वारा वृद्धि करना।" अल-मुबश्शिर बिन फ़ातिक की "मुख्ताहल हिकम" में है, "यदि कोई बादशाह यह सोचे कि वह अन्याय द्वारा धन-सम्पत्ति का भंडार भर सकता है तो वह भूल करता है, कारण कि धन-सम्पत्ति कृषि द्वारा ही एकत्र हो सकती है।" (एमारत-अल अर्ज़)
३. प्रसिद्ध सामानी बादशाह ख़ुसरो प्रथम, ५३१—५७९ ई०।

एवं उसे सन्मार्ग पर स्थिर रखने की पूरी क्षमता हो, ताकि वह अपनी प्रजा पर पूर्ण प्रभुत्व रख सके, न कि उसकी प्रजा उस पर अधिकार प्राप्त कर ले।"

अरस्तू के एक प्रचलित राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थ में भी इसी विषय पर प्रकाश डाला गया है, किन्तु उसने इस विषय में अन्य बातें मिलाकर इसे अधूरा छोड़ दिया है। उसका तर्क भी अपूर्ण है। इस ग्रन्थ में उसने उन्हीं कथनों की चर्चा की है जिनका उल्लेख हम मोबेज़ों एवं नौशीरवाँ के सम्बन्ध में कर चुके हैं। इसमें ध्यान देने योग्य यह विवरण है[1] कि "संसार एक उद्यान है जिसकी सिंचाई राज्य से होती है। राज्य एक शक्ति है जिस पर धर्म का जीवन-मरण आधारित है। धर्म एक राजनीति है जिसकी बागडोर बादशाह के हाथ में है और बादशाह उस व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है जो सेना की सहायता पर निर्भर है। सेना उन सहायकों के समूह का नाम है जिनका पालन-पोषण धन द्वारा होता है। धन वह कर है जो प्रजा से एकत्र किया जाता है। प्रजा उन लोगों के समूह को कहते हैं जो न्याय के आधार पर जीवित रहता है। न्याय वह उत्तम वस्तु है जो संसार के अस्तित्व का कारण है।" फिर वह उसी बात का उल्लेख करने लगता है जिसकी उसने प्रारम्भ में चर्चा की थी। मानो दर्शन एवं राजनीति सम्बन्धी आठों वाक्य एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हों और प्रत्येक का अन्तिम भाग, दूसरे के प्रारम्भिक भाग से सम्बद्ध है। इस प्रकार उन्होंने एक ऐसे वृत्त का रूप धारण कर लिया है जिसका छोर निश्चित नहीं। अरस्तू को अपने इस वाक्य पर बड़ा गर्व है। वह कहता है कि यह वाक्य लाभों से परिपूर्ण हैं।

पाठकगण जब हमारे ग्रन्थ में राज्य एवं देश सम्बन्धी अध्याय का आलोचनात्मक अवलोकन करेंगे और जो कुछ हमने अपने विचार एवं खोज के आधार पर लिखा है, उसका वे ध्यानपूर्वक अध्ययन करेंगे तो इसमें उन्हें उपर्युक्त विवरण की व्याख्या एवं

१. अरस्तू का कथित राजनीति सम्बंधी ग्रंथ, जिसकी इब्ने खलदून ने चर्चा की है, "सिर्रुल असरार" है। कहा जाता है कि यह्या बिन अल बितरीक़ ने इसका यूनानी भाषा से अरबी में अनुवाद किया। यह ग्रन्थ अब्दुर्रहमान बदावी ने क़ाहेरा से १९५४ ई० में प्रकाशित कर दिया है। इसके अंग्रेजी एवं फ़्रांसीसी भाषांतर भी तैयार हो गये हैं। अनेक अरबी भाषा के विद्वानों ने उपर्युक्त वाक्य को अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है।

इस संक्षिप्त वर्णन का सविस्तर उल्लेख मिलेगा। तब उन्हें प्रत्येक का तर्क-पूर्ण प्रमाण मिलता जायगा। यह ज्ञान हमें ईश्वर ने अरस्तू की शिक्षा एवं मोबेज़ों के विवरण के अध्ययन के बिना ही प्रदान किया है।

इसी प्रकार राजनीति के सम्बन्ध में जिन विषयों का हमारी पुस्तक में उल्लेख किया गया है, वे इब्ने मुक़फ़्फ़ा[1] के दर्शनशास्त्र संबंधी ग्रंथों एवं उसकी कुछ अन्य पुस्तकों में भी पाये जाते हैं। किन्तु वे सब तर्क पर आधारित न होने के कारण कहानियों एवं काव्यमय प्रबन्धों के समान हैं। क़ाज़ी अबू बक्र तुरतूशी[2] ने भी यद्यपि इस प्रकार के विषयों का अपने "सिराजुल मुलूक" नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया है और उसके अध्यायों एवं विषयों का विभाजन तथा क्रम भी हमारे ग्रन्थ की तरह ही है। किन्तु न तो उसका वर्णन ही ठीक है न क्रम और न विषय ही पर्याप्त है और न उसने स्पष्ट तर्क एवं प्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उसने प्रत्येक समस्या का उल्लेख अलग-अलग अध्यायों में किया है और प्रत्येक अध्याय में बहुत-सी कहानियाँ लिखी हैं और कहीं-कहीं फ़ारस के विभिन्न दार्शनिकों, बुज़ुर्चमेहर[3] एवं मोबेज़ों के कुछ दार्शनिक कथन लिख दिये हैं या भारतवर्ष के दार्शनिकों, दानियाल[4] एवं हुरमुज़[5] के कथन उद्धृत कर दिये हैं। समस्याओं के सम्बन्ध में उसने संतोषजनक छानबीन नहीं की है, न उचित तर्क के आधार पर उनके समाधान ही प्रस्तुत किये हैं। अपितु उसके ग्रन्थ में विभिन्न कहानियाँ एवं घटनाएँ भरी पड़ी हैं और उसे किसी शिक्षा एवं प्रवचन

१. अब्दुल्लाह इब्ने अल-मुक़फ़्फ़ा (मृत्यु १४२ हि०। ७५९–६० ई०)।
२. मुहम्मद बिन अल-वलीद तुरतूशी का जन्म लगभग ४५१ हि० १०५९ ई० तथा मृत्यु ५२० अथवा ५२५ हि० (११२६ अथवा ११३१ ई०) में हुई।
३. खुसरो प्रथम नौशीरवाँ का वज़ीर। उसे ईरान के दर्शन एवं बुद्धि का कोश समझा जाता है। वह काफ़ी वृद्ध हो जाने के उपरान्त ५८० तथा ५९० ई० के मध्य मृत्यु को प्राप्त हुआ।
४. डेनियल, एक पैग़म्बर जिनके विषय में मुसलमानों का विश्वास कि स्वप्नों की व्याख्या करने में दक्ष थे। क़ुरान शरीफ़ में इनका उल्लेख नहीं किन्तु "क़िससुल अम्बिया" (नबियों की कहानियों) में इन्हें बख़्ते नस्र अथवा नेबुशावनिज़ार का समकालीन बताया गया है।
५. सम्भवतः सासानी बादशाह हुरमुज प्रथम जो अपने पिता शाहपुर प्रथम के बाद २७२ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसकी मृत्यु २७३ ई० में हुई।

सम्बन्धी ग्रन्थ से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। ऐसा ज्ञात होता है कि लेखक के हृदय में तो ग्रन्थ का उद्देश्य पूर्ण रूप से स्पष्ट था, किन्तु वह न तो उसे शब्दों द्वारा व्यक्त ही कर सका, न वह उसकी सब समस्याओं को भली-भाँति समझ ही सका। किन्तु मेरा तो ईश्वर ने ही परोक्ष रूप से पथ-प्रदर्शन किया और ऐसा ज्ञान प्रदान कर दिया कि मैं इस ग्रन्थ के प्रत्येक अंग को स्पष्ट कर सका। यदि मेरे प्रयत्न से ये समस्याएँ पूर्ण रूप से स्पष्ट हो सकीं और मेरे द्वारा दिये गये उदाहरणों एवं तर्कों द्वारा उनकी पूरी व्याख्या हो सकी, तो इसे ईश्वर की देन ही समझना चाहिए। यदि इन विषयों की व्याख्या में मुझसे भी भूल हो गयी हो और समस्याएँ परस्पर एक-दूसरे में मिलजुल गयी हों, तो शोधकार्य में रुचि रखनेवाले पाठक इनमें संशोधन कर लेंगे। मेरे लिए यही सम्मान पर्याप्त है कि मैंने एक निर्धारित मार्ग पर चलकर उनका पथ-प्रदर्शन कर दिया। "ईश्वर अपने प्रकाश से जिसका पथ-प्रदर्शन करना चाहता है, करता है।"[1]

अब हम अपने इस ग्रन्थ में सभ्यता की उन समस्याओं की व्याख्या करेंगे जिन्हें मनुष्य को राज्य-व्यवसाय, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल एवं सामाजिक जीवन में सामना करना पड़ता है। यह वर्णन इस प्रकार तर्कपूर्ण होगा कि सर्वसाधारण एवं विशेष व्यक्तियों के ज्ञान के अनुसार जो अनुसंधान होगा वह सामने आ जायगा और भ्रम एवं शंकाओं का निराकरण हो जायगा।

हमारा मत है कि मनुष्य कुछ विशेषताओं के कारण अन्य पशुओं से पृथक् है।

(१) ज्ञान-विज्ञान एवं कला-कौशल के, जो उसे अपनी तर्क-शक्ति द्वारा प्राप्त होते हैं, कारण वह अन्य पशुओं से पृथक् तथा समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ हो जाता है।

(२) उसे एक न्यायकारी शासक एवं प्रभुताशाली बादशाह की आवश्यकता रहती है, कारण कि उसके बिना मनुष्य का अस्तित्व सम्भव नहीं होता। यद्यपि कुछ जानवरों के विषय में भी कहा जाता है कि वे भी बादशाही प्रभुत्व के अधीन जीवन व्यतीत करते हैं, उदाहरणार्थ मधु-मक्खियाँ अथवा टिड्डियाँ, किन्तु उनका पथ-प्रदर्शन दैवी प्रेरणा से होता है,जब कि मनुष्यों का पथ-प्रदर्शन उनकी चेतना एवं बुद्धि करती है।

(३) मनुष्य जीविकोपार्जन के लिए प्रयत्न करता है और उसके साधन जुटाता है, कारण कि ईश्वर ने उसमें भोजन खोजने की वृत्ति एवं आवश्यकता की नैसर्गिक प्रवृत्ति उत्पन्न की है। इसके द्वारा वह अपना जीवन निर्वाह करता है। भोजन की

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

इच्छा एवं खोज के मार्ग भी मनुष्य को ईश्वर ने ही दिये हैं। "उसने[1] समस्त वस्तुओं को प्राकृतिक रूप दिया, तदुपरान्त उनका पथ-प्रदर्शन किया[2]।"

(४) सभ्यता—मनुष्य नगर अथवा किसी स्थान पर बस जाने का आदी है। वह अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण एक-दूसरे की सहायता पर निर्भर रहता है। वह अपने साथियों से प्रेम करता है और भोजन की खोज में एक-दूसरे की सहायता करता रहता है। इसका सविस्तर उल्लेख हम बाद में करेंगे। सभ्यता के दो रूप होते हैं। जो सभ्यता घाटियों, पर्वतों, रेगिस्तानों, चटियल मैदानों एवं अन्य हरे-भरे स्थानों में पायी जाती है वह बदवी कहलाती है। जो आबादियाँ नगरों, क़स्बों, ग्रामों एवं क़िलों में होती हैं और जिनकी रक्षा दीवारों द्वारा की जा सकती है वे हज़री[3] कहलाती हैं। इन दोनों स्थितियों में मनुष्यों को सामाजिक संगठन की दृष्टि से कुछ समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अतः हमने इस विषय को छः अध्यायों में विभाजित किया है—

(१) मनुष्यों की सभ्यता का साधारण उल्लेख एवं उसके विभाजन, उन क्षेत्रों का जो सभ्य हैं वर्णन।

(२) बदवी सभ्यता, क़बीले एवं वहशी क़ौमें।

(३) सल्तनत एवं ख़िलाफ़त तथा सुल्तानों के विभिन्न अधिकारों का उल्लेख।

(४) हज़री सभ्यता, देश तथा नगर।

(५) कला-कौशल, जीविकोपार्जन के साधन, व्यवसाय, उनके साधन इत्यादि।

(६) ज्ञान-विज्ञान तथा उनका अध्ययन एवं प्राप्ति।

हमने बदवी सभ्यता का सर्वप्रथम उल्लेख इस कारण किया है कि उसे अस्तित्व में भी प्राथमिकता प्राप्त है। राज्य के अधिकारों को इसी कारण क़स्बों एवं नगरों पर प्राथमिकता प्रदान की गयी है। व्यवसाय का उल्लेख ज्ञान-विज्ञान के पूर्व इस कारण किया है कि व्यवसाय नैसर्गिक आवश्यकता है और ज्ञान उन्नति एवं सुगमता का साधन है। कला-कौशल का वर्णन हमने व्यवसाय के साथ इस कारण किया है कि कला-कौशल कुछ कारणों से तथा सभ्यता के दृष्टिकोण से व्यवसाय के अधीन ही है।

१. ईश्वर ने।
२. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
३. अचल, एक स्थान पर स्थायी रूप से रहनेवाली, नगरों की सभ्यता एवं संस्कृति "हज़री" सभ्यता तथा संस्कृति कहलाती है।

अध्याय १

मानव-सभ्यता

पहली प्रस्तावना

मानव-सभ्यता का संक्षिप्त उल्लेख

मानवों का सामाजिक संगठन परमावश्यक एवं अनिवार्य है। दार्शनिक अपने शब्दों में इस सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि "मनुष्य सामाजिक प्राणी है" अर्थात् मनुष्य के लिए अपने साथियों से मिल-जुलकर रहने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं। दार्शनिक लोग इसे मदीना[1] और हम इमरान कहते हैं।

इस तथ्य की व्याख्या इस प्रकार है कि ईश्वर ने मनुष्य को स्वाभाविक रूप से ऐसा बनाया है कि उसका जीवन एवं अस्तित्व भोजन के बिना सम्भव नहीं। उसने उसे ऐसी नैसर्गिक शक्ति प्रदान की है जिससे वह अपने भोजन की खोज कर सके तथा उसकी प्राप्ति के साधन जुटा सके। किसी अकेले मनुष्य के लिए अपने भोजन की समस्त आवश्यकताओं का जुटाना असम्भव है। उदाहरणार्थ उसके एक दिन के भोजन की समस्या को ही ले लिया जाय तो वह भी बहुत से पूर्व कार्यों के बिना उसके पेट तक नहीं पहुँच सकता। गेहूँ उपलब्ध होने पर भी पीसे, माँडे तथा पकाये बिना वह गेहूँ उसके भोजन के योग्य नहीं हो सकता। इन तीनों कार्यों में से प्रत्येक के लिए अनेक यंत्रों की आवश्यकता होती है जो बहुत-सी कलाओं पर निर्भर हैं। लोहार, बढ़ई एवं कुम्हार के कार्यों की सहायता की उसे आवश्यकता पड़ेगी। यदि इसे भी स्वीकार कर लिया जाय कि मनुष्य इन झगड़ों में पड़े बिना केवल दाना चबाकर जीवन-निर्वाह कर सकता है, तब भी इन दानों को एकत्र करने के लिए अनेक कार्यों की आवश्यकता होगी। बोना, काटना, माँडना—इन कार्यों के संपादन हेतु, उसे पहले से भी अधिक यंत्रों एवं व्यवसायों की आवश्यकता होगी। अब यह स्पष्ट है कि ये सब अथवा इनमें से कुछ कार्य एक मष्नुय द्वारा कदापि पूरे नहीं हो सकते, अतः यह परमावश्यक है कि बहुत से मनुष्य एक स्थान पर एकत्र हों ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने कार्य द्वारा सभी की जीविका के साधन जुटा सके। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग एवं

१. Polis, नगर।

प्रयत्न से कभी-कभी ये जीविका के साधन मनुष्यों की आवश्यकताओं से अधिक भी उपलब्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी रक्षा हेतु अपने साथियों की सहायता पर निर्भर रहता है। ईश्वर ने जब मनुष्य को विशेष गुण एवं स्वभाव प्रदान किये और प्रत्येक के भाग्य को अलग-अलग निश्चित किया तो अधिकांश पशुओं को मनुष्य से अधिक बल प्रदान किया। उदाहरणार्थ घोड़े में मनुष्य से कहीं अधिक बल है। इसी प्रकार गधे एवं बैल में भी उससे अधिक शक्ति है। सिंह एवं हाथी में तो मनुष्य से कई गुना अधिक शक्ति है। क्योंकि पशु स्वाभाविक रूप से एक-दूसरे के शत्रु होते हैं, अतः ईश्वर ने प्रत्येक को एक विशेष शारीरिक अंग प्रदान किया, जिसके द्वारा वह अपने शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सके। मनुष्य को इसके स्थान पर बुद्धि प्रदान की और हाथ दिये गये। हाथ का यह कर्तव्य हुआ कि वह बुद्धि के बल पर कला-कौशल में भाग ले और मनुष्य के लिए ऐसे यंत्र तैयार करे जो पशुओं के समस्त रक्षा हेतु प्राप्त अंगों का मुक़ाबला कर सकें। भाले सींगों का काम देते हैं, तलवारों का प्रयोग फाड़नेवाले पंजों के स्थान पर होता है, ढालें कड़ी खालों के समान प्रतिरक्षा के काम आती हैं। इसी प्रकार अन्य अस्त्र-शस्त्र पशुओं की रक्षा हेतु प्राप्त अंगों के स्थान पर प्रयोग में आते हैं। जालीनूस[1] ने "मुनाफ़े-उल-आज़ा" नामक ग्रंथ में इस विषय पर प्रकाश डाला है। अतः मनुष्य अस्त्र-शस्त्र के बिना केवल अपने बल से पशुओं का मुक़ाबला नहीं कर सकता और वन्य पशुओं से तो वह मुक़ाबला कर ही नहीं सकता। अब जिस प्रकार मनुष्य पशुओं का मुक़ाबला करने में असमर्थ है उसी प्रकार उसके लिए प्रति-रक्षा के समस्त अस्त्र-शस्त्रों का अकेले तैयार करना असम्भव है, अतः यह आवश्यक है, कि वह अस्त्र-शस्त्र के बनाने में अपने साथियों से सहायता ले।

संक्षेप में पारस्परिक सहयोग के बिना न तो मनुष्य को जीविका के साधन ही उपलब्ध हो सकते हैं और न वह अपना जीवन निर्वाह ही कर सकता है। ईश्वर ने उसके सर्जन में ही भोजन को अनिवार्य कर दिया है। इसके अतिरिक्त अस्त्र-शस्त्र के बिना वह अपनी रक्षा नहीं कर सकता। इनके अभाव में वह वन-पशुओं का भोजन बन जायगा और मानवसमाज का अन्त हो जायगा। जब उसे अपने साथियों का सहयोग न प्राप्त होगा तो वह भोजन भी न प्राप्त कर सकेगा और प्रतिरक्षा हेतु अस्त्र-शस्त्र भी न उपलब्ध हो सकेंगे और न मानव शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकेगा।

१. गैलेन।

अतः मानव के लिए सामाजिक संगठन अनिवार्य है। इसके बिना न तो मनुष्य का अस्तित्व पूर्ण हो सकेगा और न संसार की आबादी, तथा मनुष्य को अपना ख़लीफ़ा नियुक्त करने के सम्बन्ध में न ईश्वर की इच्छा ही पूरी हो सकेगी[1]। इसी संगठन का नाम हम समाज रखते हैं। ऊपर हमने सामाजिक संगठन-विषयक शास्त्र के विभिन्न विषयों का उल्लेख किया है। हमारे विवरण द्वारा इस शास्त्र की व्याख्या स्वतः हो जाती है। यद्यपि तर्क-शास्त्र में यह बात निश्चित हो चुकी है कि विद्वान् के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपने ज्ञान से सम्बन्धित विषयों को प्रमाणित करने का प्रयत्न करे, किन्तु इसका निषेध भी नहीं है। "ईश्वर ही अपनी कृपा से सफलता प्रदान करता है।"

जब सब लोग उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार सामाजिक जीवन व्यतीत करने लगे और पृथ्वी मनुष्यों से बस गयी तो इस बात की आवश्यकता हुई कि उनमें कोई न्यायकारी शासक भी हो, जो किसी पर अत्याचार एवं अन्याय न होने दे। कारण कि अत्याचार एवं अन्याय मनुष्य में स्वाभाविक रूप से पाये जाते हैं। जिन शस्त्रों से वह अन्य पशुओं से अपनी रक्षा करता है, उनका प्रयोग वह अपने साथियों से अपनी रक्षा करने में नहीं कर सकता, कारण कि वे तो सभी के पास हैं। अतः एक ऐसे व्यक्ति की अनिवार्य आवश्यकता होती है जो एक मनुष्य की दूसरे मनुष्य से रक्षा कर सके। मनुष्य के लिए इस प्रकार का न्यायकारी शासक मनुष्य के अतिरिक्त और कौन हो सकता है ? पशुओं में न तो मनुष्यों के समान बुद्धि होती है और न तर्कशक्ति। अतः कोई ऐसा मनुष्य ही होना चाहिए जिससे हर प्रकार से अन्य मनुष्यों पर प्रभुत्व प्राप्त हो और सभी उसकी आज्ञाओं का पालन करें, ताकि कोई किसी पर अत्याचार न कर सके। अतः मानव-समाज में इस प्रकार का जो व्यक्ति होगा वही बादशाह अथवा सुल्तान कहलायेगा। इस तर्क से यह स्पष्ट हो जाता है कि बादशाह की उपस्थिति मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, जिससे उसे कदापि कोई हानि नहीं हो सकती। यद्यपि कुछ जानवरों में भी बादशाह होते हैं, जैसा कि दार्शनिकों ने मधुमक्खी तथा टिड्डी के विषय में बताया है, कारण कि वे सब

१. क़ुरान शरीफ़ के अनुसार ईश्वर ने जब हज़रत आदम को पैदा करना चाहा तो फ़िरिश्तों से कहा कि मैं पृथ्वी पर अपना ख़लीफ़ा बनाना चाहता हूँ। फ़िरिश्तों ने इसका विरोध करते हुए निवेदन किया कि हम तो उपासना करते ही हैं। ईश्वर ने उनकी बात यह कहकर रद्द कर दी कि "जो कुछ मैं जानता हूँ तुम नहीं जानते।" (सूरा २, आयत नं० ३०)

अपने नेता की आज्ञाकारी रहती हैं जो उनसे शरीर, बल एवं रूप-रंग में श्रेठ होता है। किन्तु जानवरों में यह बात केवल नैसर्गिक है और मनुष्यों की बादशाह सम्बन्धी आवश्यकता बुद्धि एवं तर्क के आधार पर होती है।

दार्शनिक लोग नबियों[१] की आवश्यकता को तर्क द्वारा प्रमाणित करते हुए कहते हैं कि उनकी आवश्यकता मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। वे उपर्युक्त तर्क में इतना और भी मिलाकर कहते हैं कि मनुष्य के लिए ऐसे न्यायकारी शासक का होना, जो दैवी नियमों का प्रचार कर सके, परमावश्यक है। अर्थात् एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो उस शरीअत को, जो ईश्वर की ओर से प्राप्त हुई है, मनुष्यों को सिखाए और उनसे उस पर आचरण कराए। इस प्रकार के व्यक्ति के लिए मनुष्य होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि वह व्यक्ति दैवी गुणों द्वारा शोभित हो, ताकि प्रत्येक व्यक्ति उसकी बातों को सहर्ष स्वीकार कर ले और बिना किसी बहाने अथवा तर्क-वितर्क के शरीअत के नियम मनुष्यों पर लागू हो जायें। किन्तु दार्शनिकों का यह कथन तर्क द्वारा प्रमाणित नहीं हो सकता, कारण कि मनुष्यों का अस्तित्व एवं जीवन उन नियमों द्वारा भी सुरक्षित रह सकता है जिनका आविष्कार वे अपनी ओर से करते हैं अथवा "असबियत[२]" के बल पर वे अपने विशेष ढंग से लोगों को अपने वश में तथा अपना आज्ञाकारी बना लेते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किताब वालों[३] एवं नबियों के अनुयायियों की संख्या उन मजूसियों[४] से, जिनके पास कोई दैवी पुस्तक नहीं, कहीं कम है और संसार में बिना किताब वालों[५] की संख्या ही अधिक है। वे केवल जीवित ही नहीं अपितु बड़े बड़े राज्यों का शासन-प्रबन्ध कर रहे हैं। उत्तरी एवं दक्षिणी देशों में उनके राज्य स्थापित हैं, यद्यपि उनका कोई नबी नहीं जिसका वे अनुसरण

१. पैग़म्बरों, ईश्वर के दूतों।
२. क़बीलों का पारस्परिक प्रेम अथवा संगठन।
३. यहूदी तथा ईसाई, जिन्हें ईश्वर की ओर से उसी प्रकार नबियों द्वारा दैवी आदेश प्राप्त होते रहते थे जिस प्रकार मुसलमानों को। इनके धर्म-ग्रंथों के नाम क्रमशः ज़ुबूर, तौरेत एवं इंजील हैं।
४. मैगियन्स अथवा ज़रदुश्ती (ज़ोरोएस्ट्रियन्स)।
५. ऐसे धर्म जिनके पथप्रदर्शन हेतु ज़ुबूर, तौरेत एवं इंजील अथवा क़ुरान के समान कोई दैवी पुस्तक नहीं।

कर सकें। अतः यह बात प्रमाणित हो गयी कि दार्शनिकों ने नबियों के विषय में तर्क करने में भूल की है। उपर्युक्त वर्णन से पता चल गया होगा कि नबी की आवश्यकता तर्क द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती अपितु इसका आधार शरीअत एवं उम्मत[1] के बुज़ुर्गों के पदानुगमन पर निर्भर है।

दूसरी प्रस्तावना

आबाद भूमि का विभाजन, समुद्रों, नदियों तथा इक़्लीमों[2] का वर्णन[3]

तीसरी प्रस्तावना

समशीतोष्ण तथा असमशीतोष्ण इक़्लीमें, वहाँ के मनुष्यों तथा उनके रंग-रूप पर जलवायु का प्रभाव[4]

चौथी प्रस्तावना

जलवायु का मनुष्य के चरित्र पर प्रभाव[5]

१. अनुयायी, यहाँ तात्पर्य मुहम्मद साहब के अनुयायियों से है।

२. जलवायु के प्रदेश। मध्यकालीन भूगोलवेत्ताओं के अनुसार संसार सात इक़्लीमों में विभाजित था।

३. इब्ने ख़लदून ने इस स्थान पर जो भौगोलिक वर्णन किया है वह साधारणतः सभी मध्यकालीन भूगोल के ग्रन्थों में मिल जाता है। उसने विशेष रूप से मुहम्मद बिन मुहम्मद अल इदरीसी (जन्म १०९९ अथवा ११०० ई०, मृत्यु ११६२ ई०) के "नुज़हतुल मुश्ताक़" नामक ग्रंथ पर अपना लेख आधारित किया है। यद्यपि इदरीसी का पूरा ग्रंथ अब कहीं नहीं मिलता, किन्तु इसके विभिन्न अंशों पर यूरोप की भाषाओं में अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके हैं। इस प्रकरण का अधिक महत्त्व न होने के कारण इसका अनुवाद नहीं किया गया।

४. इस प्रकरण में भी वही साधारण भौगोलिक वर्णन किया गया है जो अन्य मध्यकालीन भूगोल के ग्रंथों में मिलता है, अतः इसका अनुवाद नहीं किया गया।

५. इस प्रकरण में भी साधारण भौगोलिक वर्णन किया गया है जो अन्य भूगोल की पुस्तकों में मिलता है। अतः इसका भी अनुवाद नहीं किया गया।

पाँचवीं प्रस्तावना

अकाल एवं अल्पमूल्यता से देश में क्या परिवर्तन होते हैं और इनका प्रभाव मनुष्यों के शरीर एवं चरित्र पर किस प्रकार पड़ता है

यह बात जाननी चाहिए कि न तो सब-की-सब समशीतोष्ण इक़लीमें हरी-भरी एवं उपजाऊ होती हैं और न वहाँ के सभी निवासी सुखसम्पन्नता का जीवन व्यतीत करते हैं। इन इक़लीमों में से कुछ तो ऐसे स्थान हैं जहाँ के निवासी अनाज, मेवा और खाद्य सामग्री की बहुतायत के कारण सुख-शान्ति से एवं धन-धान्यसम्पन्न होकर जीवन व्यतीत करते हैं, कारण कि वहाँ की भूमि कृषि के लिए बड़ी उपयुक्त एवं उत्कृष्ट होती है। इसी प्रकार वहाँ की आबादी भी घनी होती है। पर इन्हीं इक़लीमों में कुछ ऐसे स्थान भी हैं जिनकी भूमि गरमी के कारण बंजर होती है, न वहाँ कृषि ही होती है और न घास। वहाँ के निवासी बड़ी कठिनाई से जीवन व्यतीत करते हैं। उदाहरणार्थ हिजाज़, दक्षिणी यमन के निवासी, नक़ाबपोश सिंहाजा जो मग़रिब के उजाड़ स्थानों तथा बरबर एवं मग़रिबी सूडान के मध्य रेगिस्तानों में निवास करते हैं, अनाज एवं खाद्य सामग्री के लिए तरसते रहते हैं। इनका अधिकांश भोजन मांस एवं दूध है।

अरब के बदवियों की, जो रेगिस्तानों में चक्कर लगाया करते हैं, गणना भी इन्हीं लोगों में होती है। यद्यपि अनाज एवं खाद्य सामग्री उन्हें पहाड़ियों से प्राप्त हो जाती है, किन्तु प्रायः नहीं और वह भी उन्हें उनके किसी सहायक एवं मित्र की कृपा एवं उदारता के कारण। फिर जो कुछ प्राप्त होता है वह बड़ी थोड़ी मात्रा में ही प्राप्त होता है, वह उनकी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं होता अतः वे समृद्ध नहीं रह सकते। कभी-कभी तो उन्हें केवल दूध पर ही जीवन-निर्वाह करना पड़ता है और दूध को ही अनाज का स्थान देना पड़ता है। किन्तु ये उजाड़ स्थानों के निवासी तथा आवास-रहित जातियाँ जिन्हें खाद्य सामग्री उपलब्ध नहीं होती, शरीर एवं चरित्र में उन लोगों से कहीं श्रेष्ठ होती हैं जो हरे-भरे एवं उपजाऊ स्थानों में निवास करते हैं और भोग-विलास में ग्रस्त रहते हैं। इनके रंग निखरे हुए, शरीर सुडौल, रूप सुन्दर एवं आकर्षक तथा इनका चरित्र एवं स्वभाव पवित्र होता है। इनकी बुद्धि, ज्ञान के विषय में बड़ी तीव्र होती है। अनुभव से पता चलता है कि ये सब गुण इनको प्राप्त हैं।

इसी विशेषता के कारण अरब, बरबर, नक़ाबपोश एवं पहाड़ियों तथा उपजाऊ स्थान के निवासियों में बड़ा अन्तर है। इसका पता परीक्षा एवं अनुभव द्वारा ही चल सकता है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि भोजन की अधिकता के कारण

उसका रस शरीर में अपकारक अनावश्यक पदार्थ पैदा कर देता है, जिससे असंगत रूप से शरीर बढ़ जाता है और बहुत से बदबूदार तथा दूषित त्रि-दोष शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं। इससे रंग भी मैला हो जाता है और मांस की अधिकता से शरीर एवं रूप भी बिगड़ जाता है। जब आर्द्रता एवं उससे उत्पन्न होनेवाली वाष्प मस्तिष्क की ओर चढ़ती हैं तो वे बुद्धि एवं विवेक को दूषित कर देती हैं। फलतः मूर्खता, असावधानी एवं असंयम का जन्म हो जाता है। यदि जंगलों एवं उजाड़ स्थानों में रहनेवाले पशुओं, उदाहरणार्थ मृग, शुतुरमुर्ग़, ज़राफ़ा, गोरख़र तथा नील गाय की तुलना हरे-भरे एवं उपजाऊ स्थानों में पाये जानेवाले जानवरों से की जाय तो बड़ा अन्तर मिलेगा। जंगली जानवरों का रंग भी स्वच्छ एवं शुद्ध मिलेगा और रूप भी। शरीर के अंग भी सुडौल मिलेंगे और उनकी समझ भी तीव्र होगी। यद्यपि मृग एवं बकरा, गोरख़र एवं गधा, नील गाय एवं बैल एक ही वर्ग के जानवर हैं, किन्तु एक-दूसरे से विभिन्न तथा पृथक् हैं। इसका कारण यह है कि हरे-भरे एवं उपजाऊ स्थानों के पालतू पशुओं में अधिक भोजन से उनके शरीर में अपकारक अनावश्यक पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं और उपर्युक्त प्रभाव का कारण बन जाते हैं। इससे उनका रूप-रंग भी भद्दा हो जाता है और उनकी चुस्ती व चालाकी भी जाती रहती है। इसके विपरीत कम खाने के कारण वन-पशुओं का शरीर सुडौल तथा यथोचित एवं रूप-रंग भी सुन्दर एवं आकर्षक होता है।

यही दशा आदमियों की भी है कि उन हरी-भरी इक़लीमों के, जहाँ कृषि भी ख़ूब होती है, निवासी खाद्य सामग्री एवं मेवों इत्यादि की बहुतायत के कारण अधिकांश मूर्ख और बेडौल होते हैं। इसी प्रकार उन बरबरों की तुलना, जो खाद्य सामग्री की ओर से निश्चिन्त हैं, मसमूदह के बरबरों तथा ग़ुमारा और सूस के निवासियों से की जाय जो केवल जौ एवं ज्वार पर जीवन निर्वाह करते हैं, तब भी यही अन्तर मिलेगा। यही अन्तर मग़रिब एवं उन्दुलुस (स्पेन) के निवासियों में है। मग़रिब के प्रदेशों के निवासियों के पास साधारणत. भोजन सामग्री की बहुतायत होती और उन्दुलुस के निवासी घी-दूध के लिए तरसते हैं। जौ एवं ज्वार उनका भोजन है, किन्तु फिर भी उन्दुलुस निवासियों की बुद्धि तीव्र, शरीर हलके फुलके और ज्ञान-विज्ञान में वे सबसे श्रेष्ठ होते हैं।

यही दशा मग़रिब के उन लोगों की है जो उजाड़ स्थानों में निवास करते हैं। जब उनकी तुलना नगर-निवासियों से की जाती है तो पता चलता है कि यद्यपि नगर-निवासी "मांस-रस" इत्यादि का प्रयोग करते एवं उत्तम भोजन करते हैं, किन्तु भोजन तैयार करने में वे उसमें कुछ ऐसी वस्तुएँ मिला लेते हैं जिनसे भोजन का गुण हलका हो जाता है। फलतः भोजन की गुरुता समाप्त हो जाती है। वे अधिकांशतः बकरों तथा

पक्षियों का मांस खाते हैं, पर घी उन्हें स्वादिष्ठ नहीं लगता अतः वे उसका प्रयोग बहुत कम करते हैं। इस कारण उनके भोजन में आर्द्रता की कमी होती है और वह शरीर में बहुत कम अपकारक अनावश्यक पदार्थ उत्पन्न करता है। इसी कारण हम देखते हैं कि इन नगर-निवासियों का शरीर मोटा-झोटा भोजन करनेवाले जंगल-निवासियों के शरीर की अपेक्षा बड़ा कोमल एवं नाज़ुक होता है। इसी प्रकार जो ग्रामीण भूखे रहने के आदी होते हैं उनके शरीर में भी अधिक अनावश्यक पदार्थ नहीं होते।

समृद्धि एवं अल्पमूल्यता का प्रभाव केवल शरीर पर ही नहीं पड़ता अपितु ईश्वर की उपासना एवं धर्म पर भी पड़ता है। इससे बहुत कुछ निष्कर्ष निकलते हैं। जो बदवी एवं ग्रामीण लोग भूख के कष्ट भोगते रहते हैं और भोग-विलास एवं स्वादिष्ठ भोजन से अपरिचित होते हैं, वे अधिकांश धर्मनिष्ठ होते हैं और ईश्वर की उपासना में तल्लीन रहते हैं। नगरों में धर्मनिष्ठ लोगों की संख्या बहुत ही कम होती है। समृद्धि एवं सुखसम्पन्नता के कारण उनमें उपेक्षा एवं निष्ठुरता उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण ईश्वर की उपासना करनेवाले एवं धर्मनिष्ठ लोग, भूखे ग्रामीणों से ही मिलते-जुलते हैं। इसी प्रकार समृद्धि एवं सुखसम्पन्नता में पले हुए कोमल नगरनिवासियों एवं ग्रामों के कष्ट भोगनेवाले ग्रामीणों में एक अन्तर यह भी होता है कि जब कभी इन पर अकाल का प्रकोप होता है अथवा इनके यहाँ महँगाई आ जाती है और भुखमरी फैल जाती है,तो नगरनिवासियों पर इस कष्ट का अधिक प्रभाव होता है। उदाहरणार्थ मग़रिब के बरबर तथा मिस्र[1] एवं फ़ेज़ के निवासी बहुत बड़ी संख्या में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, जब कि जंगलों एवं रेगिस्तानों के अरब, जो केवल खजूर से पेट पालते हैं, वे इफ़रीक़िया-निवासी जिनका भोजन जौ एवं ज़ैतून है और था, वे उन्दुलुस-निवासी जिनका जीवन-निर्वाह जौ, ज्वार एवं ज़ैतून से होता है, उससे बचे रहते हैं। अकाल एवं भुखमरी उन्हें इतनी अधिक हानि नहीं पहुँचाती जितनी कि कोमल एवं समृद्ध नगर-निवासियों को। इसका कारण यह है कि समृद्धि का जीवन व्यतीत करनेवालों तथा चिकनाई का प्रयोग करनेवालों की आँतें स्वाभाविक रूप से जितनी चिकनाई की आवश्यकता होती है, उससे अधिक चिकनाई प्राप्त कर लेती हैं। जब भोजन में कमी हो जाती है और चिकना भोजन प्राप्त नहीं होता तथा स्वभाव के विरुद्ध उन्हें रूखा-सूखा भोजन करना पड़ता है, तो शीघ्र ही उनकी आँतें सूखने एवं सिकुड़ने लगती हैं। आँतों के कोमल होने के कारण वे शीघ्र ही किसी-न-किसी रोग में ग्रस्त होकर

१. क़ाहेरा (केअरो)

मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अतः भुखमरी के समय मृत्यु का कारण पहले से अधिक भोजन करने का आदी होना होता है न कि मृत्यु के समय में भोजन की कमी। जो लोग भोजन में अधिक चिकनाई खाने के आदी नहीं होते उनके शरीर का तरल पदार्थ एवं चिकनाई अपनी मूल सीमा पर बिना किसी अधिकता के ठहरी रहती है और वह समस्त प्राकृतिक भोजनों को स्वीकार कर लेता है, अतः भोजन में परिवर्तन के कारण उनकी आँतों में आवश्यकता से अधिक खुश्की नहीं पैदा होती और वे प्रायः चिकना भोजन करनेवालों के समान मरते नहीं। यह तथ्य भी इस सिद्धांत पर आधारित है कि भोजन की ओर से घृणा अथवा आकर्षण स्वभाव पर निर्भर है। जब कोई व्यक्ति किसी विशेष भोजन का आदी हो जाता है तब यदि वह भोजन विषैला नहीं है तो उसके त्याग देने अथवा उसमें परिवर्तन करने से वह व्यक्ति रोगी हो जाता है। कोई भी खाद्य पदार्थ, भले ही वह दैनिक खाद्यपदार्थ के प्राकृतिक गुणों से भिन्न क्यों न हो, आदत पड़ जाने पर प्रिय भोजन बन जाता है। उदाहरणार्थ यदि कोई गेहूँ के स्थान पर दूध तथा हरी तरकारियों का ही प्रयोग करने लगे तो आदत पड़ जाने से वे ही उसके लिए भोजन बन जाती हैं और गेहूँ इत्यादि की उसे फिर आवश्यकता नहीं रहती।

इसी प्रकार जो अपने आपको भूखा रखने एवं न खाने का आदी बना लेता है वह बहुत दिनों तक जीवित रह सकता है, जैसा कि तपस्वी फ़क़ीरों के विषय में प्रचलित उन आश्चर्यजनक कहानियों में मिलता है, जिन्हें बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती। वास्तव में इसका कारण आदत है। जब किसी की एषणा किसी वस्तु की आदी एवं उसके अनुकूल हो जाती है तो वह वस्तु उसके स्वभाव में प्रविष्ट हो जाती है। इसका कारण यह है कि एषणा अनियमित होती है। जब शनैः शनैः तपस्या के कारण भूखा रहने की आदत पड़ जाती है तो यही उसका स्वभाव बन जाता है। चिकित्सकों को जो यह भ्रम है कि भूख मनुष्य की मृत्यु का कारण बन जाती है, तो इसमें उस अवसर के लिए तो कोई तथ्य पाया जाता है जब अचानक किसी पर भूख की विपत्ति आ जाय और अचानक उसका भोजन बन्द कर दिया जाय। कारण कि ऐसे अवसरों पर अंतड़ियाँ सूख जाती हैं और उनको वे रोग हो जाते हैं जो मृत्यु के निकट पहुंचा देते हैं। किन्तु जब तपस्या करते-करते शनैः-शनैः और थोड़ा-थोड़ा भोजन कम किया जाय, जिस प्रकार सूफ़ी[1]

१. मुसलमान सन्त।

लोग करते हैं, तो इसमें प्राण का कोई भय नहीं होता। इसी प्रकार भोजन त्यागने के उपरान्त भोजन की आदत डालते समय भी धीरे-धीरे भोजन की मात्रा बढ़ाना परमावश्यक है। क्योंकि यदि भूखा रहने का आदी बनकर पूर्व की भाँति ही भोजन प्रारम्भ कर दिया जाय तो यह भी मृत्यु का कारण बन जाता है।.........[१]

इस तथ्य को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि भूखा रहना, यदि कोई उसे सह सके, मनुष्य के शरीर के लिए अधिक भोजन करने की अपेक्षा अधिक लाभदायक है। भोजन के त्याग तथा कम भोजन करने से शरीर एवं विवेक की शुद्धता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसका प्रमाण विभिन्न भोजनों के शरीर पर पड़नेवाले प्रभाव से चलता है। हमने देखा है कि जो लोग बड़े और मज़बूत जानवरों का मांस खाते हैं, उनकी नसलें भी बलवान् एवं शक्तिशाली होती हैं। यह अन्तर ग्रामीणों एवं नगरनिवासियों में पूर्णतः स्पष्ट रहता है। उदाहरणार्थ जो लोग ऊँट का मांस खाने अथवा उसका दूध पीने के आदी होते हैं उनमें ऊँटों के समान धैर्य एवं सहनशीलता उत्पन्न हो जाती है। उनकी अँतड़ियाँ भी ऊँटों के समान कठोर और ताक़तवर हो जाती हैं। न उनकी आँतें कमज़ोर हो पाती हैं और न उनमें वह रोग लगता है जो दूसरों को लगता है। वे अपने आमाशय को ठीक रखने के लिए रेचक औषधियों का रस पी जाते हैं और बिना पकाये ही उन्हें खा जाते हैं। उनकी आँतों पर इसका कोई कुप्रभाव नहीं होता। यदि कहीं हलका भोजन करनेवाले नरम आँतोंवाले लोग उन चीज़ों को खा जायँ तो तत्काल उनकी मृत्यु हो जाय, कारण कि उनमें विषैले पदार्थ होते हैं। संक्षेप में भोजन का शरीर पर पड़नेवाला प्रभाव एक प्रामाणिक तथ्य है।

लोगों ने इस बात की परीक्षा की है कि जब मुर्ग़ी को ऊँट की मेंगनी में उबले हुए दाने दिये जाते हैं और उसके अंडे लेकर बच्चे निकाले जाते हैं, तो इन अंडों से निकलनेवाले बच्चे साधारण बच्चों से शरीर में बड़े होते हैं। यदि इस प्रकार का भोजन उन्हें न दिया जाय अपितु उन अंडों के नीचे, जिनसे बच्चे निकाले जा रहे हों, ऊँट की मेंगनियाँ बिछा दी जायँ तो भी उनसे निकलनेवाले बच्चों का शरीर बड़ा होता है। इस प्रकार के उदाहरण बहुत से मिलते हैं। जब शरीर पर भोजन के इस प्रभाव का पता चल गया तो इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि भूख का भी शरीर पर प्रभाव पड़ेगा, कारण कि विरोधाभासी चीज़ें प्रभाव की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति में एक ही सम्बन्ध रखती हैं। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भूख शरीर को अपकारक अनावश्यक

१. एक उदाहरण जिसका अनुवाद नहीं किया गया।

पदार्थों से, जो शरीर एवं बुद्धि दोनों के लिए हानिप्रद हैं उसी प्रकार बचाये रखती है जिस प्रकार भोजन शरीर को प्रभावित करता है।

छठी प्रस्तावना

मनुष्यों की विभिन्न क़िस्में, जिन्हें प्रकृति अथवा अभ्यास से परोक्ष की बातों का ज्ञान हो जाता है और इस विषय की प्रस्तावना के रूप में वही[1] एवं स्वप्न का उल्लेख।

(१) नबूअत[2] का अर्थ।

(२) कहानत[3]।

(३) स्वप्न।

(४) अन्य प्रकार से परोक्ष का ज्ञान[4]।

१. वह आदेश जो पैग़म्बर अथवा नबी को ईश्वर की ओर से प्राप्त होता है। मुहम्मद साहब को ये आदेश जिब्रील फ़रिश्ते द्वारा प्राप्त होते थे।

२. नबी अथवा पैग़म्बर होना।

३. काहन (शकुन विचारनेवाला) होना।

४. इस खंड में मुसलमानों के साधारण विश्वासों से सम्बन्धित बातों का उल्लेख किया गया है, अतः इसका अनुवाद नहीं किया गया।

अध्याय २

बद्वी सभ्यता, वहशी क़ौमों एवं क़बीलों का रहन-सहन, उनकी दशा एवं उनसे संबंधित अन्य बातें

(१) बदवी एवं हज़री प्राकृतिक समूह हैं

मानवीय क़बीलों की विभिन्नता का बहुत बड़ा कारण उनके जीविकोपार्जन के साधनों की भिन्नता है। कोई सामाजिक समूह अपने जीवन-निर्वाह के लिए एक काम करता है और दूसरा समूह कोई अन्य। इसी कारण उनकी दशाएँ एक-दूसरे से अत्यधिक भिन्न हो जाती हैं और उनके अलग-अलग सामाजिक समूह बन जाते हैं। कारण कि मनुष्य इसी उद्देश्य से मिल-जुलकर एक स्थान पर रहते हैं कि वे एक-दूसरे की सहायता करें और अपनी आवश्यकता की सामग्री एकत्र करें। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सबसे परमावश्यक काम को ही सर्वप्रथम करने को विवश होते हैं। उस कार्य के उपरान्त वे अनावश्यक कार्य तथा अन्य ऐसे कार्यों में हाथ डालते हैं जिनके फलस्वरूप उन्हें प्रसिद्धि प्राप्त होती है। अतः प्रारम्भ में कोई कृषि करता है तो कोई भेड़-बकरियाँ, ऊँट एवं बैल चराता है, मधुमक्खियाँ पालता है और उनसे प्राप्त दूध, मांस, ऊन, खाल तथा मधु से अपनी आवश्यकता पूरी करता है। ऐसी दशा में चरवाहे एवं कृषक ग्रामों के- ऐसे खुले हुए स्थानों में निवास करने पर विवश होते हैं जहाँ खेती बाड़ी का कार्य सुगमता पूर्वक हो सके, और पशु पालन में आसानी हो। नगरों की घनी आबादियों में ये लोग निवास नहीं कर सकते। अतः ये दोनों समूह अर्थात् कृषक एवं चरवाहे ग्रामों में निवास करने लगते हैं और यह निवास इनके लिए बड़ा आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त बदवी एवं ग्रामीण अपने सामाजिक जीवन हेतु तथा अपने जीवन से सम्बन्धित आवश्यक वस्तुओं के संग्रह के लिए एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। उदाहरणार्थ अपनी भोजन एवं वस्त्र सम्बन्धी वस्तुओं के लिए वे एक-दूसरे का हाथ न बटायें तो उनका जीवन-निर्वाह कठिन हो जाय। यद्यपि उनकी आवश्यकताएँ बहुत ही कम होती हैं और वे केवल इतनी ही चीजें चाहते हैं जिनसे जीवित रह सकें, यानी सिर्फ़ खाने को भोजन एवं पहनने को वस्त्र। इससे अधिक उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती।

फिर जब उनकी दशा में परिवर्तन हो जाता है और वे समृद्ध हो जाते हैं तब उनकी धन-सम्पत्ति में वृद्धि होने लगती है और सुख-सम्पन्नता के साधन भी उपलब्ध होने लगते हैं। वे एक-दूसरे की सहायता करते हैं, खूब खाते पीते हैं, सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं

और प्रत्येक वस्तु को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करने लगते हैं, भव्य भवनों का निर्माण कराते हैं, नगरों एवं बड़े-बड़े क़सबों की नींव डालते हैं। संक्षेप में उनका भोग-विलास का जीवन नित्यप्रति उन्नति करने लगता है और वे विलासिता एवं सुख-शान्ति की चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। जब भोजन सम्बन्धी उनकी रुचि उन्नत होती है तो वे नाना प्रकार के भोजनों का आविष्कार करते हैं और स्वादिष्ठ भोजनों की इच्छा उन्हें आ घेरती है। जब उन्हें उत्तम वस्त्र धारण करने की इच्छा होती है तो वे रेशम तथा ज़रबफ़्त के वस्त्र धारण करते हैं और नाना प्रकार के वस्त्र तैयार करके पहनते हैं। निवास हेतु गगन-चुम्बी भवनों एवं भव्य राज-प्रासादों का निर्माण कराते हैं। उन्हें सजाकर स्वर्ग के समान कर लेते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि कला-कौशल की उत्पत्ति सार्वजनिक कल्याण की इच्छा से ही होती है। फिर भवनों एवं राज-प्रासादों को सजाने एवं सुन्दर बनाने के उद्देश्य से उनमें नहरें निकाली जाती हैं, ताकि उन्हें स्वर्ग के उद्यान के समान कर दिया जाय। उनमें नाना प्रकार के बेल-बूटे बनाये जाते हैं और पच्चीकारी की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति भोजन, वस्त्र, फ़र्श एवं अन्य वस्तुओं म नाना प्रकार के आविष्कार करता है। यही लोग नगरनिवासी अथवा हज़री कहलाते हैं। ये लोग नगरों में रहते और विभिन्न व्यवसाय करते हैं। कोई कला-कौशल की ओर आकृष्ट होता है तो कोई व्यापार को अपना व्यवसाय बनाता है। संक्षेप में इन नगरनिवासियों के जीविका एवं आय के साधन बदवियों की अपेक्षा उत्तम एवं सुख-दायक होते हैं। उनको प्रत्येक वस्तु आवश्यकता से अधिक मिलती है, फिर जिस प्रकार अधिक मात्रा में उन्हें चीज़ें मिलती हैं उतनी ही अधिक मात्रा में वे व्यय करते हैं।

संक्षेप में मानवीय क़बीलों का बदवियों एवं नगरनिवासियों में बँट जाना एक स्वाभाविक और आवश्यक बात है, इसके अतिरिक्त और कुछ हो भी नहीं सकता।

(२) संसार में अरब[1] प्राकृतिक समूह हैं

पिछले खंड में हम यह बात स्पष्ट कर चुके हैं कि रेगिस्तान-निवासियों एवं बदवियों की जीविका के साधन कृषि एवं पशु पालन हैं। वे भोजन, वस्त्र एवं अन्य समस्त बातों के लिए वस्तुओं की केवल आवश्यक मात्रा का ही प्रयोग करते हैं। अनावश्यक वस्तुओं एवं चीज़ों की इच्छा वे नहीं करते अपितु उनकी उपेक्षा ही करते रहते हैं। ऊनी

१. इब्ने ख़लदून ने ख़ानाबदोश बद्दुओं के लिए हर स्थान पर अरब शब्द का ही प्रयोग किया है।

कम्बलों के खेमों में, अथवा लकड़ी की झोपड़ी को घास-फूस से ढाँककर उसमें निवास करते हैं अथवा मिट्टी और बिना तराशे हुए पत्थरों से साधारण-सा घर बनाकर उसमें जीवन-निर्वाह करते हैं। उनका उद्देश्य केवल अपने शरीर को गरमी एवं ठंडक से सुरक्षित रखना होता है। कभी वे गुफाओं में निवास करने लगते हैं और भोजन भी कच्चा पक्का जैसा भी उपलब्ध हो गया खा लेते हैं।

उन उजाड़ स्थानों के निवासियों के लिए, जिनका व्यवसाय कृषि है, एक स्थान पर ठहरना यदि इधर-उधर फिरते रहने से अधिक उचित होता है तो वे एक ही स्थान पर पड़ाव डाल देते हैं। हरी-भरी भूमि एवं पर्वतीय घाटियों में ये लोग अपना स्थायी निवासस्थान बना लेते हैं। यही ग्रामीण कहलाते हैं। बरबरी एवं अजम[1] क़ौमें इसी श्रेणी में आती हैं।

जो लोग अपना जीवन-निर्वाह जानवर चराकर करते हैं वे अधिकतर अपने जानवरों के लिए चरागाहों एवं जल की खोज में इधर-उधर घूमते रहने पर विवश होते हैं। वे "शावीया" कहलाते हैं अर्थात् ऐसे लोग जिनका जीवन-निर्वाह बकरियाँ एवं गाय-बैल पालने से होता है। वे सूखे रेगिस्तानों की ओर इसी कारण नहीं जाते कि वहाँ उनके जानवरों के लिए चरागाहें नहीं मिल सकते। बरबर, तुर्क, तुर्कमान तथा सक़ालिबा[2] नामक क़ौमें यही व्यवसाय करती हैं।

जो लोग अपने जीवन-निर्वाह के लिए ऊँटों पर निर्भर हैं वे नित्य यात्रा में ही रहते हैं और सूखे रेगिस्तानों में निकल जाते हैं। कारण कि हरे-भरे स्थानों के घास-पात, उपज एवं पैदावार उनके ऊँटों के जीवन के लिए इतनी उपयुक्त नहीं जितनी कि रेगिस्तानों की झाड़ियाँ और वहाँ का खारा जल। फिर हरे-भरे स्थानों की ठंडक भी ऊँटों को कष्ट पहुँचाती है। वे रेगिस्तानों के गरम वातावरण में प्रसन्न रहते हैं। इसके अतिरिक्त रेगिस्तानों के रेतीले स्थानों में ऊँटनियों के बच्चों का जन्म सुगमतापूर्वक हो जाता है। इन्हीं कारणों से वे रेगिस्तानों में चक्कर काटा करते हैं। आज यहाँ हैं तो कल वहाँ। कभी ऐसा भी होता है कि आबाद भूमि के स्वामी उन्हें निकाल देते हैं और इस प्रकार वे रेगिस्तानों में शरण लेते हैं। निरंतर उजाड़ स्थानों में निवास करने के कारण उनके स्वभाव में जंगलीपन उत्पन्न हो जाता है और सभ्य नगरनिवासियों के मुक़ाबले में वे वहशी जानवरों एवं वन-पशुओं के समान समझे जाते हैं। अरब बद्दू

१. जो अरब न हो।
२. सलँव जाति।

भी ऐसे ही आवासरहित होते हैं। मग़रिब में बरबर, ज़नाता एवं पूर्व में कुर्द, तुर्क तथा तुर्कमान इसी प्रकार की क़ौमें हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि अरब हरे-भरे स्थानों से दूर रहते हैं और रेगिस्तान के जीवन के अधिक आदी होते हैं, कारण कि वे केवल ऊँटों पर निर्भर होते हैं और अन्य लोग ऊँटों के साथ बकरियाँ तथा गाय-बैल भी पालते हैं।

संक्षेप में अरबों का ख़ानाबदोश (आवासरहित होना) अनुपेक्षणीय एवं स्वाभाविक है और इस प्रकार की बदवियत एवं जंगलीपन का संसार की आबादी में कहीं-न-कहीं पाया जाना परमावश्यक है। "ईश्वर ही सर्जन करता है और सब कुछ जानता है।"[१]

(३) बदवियत को हज़रियत पर प्राथमिकता प्राप्त है और बड़े रेगिस्तान ही सभ्यताओं एवं नगरों के स्रोत हैं

यह उल्लेख हो चुका है कि बद्दू लोगों के जीवन निर्वाह की आवश्यकताएँ बहुत कम होती हैं, आवश्यकता से अधिक वस्तु की उन्हें कभी चिन्ता नहीं रहती और न उस तक उनकी पहुँच होती है। इसके विपरीत नगरनिवासी अपव्ययी एवं विलास-प्रिय होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आवश्यक एवं अनुपेक्ष्य वस्तु को अनावश्यक एवं पूर्ण निर्दोष वस्तुओं पर प्राथमिकता प्राप्त होती है, कारण कि आवश्यक मूल है और परिपूर्णता उसकी शाखा है। या यह समझना चाहिए कि मनुष्य सर्वप्रथम उतनी आवश्यक वस्तु की, जो उसके जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त हो, खोज करता है। जब उसको यह वस्तु प्राप्त हो जाती है तो फिर वह आवश्यकता से अधिक भोग-विलास सम्बन्धी एवं पूर्ण वस्तुओं की खोज करता है, अतः बदवियत का अक्खड़पन तथा अशिष्टता का जन्म नगरनिवासियों की नम्रता एवं शिष्टता के पूर्व ही होता है। इस प्रकार नगर की सभ्यता एवं संस्कृति बदवियों के जीवन की सर्वोच्च एवं उन्नत श्रेणी की अवस्था है। वे अपने प्रयत्न से सभ्यता एवं संस्कृति की उन्नति करते हैं। जब वे लोग एक बार भोग-विलास का जीवन प्रारम्भ करते और उसके आदी हो जाते हैं तो वे आगे की ओर ही बढ़ते जाते हैं, यहाँ तक कि उनमें नगरनिवासियों की सी विशेषताएँ अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार क़बीले बदवियत से निकलकर सभ्यता की

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। इसके विपरीत नगरनिवासी[1] रेगिस्तानों तथा वहाँ के जीवन की ओर कदापि आकृष्ट नहीं होते। वे केवल कुछ प्रतिकूल दशाओं[2] में तथा विवश होकर एवं नगर-निवास की आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ होने पर ही रेगिस्तानों की ओर प्रस्थान करते हैं।

इस बात का कि नगरीय जीवन का प्रादुर्भाव बदवी जीवन के पूर्व हुआ, एक अन्य प्रमाण यह है कि यदि हम नगर-निवासियों के विषय में छान-बीन करें तो पता चलेगा कि उनके पूर्वज किसी समय बदवी थे। फिर वे ग्रामों से निकलकर नगरों में बस गये अर्थात् ग्राम एवं क़सबों में निवास करते-करते जब वे धनी हो गये तो वे नगरों में पहुँच गये और भोगविलास में ग्रस्त रहने लगे। इससे यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि बदवियत नगरीय जीवन की प्रथम श्रेणी है। इसके अतिरिक्त नगरनिवासियों तथा बदवियों में अन्य भेद-भाव भी पाये जाते हैं। कुछ लोग छोटे क़सबों के निवासी होते हैं और कुछ लोग बड़े क़सबों के, कोई कम आबाद नगर के और कोई अधिक आबाद नगर के। संक्षेप में बदवी जीवन को नगर के जीवन पर प्राथमिकता प्राप्त है और नगर के भोग-विलास के जीवन का जन्म बदवियों के साधारण जीवन के बाद हुआ।

(४) नगरनिवासियों[3] की अपेक्षा बदवी अधिक सदाचारी होते हैं

इसका कारण यह है कि जब तक आत्मा अपनी शुद्ध प्राकृतिक दशा में रहती है और बाहरी कुप्रभावों से मुक्त होती है, तब तक उसमें शुद्ध एवं अशुद्ध बातों से प्रभावित होने की योग्यता होती है। हज़रत मुहम्मद ने कहा है, प्रत्येक बालक प्राकृतिक दशा में उत्पन्न होता है, उसके माता-पिता उसे यहूदी, ईसाई अथवा मजूसी बना लेते हैं।"[4] सर्वप्रथम जो गुण अथवा अवगुण उस पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं तो उन पर दूसरी बातों का प्रभाव बड़ी कठिनाई से हो पाता है। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति भलाई करने का आदी हो जाता है और नैतिकता उसके हृदय में प्रविष्ट हो जाती है तो वह दुराचार से घृणा करने लगता है। इसी प्रकार यदि कोई दुराचार का आदी बन जाता है तो फिर नैतिकता उसमें उत्पन्न ही कैसे हो सकती है। यदि विस्तृत क्षेत्र में यह बात देखी जाय तो भी यही सिद्धान्त प्रचलित मिलेगा।

१. हज़री।
२. नगर से निर्वासित कर दिये जाने अथवा इसी प्रकार की अन्य दशाओं में।
३. हज़रियों।
४. सहीह बुख़ारी।

नगर-निवासी नाना प्रकार के भोग-विलास में पलकर सांसारिक एवं स्वार्थी हो जाते हैं। उनकी आत्मा अशुद्ध हो जाती है और दुराचार उनके हृदय में घर कर लेता है। फलतः वे नैतिकता के मार्ग से दूर एवं सदाचार से पृथक् हो जाते हैं। उनमें मर्यादा नाम मात्र को नहीं रहती। सभाओं में वे अपने बड़ों और छोटों के समक्ष ऐसी-ऐसी अनुचित बातें करते हैं कि ईश्वर ही उनसे बचाये। शैतान को भी उनके समक्ष लज्जा आ जाय। इसका कारण यह है कि दुराचार एवं दुष्टता से ग्रस्त रहने के कारण उनमें भले-बुरे का कोई भेद-भाव नहीं रहता और अश्लील बातें करने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होता। इसके विपरीत बदवियों को भी सांसारिक आवश्यकताएँ होती हैं, किन्तु बड़ी ही सीमित। आवश्यकता से अधिक उड़ाने-खाने एवं भोग-विलास की इन्हें कोई इच्छा नहीं होती, अतः इसी अनुपात से उनके आचरण भी साधारण एवं दोषशून्य होते हैं। नगर के दुष्टों की अपेक्षा उनमें दुष्टता एवं दुराचार बहुत ही कम होते हैं। वे लोग प्राकृतिक दशा के निकटतम होते हैं और अनुचित बातों एवं दुराचार से दूर रहते हैं। इसी कारण नगरनिवासियों की अपेक्षा इनका सुधार अधिक शीघ्र एवं सुगमता-पूर्वक हो जाता है। इस बात को इस प्रकार समझना चाहिए कि नागरिक जीवन मानवीय आबादी की वह उच्चतम श्रेणी है जिसके उपरान्त विनाश का प्रादुर्भाव होता है। नगरनिवासियों में दुष्टता चरम सीमा पर पहुँच जाती है और सदाचार एवं नैतिकता से वे बहुत दूर हो जाते हैं। वास्तव में पवित्र जीवन व्यतीत करनेवाले ही ईश्वर को प्रिय होते हैं।.......[१]

(५) बदवी नगर-निवासियों से अधिक वीर एवं योद्धा होते हैं

इसका कारण यह है कि नगर-निवासियों का पालन-पोषण, भोग-विलास के वातावरण में होता है। समृद्धि एवं सम्पन्नता में उनका जन्म तथा मृत्यु होती है। वे अपनी धन-सम्पत्ति तथा प्राणों की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने उन शासकों एवं अमीरों के कंधों पर जो उनपर शासन करते हैं रखते हैं। उन्हीं पर उनकी रक्षा का उत्तरदायित्व होता है। वे नगरों के चारों ओर दृढ़ चहारदीवारियाँ एवं कोट का निर्माण करवा कर चिंतारहित जीवन व्यतीत करते हैं। न तो कोई भय होता है और न कष्ट, अपितु वे शान्ति पर आश्रित होकर प्रतिरक्षा सम्बन्धी अस्त्र-शस्त्र पृथक् कर देते हैं। शान्ति-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के कारण वीरता एवं पौरुष के भावों का उनमें इतना अभाव

१. इस्लामी इतिहास के कुछ उदाहरण। इनका अनुवाद नहीं किया गया।

हो जाता है कि वे स्त्रियों एवं बालकों के समान कायर हो जाते हैं और यह कायरता उनके चरित्र का विशेष अंग बन जाती है।

इसके विपरीत बदवी इधर-उधर फैले रहते हैं। उनमें न तो उनकी रक्षा के लिए कोई उत्तरदायी शासक होता है, जिसके भरोसे वे जीवन व्यतीत कर सकें, और न उनके लिए चहारदीवारियाँ एवं कोट होते हैं कि जिनके भरोसे पर वे शान्तिपूर्वक जीवित रह सकें, अपितु उनकी प्रतिरक्षा का भार स्वयं उन्हीं पर होता है। वे अपने प्राणों के लिए अपने ही पर निर्भर होते हैं अतः वे सर्वदा सशस्त्र रहते हैं, मार्गों की रक्षा करते रहते हैं। सभाओं तथा घरों में हों अथवा वाहन की पीठ पर,वे ख़तरों एवं आक्रमणों से चौकन्ने रहते हैं। ख़तरे के समय वे निःसंकोच एवं बिना किसी भय के निर्जन जंगलों में प्रविष्ट हो जाते हैं। युद्ध उनके स्वभाव में समा जाता है। वीरता उनकी आदत बन जाती है। किसी के उकसाने अथवा भड़काने से उनकी वीरता एवं पौरुष का यह स्वभाव उनके लिए सहायक बन जाता है।

इस प्रकार नगर-निवासियों को जब कभी इन बदवियों के साथ मिल-जुलकर रहने का अवसर आ पड़ता है अथवा यात्रा में ये उनके साथ हो जाते हैं तो वे अपना समस्त कार्य बदवियों को सौंप देते हैं, वे उनकी सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकते। यह बात अक्सर देखने में आयी है। ग्रामों, नदी के घाटों अथवा बड़े-बड़े मार्गों की जानकारी के विषय में वे उन्हीं पर भरोसा करते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य अपनी आदत का दास होता है, न कि स्वभाव एवं प्रवृत्ति का। जब कोई मनुष्य किसी बात का इतना आदी हो जाय कि वह बात ही उसका स्वभाव एवं उसकी प्रवृत्ति बन जाय तो फिर यह आदत केवल आदत नहीं रहती, अपितु स्वाभाविक प्रवृत्ति बन जाती है। मनुष्य-जीवन के गहन अध्ययन से यह बात पूर्णतः प्रमाणित हो जायगी। "ईश्वर की जो इच्छा होती है, उसी का वह सर्जन करता है।"[1]

(६) क़ानून पर भरोसा करने के कारण नगर-निवासियों की वीरता समाप्त हो जाती है और वे प्रतिरोध नहीं कर पाते

इसका कारण यह है कि मनुष्य स्वेच्छा से कोई कार्य नहीं कर सकता। ऐसे हाकिमों की, जो दूसरों को अपने अधीन किये रहते हैं, संख्या बहुत कम होती है। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मनुष्य साधारणतः अन्य लोगों के अधीन रहता है।

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

यदि शासन में सहानुभूति एवं न्याय पाया जाता है और किसी पर अनुचित अत्याचार और अन्याय नहीं होता तो लोग अपनी प्राकृतिक भावनाओं का,चाहे वे वीरता से संबंधित हों अथवा कायरता से, पालन करते हैं। यदि वे अपनी स्वतंत्रता में शासक को बाधक नहीं पाते और उसकी रक्षा की चिन्ता से मुक्त होते हैं, तो उनकी मर्यादा को कोई हानि नहीं पहुँचती। इसके विपरीत यदि राज्य में अत्याचार एवं अन्याय होता है तो ऐसे शासन के अधीन रहनेवाले लोगों की वीरता एवं साहस का अन्त हो जाता है और उनकी प्रतिरक्षा की भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। कारण कि जब लोगों को आवश्यकता से अधिक दबा दिया जाता है तो उनके शरीर शिथिल एवं साहस, जैसा कि हम आगे उल्लेख करेंगे, मंद हो जाता है।

जब क़ादसिया[1] के युद्ध में ज़ुहरा बिन हवीया ने जालीनूस का पीछा करके उसकी हत्या कर दी और उसके अस्त्र-शस्त्र, जिनका मूल्य ७५,००० अशरफ़ियाँ थीं, छीन लिये तो साद[2] ने ज़ुहरा से अस्त्र-शस्त्र लेकर अपने अधिकार में कर लिये और कहा कि "तुमने मेरी आज्ञा बिना ज़ुहरा का पीछा क्यों किया ?" और यह घटना हज़रत उमर को लिख भेजी। हज़रत उमर ने साद को लिखा कि "ज़ुहरा ने यदि पीछा किया तो क्या बुरा किया ? युद्ध में यदि शिथिलता हुई तो तुम्हारी ओर से हुई और उस पर भी तुम अत्याचार एवं अन्याय प्रदर्शित करते हो और ज़ुहरा का दिल तोड़ते हो।" अतः उन्होंने आदेश दिया कि छीने हुए अस्त्र-शस्त्र ज़ुहरा को लौटा दिये जायँ।[3]

यदि शासन द्वारा कठोर दंड के आधार पर क़ानूनों का पालन कराया जाता है तो शासन की इस कठोरता से लोगों के हृदय की वीरता, पौरुष एवं साहस आदि गुणों का अन्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि दंड सहन करते-करते और अपनी मर्यादा की रक्षा का अभाव देखते-देखते लोग अपमान के आदी बन जाते हैं, जिससे वीरता एवं पौरुष की भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। यदि शासन के आदेश शिक्षा एवं अनुशासन की दृष्टि से दिये जायँ,जैसा कि प्रायः बाल्यावस्था में दिये जाते हैं,तो इसका प्रभाव भी आज्ञाकारी समूह पर पड़ेगा और आतंक एवं आज्ञाकारिता हृदय में आरूढ़ हो जायगी तथा पौरुष एवं वीरता की भावनाएँ हृदय से लुप्त हो जायँगी। यही कारण है कि अरब उन लोगों की अपेक्षा, जो शासन द्वारा प्रश्रय पाते हैं, अधिक साहसी एवं निर्भीक

१. यह युद्ध ३१ मई अथवा १ जून ६३७ ई० को हुआ।
२. साद बिन अबी वक़्क़ास, अरब सेना का सेनापति।
३. तबरी ने भी अपने इतिहास में इस घटना का उल्लेख किया है।

होते हैं। यही दशा उन लोगों की है जो शिक्षा प्राप्त करने और कला-कौशल सीखने में दंड भोगते हैं। इस प्रकार उनका भी साहस समाप्त हो जाता है और अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने की भावना को वे खो देते हैं। यही दशा उन विद्यार्थियों की है जो सूफ़ियों एवं आलिमों की सम्मानित गोष्ठियों में बैठकर शिक्षा प्राप्त करते हैं और उनके सामने अपनी मर्यादा को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। उनके साहस एवं पौरुष का भी अन्त हो जाता है।

अब यहाँ सम्मानित सहाबियों[1] के उदाहरण को सामने रखकर सन्देह न किया जाय, कारण कि वे बड़ी नम्रता एवं दीनतापूर्वक दीन[2] तथा शरीअत की शिक्षा ग्रहण करते थे। किन्तु इसके बावजूद उनकी वीरता एवं उनके पौरुष में कोई कमी न होती थी, अपितु उनकी गणना शूरवीरों में होती थी। इसका कारण यह है कि मुसलमानों ने धर्म की शिक्षा ऐसे सम्मानित व्यक्तियों से प्राप्त की जो सहाबियों में से थे और जो समझा-बुझाकर तथा प्रोत्साहन द्वारा शिक्षा दिया करते थे। वह शिक्षा आधुनिक कला-कौशल एवं साहित्य की शिक्षा के समान न थी, अपितु उसमें धर्म के आदेश एवं शिक्षाएँ बतायी जाती थीं। इनके द्वारा मुसलमानों का धार्मिक विश्वास दृढ़ हो जाता था और वे केवल ईश्वर से भयभीत रहते तथा अन्य सभी शक्तियों की उपेक्षा करने लगते थे। यही कारण है कि सम्मानित सहाबियों की शक्ति एवं उनके पौरुष में किसी प्रकार की कमी न हुई और वे उसी प्रकार दृढ़ रहे। इस्लामी शिक्षा से उन्हें कोई हानि न हुई। हज़रत उमर का कथन है कि "जिसका उपकार शरीअत द्वारा न हो, उसका उपकार सम्भव ही नहीं।" इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति खुद अपना सुधारक बनकर शरा के नियमों का पालन करके अपनी आत्मा को पूर्ण रूप से शुद्ध कर सकता है। उसे विश्वास होता है कि शरा से बढ़कर लोगों का शुभचिन्तक कोई अन्य नहीं। संक्षेप में इस्लामी शिक्षा बहुत समय तक इसी ढंग पर चलती रही। जब धर्म में दोष उत्पन्न होने लगे और हाकिमों के आदेश चलने लगे तो शरीअत साधारण ज्ञान एवं कला की शिक्षा के समान ताड़न द्वारा सिखायी जाने लगी। लोग नगर के जीवन की ओर आकृष्ट हुए और दासों के समान आदेशों का पालन होने लगा। मनुष्य की वीरता एवं पौरुष का अन्त होने लगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ऐसे शासन एवं ऐसी शिक्षा से प्रजा एवं विद्यार्थियों की

१. हज़रत मुहम्मद के सहायक, मित्र।
२. इस्लाम धर्म।

वीरत्व भावनाओं को अत्यधिक हानि पहुँचती है, कारण कि दोनों के ही आदेश देने का काम प्रायः अन्य लोगों के हाथ में होता है। इस प्रकार नगरनिवासी बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक राज्य एवं शिक्षकों की आज्ञाओं का पालन करते करते कमज़ोर एवं साहसहीन हो जाते हैं। परन्तु बदवियों की दशा इसके विपरीत है, कारण कि वे न तो किसी बादशाह के आज्ञानुवर्ती होते हैं और न किसी शिक्षक के।

अबू मुहम्मद बिन अबी ज़ैद[1] ने अपने ग्रंथ[2] में शिक्षकों एवं शिक्षार्थियों के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है कि "शिक्षक को बालकों को तीन बेंत से अधिक कदापि न मारने चाहिए।" दंड की यह सीमा उसने क़ाज़ी शुरैह[3] के आधार पर निश्चित की है। कुछ विद्वानों ने इस सीमा का यह कारण बताया है कि वही[4] के प्रारम्भ में हज़रत मुहम्मद के शरीर को तीन बार दबाया गया था, किन्तु यह बात अधिक बुद्धि-ग्राह्य नहीं। हज़रत मुहम्मद को तीन बार दबाये जाने से दंड की सीमा पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, कारण कि दैवी शिक्षा एवं आधुनिक शिक्षा में किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं। "ईश्वर ही बुद्धिमान् है और सब कुछ जानता है।"

(७) असबियत वाले ही बदवी रेगिस्तान में जीवन निर्वाह कर सकते हैं

यह बात जाननी चाहिए कि ईश्वर ने मनुष्य के स्वभाव में गुण तथा दोष दोनों ही का समावेश किया है। क़ुरान में दैवी आदेश है कि हमने मनुष्य को सन्मार्ग एवं कुमार्ग दोनों ही दिखा दिये हैं। किन्तु यदि मनुष्य अपने स्वभाव की देख-भाल की ओर से लेश मात्र भी असावधान हो जाय और धर्म का पालन करते हुए अपना सुधार न करे, तो पापों एवं दोषों के फंदे में शीघ्र फँस जाता है। साधारण मनुष्यों के लिए भी यही बात सत्य है, किन्तु ईश्वर के विशिष्ट दास गुणों के अत्यन्त निकट एवं दोषों से बहुत दूर होते हैं। चूँकि अत्याचार एवं अन्याय की भावनाएँ मनुष्य में जन्म से ही वर्त्तमान

१. अब्दुल्लाह (उबैदुल्लाह) बिन अबी ज़ैद (जन्म ३१६ हि०/९२८ ई०—मृत्यु ३८६ हि०/९९६ ई०), इब्ने ख़लदून ने कई स्थानों पर उसकी रचनाओं के हवाले दिये हैं।
२. "अहकामुल मुअल्लेमीन वल मुतअल्लेमीन"।
३. सम्भवतः सातवीं शताब्दी ईसवी का प्रसिद्ध क़ाज़ी, जिसे हज़रत उमर ने कूफ़े का क़ाज़ी नियुक्त कर दिया था।
४. वह आदेश जो हज़रत मुहम्मद को जिब्रील फ़िरिश्ते द्वारा प्राप्त होता था।

होती हैं, अतः जब किसी की दृष्टि किसी की धन-सम्पत्ति पर पड़ती है तो उसका हृदय यही चाहता है कि वह उस धन-सम्पत्ति का अपहरण कर ले। यदि उसे शासक का भय न हो तो वह ऐसा कर भी डाले।

शेर— अन्याय मनुष्य की आदत है, यदि तुम देखो,

यदि सदाचारी अन्याय नहीं करते तो इसका कुछ-न-कुछ कारण होगा।

नगरों में एक-दूसरे पर अत्याचार को रोकने का उत्तरदायित्व शासक एवं समकालीन शासन पर है। वे अपनी अधीनस्थ प्रजा को अपने अधिकार में रखते हैं और उस पर अत्याचार नहीं होने देते। लोग शासन के भय से अत्याचार नहीं करते। यदि समकालीन शासक ही अत्याचार करने लगे तो फिर इसका कोई उपाय नहीं। यदि कोई बाहरी ख़तरा उठ खड़ा हो अर्थात् कोई शत्रु दिन अथवा रात्रि में आक्रमण कर दे, तो नगर की दीवारें एवं कोट नगरवालों को बाहरी शक्ति के अत्याचार से सुरक्षित रखते हैं, या फिर देश के वीर अपने प्राणों को हथेली पर रखकर बाहरी सत्ता के अत्याचार को रोक देते हैं।

यह तो नगरवासियों के विषय में लिखा गया। अब बदवी क़बीलों के विषय में सुनिए। उनके ग्रामों में न तो शासक होते हैं और न सुल्तान, न चहारदीवारी होती है और न कोट और न सेना तथा लश्कर। वहाँ के शेख़ अथवा नेता उस आदर तथा सम्मान के कारण, जो लोगों के हृदय में उनके प्रति स्थिर होता है, एक-दूसरे को अत्याचार से बचाते हैं। जब किसी क़बीले के किसी घर पर कोई अत्याचार होता है तो उस क़बीले के वीर एवं शेख़ अथवा उसके अन्य सम्बन्धी क़बीलेवाले की सहायता एवं रक्षा करते हैं और अत्याचार को रोकते हैं। यह बात उसी समय सम्भव है जब कि उस क़बीले में "असबियत"[1] हो, सभी एक ही कुल के हों और क़बीला विशेष गौरव एवं ऐश्वर्य का स्वामी हो। अन्य लोगों को ऐसी हालत में उनसे झगड़ा मोल लेने में भय लगता रहता है, क्योंकि जब क़बीले का प्रत्येक व्यक्ति अपने वंश एवं अपने ही लोगों पर प्राण न्योछावर करता है, तब उसकी शक्ति अजेय होती है। ईश्वर ने मानव मात्र के स्वभाव में यह बात उत्पन्न कर दी है कि वे अपने सम्बन्धियों एवं निकटवर्तियों के लिए ही बलिदान करते हैं और एक क़बीले एवं वंश के समस्त

१. प्रस्तावना में इस विषय पर विस्तार से उल्लेख हुआ है।

व्यक्ति एक-दूसरे की सहायता करके ही जीवित रहते हैं तथा शत्रुओं से अपने-आप को बचाते हैं।

क़ुरान शरीफ़ में इसी "असबियत" की ओर हज़रत यूसुफ़[1] के क़िस्से में इस प्रकार संकेत किया गया है। उनके भाइयों ने अपने पिता से कहा कि "यदि हम सब के होते हुए यूसुफ़ को भेड़िया खा जाय तो यह बड़े ग़ज़ब की बात होगी और हमारे लिए यह बड़े अपमान का विषय होगा।" इसका तात्पर्य यह है कि यदि किसी समूह के प्राणियों में "असबियत" एवं मर्यादा हो तो फिर किसी पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं हो सकता।

इस सम्बन्ध में वंश एवं कुल के एक होने तथा एक-दूसरे से सम्बन्धित होने को भी बड़ा महत्त्व प्राप्त है, क्योंकि ऐसी दशा में यदि युद्ध प्रारम्भ हो जाय तो पूरे वंश के सम्मान को खतरा हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपमान एवं अनादर से बचने के लिए तलवार लेकर निकल पड़ता है। वह अपनी मर्यादा की रक्षा हेतु प्राणों की भी बलि देने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। यदि ऐसी "असबियत" बदवियों में न हो तो वे रेगिस्तानों में निवास ही किस प्रकार कर सकते हैं। वे दूसरी क़ौमों के किसी न किसी समय अवश्य शिकार हो जायँगे और अन्य लोग क्षण भर में उन्हें हड़प कर डालेंगे।

किसी स्थान पर निवास करने एवं बसने में खानदानी एवं क़बीला सम्बन्धी "असबियत" तथा मर्यादा जितनी आवश्यक होती है, उतनी ही अन्य कार्यों में भी उसकी आवश्यकता एवं उसके महत्त्व का अनुभव होता है। उदाहरणार्थ नुबूव्वत[2] का प्रचार एवं नबी को सफल बनाने में, किसी राज्य की नींव डालने तथा उसके सम्मान को दृढ़ रखने में, किसी दावत[3] के प्रचार एवं उसे प्रसिद्धि प्रदान करने में "असबियत" अत्यन्त आवश्यक होती है, कारण कि इन सबमें युद्ध तथा रक्तपात के बिना सफलता सम्भव नहीं होती। जब मनुष्य के स्वभाव में उद्दंडता एवं यथेच्छाचार नैसर्गिक रूप से वर्तमान हैं तो मनुष्य से शक्ति एवं बल द्वारा किस प्रकार कोई सिद्धान्त स्वीकार कराया जा सकता है? युद्ध एवं रक्तपात और बल तथा शक्ति के प्रयोग

१. जोज़ेफ़।
२. नबी होना, ईश्वर का दूत होना।
३. धार्मिक प्रोपेगेंडा, जैसे बनी उमय्या के विरुद्ध अबू मुस्लिम खुरासानी द्वारा अब्बासियों की दावत।

हेतु "असबियत" एवं मर्यादा की बड़ी आवश्यकता होती है। जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है कि बिना "असबियत" एवं मर्यादा के भावों के कोई किस प्रकार अपना रक्त बहा एवं युद्ध कर सकता है? अतः इसे एक अटल नियम तथा सिद्धान्त समझना चाहिए, जिसे याद रखना बाद में लाभदायक होगा।

(८) असबियत की उत्पत्ति एक कुल एवं निकटवर्ती सम्बन्ध के कारण ही होती है

बहुत कम ऐसे लोग होंगे जिनमें ख़ून की मुहब्बत, रक्तीय बन्धन नैसर्गिक रूप से न पाया जाता हो। इस नैसर्गिक गुण के कारण यदि कोई मनुष्य अपने किसी निकटतम सम्बंधी पर अत्याचार होते देखता है अथवा उसे ख़तरे में फँसा हुआ पाता है तो उसका रक्त खौलने लगता है। वह इस बात को सहन नहीं कर सकता कि उसका कोई सम्बन्धी कष्ट में हो अथवा शत्रुओं के अत्याचार से पीड़ित हो। वह उसे चुपचाप बठा नहीं देख सकता। अपने सम्बन्धी से पहले ही वह उस ख़तरे में कूद पड़ना चाहेगा। यह बात नैसर्गिक है। यदि सम्बन्ध निकटतम है और ख़ून का मेल बड़ा गहरा है तो बलिदान एवं शुभ चिन्ता का भाव उतना ही दृढ़ होगा। यदि सम्बन्ध दूर का है और निकटतम सम्बन्ध लगभग भुलाये जा चुके हैं और केवल स्मृति ही शेष है, तो ऐसी अवस्था में भी सम्बन्धियों की सहायता हेतु मर्यादा को ठेस लगेगी, चाहे उसमें उतना उत्साह न हो जितना एक निकटतम सम्बन्धी के कष्टग्रस्त होने के समय होता है।

पारस्परिक स्नेह एवं प्रेम द्वारा भी सहानुभूति एवं निष्ठा के ऐसे ही भाव उत्पन्न हो जाते हैं, कारण कि स्नेह एवं प्रेम के सम्बन्ध भी रिश्तेदारी के सम्बन्ध के समान होते हैं और उनके कारण लोग अपने पड़ोसी एवं स्नेह-पात्र के लिए प्राणों की बलि देने पर विवश हो जाते हैं। वे उसके प्रति किसी प्रकार के अत्याचार एवं अन्याय को सहन नहीं कर सकते। हज़रत मुहम्मद का कथन है कि "अपने कुल का ज्ञान उसी सीमा तक प्राप्त करो जिस सीमा तक वह ख़ून के रिश्तों को समझने के लिए आवश्यक हो।" इससे यह लाभ होता है कि उसके द्वारा रिश्तेदारी के बंधन उत्पन्न होते हैं जो एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति दर्शाने के लिए विवश करते हैं और दोनों ओर से बलिदान एवं क़ुरबानी को उत्साहित करते हैं। रक्त-सम्बन्ध एवं कुल का इससे अधिक अन्य कोई मूल्य नहीं है, कारण कि अन्य सब बातें काल्पनिक हैं, उनमें कोई तथ्य नहीं। उनसे केवल पारस्परिक सहानुभूति एवं कृपा की प्राप्ति का ही लाभ होता है।

जब कुल का सम्बन्ध गहरा और रिश्तेदारी निकटतम हो तो इसका प्रभाव बहुत स्पष्ट एवं तीव्र होता है। लोग बहुत साधारण अवस्था में भी अपने सम्बंधी की सहायता हेतु उद्यत हो जाते हैं। जब सम्बन्ध साधारण एवं निकटतम न हो और केवल काल्पनिक हो तो उपर्युक्त भावनाएँ भी मंद पड़ जाती हैं। इससे कुछ अधिक लाभ नहीं होता, अतः इस प्रकार के सम्बन्धों की खोज एवं छानबीन से भी कोई लाभ नहीं होता और यह प्रसिद्ध कथन भी इसी बात को सिद्ध करता है, अर्थात् "जब कुल स्पष्टता की सीमा से निकलकर साधारण ज्ञान की सीमा पर पहुँच जाय तो फिर उसका ज्ञान मनुष्य पर कोई प्रभाव नहीं डालता एवं मर्यादा तथा प्रतिष्ठा के भावों को नहीं उभारता, अतः ऐसे कुल एवं उसके ज्ञान से कोई लाभ नहीं।"

(९) कुल की शुद्धता वास्तव में वहशी अरबों अथवा उन्हीं के समान क़ौमों में पायी जाती है

इसका कारण यह है कि अरबों का जीवन कठिन, उनकी स्थितियाँ प्रतिकूल एवं निवासस्थान दोषपूर्ण होते हैं। इन्हीं परिस्थितियों से विवश होकर वे विभिन्न क़बीलों एवं वंशों में विभाजित होकर जीवन व्यतीत करते हैं। कष्ट एवं विपत्ति के समय प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने लोगों के हेतु ही प्राण त्यागने को उद्यत रहता है और उनकी मर्यादा एवं प्रतिष्ठा की रक्षा करता है। यह ज्ञात हो चुका है कि उनके जीवन निर्वाह का साधन उनके ऊँट एवं ऊँटों के बच्चे होते हैं। ऊँट उन्हें रेगिस्तानों में जीवन व्यतीत करने पर विवश करते हैं, कारण कि ऊँटों का प्रिय भोजन भी वहीं मिलता है और उनके बच्चे भी वहाँ के रेतीले मैदानों में सुगमतापूर्वक पैदा हो सकते हैं। रेगिस्तान कष्टों एवं विपत्तियों के केन्द्र होने के कारण, वहाँ के निवासी भी स्वाभाविक रूप से परिश्रमी एवं कठिनाई सहन करने के आदी होते हैं। वे उन्हीं परिस्थितियों में रहकर उन्नति करते रहते हैं। यहाँ तक कि एक ही प्रकार के स्वभाव एवं आदत वाले मनुष्यों का एक समूह अथवा एक क़बीला बन जाता है। ये लोग अपने स्वभाव एवं आवेग में अन्य क़ौमवालों से इतने भिन्न होते हैं कि दूसरी क़ौम का कोई भी व्यक्ति उनमें घुल-मिल नहीं सकता और न उनमें से कोई व्यक्ति किसी अन्य क़ौम का अंग बन सकता है। यदि कोई संयोगवश उनमें से पृथक् होकर किसी अन्य क़बीले में पहुंच भी जाता है तो वह अपनी भावनाओं एवं हार्दिक आकर्षण के कारण अपने पुराने सम्बन्धियों को नहीं छोड़ता और वह हृदय से उन्हीं के विषय में सोचा करता है। जब यह दशा हो तो पूरे विश्वास के

साथ कहा जा सकता है कि रेगिस्तान के उन निवासियों का कुल शुद्ध एवं सुरक्षित है और एक-दूसरे से मिल जुल नहीं गया है। इसके प्रमाण में मुज़र, क़ुरैश, किनान, सक़ीफ़, बनू असद एवं हुज़ैल सरीखे क़बीलों को देख लिया जाय अथवा उनके पड़ोसी ख़ुज़ा का अवलोकन कर लिया जाय कि वे किस प्रकार कष्टों के आदी होते हैं और ऐसे स्थानों पर निवास करते हैं जहाँ न कोई कृषि होती है और न दूध देनेवाले पशुओं की बहुतायत। वे शाम तथा इराक़ सरीखे हरे-भरे एवं उपजाऊ स्थानों से बहुत दूर निवास करते हैं, अतः उनके कुल शुद्ध और सुरक्षित हैं। बिना किसी दोष एवं मिश्रण के वे कुल चले आ रहे हैं।

इनके विपरीत ऐसे अरबी क़बीले, जो उपजाऊ एवं हरे-भरे चरागाहों वाले स्थानों में निवास करते हैं जैसे हमीर[1], कहलान, लख़म, जुज़ाम, ग़स्सान, तै, क़ुज़ाअह एवं इयाद इत्यादि, इनके वंश विभिन्न मिश्रणों एवं शाखाओं के कारण अशुद्ध हो गये हैं। इस प्रकार प्रत्येक घर में जो कुछ बिगाड़ हुआ, उसका सभी को ज्ञान है। इसका कारण यह है कि इन क़बीलों ने बहुत से अजम[2] लोगों के साथ अपना मेल-जोल रखा और कुल की शुद्धता की अधिक चिन्ता नहीं की। वास्तव में कुल-शुद्धता की इतनी अधिक रक्षा अरबवालों की ही विशेषता है। हज़रत उमर का कथन है कि "वंशावलियों का अध्ययन करो और नब्तियों के समान मत हो जाओ। उनमें से जब किसी से उसके मूल वंश के विषय में पूछा जाता है तो वह किसी न किसी गाँव का नाम ले लेता है।" आगे चलकर जब अरबों को हरे-भरे स्थानों की इच्छा, जो स्वाभाविक ही थी, हो गयी तब उसके कारण उनके वंशों में मिश्रण एवं गड़बड़ी उत्पन्न हो गयी।

इस्लाम के प्रारम्भ में जब अरब के सम्मानित व्यक्ति स्वदेश से निकलकर इधर उधर फैल गये तो वे केवल पहचान के लिए अपने निवास-स्थान से सम्बोधित किये जाते थे। उदाहरणार्थ वे लोग, क़िन्नसरीन के, या दमिश्क़ के, अथवा अवासिम के (पूर्वनिवासी) कहे जाते थे। उन्दुलुस वालों के प्रभुत्वकाल में भी यही प्रथा रही। इसका यह कारण नहीं कि अरब वाले अपने कुल को ही भूल गये। कुल के अतिरिक्त निवास-स्थान का सम्बन्ध भी उनकी पहचान का एक साधन बन गया, जिसके कारण अधिकारी-वर्ग उनको पहचान लेता था। जब ईरानी नगरवासियों

(१) हिमयर।
(२) जो अरब न हों।

का अरबों से सम्पर्क हुआ तो वंश तथा कुल विकृत हो गये और कुल के अशुद्ध हो जाने से "असबियत" द्वारा जो लाभ होता था, वह भी समाप्त हो गया। क़बीलों की पृथक् विशेषताएँ छिन्न-भिन्न हो गयीं और इससे "असबियत" भी नष्ट हो गयी। बदवियों में निःसन्देह अब तक कुल शुद्धता कीं रक्षा का ध्यान पाया जाता है।

(१०) कुल किस प्रकार परस्पर मिल-जुल जाते हैं

कभी-कभी ऐसा होता है कि एक क़ौम तथा क़बीले का मनुष्य रिश्तेदारी के सम्बंध अथवा किसी की सहायता एवं मदद के कारण, अथवा किसी अपराध एवं पाप की वजह से अपने क़बीले को त्याग कर किसी अन्य क़बीले में मिल जाता है और फिर अपनी गणना उस नये कुल में करने लगता है। इस कुल-सम्बंधी "असबियत" के चिह्न भी उसमें दृष्टिगत होने लगते हैं। वह क़बीले के कष्ट एवं दुःख को अपना कष्ट तथा दुःख समझने लगता है। वह उसी का शुभचिन्तक एवं हितैषी हो जाता है। कुल सम्बंधी इन लक्षणों के उसमें प्रकट होने के कारण हम वास्तव में कह सकते हैं कि उसका कुल अमुक क़ौम तथा क़बीले से सम्बंधित है, कारण कि जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक क़ौम व्यक्ति के कुल के अन्तर्गत है, तो इससे तात्पर्य यही होता है कि यह व्यक्ति अमुक क़ौम से गहरी सहानुभूति एवं हार्दिक सम्बंध रखता है और हर प्रकार से उसका सहायक है। समय व्यतीत हो जाने पर लोग उसके पूर्व कुल को भूल जाते हैं। जो लोग उससे परिचित होते हैं उनका भी अन्त हो जाता है। इस प्रकार बहुत-से लोगों को इस बात का ज्ञान भी नहीं होता कि वे इससे पूर्व किस कुल से सम्बंधित थे। संक्षेप में इसी प्रकार इस्लाम के पूर्व एवं इस्लाम के बाद अरब और ईरान की क़ौमों में परस्पर तथा क़ौमों की शाखाओं में परिवर्तन होता रहा। यदि मुनज़िर[1] इत्यादि की संतानों के सम्बंध में जो मतभेद है उसके कारणों का अध्ययन किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी।

अरफ़जा बिन हरसमा तथा बजीलह कुल की कथा भी इसी का खुला हुआ प्रमाण है। जब हज़रत उमर ने अरफ़जा को बजीलह क़बीले वालों का हाकिम नियुक्त करना चाहा तो उन लोगों ने उसकी अधीनता स्वीकार न करने के लिए क्षमा माँगते हुए हज़रत उमर से कहा कि "वह हम लोगों से भिन्न कुल का व्यक्ति है। यदि

१ फ़ुरात पर स्थित हीरह के लख़मीद।

आप जरीर को हमारे ऊपर अधिकारी नियुक्त कर दें तो अच्छा हो।" हज़रत उमर ने अरफ़जा से इस विषय की पूछताछ की तो अरफ़जा ने कहा कि "हे अमीरुल मोमिनीन![1] लोग ठीक कहते हैं। मैं अज़द क़बीले से हूँ। अपने क़बीले में एक खून करके यहाँ भाग आया था।"

यह देखना चाहिए कि अरफ़जा, बजीलह क़बीले वालों में कैसा घुल मिल गया कि उनके कुल में उन्हीं के वेष में प्रकट होने लगा, यहाँ तक कि उसे उस क़बीले का शासक बनाने का निश्चय कर लिया गया। यदि इस तथ्य से कुछ लोग परिचित न होते और उसकी उपेक्षा करते रहते तो कुछ समय उपरान्त लोग इसे पूर्णतः भूल जाते और हर प्रकार से बजीलह क़बीले में उसकी गणना होने लगती। अब भी इस प्रकार की घटनाएँ घटती रहती हैं और इससे पूर्व भी घटती रहती थीं।

(११) क़बीले में जिस वंश अथवा घराने में अत्यधिक "असबियत" पायी जाती है वही राज्य का स्वामी होता है

यद्यपि प्रत्येक क़बीले एवं शाखा के एक होने के कारण सामान्य रूप से सभी में "असबियत" पायी जाती है, किन्तु विशेष कुलों के आधार पर अन्य "असबियतों" का भी अभ्युदय होता है। उदाहरणार्थ एक वंश अथवा एक घरवालों अथवा एक पिता की संतानों में जो पारस्परिक स्नेह एवं निष्ठा होगी वह निकट के सम्बंधियों एवं चाचा की संतान में नहीं हो सकती। इस प्रकार "असबियत" दो तरह की हुई—एक साधारण दूसरी विशेष। विशेष "असबियत" की दृष्टि से वे परस्पर एक-दूसरे की हृदय से सहायता करते हैं। साधारण "असबियत" के कारण वे पूरी क़ौम एवं क़बीले वालों से सम्बंधित होते हैं। इसी प्रकार की निष्ठा एवं सहानुभूति की, दोनों प्रकार की "असबियतों" से आशा की जाती है। किन्तु विशेष कुल के कारण जो "असबियत" उत्पन्न होती है वह रिश्ते के निकटतम होने के कारण अधिक प्रभावशाली होती है। इसके अतिरिक्त यह खुली हुई बात है कि नेतृत्व एवं सरदारी क़बीले की प्रत्येक शाखा पर विभाजित नहीं होती अपितु इसका श्रेय किसी एक ही शाखा को प्राप्त होता है और वह उसी शाखा को अधिक प्राप्त होता है जिसमें "असबियत" अधिक पायी जाती हो, इस कारण उसी को अधिक प्रभुत्व प्राप्त होता है। शासन के लिए प्रभुत्व एवं ऐश्वर्य की अधिक आवश्यकता होती है अतः

१. धर्मनिष्ठ मुसलमानों के हाकिम, खलीफ़ा।

ऐसे प्रभुत्वप्राप्त वंश के हाथ में शासन आ जाने के पश्चात् वह उसके हाथ में से आसानी से नहीं निकल पाता। कारण कि यदि शासन ऐसी शाखाओं के हाथ में चला जाय जो ऐश्वर्य एवं वैभव में कम हों तो शासन का चलना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार शासन प्रभावशाली एवं श्रेष्ठ शाखाओं और वंशों में चक्कर लगाता रहता है और एक वंश से निकलकर दूसरे प्रभावशाली वंश में पहुँच जाता है। जिस वंश को अधिक प्रभुत्व प्राप्त होता है वही शासन प्राप्त कर लेता है। इस तथ्य का रहस्य यह है कि संगठन एवं "असबियत" में वही सम्बंध होता है जो प्रकृति तथा किसी अन्य वस्तु में हुआ करता है। स्वभाव समस्त तत्त्वों के एक-समान रहने की दशा में ठीक नहीं रहता। इसके लिए यह आवश्यक है कि किसी तत्त्व को प्रभुत्व प्राप्त हो। यही बात "असबियत" के सम्बंध में कही जा सकती है। उसके लिए भी प्रभुत्व आवश्यक है, और शासन एवं नेतृत्व भी उसी का साथ देगा जो सब से अधिक शक्तिशाली एवं प्रभुत्व वाला होगा।

(१२) "असबियत" वाली क़ौम पर अन्य क़ौम का आदमी शासन नहीं कर सकता

यह प्रमाणित हो गया है कि राज्य प्रभुत्व द्वारा प्राप्त होता है और प्रभुत्व "असबियत" द्वारा। फलतः क़ौम पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि आज्ञाकारी "असबियतों" से शासक की "असबियत" अधिक प्रभावशाली हो, कारण कि जब शासक की "असबियत" सभी को प्रभावशाली एवं महान् प्रतीत होगी तो सभी की गरदनें उसके समक्ष अवश्य ही झुक जायँगी और आज्ञापालन में उनका सिर उसके सामने नीचे झुक जायगा। किन्तु एक क़ौम में यदि दूसरी क़ौम का आदमी आ जाय और वह उन पर शासन करना चाहे तो यह सम्भव नहीं, कारण कि इस प्रकार कुल से सम्बंधित "असबियत" उसे प्राप्त न हो सकेगी। उसे केवल आगन्तुक का वर्ग प्राप्त होगा या सहायक का। नये कुल के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के कारण उसे उस कुल के लोगों का स्नेह प्राप्त हो सकता है, किन्तु कोई अपरिचित व्यक्ति किसी क़ौम पर इस प्रकार प्रभुत्व प्राप्त नहीं कर सकेगा।

यदि हम यह मान लें कि अन्य कुल का कोई व्यक्ति किसी क़ौम में घुल-मिल जाय और लोग उसके पहले कुल को भूलकर उसे उसी क़ौम का व्यक्ति समझने लगें और उसे उसी कुल का बताने लगें, तो इस मेल से पूर्व उसे अथवा उसके पूर्ववर्ती लोगों को राज्य किस प्रकार प्राप्त हुआ? इस समस्या का समाधान तो सम्भव

नहीं। शासन तो उसी एक वर्ग अथवा व्यक्ति को प्राप्त होता है जिसे "असबियत" में प्राथमिकता प्राप्त हो। अतः इस अपरिचित व्यक्ति को, जिसका अन्य कुल से होना सभी को भली-भाँति ज्ञात है, राज्य में प्रभुत्व किस प्रकार मिल सकता है? राज्य के पैतृक होने के कारण राज्य के वास्तविक अधिकारी से ईर्ष्या करना परमावश्यक है और इसके लिए "असबियत" की आवश्यकता है।

बहुत-से क़बीलों के सरदार कभी-कभी किसी विशेष कुल अथवा वंशवालों की वीरता एवं दान-पुण्य से ऐसे प्रभावित हो जाते हैं कि अपने-आप को भी उसी वंश का बताने लगते हैं और उसकी किसी शाखा से सम्बंधित होने का दावा करने लगते हैं। इस आचरण द्वारा वे अपनी सरदारी को जिस प्रकार कलंकित करते हैं और अपने सम्मान में जो बट्टा लगा देते हैं उसका उन्हें पता नहीं होता।

आजकल प्रायः ऐसा होता रहता है, उदाहरणार्थ सबके सब ज़नाता यही दावा करते हैं कि मूल रूप से वे अरब हैं। अवलाद रबाब, जो हिजाज़ी प्रसिद्ध और बनू आमिर से सम्बंधित हैं और ज़ुग़ाबा की शाखा हैं, वे बनू सुलैम, विशेष रूप से उनकी शरीद नामक शाखा से पैदा होने का दावा करते हैं और कहते हैं कि हमारा दादा दुर्भाग्यवश बनू आमिर में पहुँचकर बढ़ई का काम करने लगा और उन्हीं में सम्मिलित हो गया। उसकी गणना उन्हीं के कुल में होने लगी, यहाँ तक कि उसे प्रभुत्व प्राप्त हो गया और वह हिजाज़ी कहलाने लगा। इसी प्रकार तूजीन के बनू अब्दुल क़वी बिन अब्बास का दावा है कि वे हज़रत अब्बास बिन अब्दुल मुत्तलिब[1] की संतान में से हैं। उन्हें केवल इस सम्मानित वंश से सम्बंधित होने के सम्मान का लोभ हो गया। वास्तव में उन्हें अब्बास बिन अतीया, अब्दुल क़वी के पिता के नाम से भ्रम हो गया। वे यह न समझ सके कि इतिहास में इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि कोई अब्बासी मग़रिब में आया था। कारण कि अब्बास बिन अतीया अब्बासियों के शत्रु इदरीसियों एवं उबैदीईन[2] के अलवियों[3] के प्रभुत्व के प्रारम्भिक काल में हुआ। ऐसी दशा में वह किसी अलवी समूह से किस प्रकार सम्बंधित हो सकता था।.........[4]

१. मुहम्मद साहब के चाचा (मृत्यु २१ फ़रवरी ६५३ ई०)।
२. फ़ातेमी।
३. हज़रत अली के सहायक।
४. मुसलमानों के इतिहास से कुछ अन्य उदाहरण। इन उदाहरणों का अनुवाद नहीं किया गया।

(१३) वंश एवं पद की प्रतिष्ठा वास्तव में "असबियत" वालों को प्राप्त है, दूसरों के लिए यह प्रतिष्ठा मिथ्या एवं निराधार है

यह समझ लेना चाहिए कि प्रतिष्ठा एवं योग्यता व्यक्तिगत गुणों पर आधारित हैं। "वंश" का अर्थ यह है कि लोग उसकी प्रतिष्ठा से लाभ उठायें। लोगों का सम्मानित वंश से सम्बद्ध होना क़ौम की दृष्टि में सम्मान का कारण होता है, कारण कि क़ौम के हृदय पर उनके पूर्वजों की प्रतिष्ठा एवं सौजन्य का सिक्का बैठा होता है। लोग वास्तव में अपने जन्म एवं नस्ल के सम्बंध में खनिज पदार्थ के समान हैं। मुहम्मद साहब का कथन है कि "लोग सोने तथा चाँदी की खानों के अनुरूप हैं, जो जाहिलियत[1] में अच्छे थे, वे इस्लाम में भी अच्छे हैं, यदि वे इस कथन का महत्त्व समझें।" इस प्रकार योग्यता एवं नैतिकता का आधार कुल है।

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि कुल का लाभ "असबियत" में निहित है, जो पारस्परिक सहायता एवं स्नेह के लिए विवश करती है। अतः "असबियत" जितनी ही दृढ़ एवं महान् होगी और घराना प्रतिष्ठित एवं सम्मानित होगा, उतना ही कुल का लाभ अधिक स्पष्ट तथा प्रभावशाली होगा। पूर्वजों की प्रतिष्ठा एवं उनका सौजन्य सोने पर सुहागे का काम करेगा, अतः ऐसे घरानों में वंशवृक्ष के अधिक स्पष्ट होने के कारण योग्यता एवं प्रतिष्ठा भी वास्तविक एवं तथ्य पर आधारित होगी। विभिन्न घरानों में "असबियत" की भिन्नता के साथ साथ प्रतिष्ठा एवं सम्मान में भी अन्तर रहेगा। अब जो लोग अपने क़बीलों से पृथक् होकर अलग-अलग नगरों में जाकर बस जाते हैं और उनमें "असबियत" एवं पारस्परिक स्नेह नाम मात्र को रह जाता है, वहाँ उनको वंशवाला कहने का कोई महत्त्व नहीं है। यदि वे इसका दावा भी करें तो यह केवल उनकी भूल है।

यदि नागरिक जीवन की सहृदयता देखी जाय तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि शरीफ़ नगरवासी अपने पूर्वजों के कारण चरित्रवान् कहे जाते हैं और इनकी संतान में किसी प्रकार का मिश्रण नहीं हुआ है। किन्तु जब "असबियत" शेष नहीं तो फिर ऐसे लोगों को कुल एवं पूर्वजों की नैतिकता तथा सहृदयता से कोई लाभ नहीं हो सकता, अतः उनका शरीफ़ एवं उच्च वंश का होना केवल नाम मात्र का ही है, और वह भी इस कारण कि उनके पूर्वज एक निश्चित नैतिकता के मार्ग के पथिक रह चुके हैं, अन्यथा वास्तविक प्रतिष्ठा एवं सौजन्य उनमें कहाँ? यदि यह कहा जाय कि उनमें नाम के अर्थानुसार सौजन्य भी वास्तविक है, तो यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका पूर्ण सौजन्य

१. इस्लाम के पूर्व का अरब युग।

संदिग्ध है। यह बात नगरवासियों की अपेक्षा उजाड़ स्थान के निवासी क़बीलों के लिए अधिक सत्य है।

कभी कभी किसी वंश को उसके चरित्रबल, नैतिकता एवं "असबियत" के कारण पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, किन्तु जैसे ही वह नागरिक जीवन में प्रविष्ट होता है उसकी प्रतिष्ठा में कमी होने लगती है और कुल मिलजुल जाते हैं। फिर मस्तिष्क में प्रतिष्ठा नाम मात्र को ही रह जाती है जिसके फलस्वरूप वे अपनी गणना शरीफ़ों में करने लगते हैं, हालाँ कि सौजन्य से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि वे "असबियत" से वंचित होते हैं। इस प्रकार अधिकांश नगरवासी अरब एवं अजम[1] अपने प्रारम्भिक नागर जीवन में इसी झूठी प्रतिष्ठा एवं मिथ्या आग्रह से ग्रस्त रहते हैं।

बनी इसराईल भी इसी भ्रम में पड़े रहे। सर्वप्रथम उनका वंश समस्त संसार में प्रतिष्ठा एवं सौजन्य के लिए प्रसिद्ध था, कारण कि हज़रत इबराहीम[2] से हज़रत मूसा[3] तक उनमें शरीअत[4] वाले होते रहे और नबियों एवं पैग़म्बरों के जन्म का उनमें क्रम बँधा रहा। इसके अतिरिक्त उनमें "असबियत" थी और वे राज्य के स्वामी थे, किन्तु बाद में उनके इन गुणों का अन्त हो गया और वे अपमानित एवं तिरस्कृत हो गये। उनके भाग्य में देश से निर्वासन लिख दिया गया और सहस्रों वर्षों तक वे काफ़िरों के दास बने रहे। किन्तु फिर भी वे प्रतिष्ठा के भ्रम में पड़े रहे। अब भी उनमें से कोई हारूनी[5] कहलाता है, कोई यूशा की संतान होने का गर्व करता है तो कोई अपनी वंशावली कलेब से मिलाता है, कोई अपने आप को यहुजा से सम्बन्धित बताता है, यद्यपि दीर्घ काल से वे "असबियत" से अपरिचित तथा अपमानित हैं। केवल यही नहीं, अधिकांश नगरवासी इसी प्रतिष्ठा के पागलपन से ग्रस्त हैं, हालाँ कि वे "असबियत" का नाम तक नहीं जानते।

अबुल वलीद बिन रुशुद[6] ने इस सम्बन्ध में यह लिखने में भूल की है कि "किताबुल

१. जो अरब न हों।
२. अबराहम।
३. मोज़ेज।
४. धार्मिक विधान।
५. ऐरोनाइट।
६. अबुल वलीद मुहम्मद इब्ने अहमद, जिसे यूरोप वाले Averroes कहते हैं, बड़ा प्रसिद्ध दार्शनिक हुआ है। ११४९ ई० में उसका कार्डोवा (स्पेन) में जन्म

खिताबत" में, जो अरस्तू के एक ग्रंथ का संक्षिप्त रूपांतर है, इस विषय में केवल इतना ही लिखा है कि "प्रतिष्ठा का लक्षण है मनुष्यों का ऐसा आभिजात्य जो प्राचीन काल में किसी समय नगर में आकर बसनेवाले पूर्वजों से प्राप्त हुआ हो।" वह उस शोध तक नहीं पहुँच सका जो हमने की है। काश, वह यह समझता कि किसी क़ौम के प्राचीन काल में किसी नगर में बस जाने से मनुष्य को क्या लाभ पहुँच सकता है, जब कि क़ौम में "असबियत" का अन्त हो चुका हो, जो भय एवं आतंक के लिए भी आवश्यक है और शासन एवं राज्य के लिए भी। सम्भवतः उसने पूर्वजों की महत्ता को ही अपनी प्रतिष्ठा समझ लिया है। वार्तालाप द्वारा प्रतिष्ठित लोगों को प्रभावित और अपनी ओर आकृष्ट किया जा सकता है और बातचीत में दक्ष लोग ही बड़े-बड़े अधिकारों के स्वामी होते हैं। जिनमें यह शक्ति नहीं होती उनकी ओर न तो कोई अन्य व्यक्ति ध्यान देता है और न वे किसी अन्य को अपनी ओर आकृष्ट कर सकते हैं। नगरवासी साधारणतः इसी प्रकार के लोग होते हैं। उनकी बात की कोई भी परवाह नहीं करता। चूँकि इब्ने रुशद का पालन-पोषण नगर में हुआ और "असबियत" से उसका कोई सम्बन्ध न था और न "असबियत" सम्बन्धी लाभों से उसे कोई मतलब था, अतः प्रतिष्ठा एवं वंश के विषय में जो बातें साधारणतः प्रसिद्ध थीं, वह उन्हीं से प्रभावित हो गया अर्थात् (उसने यही समझा कि) प्रतिष्ठा केवल पूर्वजों के उल्लेख को कहते हैं। वह इस विषय में तथ्य तक न पहुँच सका।

(१४) दासों एवं पाले हुए लोगों के वंश की प्रतिष्ठा एवं सम्मान उनके स्वामियों तथा आश्रयदाताओं के कारण होता है, न कि कुल की प्राचीनता द्वारा

यह इस प्रकार है कि पूर्व में हम उल्लेख कर चुके हैं कि प्रतिष्ठा वास्तव में "असबियत" वालों द्वारा ही सम्भव है। अतः जब "असबियत" के स्वामी किसी अन्य कुल वाले को पाल लें अथवा उसे दास बना लें और वह कुल के बन्धनों एवं सम्बन्धों में भी बंध जाय तो ऐसे दास तथा पाले हुए लोग अपने स्वामियों एवं आश्रयदाताओं के कुल की प्रशंसा करने लगते हैं और उन्हीं के रंग में रंग जाते हैं, मानो दासों एवं स्वामियों की "असबियत" एक ही हो। "असबियत" के बंधन में बँध जाने के कारण कुल की

हुआ। उसने कई ग्रंथों का, जो अरस्तू के बताये जाते हैं, अनुवाद किया। कहा जाता है कि ११९९ ई० में मोराको में उसकी मृत्यु हुई।

एकता का संबंध भी होने लगता है। हज़रत मुहम्मद ने कहा है,—"क़ौम के दासों की गणना क़ौम में ही होती है। चाहे वह दास हो या पाला हुआ।"

दास इत्यादि का वह कुल जिसमें उसका जन्म हुआ, उसकी नयी "असबियत" में लाभदायक नहीं हो सकता,कारण कि उसका मौलिक कुल उस कुल से, जिसमें वह आकर सम्मिलित हुआ है, पूर्णतः भिन्न होता है। उसके अन्य कुल में सम्मिलित हो जाने से उसका मौलिक कुल भुला दिया जाता है, कारण कि वह अपनी 'असबियत" वालों से पृथक् हो चुकता है। अतः दास एवं किसी अन्य पाले हुए व्यक्ति की गणना उस नवीन क़ौम में होती है और वह उसी में से एक समझा जाने लगता है। जब स्वामी तथा आश्रयदाता दास अथवा पाले हुए व्यक्ति की क़ौम से भिन्न होते हैं तो दास अथवा पाले हुए व्यक्ति के वंश की प्रतिष्ठा उन्हीं के संबंध से होगी और वह उनकी प्रतिष्ठा से नहीं बढ़ सकती, अपितु कम ही रहेगी। इस प्रकार राज्यों एवं सल्तनतों के दास सेवा एवं दासता प्रदर्शित करने में जितनी अधिक निष्ठा प्रदर्शित करते हैं उतना ही अधिक उनका सम्मान बढ़ जाता है।

देखना चाहिए कि अब्बासी ख़लीफ़ाओं के युग में बनी बरमक[1], तुर्क दासों एवं बनू नवबख़्त ने राज्य की दासता के बावजूद बहुत अधिक प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त कर लिया और उन्होंने नये-नये शासनों की स्थापना की। जाफ़र बिन यहया[2] बिन ख़ालिद, हारूनुर्रशीद एवं उसकी क़ौम का दास होने के कारण बड़े घराने वाला एवं प्रतिष्ठित समझा जाता था, न कि इस कारण कि उसका फ़ारस वालों के वंश से सम्बन्ध था। प्रत्येक राज्य में ऐसा ही होता है कि सेवा में एवं दासता में प्रतिष्ठा एवं सम्मान पाने के कारण दासों तथा परिजनों का सम्मान एवं प्रभाव घटता बढ़ता रहता है। अन्य कुल के अधिक प्रभाव के कारण उनका अपना कुल भुला दिया जाता है और उनमें कोई तथ्य नहीं रह जाता। उन्हें उसी कुल के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त होती है

१. अब्बासी ख़लीफ़ा मंसूर (७५४–७७५ ई०) ने अपना प्रधान मंत्री ख़ालिद इब्ने बरमक को बनाया। बरमक बल्ख के एक बौद्ध विहार का मुख्य पुजारी था। ख़ालिद के वंशज बहुत समय तक अब्बासियों के प्रधान मंत्री रहे।

२. जाफ़र यहया का पुत्र तथा ख़ालिद का पौत्र था। अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त वह अब्बासी ख़लीफ़ा हारूनुर्रशीद का प्रधान मंत्री हुआ। वह ख़लीफ़ा का बड़ा विश्वास-पात्र था किन्तु बाद में ख़लीफ़ा ने उससे रुष्ट होकर २९ जनवरी ८०३ ई० को उसकी हत्या करा दी।

जिसमें उनका पालन-पोषण होता है और "असबियत" में भी वे उन्हीं के साथ संबन्धित होते हैं। संक्षेप में दासों की प्रतिष्ठा स्वामियों की ही प्रतिष्ठा एवं दासों का "आदि" स्वामियों का ही "आदि" होता है। इस प्रकार उन्हें अपने कुल से कोई लाभ नहीं होता, कारण कि सम्मान एवं प्रतिष्ठा का आधार दासता अथवा पालन-पोषण का सम्बन्ध होता है। कभी ऐसा होता है कि पहले कुल में "असबियत" एवं राज्य होते हैं किन्तु उनके नष्ट हो जाने के बाद ऐसे लोग अन्यों की दासता एवं पालन-पोषण के अन्तर्गत आ जाते हैं। ऐसी दशा में प्रथम कुल एवं "असबियत" से उन्हें कोई लाभ नहीं पहुँचता। उनके लिए समस्त लाभों के द्वार अन्य किसी दूसरे कुल में खुलते हैं। बनी बरमक की प्रतिष्ठा में यह बात पूर्णतः सिद्ध हो जाती है कि फ़ारस में वे मोबद[1] घराने से सम्बन्धित थे, किन्तु अब्बासियों की दासता में पहुँचकर उनके पिछले कुल का कोई मूल्य न रहा। अब्बासियों की दासता एवं आश्रय द्वारा ही उन्हें सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त उनके सम्मान के किसी अन्य स्रोत की खोज का कोई महत्त्व नहीं। "तुम लोगों में से ईश्वर की दृष्टि में वही सबसे अधिक सम्मानित है जो उसका सबसे अधिक भय करता है।"[2]

(१५) किसी घराने की प्रतिष्ठा चार पीढ़ियों तक चलती है

यह बात पूर्णतः स्पष्ट है कि संसार की प्रत्येक वस्तु एवं उसकी स्थिति नश्वर है। खनिज पदार्थ, वनस्पति, पशु एवं मनुष्य सभी नष्ट हो जाते हैं। अब मनुष्यों का उदाहरण ले लिया जाय। ज्ञान-विज्ञानों की एक समय चर्चा होती है और वे फिर नष्ट हो जाते हैं। कला-कौशलों का अभ्युदय होता है और वे बाद में विनष्ट हो जाते हैं। कुल एवं वंश से सम्बन्धित प्रतिष्ठा आज किसी वंश तथा क़बीले को मिलती है और कल कोई उनका नाम तक नहीं जानता। कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं मिल सकता जिसके पूर्वज आदम से लेकर इस समय तक प्रतिष्ठा के स्वामी रहते चले आये हों। यह सम्मान केवल मुहम्मद साहब को प्राप्त है। आपके पूर्वज निःसन्देह आदम से लेकर आपके समय तक प्रतिष्ठित एवं सम्मानित रहे। यह केवल आपकी विशेषता एवं सम्मान है। जिस प्रकार अन्त में वंश की प्रतिष्ठा शून्य को प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार उसको प्रारम्भिक अस्तित्व का शून्य होना भी परमावश्यक है, जैसा कि संसार की प्रत्येक नश्वर वस्तु का गुण है कि वह शून्य से निकलती है और शून्य में ही मिल जाती है।

१. अग्नि-पूजकों के पुजारी।
२. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

हमने जो यह बात कही कि कुल की प्रतिष्ठा चार पीढ़ियों से अधिक नहीं चलती, उसका कारण यह है कि वंश की प्रतिष्ठा का संस्थापक भली-भाँति जानता है कि उसको आदर-सम्मान किस प्रकार प्राप्त हुआ है, अतः वह उन गुणों की रक्षा में, जो उसके सम्मान एवं प्रतिष्ठा का कारण हुए, अपनी जान लड़ा देता है। वह अपने ठाट-बाट को स्थायी रखने का प्रयत्न करता रहता है। जब पुत्र का समय आता है तो वह अपने पिता द्वारा सुनी सुनाई बातों के आधार पर पिता के पद-चिह्नों पर चलता है, किन्तु पिता तथा पुत्र के प्रयत्नों में वह अन्तर होता है जो किसी घटना के पात्र तथा उस घटना के श्रोता में होता है। किन्तु जब तीसरे व्यक्ति अर्थात् पोते की बारी आती है तो वह अपने पिता का अनुसरण करता है। किन्तु उसमें तथा उसके पिता में वही अन्तर होता है जो एक अनुकरण करनेवाले तथा आविष्कार करनेवाले में होता है।

जब चौथे अर्थात् प्रपौत्र का समय आता है तो वह सब पुरातन रूढ़ियों से पृथक् हो चुकता है और उन आदतों एवं भावनाओं का पूर्णतः त्याग कर चुका होता है जो कभी खानदानी प्रतिष्ठा का आधार थीं। वह उन्हें अब घृणा की दृष्टि से देखता है। उसके हृदय में यह भ्रम बैठ जाता है कि उसके वंश की प्रतिष्ठा बलिदानों एवं कष्टों पर आधारित नहीं है, अपितु वह उसकी वंशागत परिपाटी है जिसका वह एवं उसका वंश पात्र है। न तो उस प्रतिष्ठा का आधार "असबियत" ही है न चरित्र एवं नैतिकता का बल। इस पीढ़ी के लोगों की दृष्टि केवल अपनी वर्त्तमान ख़ानदानी प्रतिष्ठा एवं सम्मान पर केन्द्रित रहती है। उन्हें प्राचीन वैभव एवं ऐश्वर्य के मूल कारण का कोई ज्ञान नहीं होता। वे अपने पूर्वजों की प्रतिष्ठा को अपने कुल का एक गुण समझते हैं जो स्वतः "असबियत" वालों में पाया जाता है। उनको इस बात का पूर्ण विश्वास होता है कि उनकी प्रतिष्ठा इसी प्रकार चलती रहेगी, कारण कि वे सर्वदा अन्य लोगों को अपने समक्ष झुकता देखते हैं। उनको इस बात का ज्ञान नहीं होता कि किन गुणों के आधार पर सब लोग उनके समक्ष झुक रहे हैं और हृदय से उनका साथ दे रहे हैं। जब उनमें यह यथेच्छाचार उत्पन्न हो जाता है तो क़ौम उनसे जलने लगती है और उन्हें अपमान की दृष्टि से देखने लगती है। फिर वह पिछली "असबियत" के आधार पर इस पीढ़ी के अतिरिक्त किसी अन्य पीढ़ी में से किसी व्यक्ति को चुनकर उसे प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्रदान करने लगती है। फलतः नये कुल एवं नयी पीढ़ी को सम्मान प्राप्त हो जाता है और पहले की पीढ़ी, जिसे अपने विषय में अभिमान हो गया था, भुला दी जाती है। इसी प्रकार के परिवर्तन बादशाहों, सुल्तानों, अमीरों, प्रतिष्ठित लोगों एवं "असबियत" वालों में चलते रहते हैं। नगरों में जब कोई वंश अथवा घराना मैदान से

हट जाता है तो दूसरा वंश उसका स्थान ले लेता है। "यदि वह[1] नष्ट करना चाहता है तो वह ऐसा करा देता है और नया सर्जन कर देता है। ईश्वर के लिए यह कठिन नहीं।"

हमने प्रतिष्ठा एवं सम्मान के जीवन की अवधि जो चार पीढ़ियों तक निर्धारित की है तो यह कोई अटल सिद्धान्त नहीं है, अपितु अनेकों परिस्थितियों के अध्ययन के आधार पर यह सीमा रखी गयी है, कारण कि कभी-कभी चार पीढ़ियों की समाप्ति के पूर्व ही प्रतिष्ठा एवं सम्मान का अन्त हो जाता है। कभी प्रतिष्ठा एवं सम्मान चार पीढ़ियों से आगे बढ़कर पाँचवीं तथा छठी पीढ़ी तक पहुँच जाते हैं। किन्तु पतन अवश्य प्रारम्भ हो जाता है और वे विनाश की ओर बढ़ने लगते हैं। हमने चार पीढ़ियों की सीमा इस कारण निर्धारित की है कि इसमें से पहली पीढ़ी प्रतिष्ठा की संस्थापक होती है, दूसरी बनी हुई बात को निभानेवाली, तीसरी केवल अनुकरण करनेवाली और चौथी किये कराये पर पानी फेरनेवाली......।[2]

(१६) वहशी क़ौमें दूसरी क़ौमों की अपेक्षा प्रभुत्व शीघ्र प्राप्त कर लेती हैं

इससे पूर्व तीसरी प्रस्तावना में उल्लेख हो चुका है कि बदवी जीवन वीरता का कारण होता है। इसी तथ्य के आधार पर वहशी क़ौमें वीरता एवं पौरुष में अद्वितीय होती हैं। उनमें प्रभुत्व प्राप्त करने की शक्ति बहुत अधिक होती है जिसके फलस्वरूप वे अपनी इच्छानुसार अन्य क़ौमों से प्रभुत्व छीन लेती हैं। इस तरह कालचक्र के कारण परिवर्तन होते रहते हैं। जब कभी ये क़ौमें हरे-भरे स्थानों में बस जाती हैं और भोग-विलास में अपना समय व्यतीत करने लगती हैं तो इस स्थानान्तरण के कारण उनकी वहशत में जितनी कमी होने लगती है, उतनी ही उनकी वीरता एवं बदवियत[3] भी कम होती जाती है। मूक पशुओं में से उदाहरणार्थ बकरा, मृग, बारहसिंगा, गधा एवं गोरखर यद्यपि एक ही प्रकार के पशु हैं, किन्तु पालतू जानवरों का जंगलीपन मनुष्यों के साथ रहने के कारण नष्ट हो जाता है और वे आराम के आदी हो जाते हैं। उनके उठने-

१. ईश्वर।
२. इस्लामी इतिहास से कुछ उदाहरण।
३. बदवी अथवा बद्दुओं का जीवन।

बैठने, तेज़ी, चाल-ढाल, रंग-रूप, सभी में परिवर्तन हो जाता है। यही दशा वहशी मनुष्यों की भी है, कारण कि वहशत की समाप्ति के उपरान्त ये भी अपने स्वभाव के जीर्ण वस्त्र उतार फेंकते हैं। इस तथ्य का कारण यह है कि मनुष्य की आदतें एवं स्वभाव अपने चारों ओर के वातावरण से अत्यधिक प्रभावित होते हैं।

चूँकि क़ौमों को प्रभुत्व एवं श्रेष्ठता वीरता, पौरुष, साहस एवं मनचलेपन के गुणों के कारण प्राप्त होती है, अतः जिस क़ौम में बदवियत एवं वहशत अधिक होगी वही दूसरी क़ौमों की अपेक्षा शीघ्र प्रभुत्व प्राप्त कर लेगी, चाहे दोनों पक्ष वाले संख्या एवं "असबियत" की शक्ति में बराबर के ही क्यों न हों। इस प्रकार मुज़र नामक क़बीले पर दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि उन्होंने बदवियत एवं वहशत पर दृढ़ रहने के कारण हमीर एवं कहलान सरीखे भोग-विलासग्रस्त क़बीलों पर अधिकार प्राप्त कर लिया। रबीआ, जो इराक़ के हरे-भरे स्थानों में निवास करते एवं भोग-विलास में ग्रस्त रहते थ, पराजित हो गये। रेगिस्तान के जीवन ने बनु मुज़र को प्रभुत्व प्राप्त करने के योग्य बना दिया। अन्य समूहों के अधिकार में जो कुछ था, उसे उन्होंने छीन लिया।

इसके उपरान्त बनू तै, बनू आमिर बिन सासेया तथा बनू सुलैम बिन मंसूर ने मुज़र क़बीले के साथ वही व्यवहार किया जो मुज़र क़बीला हमीर तथा कहलान के साथ कर चुका था। इसका कारण यह था कि प्रभुत्वशाली मुज़र के पश्चात् भी वे उसी प्रकार वहशी एवं बद्दू बने रहे और उनकी "असबियत" एवं उनके वैभव में कोई अन्तर न पड़ा। वे समृद्धि एवं भोग-विलास से दूर रहे, यहाँ तक कि मुज़र पर भी उन्होंने प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। यही दशा अरब के समस्त क़बीलों की रही कि वे जितना ही समृद्धि एवं भोग विलास के निकट होते गये, उतना ही दूसरों से पराजित होते गये। संक्षेप में बदवी क़बीले संख्या एवं शक्ति में समान होने के बावजूद अपने प्रतिस्पर्धी पर सर्वदा प्रभुत्व प्राप्त करते रहे।

(१७) "असबियत" राज्य-प्राप्ति के लक्ष्य की ओर ले जाती है

हम इससे पूर्व यह उल्लेख कर चुके है कि "असबियत" के ही आधार पर पक्षपात, शक्ति, प्रतिरक्षा एवं अधिकार की माँग की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और इस बात का भी उल्लेख हो चुका है कि मनुष्य को अपने सामाजिक जीवन में स्वाभाविक रूप से किसी शासक एवं न्यायकारी की आवश्यकता होती रहती है, ताकि वह एक को

दूसरे के अन्याय से बचाये। उस हाकिम के लिए यह आवश्यक है कि वह "असबियत" के बल पर अधीनस्थ व्यक्तियों पर अधिकार स्थापित रखे, ताकि उसके समस्त आदेश भली भाँति प्रचलित हो सकें। इसी प्रभुत्व को राज्य अथवा सल्तनत कहा जाता है। यह राज्य एवं सल्तनत मानो शासन के अतिरिक्त एक वस्तु है। कारण कि शासन केवल एक प्रकार का नेतृत्व होता है, जिसमें शासक सबका नेता एवं सबमें अधिक प्रभुत्वशाली होता है। उसकी बात को सभी पसन्द करते हैं और हृदय से उसको स्वीकार करते हैं, किन्तु उसको किसी पर अत्याचार एवं अन्याय का अधिकार नहीं होता। इसके विपरीत शाहंशाहियत एवं सल्तनत को बल एवं शक्ति आतंक एवं प्रभुत्व के कारण प्राप्त होती है।

"असबियत" का स्वामी जब इस उच्च श्रेणी को प्राप्त हो जाता है तो वह ऊपर की ही श्रेणी पर दृष्टि डालता है। जब वह अधिकार एवं सर्वसाधारण पर आज्ञा-कारिता प्राप्त कर लेता है और आतंक एवं शक्ति के प्रदर्शन का ज़रा-सा भी अवसर मिलने पर वह उसे हाथ से नहीं जाने देता। कारण कि मनुष्यों को यह आतंक स्वाभाविक रूप से पसन्द है और यह प्रभुत्व एवं शक्ति उसे "असबियत" के बिना नहीं प्राप्त हो सकती। इसका यह निष्कर्ष निकला कि राजनीतिक प्रभुत्व "असबियत" का अन्तिम एवं एक मात्र उद्देश्य है और हम यही सिद्ध करना चाहते थे।

यदि एक क़बीले में विभिन्न घराने अपनी अपनी पृथक् "असबियत" रखते हों तो उनमें एक "असबियत" का होना आवश्यक है, जो समस्त "असबियतों" से शक्तिशाली एवं प्रभुत्व-सम्पन्न हो और सबको अपने में मिला ले, मानो उसकी गणना एक बड़ी "असबियत" में हो जिसे हम देश अथवा राज्य की "असबियत" कह सकते हैं। यदि ऐसी दशा न होगी तो क़बीलों एवं वंशों का संगठन छिन्न-भिन्न हो जायगा और लोग विरोध एवं झगड़े में पड़कर नष्ट हो जायँगे, जैसा कि ईश्वर ने कहा है,—"यदि ईश्वर मानव को अलग-अलग न रखे तो पृथ्वी नष्ट हो जायगी।"[1] जब यह राजनीतिक "असबियत" विशेष क़बीलों की "असबियतों" पर छा जाती है तो स्वाभाविक रूप से दूर की अन्य "असबियतों" पर प्रभुत्व ढूँढ़ती है। यदि वे "असबियतें" उसके बराबर की टक्कर की हैं और मुक़ाबले में डट जाती हैं तो संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है और किसी को प्रभुत्व नहीं प्राप्त होता, अपितु प्रत्येक "असबियत" अपने-अपने स्थान

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

पर स्थापित रहती है। अर्थात् प्रत्येक का प्रभुत्व अपनी ही क़ौम एवं अपने ही क़बीले पर रहता है। जिस प्रकार संसार के विभिन्न क़बीले एवं क़ौमें अलग-अलग बसती रहती हैं और पारस्परिक संघर्ष के कारण एक को दूसरे क़बीले और दूसरे शासन एवं "असबियत" पर प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है, तब विजयी शासन एवं "असबियत" दूसरी शक्ति को हड़पकर वीर बन जाती है और उसके प्रभुत्व एवं शासन की भावनाएँ और भी जागृत हो जाती हैं। इसी प्रकार एक शासन अपने प्रभुत्व का क्षेत्र बढ़ाता रहता है और अन्य शक्तियों को हड़पता रहता है। इसी वेग में ऐसे शासनों से भी संघर्ष हो जाता है जो एक वृद्ध की भाँति अपने जीवन की घड़ियाँ गिनते रहते और "असबियत" वाले एवं राज्य के अधिकारी उनका साथ छोड़ चुकते हैं। उन पर इस नयी सत्ता को अधिकार प्राप्त हो जाता है और वह राज्य प्राप्त कर लेती है और समस्त देश उसी के अधीन हो जाता है। यदि प्रतिस्पर्धी सत्ता शक्तिहीन हो जाय किन्तु उसमें अभी प्राण शेष हों और "असबियत" वालों की सहायता चाहती हो तो राज्य उसके पदाधिकारियों में सुरक्षित रह जाता है, जो कि कठिनाई के समय उसकी रक्षा करके उसे बचा लेते हैं और उस नये राज्य का ज़ोर रुक जाता है। तुर्कों को अब्बासियों के साथ, सिनहाजा एवं ज़नाता को कुतामा के साथ और बनी हमदान को अलवियो एवं अब्बासी सुल्तानों के साथ इसी प्रकार की घटनाओं का सामना करना पड़ा।

इस तर्क-वितर्क से यह स्पष्ट हो गया कि राज्य "असबियत" का लक्ष्य है और जब "असबियत" चरम सीमा को पहुँच जाती है तो क़बीले को प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है, चाहे वह अत्याचार एवं अधिकार द्वारा हो, चाहे प्रतिरक्षा के कारण। संक्षेप में समय के अनुसार जो उचित होता है वही होता है। यदि "असबियत" चरम सीमा को न पहुँच जाय अपितु उसमें बाधाएँ पड़ती रहें तो वह आगे बढ़ते-बढ़ते रुक जाती है और दैवी निर्णय की प्रतीक्षा किया करती है।

(१८) भोग-विलास एवं समृद्धि का आदी हो जाना क़बीलों को राज्य प्राप्त करने से वंचित रखता है

इसका कारण यह है कि जब कोई क़बीला "असबियत" के आधार पर एक प्रकार का प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है तो प्रभुत्व के ही अनुपात से वह समृद्धि एवं सांसारिक सुखों से लाभ उठाता है और विलासप्रिय लोगों की सूची में सम्मिलित हो जाता है।

संक्षेप में अपनी शक्ति एवं प्रभुत्व के अनुसार तथा अपने आश्रयदाता राज्य की सहायता एवं उस के महत्त्वानुसार वह आनन्द-मंगल मनाने लगता है। यदि वह राज्य, जिसका यह क़बीला सहायक है, इतना शक्तिशाली है कि कोई अन्य सत्ता उस राज्य को छीनने अथवा राज्य में साझीदार बनने में असमर्थ है, तो यह क़बीला उसके राज्य पर आश्रित होकर प्राप्य समृद्धि एवं भोग-विलास पर संतुष्ट रहता है और जो कुछ आय होती है उसी को पर्याप्त समझकर बैठा रहता है। उसे कभी किसी राज्य के अपहरण करने अथवा अपहरण के साधन जुटाने की इच्छा नहीं होती। उसका उद्देश्य केवल धन-सम्पत्ति द्वारा आराम उठाना, कला-कौशल सीखना एवं भोग-विलास का जीवन व्यतीत करना होता है। वह राज्य की छत्रछाया में आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहता है। उस क़बीलेवाले अपने साधनों के अनुसार सुन्दर भवनों का निर्माण कराते हैं, तथा उत्तम वस्त्र धारण करते हैं। संक्षेप में उनका विलासमय जीवन इसी प्रकार बढ़ता जाता है और वे अपने ऐश व आराम के समस्त साधन एकत्र करते जाते हैं। फलतः बदवियत की कठोरता, "असबियत" एवं वीरता की भावनाएँ उसमें से निकलती जाती हैं और वे लोग समृद्धि की गोद में पलने लगते हैं। तदुपरान्त उनकी सन्तान एवं आनेवाली पीढ़ियों का जन्म भी इसी वातावरण में होता है। वे अपना कार्य स्वयं करना नहीं जानतीं, अपितु अन्य लोगों से सेवा कराना जानती हैं। वे उन बातों से पूर्णतः अपरिचित होती हैं जो "असबियत" हेतु आवश्यक होती हैं। यह बात उनके स्वभाव में प्रविष्ट हो जाती है। इसी प्रकार आनेवाली सन्तानें भी "असबियत" एवं वीरता से दूर होती जाती हैं और "असबियत" भी उनसे पृथक् हो जाती है, यहाँ तक कि इसके कारण पूरे क़बीले का विनाश हो जाता है। उनके द्वारा अपनी शक्ति एवं प्रभुत्व को स्थापित रखने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, कारण कि यह अनेक बार स्पष्ट किया जा चुका है कि भोग-विलास का जीवन एवं आराम "असबियत" का, जो प्रभुत्व का विशेष स्रोत है, अन्त कर देते हैं। क़बीले की "असबियत" के अन्त के कारण उसमें प्रतिरक्षा एवं बचाव की भावनाएँ भी नहीं रहतीं और वे अन्य लोगों द्वारा अपना प्रभुत्व स्वीकार नहीं करा सकतीं। अन्य क़ौमें उसे सुगमतापूर्वक हड़प कर डालती हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि भोग-विलास एवं आराम देश एवं राज्य के शत्रु हैं। "ईश्वर जिसे चाहता है उसी को राज्य प्रदान करता है।"[1]

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

(१९) अपमान एवं तिरस्कार सहने की आदत तथा अन्य लोगों की आज्ञाकारिता भी क़बीले के लिए राज्य एवं सल्तनत की प्राप्ति में बाधक होती है

इसका कारण यह है कि अपमान एवं तिरस्कार सहन करने का आदी होना तथा अन्य लोगों की आज्ञाकारिता द्वारा "असबियत" का विनाश हो जाता है एवं उसका ज़ोर तथा तेज़ी समाप्त हो जाती है। कारण कि अधीनता एवं अपमान सहन करना इस बात का खुला प्रमाण है कि "असबियत" का अन्त हो चुका है और न अब प्रतिरक्षा की भावनाएँ शेष हैं, मानो प्रतिरक्षा एवं आगे बढ़ने की भावनाएँ पूर्णतः समाप्त हो चुकी हैं। उदाहरणस्वरूप जब हज़रत मूसा ने बनी इसराईल को शाम देश की ओर ले जाना चाहा और यह सुखद समाचार सुनाया कि शाम देश का राज्य ईश्वर ने तुम्हारे भाग्य में लिख दिया है, तो वे हतोत्साहित हो गये और खुले शब्दों में अपनी अस्वीकृति इस प्रकार प्रकट की—"उसमें तो एक आतंकवादी क़ौम रहती है, जब तक वे वहाँ से न निकलें हम कदापि वहाँ न जायँगे।"[1] अर्थात् ईश्वर अपनी शक्ति से उन्हें वहाँ से निकाल दे, किन्तु हम "असबियत" के सहारे से उनसे युद्ध न करेंगे और प्राणों को खतरे में न डालेंगे और यदि ऐसा हो गया तो हे हज़रत मूसा! हम इसे आपका चमत्कार समझेंगे। उस पर भी जब मूसा ने उन्हें अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया तो वे हठधर्मी और ज़िद्द करने लगे और अवज्ञा से परिपूर्ण वाक्य कहने लगे, "तुम तथा तुम्हारा रब दोनों मिलकर उनसे युद्ध करें।"[2]

इसका कारण यह था कि मुक़ाबले एवं अपने अधिकार की माँग उनके हृदय से मिट चुकी थी और एक महान् अविश्वास व्यापक हो गया था। वे साहसहीन हो चुके थे। कई पीढ़ियों से क़िब्तियों[3] के अत्याचार सहते-सहते उनके हृदय में आज्ञाकारिता तथा अपमान की भावनाएँ आरूढ़ हो चुकी थीं और "असबियत" का अन्त हो गया था। इसके अतिरिक्त उन्हें हज़रत मूसा के इस संदेश पर पूर्ण विश्वास भी न होता था कि शाम का राज्य उनके भाग्य में लिखा जा चुका है और वे ईश्वर के आदेश से शाम के अमालेक़ा को पराजित भी कर सकते हैं। इस कारण वे झिझक गये

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
२. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
३. मिस्र के काप्टस्।

और उन्होंने राज्य की माँग न की। चरित्र में अपमान की भावनाओं के उत्पन्न हो जाने के कारण वे नबी के सच्चे संदेश में वाद-विवाद करने लगे और निन्दा एवं कटु आलोचनाएँ प्रारम्भ कर दीं। इस कारण ईश्वर ने उन्हें शाम एवं मिस्र के मध्यवर्ती रेगिस्तान में बन्दी बना दिया और वे उसमें ४० वर्ष तक भटकते रहे। इस दीर्घ-काल में न तो वे किसी सभ्यता का मुंह देख सके और न वे किसी नगर का पता लगा सके और न किसी मनुष्य के दर्शन कर पाये। क़ुरान शरीफ़ में इस घटना का उल्लेख हुआ है।

क़ुरान की आयत[1] द्वारा ज्ञात होता है कि रेगिस्तान के निवास के दंड में एक विशेष रहस्य यह था कि क़िब्ती, जो आतंकवादी एवं कठोर शासन में पलकर सर्वदा के लिए अपमानित एवं "असबियत" से वंचित हो चुके हैं, रेगिस्तान में नष्ट हो जायँ और उनके स्थान पर एक अन्य आत्मसम्मानवाली क़ौम पैदा हो, जिसने किसी के आतंक एवं किसी की कठोरता को सहन न किया हो और अपमान एवं तिरस्कार से उसका पाला न पड़ा हो, ताकि नवजात "असबियत" के बल पर वे अपने अधिकार की माँग हेतु दृढ़ हो जायँ और शत्रु पर छा जायँ। यहीं से इस रहस्य का भी पता चलता है कि चालीस वर्ष की अवधि वह कम से कम अवधि है जिसमें एक पीढ़ी मर-खपकर विनाश के गर्त में पहुँच जाती है और दूसरी पीढ़ी उसके स्थान पर उत्पन्न हो जाती है। संक्षेप में यह घटना "असबियत" के प्रभाव को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करती है कि प्रतिरक्षा, मुक़ाबले, पक्षपात एवं अपने अधिकार की माँग सबकी सब "असबियत" पर आधारित हैं। जो इससे वंचित हुआ, वह इन सब भावनाओं एवं योग्यताओं को खो देता है।

क़ौम में अपमान एवं तिरस्कार को सहन करने की भावनाएँ उत्पन्न करने के लिए कर, जुर्माने एवं लगान इत्यादि का भी बड़ा हाथ है। जुर्माना तथा कर वही क़ौम अथवा वही क़बीला अदा करेगा जो अपमान एवं तिरस्कार को सहन करे। कारण कि इनमें खुला हुआ अपमान एवं तिरस्कार है जिसे आत्म-सम्मान वाले किसी प्रकार उस समय तक नहीं सहन कर सकते जब तक उन्हें हत्या एवं विनाश से भय न दिलाया जाय, अथवा उनमें "असबियत" की भावनाएँ इतनी कमज़ोर हो गयी हों कि उनको प्रतिरक्षा एवं मुक़ाबले के लिए प्रेरित न करें। जिसमें "असबियत" की भावनाएँ इतनी कमज़ोर हों कि वह अपमान एवं तिरस्कार को न टाल सके तो वह मुक़ाबले

१. वाक्य।

एवं अपने अधिकारों की माँग के लिए किस प्रकार तैयार होगा, अपितु वह तो अपमान एवं तिरस्कार स्वीकार करके तत्काल झुक जायगा। इस प्रकार मुहम्मद साहब का यह कथन भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है कि जब मुहम्मद साहब ने कुछ अंसार[1] के घरों में कृषि के यंत्र देखे तो कहा कि ये वस्तुएँ जिस किसी के घर में प्रविष्ट हुईं उसके घर में अपमान एवं तिरस्कार भी प्रविष्ट हो जाता है। इससे इस बात की ओर स्पष्ट संकेत है कि कृषि में लगान एवं जुर्माना अदा करना पड़ता है, जिसके अदा करने के उपरान्त मनुष्य अपमान से नहीं बच सकता, अपितु अपमान के साथ-साथ छल एवं धूर्तता जैसे दुर्गुण भी हृदय में प्रविष्ट हो जाते हैं। अतः जिस क़ौम अथवा क़बीले को यदि कोई कर अदा करने का अपमान सहन करते देखे तो समझ ले कि राज्य प्राप्त करने की उसमें कोई योग्यता नहीं। यहीं से यह भ्रम भी स्पष्ट हो जाता है कि मग़रिब में ज़नाता बदवी चरवाहों का व्यवसाय करते थे और समकालीन बादशाहों को कर अदा किया करते थे। यदि यह घटना सच होती तो राज्य उन्हें किस प्रकार प्राप्त होता और वे किस प्रकार शासन कर पाते।

इस प्रसंग में दरबन्द के बादशाह शहर बराज़ के शब्दों पर ग़ौर किया जा सकता है। जब अब्दुर्रहमान बिन रबीआ ने शहर बराज़ को घेरकर उसे परेशान कर दिया तो उसने शान्ति की प्रार्थना करते हुए निवेदन किया कि "आज से मैं तुम्हारी अधीनता स्वीकार करता हूँ। अब मेरा आदर सम्मान एवं अपमान तुम्हारे हाथ में है। आओ राज्य पर अधिकार जमा लो। ईश्वर तुम्हें और हमें शान्ति प्रदान करे। जो जिज़्या हम तुम्हें अदा करेंगे उससे तुम हमारी सहायता एवं अन्य कार्य करोगे। किन्तु हमसे जिज़्या लेकर हमें अपमानित मत करो। इससे तुम हमें इतना कमज़ोर कर दोगे कि हम तुम्हारे शत्रुओं के शिकार हो जायँगे। इस कहानी से हमारे उपर्युक्त कथन की पूर्ण रूप से पुष्टि होती है।

(२०) नैतिकता में दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयत्न क़ौम में राज्य प्राप्त करने का चिह्न है और यदि इसके विरुद्ध हो तो यह राज्य से वंचित होने का द्योतक है

यह ज्ञात हो चुका कि राज्य एवं सल्तनत की स्थापना मनुष्य की स्वाभाविक आवश्यकता है और मानवीय संगठन के लिए है। यह भी सत्य है कि मनुष्य अपने

१. मुहम्मद साहब के मदीने के सहायक।

वास्तविक स्वभाव एवं बुद्धि द्वारा निर्णय की शक्ति के कारण पाप के स्थान पर सदाचार एवं नैतिकता के निकट रहता है, कारण कि उसमें पाप उन पाशविक वृत्तियों के कारण आता है जो उसमें वर्त्तमान हैं। मानवता के नाते मनुष्य नैतिकता एवं उपकार की ओर ही आकृष्ट होता है और राज्य एवं राजनीति भी मनुष्य के लिए मानवता के कारण आवश्यक होती हैं। फिर इस बात का भी उल्लेख हो चुका है कि यश एवं प्रतिष्ठा का, जो राज्य हेतु आवश्यक हैं, आधार "असबयित" एवं एक-दूसरे की सहायता है।

यश उन बातों पर आधारित है जो उसके अस्तित्व को पूर्ण बनाती हैं, वे बातें मनुष्य के व्यक्तिगत गुण हैं। राज्य के अधिकार "असबियत" का परिणाम हैं। इसी प्रकार "असबियत" मनुष्य के व्यक्तिगत गुणों को पूर्ण बनाती है। राज्य के अधिकारों का अस्तित्व पूर्ण बनानेवाली बातों के बिना उस व्यक्ति के जीवन के समान है जिसके अंग कट चुके हैं अथवा ऐसा है कि मानो कोई वस्त्र पहने बिना लोगों के सामने नंगा खड़ा हो।

बिना प्रशंसनीय गुणों के "असबियत" सम्मानित वंशवालों का एक बहुत बड़ा अवगुण है। राज्य का अधिकार रखनेवालों में यदि यह अवगुण हो तो फिर यह और भी बड़ा दोष है, कारण कि राज्य के साथ जितना अधिक से अधिक प्रताप अथवा यश सम्भव है, वह उससे सम्बन्धित होता है। इसके अतिरिक्त राज्य एवं शासन के अधिकार ईश्वर की मानव के प्रति ज़मानत के रूप में हैं। शासक दैवी नियमों की रक्षा करता है और जहाँ तक दैवी नियमों का सम्बन्ध है, वह मनुष्यों के मध्य में ईश्वर के अनुरूप है। दैवी नियम मानव के उपकार के लिए ही होते हैं। धार्मिक नियमों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। बुरे क़ानून या तो मूर्खता और या शैतान की ओर से होते हैं और वे भाग्य एवं ईश्वर की शक्ति के विरुद्ध होते हैं। वह सदाचार एवं दुराचार दोनों का सर्जन करता है, कारण कि सर्जन की शक्ति उसके अतिरिक्त किसी अन्य में नहीं।

अब जिसमें पूरी "असबियत" वर्त्तमान हो और साथ ही साथ वह सदाचरण के ऐसे गुणों से, जो दैवी आदेशों को चलाने के लिए आवश्यक हैं, सुशोभित हो तो वह प्राणियों में ईश्वर का राज्य स्थापित करने और प्राणियों की रक्षा करने के योग्य होगा। यह दलील पिछली दलील से अधिक मज़बूत और विश्वास के योग्य है।

इस वाद-विवाद का सारांश यह निकला कि "असबियत" वाली क़ौमों में सदाचार एवं नैतिकता उनके द्वारा राज्य विजय करने के चिह्न हैं। इस प्रकार हम

जिन क़ौमों के लोगों को "असबियत" वाले पाते हैं और आस-पास की क़ौमों को उनके प्रभुत्व के अधीन पाते हैं तो वे सदाचार एवं नैतिकता में दूसरों से आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं और इसकी इच्छा प्रदर्शित करते हैं, दया एवं क्षमा भाव अपने स्वभाव में प्रविष्ट कर लेते हैं। वे दरिद्रों की बातों को सहन करते हैं, आतिथ्य की भावना अपने-आप में उत्पन्न करते हैं। परिश्रम, प्रयत्न एवं चेष्टा से कभी जी नहीं चुराते। कठिनाइयों को सहन करते हैं। जो वचन देते हैं उसका पालन करते हैं। आदर-सम्मान की रक्षा हेतु धन व्यय करने में कोई कसर नहीं उठा रखते। शरीअत का सम्मान करते हैं और शरीअत के आलिमों का आदर करते हैं। जब आलिम लोग शरीअत के अनुसार उनके लिए किसी कार्य को करने अथवा न करने का आदेश देते हैं तो वे उन आदेशों का सम्मान करते हैं। संक्षेप में वे उनके प्रति सद्भावना रखते हैं। धर्मवालों के प्रति ऐसी निष्ठा रखते हैं कि उनसे उन्हें आशीर्वाद की आशा होती है और उनसे वे अपने लिए शुभकामनाएँ कराते हैं। बुज़ुर्गों एवं सूफ़ी सन्तों के प्रति आदर-सम्मान का व्यवहार करते हैं। जब उन्हें कोई सत्य की ओर आकृष्ट करता है तो वे तत्काल आकृष्ट हो जाते हैं। शक्ति-हीनों के साथ न्याय करते हैं और उनके उपकार हेतु धन व्यय करने में भी संकोच नहीं करते। सत्य की किसी प्रकार उपेक्षा नहीं करते। दरिद्रों के प्रति नम्रतापूर्वक व्यवहार करते हैं। न्याय चाहनेवालों की शिकायतें सुनते हैं। शरई आदेशों एवं एबादतों पर दृढ़ रहते हैं। ऐसे अवगुणों से, जो छल, धूर्तता, धोखे एवं वचन का पालन न करने से सम्बंधित हैं, बचते रहते हैं। संक्षेप में इन्हीं स्वभावों के कारण सदाचारी एवं चरित्रवान् मनुष्य राज्य एवं राजनीति के उचित पात्र बने और साधारण प्राणियों पर राज्य करने लगे। निःसन्देह ईश्वर ने नैतिकतापूर्ण यह ऐसे गुण प्रदान किये हैं जो उनकी "असबियत" एवं प्रभुत्व के पूर्णरूप से उपयुक्त हैं और राज्य एवं सल्तनत उनकी "असबियत" के लिए उचित है।

इससे हमने इस बात का पता चला लिया कि जब ईश्वर किसी क़ौम तथा वंश को राज्य एवं सल्तनत द्वारा सम्मानित करता है तो सर्वप्रथम उसके चरित्र को ठीक करता है। तदुपरान्त उसे इस देन द्वारा सुशोभित करता है। इसी प्रकार यदि वह क़ौमों से राज्य छीनना चाहता है तो सर्वप्रथम उनको दुराचार की ओर प्रेरित करता है। उन्हें चरित्रहीन बना देता है और कुमार्ग पर चलाता है। फलतः उनमें शासन की योग्यता नहीं रहती और वे प्रभुत्व से गिरने लगते हैं, यहाँ तक कि एक दिन वे राज्य से पूर्णतः हाथ धो बैठते हैं। उनके स्थान पर अन्य लोगों को प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है।

इसका कारण यह है कि संसारवाले यह समझ लें कि ईश्वर ने उन्हें अपनी देन एवं राज्य से उनके ही दुराचार के कारण वंचित कर दिया। ईश्वर ने स्वयं कहा है, "यदि तुम पिछली उम्मतों का इतिहास उठाकर देखोगे और हालात की छानबीन करोगे तो ज्ञात हो जायगा कि राज्यों एवं सल्तनतों के तख़्ते इसी प्रकार उलटते रहे हैं।"

यह बात स्पष्ट रहे कि वे अद्वितीय गुण जो "असबियत" वाली क़ौमों में पाये जाते हैं और जो उनके प्रताप का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, इस प्रकार हैं—वे क़ौमें आलिमों, पवित्र व्यक्तियों, प्रतिष्ठित लोगों, उच्च वंश एवं कुलवालों, व्यापारियों तथा यात्रियों के प्रति आदर-सम्मान एवं उदारतापूर्वक व्यवहार करती हैं और प्रत्येक के साथ उसकी श्रेणी के अनुसार पेश आती हैं। इसका कारण यह है कि यह बात स्वाभाविक है कि "असबियत" एवं मर्यादा वाली क़ौमें उन लोगों का आदर-सम्मान करती हैं जो उनके क़ौमी एवं "असबी"[1] गौरव को उन्नत करती हैं और प्रतिष्ठा एवं सम्मान में उनके समान तथा उनके तुल्य होती हैं। इस आदर-सम्मान का कारण कभी यह होता है कि वे क़ौमें इस आचरण द्वारा स्वयं अपने सम्मान को स्थायी रखना चाहती हैं और कभी भय एवं आतंक के कारण ऐसा करती हैं। कभी यह उद्देश्य होता है कि इस उत्तम व्यवहार के कारण क़ौम को स्वयं आदर-सम्मान प्राप्त हो जाय, किन्तु उन लोगों का आदर-सम्मान, जिनमें न "असबियत" हो जिसके कारण भय किया जाय और न उनसे उच्च श्रेणी प्राप्त करने की आशा हो, इस कारण किया जाता है कि इसके द्वारा उच्चकोटि की नैतिकता एवं चरित्र का प्रदर्शन किया जाता है और राजनीति को उचित रूप से चलाया जाता है। अपने समकक्ष क़बीले के शरीफ़ों[2] का आदर-सम्मान राजनीति के लिए विशेष रूप से आवश्यक होता है और साधारण योग्यता के व्यक्तियों एवं शरीफ़ों का सम्मान साधारण राजनीति के कारण होता है। पवित्र लोगों का आदर-सम्मान धर्म के कारण होता है और आलिमों का आदर-सम्मान शरई आदेशों की स्थापना की दृष्टि से किया जाता है। व्यापारियों के साथ उत्तम व्यवहार उनका साहस बढ़ाने के लिए किया जाता है ताकि व्यापार की उन्नति हो। यात्रियों के साथ उत्तम व्यवहार नैतिकता के प्रदर्शन हेतु किया जाता है, कारण कि प्रत्येक व्यक्ति से उसकी श्रेणी के अनुसार व्यवहार करना न्याय को प्रमाणित करता है। अतः जिस क़ौम में यह हृदयग्राही गुण पाये जायँ तो यह समझ लेना चाहिए कि

१. असबियत सम्बन्धी।
२. नेताओं।

वह शीघ्र ही शासन का कार्यभार सँभालेगी और राज्य के सम्मान द्वारा सम्मानित होगी, कारण कि ईश्वर ने राज्य-विजय करने के यही चिह्न निश्चित किये हैं। इसी कारण ईश्वर जिस क़ौम से राज्य एवं सल्तनत छीनना चाहता है तो सर्वप्रथम यह चिह्न उसमें प्रकट होता है कि वह क़ौम शरीफ़ों एवं देश के सम्मानित व्यक्तियों का आदर-सम्मान त्याग देती है। जब किसी क़ौम में इन गुणों का अभाव पाया जाय तो समझ लेना चाहिए कि उसकी प्रतिष्ठा पतनशील है और अब राज्य भी हाथ से निकलनेवाला है। "यदि ईश्वर किसी का पतन चाहता है तो फिर उसे कोई नहीं रोक सकता।"[1]

(२१) वहशी क़ौमों का राज्य बड़ा विस्तृत होता है

इसका कारण यह है कि वहशी क़ौमें अधिक प्रभुत्ववाली एवं शक्तिशाली होती हैं। क्योंकि वे क़ौमों से युद्ध करने में अत्यधिक निर्भीक एवं निडर होती हैं अतः वे दूसरी क़ौमों को अपना दास एवं आज्ञाकारी बना लेती हैं। मानो वे मनुष्यों में खूँख्वार वनपशुओं के समान होती हैं और सभी लोग उनसे आतंकित रहते हैं। उदाहरणार्थ अरब, जनाता, कुर्द, तुर्क और सिनहाजा के कुछ क़बीले, जिनकी गणना वहशी क़ौमों में होती है। इन वहशी क़ौमों का कोई देश नहीं होता जिसके प्रेम के बंधनों में वे बँधी रहें और न कोई उनका विशेष घर होता है जिसमें वे घिरी रहने की आदी हों। स्वदेश-विदेश, नगर-यात्रा सभी उनके लिए समान होते हैं। इसी कारण वे अपने ही राज्य के क्षेत्र अथवा उसके समीप रहकर जीवन नहीं व्यतीत करतीं अपितु दूर-दूर के देशों में पहुँचकर वहाँ बसनेवाली क़ौमों पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेती हैं। इस सम्बन्ध में यह घटना उल्लेखनीय है। जब हज़रत उमर से बैअत[2] की गयी और वे लोगों को इराक़ के युद्ध हेतु प्रेरित करने के लिए खड़े हुए तो कहा, "हे लोगो! हिजाज़ तुम्हारा कोई घर नहीं जो तुमको यह बाहर न निकलने दे। यह तुम्हें केवल जल एवं घास की सुगमता उपलब्ध करता है और जीविका सम्बन्धी अन्य आवश्यकताएँ आसानी से एकत्र कराता है, किन्तु इसका यह उद्देश्य नहीं कि तुम इन आवश्यकताओं के दास बन जाओ और हिजाज़ का त्यागना तुम्हारे लिए कठिन हो जाय। हे मुहा-जेरीन[3]! क्या तुम ईश्वर के आश्वासन को भूल गये जो कहता है कि, "जाओ और

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
२. अधीनता की शपथ।
३. वे लोग जो हज़रत मुहम्मद के साथ मक्का छोड़कर मदीना चले गये थे।

उस भूमि पर फैल जाओ जिसका ईश्वर ने तुम्हें स्वामी बनाने का वचन दिया है।"[1] अरब की प्राचीन क़ौमों की यही दशा रही है। उदाहरणार्थ तुब्बा एवं हमीर, जो कहा जाता है कि कभी यमन से मग़रिब तक पहुँच गये और कभी इराक़ तथा हिन्द तक। अरब के अतिरिक्त अन्य क़ौमें निःसन्देह ऐसी न थीं। यही दशा मग़रिब के नक़ाबपोशों (सिनहाजा) की थी कि जब उन्होंने राज्य की बागडोर सँभाली तो प्रथम इक़लीम में स्थित सूडान के पास से उठकर चौथी एवं पाँचवीं इक़लीम में उन्दुलुस तक पहुँच गये। इतिहास से पता चलता है कि वहशी क़ौमों की यही दशा रही है और इसी लिए उनके राज्य का क्षेत्र बड़ा विस्तृत होता है और उनके स्वदेश के आगे बड़ी दूर तक उनके राज्य का क्षेत्र फैला रहता है। "ईश्वर ही रात-दिन निश्चित करता है।"[1]

(२२) किसी सल्तनत एवं "असबियत" की स्वामी क़ौम से सल्तनत नहीं निकलती, यदि एक वंश से निकल जाती है तो दूसरे वंश में पहुँच जाती है

जब किसी क़ौम को प्रभुत्व प्राप्त होता है और अन्य क़ौमें उसके प्रभुत्व का लोहा मानकर उसकी आज्ञाकारिता स्वीकार कर लेती हैं तो राज्य चलाने एवं राजसिंहासन की रक्षा हेतु उन्हीं में से लोग छाँटे जाते हैं और उसी क़ौम के वंश में से उनका चुनाव होता है, किन्तु सब वंशों में से नहीं, अपितु केवल उसी वंश से जो सबमें शक्तिशाली एवं प्रभावशाली होता है। उसके सामने किसी की वीरता को सफलता नहीं प्राप्त होती। जब उस वंश के व्यक्ति राज्य एवं शासनप्रबन्ध हेतु चुने जाते हैं और कार्य के क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं तो भोग-विलास एवं समृद्धि की इच्छा करने लगते हैं। वे अपने ही क़बीले तथा वंश के लोगों को राजसिंहासन पर आरूढ़ करते हैं और जिन वंशों को शासनप्रबन्ध से कोई सम्बन्ध नहीं, वे दूर ही पड़े रहते हैं। जिस शासन में उनको वंश के अनुसार सम्मिलित होने का अधिकार होता है, उसमें उनकी कोई चिन्ता नहीं करता। किन्तु इस प्रकार भोग-विलास के जीवन से पृथक् रहकर वे शक्ति-हीनता से भी बचे रहते हैं।

फलतः भोग-विलास में ग्रस्त रहनेवाले एवं शासक वंश जब काल-चक्र का शिकार होते हैं और उनकी कमज़ोरी उनकी समृद्धि का अन्त कर देती है तो राज्य

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

भी उनकी ओर से आँखें फेर लेता है, काल-चक्र उन्हें हड़प कर डालता है, समृद्धि उनकी तेज़ी एवं कठोरता का अन्त कर देती है, भोग-विलास उनके गौरव को नष्ट कर देता है और वे मानवी संस्कृति तथा राजनीति में जो कुछ कर सकते हैं उसका अन्त हो जाता है।

शेर— रेशम के कीड़े की भाँति जो कातता है और फिर बाद में,
उसी काते हुए सूत के कारण उसका अन्त हो जाता है।

ऐसी अवस्था में उनके मुक़ाबले में अन्य वंश उपस्थित होते हैं जिनकी "असबियत" उसी प्रकार दृढ़, जिनका उत्साह पूर्णरूप से सुरक्षित और जिनके भय एवं आतंक का सिक्का सबके हृदय पर आरूढ़ होता है। अतः राज्य प्राप्त करने की इच्छा उनका हाथ पकड़कर उठाती है। जिस राज्य से आतंकवादी शक्ति उन्हें दूर रखती थी वह उन्हीं की क़ौम से थी। वे उसकी प्राप्ति हेतु कटिबद्ध होकर युद्ध प्रारम्भ करते हैं और वीरता के गुण प्रदर्शित करते हैं, अतः अन्त में राज्य की बागडोर सँभाल लेते हैं और देश पर अधिकार जमा लेते हैं। फिर क़ौम के वह वंश तथा क़बीले जो नये राज्य के प्रारम्भिक काल में शासनप्रबन्ध से पृथक् रखे जाते थे, कुछ समय व्यतीत होने पर उस शासकवर्ग के साथ वही व्यवहार करते हैं जो वह अपने पूर्व के वंश के साथ कर चुका है। संक्षेप में क़ौम के वंशों में इसी प्रकार व्यवहार होता रहता है, यहाँ तक कि पूरी क़ौम का "असबी" उत्साह ठंडा पड़ जाता है और समस्त वंश नष्ट हो जाते हैं। "तुम्हारे ईश्वर के अनुसार परलोक उन्हीं का है जो ईश्वर का भय करते हैं।"

देखना चाहिए कि अरब में आद नामक क़ौम का राज्य नष्ट हो जाने के कारण उनके भाई समूद ने राज्य सँभाल लिया। तदुपरान्त उनसे उनके भाई अमालक़ा ने राज्य प्राप्त किया। तत्पश्चात् उनके भाई हमीर सिंहासनारूढ़ हुए। उनके उपरान्त तबाबेआ का राज्य प्रारम्भ हुआ। फिर अज़वा को प्रभुत्व मिला। उनके भी बाद मुज़र का शासन प्रारम्भ हुआ। यही हाल ईरानी राज्यों का हुआ। जब कयानी राज्य नष्ट हो गया तो सासानियों को प्रभुत्व प्राप्त हो गया। तदुपरान्त मुसलमानों द्वारा उनका विनाश हो गया। इसी प्रकार यूनान वालों का राज्य उनके हाथ से निकलकर रोमवालों को प्राप्त हो गया। इसी तरह मग़रिब में बरबर क़बीलों में से कुतामा तथा मग़रावह के विनाश के उपरान्त सिनहाजा तथा मसमूदह को प्रभुत्व प्राप्त हुआ। तदुपरान्त ज़नाता की कुछ शाखाओं ने अपना राज्य प्रारम्भ किया। संक्षेप में प्रभुत्व के इस पूरे परिवर्तन काल में "असबियत" एवं वंशीय मर्यादा का

हाथ रहा। जिसमें "असबियत" अधिक होती है, वही सर्वोच्च प्रभुत्व का स्वामी बन जाता है। भोग-विलास, ऐश व आराम एवं समृद्धि शासन एवं सल्तनत की जड़ें खोखली कर डालती हैं।

जब एक वंश तथा क़बीले का राज्य समाप्त होता है तो प्रभुत्व उसी वंश को प्राप्त होता है जो शासकवंश की "असबियत" में साझीदार हो और जिसके अधीन सभी "असबियतें" रह चुकी हों और उसके शासन से परिचित हों। यह दशा निकटतम वंशीय सम्बन्ध की स्थिति में है कि शासन एक क़ौम के विभिन्न वंशो में चक्कर लगाता रहता है, कारण कि "असबियत" का अन्तर वंश के निकट तथा दूर के सम्बन्ध पर निर्भर है। निःसन्देह जब संसार में कोई बड़ी क्रान्ति हो, उदाहरणार्थ राज्य के धर्म में परिवर्तन हो जाय, अथवा संसार की आबादी बड़े पैमाने पर घट जाय अथवा कोई अन्य क्रान्ति हो, तो फिर राज्य प्रथम शासकवर्ग से पूर्णतः निकल जाता है और एक दूसरी क़ौम जिसको ईश्वर उसके स्थान पर लाना चाहे, राज्य प्राप्त कर लेती है। इस तथ्य के प्रमाण-स्वरूप तारीख़े मुज़र का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है जो कई पीढ़ियों तथा नस्लों से बदवियत में डूबे हुए तथा सभ्यता एवं संस्कृति से अपरिचित थे किन्तु इस्लाम स्वीकार करते ही उन्होंने राज्यों एवं सल्तनतों के तख़्ते पलट दिये और उनके हाथ से प्रभुत्व छीन लिया।

(२३) पराजित क़ौमें विजयी क़ौमों के आचार-व्यवहार, वेष-भूषा, धर्म-विश्वास, चरित्र, स्वभाव एवं अन्य बातों का बड़ी रुचि से अनुकरण करती हैं

इसका कारण यह है कि यह मनुष्य की प्रकृति है कि जो कोई उस पर प्रभुत्व प्राप्त करता है वह उसकी योग्यता से प्रभावित हो जाता है। या तो अत्यधिक श्रद्धा के कारण विजयी का कोई न कोई गुण उसे प्रभावित कर लेता है और या उसको यह भ्रम होने लगता है कि विजयी का उस पर प्रभुत्व अकस्मात् नहीं अपितु उसकी अपार योग्यता के कारण है। जैसे ही यह विचार एवं विश्वास हृदय में आरूढ़ हो जाते हैं तो पराजित विजयी को हर रंग में रँगने लगता है और अपने आचरण से उसका चित्र खींचने का प्रयत्न करता है। इसी आचरण एवं व्यवहार को हम प्रभुत्व कहते हैं। कभी-कभी पराजित इस भ्रम में रहता है कि विजयी के प्रभुत्व का कारण न "असबियत" है और न आतंक एवं शक्ति, अपितु वही स्वभाव एवं आदतें, धर्म तथा विश्वास इस प्रभुत्व का कारण हैं जिन्होंने उसे आकृष्ट कर लिया है। इसका सारांश भी प्रथम

कारण से मिलता-जुलता है, कारण कि इस दशा में भी प्रभुत्व के रहस्य का पता लगाने में उसे भ्रम होता है। इसी भ्रम के कारण पराजित, विजयी का हर प्रकार से अनुकरण करता जाता है। वेष-भूषा, घोड़ों, अस्त्र-शस्त्र तथा जीवन की अन्य समस्याओं में वह विजयी का अनुकरण करता है। उसकी सन्तान भी इसी प्रथा पर आचरण करती है। इसका कारण यह है कि संतान की दृष्टि में उसके पूर्वज योग्यता एवं निपुणता का केन्द्र होते हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक राज्य के इतिहास को अपने समक्ष रखकर यह देखना चाहिए कि किसी के अधीन प्राणी किस प्रकार अपने समकालीन शासक की वेष-भूषा एवं आचार-व्यवहार का अनुकरण करते हैं। यहाँ तक कि शाही सेना की वर्दी की भी नक़ल करने लगते हैं। यह बात केवल प्रभुत्व एवं शक्ति के कारण होती है। सदृश बनने की इच्छा का यहाँ तक प्रभाव पड़ता है कि जब एक क़ौम दूसरी क़ौम के समीप निवास करने लगे और उससे प्रभावित हो जाय तो वह अपनी पड़ोसी क़ौम का अनुकरण करने लगती है।

आज हमारे युग में उन्दुलुसवाले इसी कारण वेष-भूषा, चाल-ढाल, आचार-विचार, स्वभाव एवं अन्य बातों में जलालक़ा[1] के अत्यधिक सदृश हैं। यहाँ तक कि दीवारों, कारख़ानों तथा घरों में चित्रों एवं बेलबूटों के बनवाने में भी उन्हीं का अनुकरण करते हैं। गहरी दृष्टि से देखनेवालों को यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह सब कुछ जलालक़ा के प्रभुत्व एवं उनकी शक्ति का प्रभाव है। यहीं से इस कथन के तथ्य का पता लगता है कि साधारण लोग समकालीन बादशाह के धर्म का अनुकरण करते हैं।

इससे भी जिस तथ्य का हमने वर्णन किया, उसका पता चल जाता है कि बादशाह को क्योंकि अपनी अधीनस्थ प्रजा पर प्रभुत्व प्राप्त होता है, अतः प्रजा भी उसी का अनुकरण करती है। प्रजा को इस बात पर विश्वास होता है कि उसका बादशाह पूरी योग्यता एवं प्रतिष्ठा का स्वामी है, जिस प्रकार संतान को अपने पिता एवं शिष्य को गुरु की योग्यता का पूर्ण विश्वास होता है।

(२४) जब कोई क़ौम पराजित होकर दूसरी क़ौम के चंगुल में फँसती है तो शीघ्र ही नष्ट हो जाती है

इसका कारण यह है कि जब किसी क़ौम के अधिकार की बागडोर किसी दूसरे के हाथ में चली जाती है और वह दास बनकर दूसरों के हाथ का खिलौना एवं उन

१. गेलिकियन।

पर निर्भर हो जाती है तो उसमें शिथिलता एवं आलस्य उत्पन्न हो जाते हैं। क़ौम के लोग साहसहीन हो जाते हैं और उनकी आशाएँ मंद पड़ जाती हैं। संतान शक्ति-हीन हो जाती हैं और उनकी कमी होने लगती है। आबादी नित्य-प्रति घटने लगती है, कारण कि आबादी की बहुतायत, उच्च साहस एवं नयी उमंगों का स्रोत होती है। इससे नैसर्गिक शक्तियों में उत्तेजना उत्पन्न होती है। जब आलस्य के कारण आशाएँ ठंडी पड़ जाती हैं और उल्लास, उत्तेजना एवं संस्कृति के अन्य साधन नष्ट हो जाते हैं और "असबियत" अन्य लोगों का प्रभुत्व स्वीकार करने के कारण पूर्व से ही समाप्त हो जाती है तो ऐसी दशा में आबादी अनिवार्य रूप से घटने लगती है। लोगों में परिश्रम एवं कर्तव्यपरायणता की भावना ठंडी पड़ जाती है और प्रयत्न एवं संघर्ष की योग्यता नहीं रहती। प्रतिरक्षा की उनमें शक्ति नहीं रह जाती और अन्य क़ौमों का प्रभुत्व उनके ऐश्वर्य एवं वैभव को नष्ट कर देता है। वे प्रत्येक शक्तिशाली क़ौम से दब जाते हैं और प्रत्येक ताक़तवर उन्हें हड़प कर डालता है, चाहे वह राज्य उन्नति की चरम सीमा पर क्यों न पहुँच गया हो।

इसका एक कारण और भी है। वह इस प्रकार कि मनुष्य भूमि पर दैवी राज्य स्थापित करने के लिए उत्पन्न हुआ है और वह नैसर्गिक रूप से अधिकार सम्पन्न है। अधिकार-सम्पन्न जब अपना अधिकार खो दे और आदर-सम्मान से हाथ धो ले तो वह स्वाभाविक रूप से आलसी एवं शिथिल हो जाता है। न उसे खाने की इच्छा होती है और न पीने को। मनुष्य के विषय में तो यह सत्य है ही, वन-पशुओं के स्वभाव के विषय में भी यही देखा गया है कि जब तक वे मनुष्यों की क़ैद में रहते हैं, बच्चे देना बन्द कर देते हैं। यही हाल पराजित क़ौमों का है कि सर्वप्रथम दूसरों की दासता में पहुँचकर उनकी जनसंख्या में कमी होने लगती है और वे कमज़ोर पड़ जाती हैं और तत्पश्चात् नष्ट हो जाती हैं।

फ़ारस की क़ौम पर दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि पहले एक समय ऐसा था जब संसार उनसे भरा पड़ा था। फिर जब अरबों का शासन-काल आया और उनकी "असबियत" एवं उनके गौरव में कमी हुई तब भी वे थोड़ी-बहुत संख्या में बच गये। कहा जाता है कि जब हज़रत साद[1] ने मदाएन के उस ओर के इलाक़े की जन-गणना करायी तो वहाँ के निवासियों की संख्या १,३७,००० निकली। इनमें से ३७,००० घराने

१. साद बिन अबी वक़्क़ास।

थे, किन्तु जब वे लोग अरबों के अधीन हुए और अरबों का प्रभुत्व उन पर जमा तो थोड़े ही लोग शेष रह गये। फिर वे इस प्रकार नष्ट हो गये कि मानो थे ही नहीं।

यहाँ यह विचार पैदा न हो कि उनके मिटने एवं नष्ट होने में अत्याचार का हाथ था, कारण कि इस्लामी राज्य तो न्याय पर आधारित थे, अपितु यह बात मनुष्य के लिए स्वाभाविक है कि कोई क़ौम जैसे ही अन्य लोगों के अधीन हुई और उसने दूसरों के हाथ में खेलना प्रारम्भ किया तो वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। हबशी क़ौमों पर दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि वे दासता हेतु शीघ्र तैयार हो जाती हैं, कारण कि उनमें मानवीय गुणों का अभाव होता है। उनका स्वभाव पशुओं से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। वे लोग अपने गले में दासता की ज़ंजीर अपनी इच्छा से डलवा लेते हैं। वे सम्मान, धन-सम्पत्ति एवं पद के लोभी होते हैं।

पूर्व में तुर्कों, उन्दुलुस में जलालक़ा अथवा फ़िरंगियों को दासता स्वीकार करने में कोई भय नहीं होता और आदर-सम्मान के लोभ में वे इसके लिए तैयार हो जाते हैं।

(२५) अरब का प्रभुत्व एवं अधिकार प्रायः खुले एवं बेरोक देशों पर होता है

अरब अपने स्वभाव के अनुसार वहशी होने के कारण प्रायः लूट-मार के आदी होते हैं। युद्ध एवं लड़ाई-भिड़ाई के ख़तरों में अपने प्राणों को डाले बिना जब कभी भी वे किसी वस्तु पर अधिकार प्राप्त कर पाते हैं, लूटकर चलते बनते हैं और रेगिस्तान के चरागाहों में शरण लेते हैं। जब तक प्रतिरक्षा का अवसर न आये, ये लोग युद्ध में नहीं फँसते। ये लोग ऐसे स्थानों की ओर रुख़ नहीं करते हैं जिनकी विजय अधिक बलिदान चाहती है, अपितु ऐसे स्थानों पर अधिक छापे मारते हैं जो सुगमतापूर्वक उनकी लूट-मार का शिकार हो जाते हैं। इसी प्रकार वे क़बीले तथा क़ौमें भी, जो पर्वतों की घाटियों में निवास करती हैं, उनके उत्पात से बच जाती हैं, कारण कि अरब उनकी विजय हेतु कठिनाइयों एवं ख़तरों का सामना करने के लिए तैयार नहीं होते। किन्तु जब किसी क़ौम को खुले मैदानों में निवास करते देखते हैं अथवा किसी राज्य को शक्तिहीन पाते हैं तो लूट-मार कर उसको नष्ट कर डालते हैं। इसका कारण यह है कि उनको अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता। संक्षेप में खुले मैदानों के निवासी जब तक पूर्णरूप से उनके प्रभुत्व के अधीन न हो जायँ उस समय तक वे इसी प्रकार लुटते रहते हैं। फिर विभिन्न क़बीलों के वंश बारी-बारी उन पर शासन तथा राज्य करते हैं, यहाँ तक कि उनका शासन-काल स्वयं समाप्त हो जाता है।

(२६) अरब जिस राज्य पर अधिकार प्राप्त करते हैं, वह शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है

वास्तव में अरब एक वहशी क़ौम है, जिसमें वहशियों के स्वभाव इस प्रकार आरूढ़ हो जाते हैं कि वे उनकी स्वाभाविक आदत समझे जाने लगते हैं। यह वहशत अरबों को इस कारण अधिक पसन्द है कि इसके द्वारा उनको दूसरों की आज्ञाकारिता से मुक्ति प्राप्त हो जाती है और किसी के राज्य के समक्ष वे अपना सिर नहीं झुकाते। उनकी यह प्रवृत्ति सभ्यता तथा संस्कृति की कट्टर विरोधी है। इसके अतिरिक्त वे इधर-उधर चलने-फिरने एवं लूटमार के आदी होते हैं और यह आदत उन्हें शान्ति से नहीं बैठने देती और वे किसी स्थान को स्थायी रूप से बसाने में असमर्थ होते हैं। उदाहरणार्थ पत्थर की उन्हें इसी कारण आवश्यकता होती है कि वे उससे अपने चूल्हे बनायें, अतः पत्थर के लिए वे भवनों को तोड़-फोड़कर उनसे पत्थर प्राप्त कर लेते हैं। लकड़ी की आवश्यकता उन्हें इस कारण होती है कि उससे बने हुए खूंटों से अपने खेमे खड़े करते हैं। इसी उद्देश्य से वे अच्छे-अच्छे घरों की छतें तोड़ डालते हैं और उनसे लकड़ियाँ निकाल ले जाते हैं। इस प्रकार उन लोगों का अस्तित्व भवनों एवं घरों के लिए जो सभ्यता एवं संस्कृति हेतु परमावश्यक हैं, हानिकारक होता है। यह तो उनकी साधारण दशा है किन्तु वैसे भी लोगों के धन का अपहरण उनके लिए स्वाभाविक है। उन्हें अपनी जीविका बर्छों की छाया में प्राप्त होती है। फिर वे लोग धन के अपहरण के समय किसी उद्देश्य एवं सीमा से सन्तुष्ट नहीं रहते, अपितु जिस वस्तु पर भी उनकी दृष्टि पड़ जाती है, वह चाहे धन-सम्पत्ति हो और चाहे अन्य प्रयोग की वस्तु, वे उन्हें लूट ले जाते हैं। जब उनको सम्पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है तो लोगों के धन की रक्षा का कोई उपाय नहीं रह जाता। सभ्यता नष्ट होने लगती है।

इसके अतिरिक्त वे लोग कला-कौशल को कोई महत्त्व नहीं प्रदान करते। वे अत्यधिक परिश्रम द्वारा जो कुछ तैयार करते हैं उसका कोई मूल्य नहीं समझते। हम इस तथ्य को आगे के पृष्ठों में स्पष्ट करेंगे कि व्यवसाय एवं पेशों का मूल आधार कला-कौशल है। जब कला-कौशल का अनादर होने लगता है और देश में उसका कोई मूल्य नहीं समझा जाता तो लोगों के हृदय में कला-कौशल का उत्साह मंद पड़ जाता है, अपितु नष्ट हो जाता है और हाथ काम से रुक जाते हैं। देशवाले आतंकित हो जाते हैं। सभ्यता को हानि होने लगती है।

अरबों के अधीनस्थ राज्यों के विनाश का एक यह भी कारण होता है कि वे देश के शासन-प्रबन्ध की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं देते। न तो वे झगड़े फ़साद की रोक-थाम करते हैं और न एक दूसरे को कष्ट पहुँचाने से रोकते हैं। वे इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया करते हैं कि किसी प्रकार लोगों की धन-सम्पत्ति का अपहरण कर लिया जाय। जब वे अपना उद्देश्य पूरा कर लेते हैं तो राज्यवालों की उपेक्षा करने लगते हैं। न उनके उद्देश्यों की देखभाल करते हैं और न उनको अपराध करने से रोकते हैं। अनेक बार वे लोगों पर जुर्माने लगाते हैं। इससे उन्हें केवल धन-संबंधी लाभ प्राप्त करने की इच्छा रहती है और यह उनकी आय का एक साधन होता है। वे इस प्रकार अत्यधिक धन-सम्पत्ति एकत्र करना चाहते हैं। उनके इस व्यवहार से अत्याचार एवं उत्पात तो कम नहीं होता अपितु फ़साद की अग्नि और भी भड़कती है, कारण कि इस तरह भारी-भारी जुर्मानों के कारण शासन के धन एकत्र करने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। प्रजा मनमाना काम करने लगती है। यह भावना मानवीय संगठन हेतु अत्यन्त हानिकारक तथा सभ्यता के लिए विनाशक होती है। कारण कि इस बात का उल्लेख हो चुका है कि बादशाह का अस्तित्व मनुष्य की प्रकृति को देखते हुए परमावश्यक है। उसके बिना मनुष्य का अस्तित्व असम्भव है और न इससे मनुष्य के सामाजिक जीवन की ही कोई रूपरेखा बनती है।

राज्य के विनाश का एक अन्य कारण यह भी है कि उनमें अत्यन्त यथेच्छाचार पाया जाता है। वे दूसरे के राज्य को सहन नहीं कर सकते, यद्यपि वह पिता, भ्राता अथवा क़बीले का नेता ही क्यों न हो। हाँ, कभी लज्जा एवं संकोचवश दब जाते हैं। इसी कारण उनमें हाकिमों की संख्या अधिक होती है जो एक-एक करके आते रहते हैं। उनमें से प्रत्येक प्रजा को खूब निचोड़ता है और उन पर शासन की आकांक्षाएँ पूरी करता है। सभ्यता भी विनाश का लक्ष्य बनती है और घटने लगती है।

कहा जाता है कि एक अरब हिजाज़ से अब्दुल मलिक के पास आया। अब्दुल मलिक[1] ने अरब से हज्जाज[2] के विषय में प्रश्न किया। वह चाहता था कि अरब

१. अब्दुल मलिक बिन मरवान उमय्या वंश का पाँचवाँ ख़लीफ़ा। वह ६८५ ई० से ७०५ ई० तक ख़लीफ़ा रहा।

२. हज्जाज बिन यूसुफ़ अल-सक़फ़ी जिसे अब्दुल मलिक ने अरब तथा अरबी इराक़ का हाकिम बना दिया था। उसका आतंक एवं निष्ठुरता प्रसिद्ध हैं। उसकी मृत्यु ७१४ ई० में हुई।

हज्जाज की राजनीति एवं उनके सुशासन की प्रशंसा करे, किन्तु उसने कहा कि "मैं उसे अकेला अत्याचार करता हुआ छोड़कर आया हूँ", मानो अरब में केवल शासक ही अत्याचार करता हो तो यह उसके सुशासन का द्योतक है।

संक्षेप में जिस राज्य पर उन्होंने शासन किया तथा अधिकार प्राप्त किया तो उसकी सभ्यता की हानि हुई, देश वीरान हुआ और भूमि की दशा कुछ से कुछ हो गयी। उदाहरणार्थ जब वे यमन में पहुँचे तो यमन विनाश के घाट उतर गया। केवल थोड़े से नगरों को छोड़कर इराक़ की भी यही दशा हुई, कारण कि पारसियों के राज्य-काल में वह बड़ा ही हरा-भरा था और अब उजड़ चुका है। इधर शाम भी वीरान है। पाँचवीं शताब्दी[१] के प्रारम्भ में बनू हिलाल तथा बनू सुलैम मग़रिब एवं इफ़रीक़िया की ओर पहुँचे तो ३५० वर्ष तक राज्य के लिए संघर्ष करते रहे। उन्होंने उस भूभाग को अपना बना लिया और मग़रिब के खुले मैदान नष्ट हो गये, हालाँ कि इससे पूर्व सूडान एवं भूमध्य सागर के मध्य का पूरा भू-भाग आबादी से भरा हुआ था। नगरों एवं क़सबों में जो सभ्यता नष्ट हो चुकी है उसके अवशेष एवं उजड़े हुए घरों के खंडहर अब भी भूत-काल की सभ्यता का पता दे रहे हैं। "ईश्वर ही भूमि तथा उस पर जो कुछ है उसका वारिस है। वही सर्वोत्कृष्ट वारिस है।"[२]

(२७) अरबों को राजनीतिक प्रभुत्व नबूअत,[३] विलायत[४] अथवा अन्य किसी बहुत बड़े धार्मिक प्रभाव के अधीन ही प्राप्त हुआ है

इसका कारण यह है कि अरब स्वाभाविक रूप से वहशी होते हैं। कठोरता, आत्म-सम्मान, उच्च साहस और शासन की उनमें बड़ी प्रबल इच्छा होती है, अतः वे लोग किसी के अधीन रहना बड़ी कठिनाई से पसन्द करते हैं। वे अपनी इच्छाओं के लिए किसी बिन्दु पर बड़ी कठिनाई से रुकते हैं। जब नबूअत अथवा विलायत का प्रचार उनमें होता है तो इस कारण कि प्रचार करनेवाला उन्हीं में से होता है, उनका अभिमान नष्ट हो जाता है और वे सुगमतापूर्वक आज्ञाकारी बनकर संगठित हो जाते हैं।

१. पांचवी शताब्दी हिजरी (११ वीं शताब्दी ईसवी)।
२. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
३. नबी (ईश्वर के दूत) होने के कार्य।
४. वली (सूफ़ी-सन्त) होने के कार्य।

धर्म स्वयं उनकी कठोरता, अभिमान, ईर्ष्या एवं यथेच्छाचार की भावनाओं का खंडन करता है। उन लोगों में नबी अथवा वली उनको दैवी आदेशों पर दृढ़ रखने तथा उनके अनुचित स्वभाव एवं दुराचार को मिटाकर उत्तम गुण एवं चरित्र पैदा करने का अनथक प्रयत्न करते हैं और सत्य पर दृढ़ रहने के लिए उन सबको दिल से तैयार करते हैं। जब वे एकता एवं संगठन की एक ही लड़ी में गुंथ जाते हैं तो राज्यों को विजय कर लेते हैं और राज्यों के शासन की बागडोर अपने हाथ में संभाल लेते हैं। अरब यद्यपि बड़े कठोर स्वभाव के होते हैं किन्तु अन्य क़ौमों की अपेक्षा शीघ्र सत्य एवं धार्मिक पथ-प्रदर्शन को स्वीकार कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि उनमें दुराचार एवं व्यभिचार नहीं पाया जाता। स्वाभाविक रूप से वहशी होने के कारण वे प्रकृति से निकटतम होते हैं और भलाई को स्वीकार करने की उनमें बड़ी योग्यता होती है। बुरी तथा अनुचित आदतें एवं अनुपयुक्त भावनाओं को स्वीकार करने से वे बड़ी दूर एवं बहुत बड़ी सीमा तक सुरक्षित रहते हैं।

(२८) राजनीति के विषय में अरब समस्त क़ौमों से दूर एवं अपरिचित होते हैं

इसका कारण यह है कि समस्त क़ौमों की अपेक्षा अरबों में बहुत अधिक बदवियत पायी जाती है। वे सबसे अधिक दूर रेगिस्तानों में निवास करते हैं। हरे-भरे स्थानों के जीवन की आवश्यकताओं की उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती। वे उससे दूर एवं कठिन जीवन व्यतीत करने के आदी होते हैं। उनमें से कोई भी किसी अन्य की आज्ञाकारिता स्वीकार नहीं करता, कारण कि उनके स्वभाव में जो वहशत है,वह उन्हें इसी ओर प्रेरित करती है। उनका जो नाम मात्र को शेख़ होता है वह अधिकांश उन्हीं के ऊपर निर्भर होता है, ताकि वह उनकी सहायता एवं "असबियत" से अपने आपमें प्रतिरक्षा की भावना उत्पन्न करे। इसी कारण से वह उन्हें प्रोत्साहन देने एवं उनके साथ कृपा एवं दया-भाव प्रदर्शित करने पर विवश होता है। वह उनको किसी प्रकार रुष्ट नहीं कर सकता, कारण कि उनके विरुद्ध कार्य करने से "असबियत" छिन्न-भिन्न हो जायगी और न तो वह अपनी रक्षा और न अन्य लोगों की रक्षा कर पायेगा, यद्यपि राजनीति के लिए यह आवश्यक है कि शासक कठोरता, हिंसा एवं आतंक द्वारा राज्य के अधि-नियमों को देश में चलाये, क्योंकि कृपा एवं नरमी से राजनीति को चलाना असम्भव है।

इसका एक अन्य कारण यह भी है कि अरब लोग, जैसा कि हम उल्लेख कर चुके हैं, लोगों की धन-सम्पत्ति के अपहरण की ओर आकृष्ट होते हैं। इसके अतिरिक्त राज्य एवं शासन के कर्त्तव्यों से, उदाहरणार्थ राज्य के अधिनियमों का प्रचलित कराना, लोगों की एक दूसरे के अत्याचार से रक्षा करना, वे इनसे अपरिचित होते हैं। जब वे किसी क़ौम पर अधिकार प्राप्त करते हैं तो धन की प्राप्ति ही उनका उद्देश्य होता है। वे राज्य के समस्त अधिनियमों की उपेक्षा करने लगते हैं। कभी-कभी प्रजा पर भारी आर्थिक दंड लगाकर आय के साधन तैयार कर लेते हैं और अधिक से अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त करते हैं। राजनीति के गुणों की उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती, अपितु वे ऐसी अभिलाषाओं के वश में होते हैं जो राज्य को उपद्रव एवं विनाश की ओर ले जाती हैं। अशान्ति नित्य-प्रति बढ़ने और देश की सभ्यता विनाश की ओर अग्रसर होने लगती है। इस परिस्थिति में उनकी अधीन क़ौम का प्रत्येक प्राणी ऐसा उद्दंड एवं निर्भीक हो जाता है कि वह दूसरों पर अत्याचार प्रारम्भ कर देता है और वे एक दूसरे से झगड़ा किया करते हैं। ऐसी दशा में सभ्यता की किसी प्रकार कल्पना ही नहीं की जा सकती। वे वन-पशुओं के समान एक दूसरे को खाकर नष्ट हो जाते हैं। इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि अरब क़ौम का राजनीति से कोई संबंध नहीं।

दीन एवं धर्म के प्रकाश से जब अरबों के स्वभाव में क्रान्ति आती है तो उनमें राजनीति की योग्यता उत्पन्न हो जाती है। धर्म उनके अत्याचार एवं अन्याय को समाप्त करके प्रेम एवं स्नेह उत्पन्न करता है। इस प्रकार जब अरब क़ौम में राज्य एवं सल्तनत की नींव पड़ी और धर्म ने शरा संबंधी अधिनियमों के रूप में राजनीति की समस्याओं को दृढ़तापूर्वक देश में प्रचलित किया और उन आदेशों को चलाया जो सभ्यता की बाह्य एवं आंतरिक आवश्यकताओं के लिए परमावश्यक थे, और इसी सिद्धान्त पर खिलाफ़तों[1] का क्रम प्रारम्भ हुआ, तो फिर अरबों के राज्य ने ज़ोर पकड़ा और उनके राज्य में एक गौरव उत्पन्न हो गया। इस प्रकार जब रुस्तम[2] मुसलमानों की सेना को नमाज़ हेतु पंक्तियाँ जमाये देखता था तो कहता था कि "उमर मेरा कलेजा चबा रहा है, वह अरब के कुत्तों को कैसा अनुशासन सिखा रहा है।"

जब मुसलमान क़बीलों ने धर्म की उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया तो राज्य भी उनके हाथ से निकल गया और उन्होंने राजनीति भी भुला दी। वे पुनः अपने रेगिस्तानों

१. ख़लीफ़ाओं के राज्य।

२. क़ादिसिया के युद्ध में फ़ारस वालों का सेनापति।

की ओर चल दिये तथा अपनी "असबियत" का समस्त गौरव भूल गये। उनमें वहशत पुनः आ गयी और वे आज्ञाकारिता एवं अनुशासन की भावनाओं से शून्य हो गये। अब उनमें राज्य का कोई चिह्न नहीं। केवल वे खलीफ़ाओं की संतान से संबंधित हैं। उनकी क़ौम वाले खिलाफ़त के अन्त एवं राज्य तथा शासन के हाथ से निकल जाने एवं अजम[1] द्वारा परास्त हो जाने के कारण पुनः रेगिस्तानों की ओर चल दिये। अब न वे राज्य के तथ्य को जानते हैं और न राजनीति के अर्थ से परिचित हैं, अपितु उनमें से बहुत से लोगों को यह भी ज्ञात नहीं कि कभी किसी समय उनका राज्य भी था, वे उस गौरव तथा वैभव के स्वामी रह चुके हैं जो कभी किसी क़ौम को बिरले ही प्राप्त हुआ हो। आद, सुमूद, अमालक़ा, हमीर, तबाबेआ, मुज़र, बनी उमय्या तथा बनी अब्बास के राज्य इस बात के प्रमाण हैं। किन्तु जब उन लोगों ने धर्म को भुला दिया तो वे पुनः अपनी बदवियत की ओर पलट आये, पर अब भी कभी-क़भी अरब शक्तिहीन राज्यों का अपहरणकर लेते हैं। जैसा कि वे आजकल मग़रिब पर अधिकार जमाये हैं, किन्तु इसका भी परिणाम वही दृष्टिगत होता है कि सभ्यता विनाश का शिकार हो जायगी, कारण कि जब वे राजनीति से पूर्णतः अपरिचित एवं शासनप्रबंध के अयोग्य हैं तो सभ्यता किस प्रकार रह सकती है।

(२९) नगर-वासी रेगिस्तानी क़बीलों तथा समूहों पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेते हैं

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि रेगिस्तानों की सभ्यता, नगरों की सभ्यता को देखते हुए दोषपूर्ण एवं अधूरी होती है, कारण कि सभ्यता के लिए जिन बातों की आवश्यकता होती है, वे सबकी सब उन्हें प्राप्त नहीं होतीं। उनके यहाँ तो केवल खेती का व्यवसाय होता है। कृषि के यंत्र भी वहाँ प्राप्त नहीं होते, कारण कि उन्हें अधिकांश नगर के कला-कौशल में दक्ष लोग बनाते हैं। न उनके यहाँ बढ़ई होते हैं, न दरज़ी और न लोहार, जिनसे उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। इसी प्रकार उन लोगों के पास (सिक्कों के रूप में) धन भी नहीं होता। वे केवल सामान एवं पैदावार अपने हाथ में रखते हैं, उदाहरणार्थ कृषि हेतु अनाज, पशु तथा उनसे प्राप्त वस्तुएँ दूध, ऊन, खाल इत्यादि, जिन्हें वे नगरवासियों के हाथ बेचकर जीवन निर्वाह करते हैं। नगरों के प्रति उनकी आवश्यकता, अनुपेक्ष्य वस्तुओं के कारण होती है और बदवियों के

१. जो अरब न हों।

प्रति नगरवासियों की आवश्यकता अनावश्यक एवं सौंदर्य की वस्तुओं की ज़रूरत के कारण होती है। जब तक बदवियों को नगरवासियों पर प्रभुत्व प्राप्त न हुआ हो, वे नगरवालों पर ही निर्भर रहते हैं और नगरवासी अपनी आवश्यकताओं तथा सेवाओं में उनसे कार्य लेते हैं। यदि नगर में कोई प्रभुत्वशाली शासक है तो वे सर्वदा उसी के आतंक के नीचे दबे रहते हैं और उनकी आज्ञाकारिता के क्षेत्र से नहीं निकलते। यदि ऐसा नहीं तो कम से कम नगर में किसी न किसी को तो शेष नगरवालों पर प्रभुत्व प्राप्त होगा, अन्यथा सभ्यता का संगठन समाप्त हो जायगा। फिर यही शासक बदवियों को अपने अधीन रखता है और अपनी आवश्यकताओं में उनसे काम लेता है। कभी वह उनकी अनुमति तथा स्वीकृति से, तो कभी धन व्यय करके उन्हें प्रसन्न करके काम लेता है। वे धन के लोभ में उसकी सेवा में तल्लीन रहते हैं। फिर वे उसी धन से नगर से अपने जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। कभी कभी शासक, यदि उसे बदवियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है, तो वह उन्हें विवश करके कार्य लेता है। कभी वह उन्हें उनके सम्बन्धियों इत्यादि से पृथक् कर देता है। जब कुछ ग्रामीण उसके अधिकार में आ जाते हैं तो शेष भी उसकी आज्ञाकारिता स्वीकार कर लेते हैं। यदि वे ऐसा न करें तो उन्हें अपने विनाश का भय होता है। यह बात उनसे सम्भव नहीं कि वे एक स्थान छोड़कर अन्य स्थान पर बस जायँ और शासक के अत्याचार से मुक्त हो जायँ, कारण कि आसपास के समस्त स्थान बदवियों के दृढ़ अधिकार में रहते हैं। वे किसी को अपने पास नहीं फटकने देते, अतः निःसहाय बदवियों को नगरवासियों के प्रभुत्व के अधीन रहने के अतिरिक्त कोई अन्य चारा नहीं होता। वे उन्हीं के प्रभुत्व के अधीन अपने जीवन के दिन काटते रहते हैं।

अध्याय ३

वहशी वंश, शाही अधिकार, ख़िलाफ़त, शाहीपद और तत्सम्बन्धी अन्य समस्याएँ आधारभूत एवं गौण सिद्धान्त

(१) शाही अधिकार और बड़े-बड़े शाही वंशों का ऐश्वर्य "असबियत" द्वारा प्राप्त होता है

हम पहले लिख चुके हैं कि प्रभुत्व एवं अधिकार, प्रतिरक्षा तथा मुक़ाबला "असबियत" से ही पैदा होते हैं। "असबियत" ही क़ौमों में स्नेह उत्पन्न करती है और एक दूसरे पर मर मिटना सिखाती है। यह भी सत्य ही है कि शाही अधिकार ऐसी अत्यन्त सम्मानित एवं मनोरंजक वस्तु है जिसमें समस्त संसार के उपकार, शारीरिक एवं वैषयिक इच्छाएँ तथा इंद्रिय-लोलुपता आदि समाविष्ट हैं। इसी कारण इन अधिकारों की प्राप्ति का मूल पारस्परिक ईर्ष्या एवं द्वेष तथा एक दूसरे से होड़ आदि की भावनाएँ हैं। बड़ी कठिनाई से ही कोई इस उच्च पद को छोड़ने को ख़ुशी से तैयार होगा। जब तक पूर्णरूप से विवश न हो जाय तब तक कोई भी उसे किसी प्रकार हाथ से नहीं जाने देना चाहता। इसमें झगड़ा फ़साद होता है और प्रायः युद्ध एवं रक्तपात तक हो जाता है, तब जाकर कहीं राज्य एवं प्रभुत्व प्राप्त होता है। प्रभुत्व का एक मात्र आधार "असबियत" है। "असबियत" का यह कारनामा साधारण लोगों की दृष्टि से ओझल रहता है। वे ऐसे सभी आधार भुला देते हैं जिनके बल पर सल्तनत एवं राज्य की नींव पड़ती है। नागरिक जीवन में ही उनकी आँखें खुलती हैं और लगातार कई पीढ़ियों तक एक के बाद दूसरे बादशाह को राज्य प्राप्त करते हुए वे देखा करते हैं, अतः वे उन परिस्थितियों से पूर्णतः अपरिचित होते हैं जो राज्य के प्रारम्भिक अस्तित्व का कारण हुई थीं। उन्होंने केवल उन्हीं शासकों को देखा होता है जो अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुके होते हैं और सब लोग जिनके आज्ञाकारी बन चुके होते हैं। आदेशों के पालन में उन्हें "असबियत" की कोई आवश्यकता नहीं होती। उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं कि राज्य किस प्रकार प्रारम्भ हुआ और पिछले सुल्तानों ने किन कठिनाइयों को सहन करके शासन की नींव डाली। इस विषय में उन्दुलुस वालों का उदाहरण विशेष रूप से विचारणीय है कि उन्होंने "असबियत" की इस अपार महिमा को भुला दिया, कारण कि उनके राज्य की स्थापना हुए दीर्घकाल व्यतीत हो चुका था और उन्हें "असबियत" की चिन्ता तक न रह गयी थी।

(२) जब किसी शाही वंश की जड़ें दृढ़ हो जाती हैं तो उसे "असबियत" की चिन्ता नहीं रहती

उपर्युक्त तथ्य इस बात पर आधारित है कि प्रारम्भ में अपार शक्ति के बल पर ही लोग नये राज्य के समक्ष सिर झुकाते हैं। क्योंकि लोगों को उसका अनुभव नहीं होता अतः उसकी आज्ञाकारिता नयी एवं विचित्र ज्ञात होती है। फिर जब एक विशेष वंश में सल्तनत जम जाती है और उसमें विभिन्न सुल्तानों के सिंहासनारोहण का एक क्रम बँध जाता है, तो लोग सल्तनत का प्रारम्भिक इतिहास भूल जाते हैं और शासक वंश का सिक्का सब पर बैठ जाता है। लोग उसकी अधीनता एवं वशंवदता को धार्मिक महत्त्व का स्थान दे देते हैं। उस वंश के हित के लिए ऐसा जी-तोड़ युद्ध करते हैं मानो कोई धार्मिक जेहाद कर रहे हों। ऐसी अवस्था में उस प्रभुताशाली वंश को "असबियत" की क्या आवश्यकता रह जाती है, विशेषतः जब उसकी अधीनता एवं आज्ञाकारिता अल्लाह की "किताब" की एक ऐसी आज्ञा समझी जाने लगी हो, जिसमें न तो कोई परिवर्तन हो सकता है और न जिसे त्यागा जा सकता है। उसे धार्मिक विश्वास की एक कड़ी समझा जाने लगता है।

ऐसी दशा में उस प्रभुत्वशाली वंश के राज्य एवं शासन की रक्षा या तो उन दासों और अन्य आश्रितों के बल-बूते पर निर्भर होती है, जो सल्तनत की "असबियत" की छाया में पलते हैं और उसी के आश्रय में आँख खोलते हैं, अथवा उन लोगों की सहायता पर, जो कुल के सम्बन्ध से तो पृथक् हैं किन्तु जिन्हें राज्य का सम्बन्ध प्राप्त है। बनी अब्बास के युग में यही दशा रही, कारण कि अरबी "असबियत" तो मोतसिम[१] और उसके पुत्र वासिक़ बिल्लाह[२] के समय तक समाप्त हो चुकी थी। तदुपरान्त उन्होंने अपना राज्य अजम, तुर्क, देलम, सलजूक़ सरीखी अपनी आश्रित क़ौमों द्वारा स्थापित रखा। अन्त में अजम ही राज्य पर छा गये और राज्य अपने केन्द्र की ओर सिमटने लगा यहाँ तक कि बग़दाद का क्षेत्र भी उनके उत्पात से सुरक्षित न रह सका। देलम ने उस पर अधिकार प्राप्त कर लिया और समस्त इलाक़ों को अपने अधीन कर

१. अल-मोतसिम बिल्लाह, हारूनुर्रशीद का पुत्र, जो मामून की मृत्यु के उपरान्त ८३३ ई० से ८४२ ई० तक ख़लीफ़ा रहा।
२. अब्बासी ख़लीफ़ा अल वासिक़ बिल्लाह, जो ८४२ ई० से ८४७ ई० तक ख़लीफ़ा रहा।

लिया। खलीफ़ा लोग उन्हीं के अधिकार में थे। फिर भी जब देलम का प्रभुत्व समाप्त हुआ तो सलजूक़ राज्य में अधिकारसम्पन्न बन गये और खलीफ़ा लोग उन्हीं के अधीन रहने लगे। तदुपरान्त वे भी मैदान से हट गये और तातारियों ने राज्य पर चढ़ाई कर दी, खलीफ़ा की हत्या करके उसके वंश को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला।

मग़रिब में सिनहाजा की भी यही दशा हुई। लगभग पाँचवीं शताब्दी[1] (हि०) में अथवा इससे कुछ पूर्व उनकी "असबियत" में दोष उत्पन्न हो गया और उनका राज्य घटने लगा। उनके क्षेत्र महदिया, बजाया, क़लआ तथा इफ़रीक़िया के सीमांत के नगरों तक रह गये, अपितु इस सीमित राज्य पर भी शत्रुओं की ओर से कड़े आक्रमण होने लगे। किन्तु उनका सम्मान एवं प्रभुत्व एक सीमा तक चलता रहा, यहाँ तक कि उनका भी ईश्वर के आदेश से अन्त हो गया और वे भी चल बसे। इसके उपरान्त मोहाद लोगों को मसमूदह में उनकी "असबियत" के कारण प्रभुत्व प्राप्त हुआ और सिनहाजा वंश का नाम व निशान भी मिट गया।

यही दशा बनी उमय्या के उन्दुलुस के राज्य की हुई। जब उनकी अरबी "असबियत" समाप्त और अव्यवस्था व्यापक हो गयी तो प्रत्येक शासक अपने अपने स्थान पर स्वतंत्र हो गया और समस्त राज्य को आपस में बाँट लिया। जो जिस भाग पर शासन कर रहा था, वह उसी का स्वामी बन गया। संक्षेप में इनकी भी वही दशा हुई जो अजम द्वारा अब्बासियों की हुई थी। प्रत्येक ने शाही उपाधियाँ एवं ऐश्वर्य तथा वैभव का संग्रह कर लिया। चूँकि उन्दुलुस वालों में "असबियत" की तथा क़ौमी मर्यादा और सहानुभूति की भावनाएँ समाप्त हो चुकी थीं, अतः किसी ने उनके आचरण पर कान तक न हिलाये और किसी का भी लेश मात्र विरोध करने अथवा उनके कार्यों में परिवर्त्तन करने का साहस न हुआ। वे उसी वैभव से अपना राज्य चलाते रहे, जैसा कि इब्ने शरफ़[2] कहता है।

शेर—उन्दुलुस के भूभाग में मोतसिम एवं मोतज़िद के नाम मुझे
ऐसी बात कहने पर उद्यत करते हैं जो मुझे न कहनी चाहिए।

१. ११वीं शताब्दी ईसवी।

२. मुहम्मद बिन मुहम्मद, मृत्यु ४६० हि० (१०६७–६८ ई०), किन्तु ये शेर उसके समकालीन इब्ने रशीक़ के हैं जिन्हें उसने इब्ने शरफ़ के समक्ष पढ़ा था।

अयोग्य लोगों ने शाही उपाधियाँ धारण कर ली हैं। उनका उदाहरण
ऐसा है जिससे प्रतीत होता है कि बिल्ली फूलकर सिंह बनना चाहती है।

उन लोगों ने बरबर तथा ज़नाता क़बीलों में से दासों एवं ऐसे लोगों की सहायता से, जो (अफ़्रीक़ा) के समुद्रीय तट पर से उन्दुलुस पहुँच गये थे, उन पर अपना सिक्का जमाये रखने का प्रयत्न किया। इस तरह उन्होंने बनी उमय्या का उदाहरण अपने सामने रखा। उन लोगों की अरबी "असबियत" जब कमज़ोर हो गयी तो इब्ने आमिर[1] ने उस वंश पर अधिकार जमा लिया। उनमें से प्रत्येक उन्दुलुस के किसी न किसी भाग पर शासन करता रहा। यहाँ तक कि लम्तूना के मराबेतीन अपनी अत्यन्त बलशालिनी "असबियत" के जोर पर समुद्र पार करके पहुँचे और उनका राज्य नष्ट कर दिया। उन्होंने उस राज्य का समूलोन्मूलन कर दिया। उनके प्रतिपक्षियों में नाम मात्र को भी "असबियत" न थी अतः वे उनका मुक़ाबला न कर सके।

इस वर्णन से यही निष्कर्ष निकला कि क़ौम में राज्य की नींव "असवियत" पर ही पड़ती है। और आगे चलकर वही उसकी रक्षा करती है। अल्लामा तरतूशी ने "सिराजुल मुलूक" नामक अपने ग्रंथ में लिखा है कि राज्य एवं सल्तनत की प्रतिरक्षा का भार वेतन एवं वृत्ति पानेवाली सेना पर होता है। यह बात साधारण राज्यों की उस अवस्था के विषय में सत्य नहीं जिनकी नींव रखी जा रही हो। इस कथन का महत्त्व उसी समय के लिए है जब राज्य दृढ़ होकर अपनी अन्तिम अवस्था को प्राप्त हो चुका हो और देश वालों ने तत्कालीन राज्य के समक्ष सिर झुका दिया हो। ऐसे अवसर पर वेतन पानेवाली सेना के बल पर निःसन्देह राज्य चल सकता है। अल्लामा यह लिखने पर सम्भवतः इस कारण विवश हुए कि उन्होंने स्वयं राज्य को ऐसी शक्तिहीन दशा में देखा जब वह यौवन पार करके वार्धक्य में प्रविष्ट हो रहा था। राज्य का अस्तित्व दासों एवं आश्रितों पर निर्भर था, या उन वेतन पानेवाले सैनिकों पर जो राज्य की प्रतिरक्षा हेतु तैयार किये जाते थे। तरतूशी के युग में राज्य की बड़ी अव्यवस्थित दशा हो गयी थी और बनी उमय्या के राज्य में घुन लग गया था। वह अपनी अरबी "असबियत" खो चुका था और प्रत्येक अमीर अपने अपने स्थान पर एक स्वतंत्र शासक बन चुका था। इब्ने हूद तथा उसके पुत्र मुज़फ़्फ़र सराक़ूसी की सहायता से राज्य

१. इब्ने अबी आमिर तथा इब्ने अब्बाद अरब क़बीले थे जिन्होंने स्पेन के उमय्या वंश की रक्षा की और उमय्या "असबियत" को कुछ समय तक नष्ट होने से बचाये रखा।

चल रहा था। क्योंकि अरबी लोग भोग-विलास एवं आराम के कुप्रभाव में आ चुके थे और ३०० वर्ष से वे समृद्धि की गोद में पल रहे थे, अतः उनकी "असबियत" की भावना भी समाप्त हो चुकी थी। तरतूशी ने एक स्वतंत्र शासक के राज्य-काल में आँख खोली और उसके राज्य को चारों ओर इस दृढ़ता से फैला दिया कि उसके विरुद्ध कोई सिर न उठा सकता था। राज्य की प्रतिरक्षा का कार्य वेतन तथा वृत्ति पानेवाली सेना ही करती थी, अतः उसने स्वयं देखे हुए वातावरण के अनुसार उपर्युक्त सिद्धान्त बना लिया कि राज्य की रक्षा सेना से होती है। उसने राज्य की प्रारम्भिक दशा पर दृष्टि नहीं डाली और यह समझने का प्रयत्न नहीं किया कि राज्य की नींव "असबियत" पर ही पड़ती हैं। "ईश्वर जिसे देना चाहता है उसे अपना राज्य देता है।"[१]

(३) कुछ शासक वंश "असबियत" की उपेक्षा करके भी राज्य स्थापित करते हैं

यह इस प्रकार होता है कि एक वंश अथवा क़ौम की "असबियत" का लोहा दूर-दूर की क़ौमें तथा क़बीले मान लेते हैं और दूर-दूर के राज्यों के शासक भी उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए उद्यत रहते हैं और उसके ऐश्वर्य तथा गौरव पर भरोसा रखते हैं। अब यदि उक्त "असबियत" वाला कोई प्रभावशाली व्यक्ति अपने राज्य से निकल-कर उनके पास पहुँच जाता है तो उन राज्यों के शासक उसका सहर्ष स्वागत करते हैं और उसकी सहायता हेतु कटिबद्ध रहते हैं तथा उसके राज्य को दृढ़ बनाने का हृदय से प्रयत्न करते हैं कि किसी प्रकार वह प्रभुत्व नये सुल्तान के हाथ में आ जाय। इस सहायता के फलस्वरूप उनको नये बादशाह से बड़े-बड़े पद प्राप्त होते हैं, वज़ीर एवं अन्य उच्च पदाधिकारी बनने की उन्हें अभिलाषा होती है। उन्हें इस बात की आशा एवं आकांक्षा कदापि नहीं होती कि वे नये राज्य में हिस्सा बटायेंगे और बराबर के साझेदार बनेंगे। उस बादशाह की "असबियत" उन्हें हृदय से स्वीकार होती है और उसकी शक्ति का उन्हें विश्वास होता है। उसकी क़ौम के प्रभुत्व एवं आतंक की संसार में इतनी अधिक धूम होती है कि लोग उसकी अधीनता एवं वशंवदता को धार्मिक विश्वास की वस्तु समझते हैं और उसके विरुद्ध कोई कार्य करना बहुत बड़ा पाप समझते हैं। उनके मस्तिष्क में यह बात बैठ जाती है कि इधर इन्होंने उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन किया तो उधर दैवी प्रकोप उन पर टूट पड़ेगा।

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

बनू इदरीस को मग़रिबे अक़सा[1] तथा उबैदीईन को इफ़रीक़िया एवं मिस्र में इसी स्थिति का सामना करना पड़ा। यह युग वह था जब कि अबू तालिब[2] के वंशज पूर्व से भागकर मग़रिब के भू-भाग में पहुँचे थे और बनी अब्बास के मुक़ाबले में उन्होंने खिलाफ़त का दावा किया था। क्योंकि बनी अब्द मनाफ़[3] में बनी उमय्या के बाद खिलाफ़त एवं सल्तनत साधारण रूप से बनी हाशिम[4] का अधिकार समझी जाती थी, अतः इन लोगों ने अब्बासी ख़लीफ़ाओं के मुक़ाबले में ख़लीफ़ा होने का दावा किया। ये लोग अब्बासियों की राजधानी के आसपास के स्थानों को छोड़कर मग़रिबे अक़सा की ओर जा पहुँचे और स्वतंत्र राज्य का दावा करने लगे। बरबरों ने कई बार उनकी सहायता करके उनका राज्य एवं शासन स्थापित कराया। अवरबा तथा मुग़ीला क़बीलों ने बनू इदरीस की सहायता की। कुतामा, सिन्हाजा तथा हव्वारा उबैदीईन[5] की सहायता पर कटिबद्ध हो गये। अन्त में "असबियतों" के ज़ोर से बरबर क़बीलों ने इदरीसियों तथा उबैदीईन के राज्य स्थापित करा दिये। उन्होंने सर्वप्रथम अब्बासियों के अधिकार से पूरा मग़रिब छीन लिया और तत्पश्चात् इफ़रीक़िया। इसके बाद अब्बासियों का राज्य कम होने लगा और वे परेशान होने लगे। उबैदीईन का राज्य उनके विपरीत फैलने तथा बढ़ने लगा, यहाँ तक कि मिस्र, शाम तथा हिजाज़ सब उबैदीईन के अधीन हो गये और उन्होंने अब्बासियों से इस्लामी राज्य में आधा-आधा हिस्सा बाँट लिया। बरबरियों ने, जिन्होंने अपने प्रयत्न से उबैदीईन का राज्य स्थापित कराया था, अपने मामले उन्हीं के समक्ष प्रस्तुत करना शुरू कर दिया और उन्हीं की वशंवदता स्वीकार कर ली। वे वास्तव में उनके अधीन उच्च पदों की आशाएँ किया करते थे और इसी पर गर्व करते थे, कारण कि उनके हृदय एवं मस्तिष्क पर बनी हाशिम के राज्य सम्बंधी अधिकार का बड़ा प्रभाव था और वे किसी प्रकार उनका विरोध नहीं कर सकते थे। यह घटना उसी प्रकार की थी जिस प्रकार इससे पूर्व मुज़र तथा

१. मोराको।
२. अबू तालिब बिन अब्दुल मुत्तलिब, मुहम्मद साहब के चाचा। हज़रत अली इन्हीं के पुत्र थे।
३. अब्द मनाफ़।
४. बनी हाशिम। अरब का एक प्राचीन क़बीला जो हाशिम बिन अब्द मनाफ़ के नाम पर चला। मुहम्मद साहब के इसी कबीले से सम्बन्धित थे।
५. फ़ातेमी।

क़ुरैश का प्रभुत्व बहुत-सी क़ौमों ने स्वीकार कर लिया था। इस कारण उनका प्रभुत्व कई पीढ़ियों तक चला, यहाँ तक कि अरबों का राज्य पूर्णतः समाप्त हो गया। "ईश्वर ही निर्णय करता है और कोई भी उसके निर्णय में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता।"[१]

(४) बड़े बड़े राज्यों तथा शाही अधिकारों का अभ्युदय किसी धर्म अथवा धार्मिक प्रचार (दावत) के आधार पर होता है

इसका कारण यह है कि राज्य प्रभुत्व द्वारा प्राप्त होता है और प्रभुत्व "असबियत" से उत्पन्न होता है। विभिन्न इच्छाओं का एक ही माँग पर केंद्रित हो जाना और सब लोगों का एक-सा दृष्टिकोण होना, एक ही केन्द्रीय विश्वास-बिन्दु पर उनका संगठित हो जाना दैवी सहायता के बिना असम्भव है। यह दैवी सहायता सत्य-आधारित धर्म की स्थापना के सम्बंध में प्राप्त होती है। ईश्वर का आदेश है—"यदि तुम पृथ्वी का पूरा खज़ाना भी व्यय कर डालते, तो तुम उन लोगों को संगठित न कर सकते थे।"[२]

इसका कारण यह है कि जब हृदय वासनाओं के उपभोग तथा लौकिक बातों की ओर आकृष्ट होने लगता है तो लोगों में एक दूसरे से आगे बढ़ने की भावना उत्पन्न हो जाती है और पारस्परिक मत-भेद प्रारम्भ हो जाता है। जब संसार एवं उसकी मिथ्या वासनाओं को त्याग कर लोगों की आत्मा सत्य की ओर आकृष्ट होती है और ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त होती है, तो इन सबका उद्देश्य एक होता है। न पारस्परिक संघर्ष समाप्त हो जाते हैं और विरोध एवं झगड़ों का अन्त हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे की सहायता की इच्छा करने लगता है। इस प्रकार जब सब लोग संगठित हो जाते हैं तो उनका एक भव्य राज्य स्थापित हो जाता है। इसका उल्लेख आगे किया जायगा।

(५) धार्मिक प्रचार (दावत) "असबियत" की शक्ति बढ़ा देता है

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि धार्मिक भावनाएँ ईर्ष्या एवं द्वेष की जड़ें काटकर लोगों को पूर्ण रूप से सत्य की ओर प्रेरित कर देती हैं। धर्मानुयायी अपनी किसी भी समस्या पर एक ही दृष्टि-कोण से विचार किया करते हैं, क्योंकि सबकी इच्छाएँ एक ही प्रकार की होती हैं और सबका उद्देश्य भी एक ही होता है। उस पर वे

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
२. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

दृढ़ रहते हैं। राज्य के इच्छुक, धर्मनिष्ठ लोगों से संख्या में चाहे जितने अधिक हों, उनके उद्देश्य भिन्न तथा मिथ्या बातों से पूर्ण होते हैं। वे मृत्यु के भय से एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। वे धर्मनिष्ठ लोगों का ही चाहे उनकी संख्या अधिक क्यों न हो, मुक़ाबला नहीं कर सकते। वे उनसे पीछे रह जाते हैं। इस्लाम के प्रारम्भ में अरबों की यही दशा थी, कारण कि क़ादिसिया एवं यरमूक[1] के युद्ध में इस्लामी सेनाओं की संख्या ३०,००० से कुछ ही अधिक थी। इसके विपरीत फ़ारस की सेना क़ादिसिया के युद्ध में १, २०, ००० से कम न थी और हुरक़ुल की सेना वाक़दी के अनुसार चार लाख थी। ये सांसारिक लोग इतनी अधिक संख्या के बावजूद अरबों के आक्रमण को न रोक सके, अपितु अरबों ने उन्हें पराजित कर दिया और उनकी धन-सम्पत्ति लूट ली।

यही दशा लमतूना एवं मुवह्हेदीन के मुक़ाबले में मग़रिब के क़बीलों की थी। उनमें "असबियत" भी अधिक पायी जाती थी और वे संख्या में भी अधिक थे, किन्तु लमतूना एवं मुवह्हेदीन क़बीलों के धार्मिक संगठन ने उनकी क़ौमी "असबियत" की बड़ी उन्नति की थी और वे सब सत्य के लिए प्राण तक देने को उद्यत रहते थे। इसी कारण मग़रिबी "असबियत" उनका मुक़ाबला न कर सकी और उनके आक्रमण को सहन न कर सकी। इसी तथ्य के अन्तर्गत यह भी देखना चाहिए कि जब उनका धार्मिक उत्साह एवं जोश ठंडा पड़ गया तो उनके राज्य का पतन हो गया। आजकल प्रभुत्व का आधार क़ौमी "असबियत" है, न कि किसी धर्म के अनुयायियों की संख्या। इस प्रकार समान "असबियत" वाले राज्य अथवा कुछ कम या अधिक "असबियत" वाली सल्तनतें उन राज्यों पर अधिकार प्राप्त कर लेती हैं, जो किसी समय धार्मिक उत्साह के कारण उन पर प्रभुत्व प्राप्त किये हुए थीं, भले ही वे "असबियत" में भी अधिक थीं और "बदवियत" में भी।

यही दशा उस समय थी जब कि मुवह्हेदीन ज़नाता के मुक़ाबले में दृढ़ थे। ज़नाता, मसामेदा की तुलना में यद्यपि "बदवियत" में भी अधिक थे और वहशत-पसन्दी में भी, किन्तु मसामेदा के महदी के अधीनस्थ लोगों के धार्मिक उत्साह एवं मज़हबी जोश

१. जोरडन की पूर्वी शाखा। यहाँ अरब सेनापति ख़ालिद का अगस्त ६३६ ई० में शाम (सीरिया) के बादशाह हेरैकलियस अथवा हुरक़ुल की बहुत भारी सेना से भी भीषण युद्ध हुआ, जिसमें शाम वाले पराजित हो गये। इब्ने खलदून ने शाम एवं ईरान की जो संख्या बतायी है उसका उल्लेख तबरी एवं मसऊदी ने नहीं किया है।

से भरे होने के कारण उनकी क़ौमी "असबियत" बड़ी शक्तिशाली और ज़ोरदार हो गयी थी। इसी कारण प्रारम्भ में जब उनका "ज़नाता" से संघर्ष हुआ तो उन्होंने उन लोगों पर अपना अधिकार जमा लिया, किन्तु जब इन्हीं लोगों का धार्मिक उत्साह ठंडा हो गया और मज़हबी जोश कम हुआ तो ज़नाता ने इन्हें हड़प कर लिया। ज़नाता चारों ओर से उन पर टूट पड़े और राज्य उनके हाथों से छीन लिया। "ईश्वर में अपने आदेशों का पालन करा लेने की शक्ति है।"[1]

(६) धार्मिक प्रचार "असबियत" के बिना पूर्ण नहीं होता

इस बात का उल्लेख हो चुका है कि साधारण प्राणियों को किसी दृष्टिकोण एवं उद्देश्य पर एकमत करने के लिए उभारना हो तो उसके लिए "असबियत" परमावश्यक है। हदीस में लिखा है—"ईश्वर ने कोई ऐसा पैग़म्बर नहीं भेजा जिसे अपने अनुयायियों की सहायता न प्राप्त हो।" जब नबियों का ही, जो लोगों की आदतें बदलने में सबसे अधिक योग्यता रखते हैं, "असबियत" के बिना काम नहीं चल सकता, तो अन्य लोगों का ज़िक्र ही क्या ? आदतों के परिवर्त्तन के लिए उन्हें तो "असबियत" की और भी अधिक आवश्यकता है, कारण कि "असबी" सहायता के बिना वे किसी को सत्य-धर्म की ओर प्रेरित ही नहीं कर सकते। "इब्ने क़सी[2] शेखुस् सूफ़िया ख़ल उन-नालैन" नामक तसव्वुफ़ के ग्रंथ के लेखक जब सत्यनिष्ठ प्रेरणा का प्रचार करके उन्दुलुस में महदी के प्रचार से पूर्व अपने सहायक मुराबेतून को साथ लेकर उठे तो कुछ समय तक उनका बड़ा ज़ोर रहा, कारण कि एक ओर तो लम्तूना मुवह्हेदीन के साथ भिड़े हुए थे और उनका पूरा ध्यान उन्हीं की ओर था। दूसरे, उन्दुलस में उस समय कोई "असबियत" वाले क़बीले भी न थे कि वे उनके वेग को रोकते, अतः उनका क़दम जमा। किन्तु जैसे ही मुवह्हेदीन मग़रिब पर छाये तो इब्नुल क़सी भी अपने साथियों के साथ मुवह्हेदीन के समक्ष झुक गये और उनके प्रचार में उनके सहायक बन गये। अरकश के क़िले तथा उसकी सीमाओं से मुवह्हेदीन को आगे बढ़ने का उन्होंने अवसर दे दिया। इस प्रकार उन्दुलुस में मुवह्हेदीन के प्रचारक सर्वप्रथम यही मुराबेतून थे और इन्हीं के विद्रोह को मुराबेतून का विद्रोह कहा जाता है।

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

२. अहमद बिन क़सी (मृत्यु ५४६ हि०/११५१ ई०)। उन्होंने अपना विद्रोह ११४१ ई० के लगभग प्रारम्भ किया।

संक्षेप में जब इसी प्रकार सर्वसाधारण में दुराचार प्रचलित हो जाता है तो इबादत करनेवाले धर्मनिष्ठ, फ़क़ीह तथा आलिम, अत्याचारी अमीरों के सुधार एवं पथ-प्रदर्शन के लिए उठ खड़े होते हैं और दुष्टता एवं निंद्य कर्म को मिटाकर सदाचरण फैलाते हैं। इन प्रचारकों का केवल यही उद्देश्य होता है कि वे ईश्वर की ओर से पुण्य के पात्र बनें। उन्हें देखकर उनके बहुत से अनुयायी उठ खड़े होते हैं और प्राण हथेली पर रखकर उनके साथ हो लेते हैं। भीषण ख़तरों का सामना करते हैं। कुछ लोग तो मृत्यु के भी शिकार हो जाते हैं, किन्तु "असबियत" के बिना इतने महान् कार्य का बीड़ा उठाने के कारण उन्हें उससे कोई लाभ नहीं होता, वे व्यर्थ में ही प्राण त्याग देते हैं। ईश्वर ने ऐसे ख़तरों में अपने प्राण डालने का आदेश नहीं दिया है, अपितु शक्ति अथवा क्षमता का बंधन निश्चित किया है। मुहम्मद साहब ने आदेश दिया है कि "यदि तुम दुराचार होते देखो तो अपने हाथ से उसको बदलने का प्रयत्न करो। यदि तुममें इतनी शक्ति न हो तो ज़बान से समझाओ। यदि यह भी न कर सको तो केवल हृदय से उसे बुरा समझो।"

बादशाहों के आचार-व्यवहार, सल्तनतों के सिद्धान्त एवं नियम ऐसी गहरी जड़ें पकड़े होते हैं कि वे उस समय तक, जब तक कोई प्रभावशाली प्रचारक न हो, हिल नहीं सकते। इस प्रचार के पीछे भी क़बीले एवं वंश की "असबियत" का होना आवश्यक है। इसी प्रकार नबियों की सत्य संबंधी पुकार में भी "असबियत" मौजूद होती है, यद्यपि उनको सत्य का विशेष समर्थन प्राप्त होता है और ईश्वर की पूरी सहायता उनके साथ होती है, किन्तु इस कारण कि ईश्वर ने संसार में प्रत्येक वस्तु का आधार आदत एवं कारण को बनाया है, अतः नबियों को भी "असबियत" से काम लेने की आवश्यकता पड़ जाती है। अब वह व्यक्ति जो "असबियत" के बिना ऐसे महान् कार्य करना चाहे तो यद्यपि वह सत्य पर ही दृढ़ क्यों न हो, विनाश के गर्त में गिर जायगा। वह व्यक्ति जो गुप्त रूप से राज्य एवं शासन का आकांक्षी हो और बाह्य रूप से धर्म तथा मज़हब का दावा करे, तो वास्तव में वह इसी योग्य है कि बाधाएँ उसे रोक लें और विनाश उसके मार्ग में रोड़ा बन जाय। कारण कि शरई राज्य एवं धार्मिक इमामत[1] दैवी आदेश एवं सहायता, सत्यता तथा मुसलमानों के प्रति निष्ठा के बिना स्थिर नहीं रह सकती। यह ऐसा तथ्य है जिस पर किसी बुद्धिमान् मुसलमान को कोई सन्देह हो ही नहीं सकता।

सर्वप्रथम ऐसा असंतोष एवं ऐसी हलचल बग़दाद में ख़ालिद दरयूश नामक एक

१. नेतृत्व, साधारण प्रयोग में नमाज़ पढ़ाना।

व्यक्ति ने मचायी। ताहिर ने विद्रोह कर दिया था। खलीफ़ा की हत्या हो चुकी थी। मामून को खुरासान से इराक़ पहुँचने में विलम्ब हुआ और उसने अली बिन मूसीरिज़ा को जो इमाम हुसेन के वंशज थे, अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। समस्त बनी अब्बास मामून के विरोधी होकर बैअत[1] समाप्त करने पर उद्यत हो गये। उन्होंने इबराहीम बिन अल महदी के हाथ पर बैअत कर ली। इस प्रकार यह ऐसे असंतोष एवं हलचल का युग था कि समस्त बग़दाद नगर शासन के क़ानूनों की उपेक्षा करने लगा था। शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करनेवाली प्रजा पर नगर के गुंडों, बदमाशों तथा सैनिकों ने अत्याचार प्रारम्भ कर दिया। वे मार्गों में लूटमार करके धन-सम्पत्ति बाज़ारों में लाकर खुल्लमखुल्ला बेचने लगे। नगर-वासी न्याय हेतु अधिकारियों के पास जाते किन्तु वे उनकी बात भी न सुनते। ऐसी अव्यवस्थित दशा में धर्म-निष्ठ एवं सुधारक लोग अत्याचारियों की रोक टोक एवं हिंसा के विनाश हेतु मैदान में निकल आये। इसी समय ख़ालिद दरयूश नामक एक सुधारक बग़दाद में उठ खड़ा हुआ, जिसने परोपकार एवं सदाचार के प्रचार एवं दुष्टता तथा दुराचार के विनाश का व्रत लिया। एक बहुत बड़ा समूह उसकी पताका के नीचे आकर एकत्र हो गया। उपर्युक्त सुधारक ने उपद्रवकारियों से घोर युद्ध किया और उन पर अधिकार जमाकर उन्हें बुरी तरह कुचल दिया।

ख़ालिद के उपरान्त एक अन्य व्यक्ति अबू हातिम सहल बिन सलामह अंसारी बग़दाद के सामान्य लोगों में से उठ खड़ा हुआ। वह गले में क़ुरान लटकाकर सत्य का नारा लगाता हुआ पहुँचता था। इस प्रकार उसने लोगों को सदाचार एवं उपकार की ओर प्रेरित किया और दुष्टता एवं दुराचार से उन्हें बाज़ रखा। अल्लाह की पुस्तक एवं मुहम्मद साहब की सुन्नत पर आचरण करने के लिए उसने उन्हें विवश किया। बनी हाशिम के तथा सम्मानित एवं निम्न वर्ग के सभी लोग उसके सहायक बन गये। वह बग़दाद पहुँचकर ताहिर के महल में उतरा। ख़ज़ाने पर अधिकार जमाया और नगर में चक्कर लगाकर उसने दुराचारियों एवं बदमाशों को धमकाया। लोगों को समझाया कि वे नगर के उचक्कों को अपनी रक्षा हेतु[2] कुछ न दें। ख़ालिद दरयूश ने उससे कहा कि

१. अधीनता की शपथ।

२. ख़फ़ारा, तबरी ने इस शब्द की बड़ी स्पष्ट व्याख्या की है। वह लिखता है—ख़फ़र का यह अर्थ है कि कोई किसी उद्यान के स्वामी के पास पहुंचे और

"मैं समझता हूँ, शासन का इसमें कोई दोष नहीं।" सहल ने उत्तर दिया,—"जो कोई भी अल्लाह की पुस्तक एवं मुहम्मद साहब की सुन्नत का विरोध करेगा, मैं उससे युद्ध करूँगा।" इबराहीम बिन अल-महदी ने जब सहल की यह बढ़ती हुई शक्ति देखी तो सेना को सुव्यवस्थित करके उसे दंड देने हेतु भेजा। सेना ने उस पर अधिकार प्राप्त करके उसे बन्दी बना लिया। इस प्रकार उसकी पूरी शान मिट्टी में मिल गयी और वह बड़ी कठिनाई से भाग सका। यह घटना २०१ हि० (८१७ ई०) में घटी।

इसी प्रकार उसके उपरान्त भी बहुत से बनावटी सत्य का दावा करनेवाले उठे। उन्होंने यह न समझा कि सत्य को दृढ़ करने के लिए "असबियत" कितनी आवश्यक है। वे अपने दुराचार के दुष्परिणाम के विषय में भी न सोच सके। उनके विषय में यही उचित था कि यदि वे पागल हों तो उनका उपचार किया जाय। यदि वे राज्य में विघ्न डालते हों तो उनकी मार-पीट की जाय, अथवा उन्हें मृत्युदंड दिया जाय, अथवा उन्हें मसखरा समझकर उनकी ओर से उपेक्षा की जाय।

इनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो फ़ातेमी इमाम महदी आख़िरुज़् ज़माँ के, जिनकी वे प्रतीक्षा किया करते हैं, अपने आपको प्रतिनिधि घोषित करते हुए उनके प्रचारक बन जाते हैं। कोई स्वयं महदी बन बैठता है और कोई उनका प्रचारक एवं सहायक होने का दावा करता है। ये धूर्त न तो फ़ातेमियों के तथ्य को समझते हैं न उस इमाम के विषय में, जिसकी प्रतीक्षा हो रही है। अधिकांश ख़बती, पागल तथा छली एवं धूर्त होते हैं जो इन कुकर्मों एवं इसी प्रकार के प्रचार से राज्य एवं शासन, जिसकी उन्हें महत्त्वाकांक्षा होती है, प्राप्त करना चाहते हैं। परिस्थिति के अनुकूल न होने के कारण वे अपने उद्देश्य तक पहुँचने में असमर्थ रहते हैं। इसी कारण वे समस्त सम्बंधों को त्याग-कर धर्म का ढोंग रचते हैं और समझते हैं कि धार्मिक आवरण में वे अपने उद्देश्य की पूर्ति कर लेंगे। जो हानि भविष्य में होनेवाली होती है, उस तक उनकी बुद्धि नहीं पहुँच पाती। इसी उत्पात के कारण वे शीघ्र ही मौत के घाट उतर जाते हैं और अपने कुकर्मों का दंड भोग लेते हैं।

इसी आठवीं शताब्दी हि० (१४वीं शताब्दी ई०) के प्रारम्भ में सूस में तुवैज़िरी नामक एक व्यक्ति सूफ़ियों के वेष में उठा और उसने भूमध्यसागर के तट पर स्थित

उससे कहे कि "तुम्हारा उद्यान हमारी रक्षा (ख़फ़र) में है। मैं किसी बदमाश को इसे हानि न पहुँचाने दूँगा। तुमको इतना धन प्रति मास देना होगा।"

मास्सा नामक मस्जिद में जाकर दावा किया कि "मैं फ़ातेमी इमाम महदी हूँ जिनकी लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं।" साधारण लोग भ्रम में पड़ गये। वास्तव में उस युग में लोग दुर्घटनाओं एवं कष्टों के कारण उकता तथा घबड़ा गये थे और इमाम महदी की प्रतीक्षा कर रहे थे, वे यह भी जानते थे कि इमाम महदी अपना प्रचार उसी मस्जिद से प्रारम्भ करेंगे। फलतः समस्त बरबरी क़बीले उसकी सहायतार्थ एकत्र हो गये। सरदारों एवं अमीरों ने जब यह दशा देखी तो खटक गये और भयभीत हो गये कि विलम्ब के कारण विद्रोह हो जायगा और राज्य हाथ से निकल जायगा। उमर अस् सकसीवी, मुसमूदा के एक सरदार ने गुप्त रूप से एक आदमी को तैयार करके उस झूठे की बिछौने पर ही हत्या करा दी।

गुमारा में भी इसी आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अब्बास नामक एक व्यक्ति ने महदी होने का दावा किया। बहुत से क़बीलों के मूर्ख लोग उसके बहकावे में आकर उसके सहायक बन गये। उसने साहस कर बादिस नामक नगर पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में कर लिया। किन्तु उसके प्रचार को प्रारम्भ हुए चालीस दिन ही हुए थे कि वह भी क़त्ल होकर अन्य धूर्तों के पास पहुँच गया।

संक्षेप में इतिहास द्वारा इस प्रकार के अनेक उदाहरणों का पता चलता है। वास्तव में "असबियत" के प्रभाव की उपेक्षा के कारण इसी प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है। वास्तव में जो ढोंग रचे एवं धोखे का जाल बिछाये, वह इसी योग्य है कि शीघ्र ही दंड का पात्र हो, कारण कि "पापियों के लिए यही दंड है।"[1]

(७) प्रत्येक राज्य अपने विशेष क्षेत्र में सीमित रहता है, उसके बाहर नहीं बढ़ सकता

जो क़ौम किसी सल्तनत की नींव रखती है और उसके स्थायित्व के साधन एकत्र करती है उसको अनिवार्य रूप से विभिन्न प्रान्तों एवं सीमाओं में विभाजित हो जाना पड़ता है, ताकि शत्रु से रक्षा के साधन और सल्तनत के आदेश उपलब्ध हो सकें। उदाहरणार्थ खराज की वसूली एवं फ़साद का खंडन इत्यादि भली-भाँति हो सकें। जब क़ौम इस प्रकार विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में विभाजित हो जाती है और सीमाएँ निश्चित हो जाती हैं, तो किसी-न-किसी सीमा पर पहुँचकर उस राज्य के मनुष्यों की आबादी का अन्त आ जाता है। इसी सीमा को राज्य की अंतिम सीमा तथा सल्तनत के वृत्त का राज्य

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

के केन्द्र से दूरतम बिन्दु समझना चाहिए। अब यदि राज्य अपनी इस अन्तिम सीमा को पार करके आगे बढ़ना चाहता है तो वह क़ौमी सहायकों से वंचित रह जाता है और पड़ोसी शत्रुओं को अपनी इच्छाओं की पूर्ति का सुअवसर मिल जाता है। सल्तनत कठिनाई में पड़ जाती है, कारण कि इधर शत्रु की धृष्टता में वृद्धि हो जाती है और उधर स्वयं सल्तनत का आतंक एवं उसका सम्मान घट जाता है।

जब क़ौम की संख्या इतनी अधिक हो कि विभिन्न दिशाओं एवं सीमांतों में विभाजित हो जाने के उपरान्त भी लोग बच रहें तो सल्तनत में इतनी शक्ति शेष रहती है कि वह अपने राज्य की सीमा को आगे बढ़ाती चली जाय, यहाँ तक कि अपनी क़ौमी शक्ति के अनुपात से वह एक ऐसी सीमा पर आकर ठहर जाय जिसके आगे वह शक्ति उपलब्ध न हो। इसकी स्वाभाविक वजह यह है कि एक विशेष सीमांत पर पहुँचकर राज्य का विस्तार सम्भव नहीं होता। "असबी" शक्ति ही राज्य में पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है। यह बात विशेष रूप से "असबियत" तक ही सीमित नहीं अपितु प्रत्येक कार्य सम्बंधी शक्ति की यह विशेषता है। इस प्रकार सल्तनत अपने केन्द्रीय स्थान पर तो पूर्ण बल एवं शक्ति के साथ स्थापित होती है और जैसे-जैसे वह अपने चारों ओर फैलती है उसमें कमज़ोरी आती जाती है, यहाँ तक कि अन्तिम सीमा पर पहुँचकर उसका ज़ोर पूर्णतः घट जाता है। अब वह सीमान्त के उस पार नहीं बढ़ सकती। इसे एक प्रज्वलित वस्तु के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। ऐसी वस्तु की किरणें जितनी ही अपने केन्द्र से दूर होती जायँगी, मद्धिम पड़ती जायँगी, यहाँ तक कि एक सीमा पर पहुँचकर वे पूर्णतः समाप्त हो जायँगी और फिर अंधकार ही अंधकार रहेगा। यही कारण है कि जब सल्तनत शक्तिहीन होने लगती है तो सीमांत के आस-पास उसका ज़ोर घटने लगता है, यद्यपि तब तक केन्द्र सुरक्षित होता है। अन्त में वह स्वयं ही शक्तिहीन होकर समाप्त हो जाता है। अथवा यों कहा जा सकता है कि राज्य का केन्द्र हृदय के समान है जो शरीर में प्राण फैलाता है। हृदय पर अधिकार प्राप्त कर लेने के उपरान्त शरीर के अंग स्वयं शक्तिहीन हो जाते हैं। उदाहरण-स्वरूप फ़ारस की सल्तनत का केंद्रीय स्थान मदायन[1] था। जब मुसलमानों ने उस पर अधिकार प्राप्त कर लिया तो फ़ारस का सम्पूर्ण राज्य स्वतः नष्ट हो गया। मदायन की विजय के उपरान्त राज्य के जो भाग यज़्दजर्द के अधिकार में रह गये, वे राज्य को विनाश से न बचा सके।

१. Ctesiphon.

इसके विपरीत शाम की रूमी[1] सल्तनत के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो पता चलेगा कि जब मुसलमानों ने रूमियों से शाम छीन लिया तो वे लोग अपने राज्य के केन्द्र क़ुस्तुन्तुनिया में पहुँच गये और शाम के अधिकार से निकल जाने के कारण उनको अधिक हानि नहीं हुई। उनका राज्य चलता ही रहा, यहाँ तक कि फिर ईश्वर ने उन्हें पूर्णतः नष्ट कर डाला।

यदि अरबों का ही उदाहरण सामने रखा जाय तो पता चलेगा कि इस्लाम के प्रारम्भिक काल में वे अपनी संख्या अधिक होने के कारण अपने पड़ोसी राज्यों, शाम, इराक़ तथा मिस्र पर विजयी हो गये। फिर वहाँ से भी आगे बढ़कर सिन्ध, हब्श,[2] इफ़रीक़िया तथा मग़रिब को उन्होंने अपने अधिकार में कर लिया। तदुपरान्त उन्दुलुस भी विजय कर लिया। इसके बाद जब उनका राज्य विभिन्न भागों में विभाजित हुआ और उन भागों की सीमाएँ निर्धारित हुईं तथा विविध राज्यवासी राज्यरक्षा की समस्या में फँसे तो विभाजन के कारण उनकी संख्या भी कम हो गयी और इससे उनकी विजयों का क्रम टूट गया। इस्लाम के आतंक में अन्तर पड़ने लगा और उसमें अपने सीमान्त से आगे बढ़ने की शक्ति न रही। इस प्रकार अरबों का राज्य घटते-घटते समाप्त हो गया। यही दशा बाद के आनेवाले राज्यों की हुई। सल्तनतों का स्थायित्व उनके समर्थकों की अधिकता एवं न्यूनता पर निर्भर हो गया। जब विभाजन के कारण क़ौम की जनसंख्या घटी तो विजय का क्रम बन्द हो गया और प्रभुत्व भी समाप्त हो गया। ईश्वर इसी प्रकार प्राणियों से व्यवहार करता है।

(८) सल्तनत का गौरव, उसके राज्यविस्तार तथा स्थायित्व पर एवं जीवन, उसके सहायकों की संख्या की अधिकता एवं न्यूनता पर निर्भर होता है

इसका कारण यह है कि राज्य के स्थायित्व का आधार "असबियत" है और "असबियत" वाले ही उसके रक्षक होते हैं। वही राज्य की विभिन्न दिशाओं में फैलते हैं और उसकी जड़ों को दृढ़ बनाते हैं। जब सल्तनत के सहायक एवं रक्षक तथा "असबियत" वाले अधिक संख्या में होंगे तो राज्य की शक्ति एवं ज़ोर अधिक होगा और उस राज्य का क्षेत्र विस्तृत हो जायगा।

१. बैज़न्टाइन।
२. अबीसीनिया।

इस्लामी सल्तनत को ही उदाहरणस्वरूप सामने रख लिया जाय। जब अरबों को ईश्वर ने इस्लाम के कारण संगठित कर दिया तो तबूक के युद्ध तक, जो मुहम्मद साहब के पवित्र जीवन-काल का अन्तिम युद्ध समझा जाता है, मुसलमान अश्वारोहियों तथा पदातियों की संख्या, जिनमें मुज़र तथा क़हतान कबीले भी सम्मिलित थे, एक लाख दस हज़ार[1] तक पहुँच गयी थी। इसके बाद मुहम्मद साहब की मृत्यु तक जिन लोगों ने इस्लाम स्वीकार किया उन्होंने इस संख्या में और भी वृद्धि कर दी। ये लोग राज्यों की विजय हेतु उठे तो कोई शक्ति इन्हें रोक न सकी और कोई बात इनके मार्ग में बाधक न हो सकी। उस युग की दो सबसे बड़ी सत्ताएँ, अर्थात् फ़ारस एवं रूम के राज्य भी उनके चरणों में गिर पड़े। तुर्कों को पूर्व में, फ़िरंग एवं बरबर को पश्चिम में तथा क़ूत[2] को उन्दुलुस में उन्होंने विजय कर लिया। हिजाज़ के भूभाग से निकलकर वे सुदूर पश्चिम में सूसे अक़सा तक पहुँच गये और यमन से बढ़कर सुदूर उत्तर में तुर्कों को विजय कर लिया। इस प्रकार सातों इक़लीमों को उन्होंने अपने अधीन कर लिया। फिर सिनहाजा एवं मुवह्हेदीन के इतिहास का अध्ययन कीजिए, जो उबैदीईन[3] के मुक़ाबले में डटे हुए थे। कुतामा जो उबैदीईन के सहायक थे, संख्या में सिनहाजा एवं मसमूदा से कहीं अधिक थे। इसी कारण उनके राज्य को बहुत अधिक ऐश्वर्य एवं गौरव प्राप्त हुआ। इफ़रीक़िया, मग़रिब, शाम, मिस्र तथा हिजाज़ उनके अधीन हो गये। फिर ज़नाता का उदाहरण सामने रखा जाय। वे संख्या में मसमूदा से भी कम थे, अतः उनका राज्य मुवह्हेदीन से भी छोटा रहा। इसी प्रकार समकालीन दो राज्यों, ज़नाता बिन मरीन तथा बनी अब्दुल वाद को यदि उदाहरणार्थ देखा जाय तो संख्याबाहुल्य तथा जनसत्ता की अधिकता का यही नियम मिलेगा कि बनी मरीन अपनी संख्या की अधिकता के कारण शक्तिशाली राज्य के स्वामी थे और उनके राज्य का क्षेत्र भी विस्तृत था और उन लोगों ने कई बार बनी अब्दुल वाद पर प्रभुत्व प्राप्त किया। कहा जाता है कि राज्य के प्रारम्भ में बनी मरीन की जनसंख्या ३,००० थी और बनी अब्दुल वाद की संख्या केवल १,००० थी, किन्तु अब्दुल वाद की समृद्धि एवं सहायकों की संख्या ने उनकी संख्या शीघ्र बढ़ा दी।

१. अन्य सूत्रों में इससे भी कम संख्या, अर्थात् ३०,००० से १०,००० तक दी गयी है।

२. गोथ।

३. फ़ातेमियों।

प्रभुत्वशाली क़ौम की अपने राज्य के प्रारम्भ में जो जनसंख्या होती है, उसी के अनुसार उसकी सल्तनत बढ़ती एवं दृढ़ होती है और उसका जीवन-काल भी तदनुपाती होता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वर्त्तमान वस्तु की आयु उसकी प्राकृत शक्ति पर निर्भर होती है और सल्तनत की प्रकृति "असबियत" पर निर्भर होती है। जब सल्तनत की "असबियत" शक्तिशाली होती है तो प्रकृति भी उसी प्रकार शक्तिशाली होती है और राज्य की आयु भी लम्बी होती है। अतः "असबियत" का आधार तदनुसार जन-संख्या की अधिकता एवं कमी ही है।

तब इस समग्र तथ्य का रहस्य यों हुआ कि राज्य में विघ्न सीमांतों से ही उत्पन्न होता है। राज्य जितना ही अधिक विस्तृत होगा उसके सीमांत दूर-दूर पर स्थित होंगे। वहाँ की अशान्ति एवं परेशानी का प्रभाव केन्द्र पर बड़ी देर में पड़ेगा। राज्य के अधीनस्थ क्षेत्र विभिन्न एवं बहु-संख्यक होते हैं और विभिन्न कालों में उनमें अशान्ति उत्पन्न होती रहती है। उनके दूर होने के कारण केन्द्र पर उस अशान्ति का प्रभाव देर में तथा कम पड़ता है। इस प्रकार राज्य की आयु बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ इस्लामी राज्यों में बग़दाद में बनी अब्बास तथा उन्दुलुस में बनी उमय्या का राज्य दीर्घकाल तक चलता रहा और अशान्ति एवं उथल-पुथल से मुक्त रहा। चौथी शताब्दी हिजरी (१०वीं शताब्दी ईसवी) के उपरान्त उनके गौरव तथा सम्मान में निःसन्देह अन्तर पड़ा। उबैदीईन का राज्य लगभग २८० वर्ष तथा सिनहाजा का राज्य इससे भी कम समय तक रहा। उनका राज्य मअद्द-अल-मुइज़्ज़ के राज्य के ३५८ हि० (९६९ ई०) से लेकर मुवह्हेदीन के क़लअह एवं बोगी पर अधिकार जमा लेने (५५७ हि०/११६२ ई०) के समय तक चलता रहा। समकालीन मुवह्हेदीन का राज्य लगभग २७० वर्ष तक रहा।

संक्षेप में राज्यों की आयु उनके सहायकों (की संख्या) के कारण घटती बढ़ती है। "ईश्वर ने अपने सेवकों से इसी प्रकार व्यवहार किया।"[1]

(९) जिस राज्य में क़बीलों की संख्या अधिक तथा "असबियत" वालों की बहुतायत होती है, वहाँ राज्य बड़ी कठिनाई से बन पाता है

इस कथन का आधार यह है कि यतः राज्य में विभिन्न मत एवं नाना प्रकार की महत्त्वाकांक्षाएँ रहती हैं और प्रत्येक मत एवं महत्त्वाकांक्षा के पीछे शक्तिशाली "अस-

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

बियत" का हाथ होता है जो अन्य आकांक्षाओं की सफलता में बाधक होता है, अतः राज्य के विरुद्ध हर समय विद्रोहों का क्रम चलता रहता है। यद्यपि राज्य में भी पृथक् रूप से "असबियत" होती है, किन्तु उसके अधीनस्थ "असबियत" वाले क़बीले अपने में वह शक्ति एवं गौरव पाते हैं जिसके भरोसे वे नित्य प्रति राज्य से टकराते रहते हैं।

इस्लाम के अभ्युदय से लेकर अब तक मग़रिब एवं इफ़रीक़िया के देश इस तथ्य को भली-भाँति स्पष्ट कर रहे हैं, कारण कि वहाँ "असबियत" वाले बरबरों के क़बीले आबाद हैं। इस प्रकार प्रारम्भ में इब्ने सरह[1] ने उनपर तथा फिरंगियों ने मग़रिब पर विजय प्राप्त कर ली, किन्तु इससे उन्हें कोई लाभ न हुआ। वे निरन्तर विद्रोह करते रहे तथा मुर्तद[2] भी होते रहे। मुसलमान लगातार उनका संहार करते रहे, किन्तु दीन (इस्लाम) का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के उपरान्त भी उन्होंने विद्रोह करना एवं मुर्तद होना न त्यागा। इब्ने अबी ज़ैद[3] का कथन है कि मग़रिब में बरबर १२ बार मुर्तद हुए और इस्लाम मूसा बिन नुसैर के राज्य के पूर्व तक दृढ़तापूर्वक एवं स्थायी रूप से न फैल सका। इसी कारण हज़रत उमर का कथन है कि "इफ़रीक़िया वहाँ के निवासियों के हृदय में फूट डालता है।" इस कथन का तात्पर्य यह है कि वहाँ ऐसे "असबियत" वाले क़बीले आबाद हैं जो कभी शासन एवं प्रभुत्व के समक्ष नहीं झुकते और आज्ञाकारिता नहीं स्वीकार करते। इराक़ एवं शाम की दशा निःसन्देह ऐसी न थी क्योंकि वे फ़ारस एवं रूम के अधीन थे और उनमें साधारण नगरनिवासी तथा समृद्धि के वातावरण में पले हुए ऐसे लोग बसे थे जो युद्ध से जान चुराते थे। जब मुसलमानों ने रूम एवं फ़ारस पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया और राज्य उनके हाथ से छीन लिया तो राज्य संचालन में न कोई बाधा रह गयी और न कठिनाई।

अब रहा मग़रिब, तो वहाँ असंख्य बरबर क़बीले बसे हुए थे और सब बदवी, "असबियत" वाले एवं क़ौमी मर्यादा के स्वामी होते थे। उनमें जब एक क़बीला नष्ट हो जाता तो दूसरा उसका स्थान ले लेता और उद्दंडता एवं मुर्तद होने में उसी के समान उद्यत रहता था। इन्हीं संघर्षों के कारण मुसलमानों को इफ़रीक़िया एवं मग़रिब में अपना राज्य स्थापित करने में समय लग गया।

१. हज़रत मुहम्मद के बाद तीसरे ख़लीफ़ा द्वारा नियुक्त मिस्र का हाकिम, जिसने ६४७ ई० के थोड़े दिनों बाद त्रिपोलितनिया को विजय करने का प्रयत्न किया।
२. जो इस्लाम स्वीकार करने के उपरान्त उसे त्याग दे।
३. अब्दुल्लाह बिन अबी ज़ैद (जन्म ३१६ हि०।९२८ ई०, मृत्यु ३८६ हि०।९९६ ई०), इब्ने ख़लदून ने उसके ग्रंथों के हवाले अनेक स्थानों पर दिये हैं।

इससे पूर्व बनी इसराईल के युग में शाम की भी यही दशा थी। उसमें फ़लस्तीन तथा कनआन के क़बीले, बनी इस्व, बनी मिदयान, बनी लूत, आरमीनी[1] अमालक़ा, गिर्गशाई तथा नबत इत्यादि जज़ीरे एवं मूसल तक भरे पड़े थे और सब पृथक् वैभव एवं "असबियत" के स्वामी थे। इस कारण बनी इसराईल को वहाँ अपना राज्य स्थापित करने में अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कभी उनके पाँव डगमगाते और कभी जम जाते थे। यहाँ तक कि उनमें आपस में विरोध एवं मतभेद उत्पन्न हो गया था। उन्होंने अपने बादशाहों का विरोध करके उन पर चढ़ाई की। संक्षेप में वे अपने पूरे राज्यकाल में कभी भी शान्ति से राज्य न कर सके। अन्त में फ़ारस ने उन पर अधिकार जमा लिया, तदुपरान्त यूनान एवं रूम ने। अन्त में वे बैतुल मुक़द्दस से निर्वासित कर दिये गये।

इसके विपरीत वह स्थान जहाँ "असबियत" पायी ही न जाती हो, वहाँ राज्य शीघ्र स्थापित हो जाता है और अशान्ति एवं गड़बड़ी की कमी के कारण राज्य के नियमों का सुगमतापूर्वक पालन होने लगता है। इसी कारण समकालीन राज्य को भी अधिक "असबियत" की आवश्यकता नहीं पड़ती, जैसा कि मिस्र एवं शाम की इस समय दशा है कि वे "असबियत" वाले क़बीलों से पूर्णतः शून्य हैं। मिस्र देश विद्रोह एवं उपद्रव के अभाव के कारण बड़ी शान्ति एवं आराम से जीवन व्यतीत कर रहा है। "असबियत" वाले ही शासक हैं और वही प्रजा। वहाँ तुर्कों की सल्तनत है और तुर्की क़बीले ही समय-समय पर राज्य सँभालते रहते हैं। बग़दाद के अब्बासी ख़लीफ़ाओं का नाम-मात्र को ख़ुत्बा पढ़ा जाता है।

उन्दुलुस की भी इस समय ऐसी ही दशा है। इब्नुल अहमर[1] का उस पर राज्य है। प्रारम्भ से ही उनके राज्य में न कोई बल था और न कोई वैभव। केवल अमव्या राज्य का बचा हुआ एक "असबियत" वाला वंश रह गया था, जिसको उन्दुलुस पर प्रभुत्व प्राप्त हुआ। इस प्रकार जब उन्दुलुस में अरबी राज्य ने दम तोड़ा तथा बरबर में से लम्तूना एवं मुवह्हेदीन उन्दुलुस के शासक हुए तो कुछ ही दिनों में उनका राज्य डगमगाने लगा और सल्तनत का सँभलना कठिन हो गया। लोग उनके घोर शत्रु हो गये। अन्त में मुवह्हेदीन ने अपने राज्यकाल के अन्त में मराकश नगर की रक्षा हेतु अनेक क़िले विद्रोहियों को सौंप दिये। शासन की यह दशा देखकर कुछ क़बीले, जो नगर के जीवन एवं सभ्यता से बहुत बड़ी सीमा तक शून्य थे और "असबियत" की

१. ग़रनाता का नासिरी वंश।

भावनाएँ जिनमें मौजूद थी, शासन के विरुद्ध उठ खड़े हुए और उन्होंने विद्रोह की आवाज़ बुलन्द कर दी। उदाहरणार्थ इब्ने हूद[1], इब्नुल अहमर[2], इब्ने मर्दनीश[3] तथ उन सरीखे अन्य लोग राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। इब्ने हूद ने पूर्व में अब्बासी खिलाफ़त का आंदोलन चलाया और लोगों को मुवह्हेदीन के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उभारा। इस प्रकार समस्त देश में क्रांति फैल गयी और उसने मुवह्हेदीन को निकाल दिया। इस प्रकार इब्ने हूद उन्दुलस के राज्य का विधिपूर्वक शासक बन गया।

तदुपरान्त इब्ने अहमर ने प्रभुत्व प्राप्त करने का प्रयत्न किया और इब्ने हूद के प्रचार के विरुद्ध विद्रोह की पताका ऊँची की। मुवह्हेदीन में से इफ़रीक़िया के इब्ने अबी हफ़्स ने अपने नाम पर प्रचार प्रारम्भ कर दिया। अन्त में उन्होंने अपने सम्बंधियों के एक छोटे से समूह की सहायता से, जिनको "रऊना" (नेता) कहा करते थे, उन्दुलुस के राज्य पर अधिकार जमा लिया। उन्दुलुस वालों में "असबियत" की भावनाएँ ठंडी पड़ जाने के कारण, इब्ने अहमर को प्रभुत्व की प्राप्ति में अधिक सहायता एवं "असबियत" की आवश्यकता न पड़ी। तदुपरान्त उसने ज़नाता के उन लोगों की सहायता से, जो समुद्र के मार्ग से उन्दुलुस में, बस गये थे, विद्रोहियों का भली-भाँति दमन किया और ये लोग भी उसके पक्षपाती बनकर प्रसन्नतापूर्वक युद्ध हेतु तैयार हो गये।

इसके उपरान्त ज़नाता के शासकों में से मग़रिब के हाकिम के हृदय में उन्दुलुस पर अधिकार जमाने की इच्छा हुई। उस समय भी यही ज़नाता के क़बीले इब्ने अहमर के लिए ढाल बने, यहाँ तक कि इब्ने अहमर के राज्य की नींव दृढ़ हो गयी। लोग उनके शासन के आदी हो गये और राज्य पर अधिकार जमाने का किसी ने साहस न किया। इसी प्रकार इब्ने अहमर का राज्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी होता हुआ अब तक चला आ रहा है। इससे निष्कर्ष यही निकला कि इब्ने अहमर का प्रभुत्व "असबियत" के बिना स्थापित न रह सका। प्रारम्भ में उसे "असबियत" एवं सहायता कम प्राप्त थी किन्तु उन्दुलुस पर अधिकार जमाने के लिए उतनी ही पर्याप्त थी, कारण कि उन्दुलुस स्वयं "असबियत" वाले क़बीलों से शून्य था; फिर उस पर अधिकार जमाने के लिए

१. सरगोसा के।
२. ग़रनाता के।
३. वलेनशिया एवं मुराशिया के।

अधिक "असबियत" की आवश्यकता ही क्या थी। "ईश्वर को संसारों की आवश्यकता नहीं।"[1]

(१०) बादशाह स्वाभाविक रूप से अपने आप को श्रेष्ठता का एक मात्र स्रोत समझता है

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि राज्य "असबियत" के कारण स्थापित होता है और वह "असबियत" कुछ "असबियतों" से मिलकर पैदा होता है, जिनमें एक सबसे अधिक शक्तिशाली एवं ज़ोरदार होती है और उसे सभी पर प्रभुत्व प्राप्त रहता है, यहाँ तक कि समस्त "असबियतें" उस एक "असबियत" में लुप्त हो जाती हैं। फिर इसी "असबियत" द्वारा संसार की क़ौमों को अपने अधीन किया जाता है और सामाजिक संस्थाओं और मनुष्यों एवं वंशों के मुक़ाबले में श्रेष्ठता की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इस तथ्य का रहस्य यह है कि साधारण "असबियत" क़बीले के लिए ऐसी ही है जैसी कि किसी वस्तु के लिए उसकी प्रकृति। प्रकृति का स्थायित्व तत्त्वों से है। यह सिद्धान्त निर्विवाद है कि तत्त्व के एक निर्धारित मात्रा में मिश्रण से प्रकृति को स्थायित्व नहीं प्राप्त हो सकता। उसके लिए यह आवश्यक है कि एक तत्त्व को सभी तत्त्वों पर प्रभुत्व प्राप्त हो और उसी से सबका मिश्रण हो। उसी प्रकार समस्त "असबियतों" में एक ही "असबियत" के प्रभुत्व से राज्य को अस्तित्व प्राप्त होता है। यह प्रभुत्वशाली "असबियत" किसी सम्मानित एवं श्रेष्ठ वंश को प्राप्त होती है। इस घराने में भी एक नेता एवं सरदार का होना परमावश्यक है जो अपनी "असबियत" के अन्य लोगों पर ही प्रभुत्व न रखता हो, बल्कि अन्य "असबियतों" पर भी उसका उतना ही प्रभुत्व हो, कारण कि उसके वंश एवं घराने को समस्त घरानों पर श्रेष्ठता प्राप्त होती है। इसी प्रकार जब उस नेता को सर्वसाधारण पर प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है तो वह पाशविक स्वभाव के कारण अपने समान किसी अन्य के न होने का नारा लगाता है। अपने आदेश एवं मत को वह किसी अन्य के आदेश या मत के समान नहीं समझता, अपितु अपने आपको अनुपम समझता है। यह भावना मनुष्य में स्वाभाविक रूप से पायी जाती है और संसार की राजनीति के लिए यह आवश्यक भी है, कारण कि यदि इसी प्रकृति के कुछ शासक एक हो जायँ तो संसार की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाय, राजनीति में विघ्न पड़ जाय और विद्रोह एवं अशान्ति फैल जाय। ईश्वर ने कहा है—"यदि (एक)

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

ईश्वर के अतिरिक्त भूमि अथवा आकाश में अन्य ईश्वर होते तो वे छिन्न-भिन्न हो जाते।"

ऐसी दशा में समस्त "असबियतों" का गौरव समाप्त हो जाता। किसी में इतनी शक्ति न रहती कि राज्य एवं शासन में शासक तथा बादशाह की बराबरी का दावा कर सकता, मानो समस्त असबियतों का प्रभाव समाप्त हो गया हो। इन परिस्थितियों में सब लोग समकालीन बादशाह का ही गुण-गान करने लगते हैं। समस्त गौरव, श्रेष्ठता एवं वैभव का वही पात्र होता है। अन्य लोग इससे वंचित दिखाई पड़ने लगते हैं। अद्वितीय होने का यह सम्मान पूर्ण रूप से सुल्तानों को ही प्राप्त होता है। अन्य लोगों को तो अपनी अपनी श्रेणी के अनुसार ही हासिल होता है। संक्षेप में सल्तनतों पर उपर्युक्त कथन पूर्ण रूप से लागू होता है। "ईश्वर इसी प्रकार मनुष्यों से व्यवहार करता है।"

(११) जब किसी क़ौम के हाथ राज्य आ जाता है तो उसके साथ साथ भोग-विलास का आविर्भाव भी स्वाभाविक होता है

इस कथन का तात्पर्य यह है कि कोई क़ौम किसी राज्य पर जब प्रभुत्व प्राप्त करती है तो उस देश वालों की धन-सम्पत्ति भी उसके अधिकार में आ जाती है तथा इस धन-सम्पत्ति की प्राप्ति से विजयी क़ौम के भोग-विलास के जीवन में वृद्धि हो जाती है। उसका ऐश व आराम बहुत बढ़ जाता है। पग-पग पर नाज़ व नख़रों का प्रदर्शन होने लगता है। स्वभाव कुछ के कुछ हो जाते हैं। संक्षेप में जीवन की आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त भोग-विलास एवं ऐश व आराम सम्बंधी चीज़ों की इच्छा होने लगती है। वे अपने पिछले लोगों के पद-चिह्नों पर चलने लगते हैं। अपने स्वभाव तथा दैनिक जीवन में वे लोग भोग-विलास के इतने आदी हो जाते हैं कि वे उन वस्तुओं को अपने दैनिक जीवन हेतु परमावश्यक समझने लगते हैं। उन चीज़ों के बिना उनका काम ही नहीं चलता। भोजन-वस्त्र, फ़र्श, बर्तन इत्यादि के प्रयोग में लोग एक-दूसरे के प्रति-स्पर्धी बनने का प्रयत्न करने लगते हैं। वे इन चीज़ों के प्रयोग के सम्बन्ध में अन्य क़ौम वालों से अपनी तुलना करके गर्व अनुभव करते हैं। उत्तम भोजन, वस्त्र तथा सवारियों के प्रयोग में वे अपने आपको सबसे ऊँचा समझते हैं। उनके बाद में आनेवाले तो उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलते हैं और अपने-अपने सम्मान एवं स्थिति को देखते हुए भोग-विलास में अग्रसर होते जाते हैं और जब तक उनके राज्य का अन्त नहीं होता तब तक यही दशा रहती है। इस प्रकार जब राज्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो भोग-विलास भी उच्च श्रेणी का ही होता है और आदतों में भी अत्यधिक अहंकार उत्पन्न हो जाता है।

(१२) युद्ध विजय के उपरान्त आराम-चैन, शान्ति तथा समृद्धि के युग में प्रवेश करना राज्यों के लिए एक स्वाभाविक बात है

इसका कारण यह है कि क़ौमें अपनी इच्छा के आधार पर ही राज्य प्राप्त करती हैं और इस इच्छा का अन्तिम उद्देश्य प्रभुत्व होता है। जब क़ौम को प्रभुत्व प्राप्त होता है तो उसके प्रयत्न के क़दम रुक जाते हैं। वह साँस लेती है। किसी कवि ने कहा है—

शेर—मैंने काल के संघर्ष पर, जो मेरे तथा उसके मध्य में हो रहा है, आश्चर्य किया। जब हमारे मध्य में कुछ शान्ति हुई तो युग भी ठहर गया।

क़ौम को जब राज्य प्राप्त हो जाता है तो वह उस उद्योग, संघर्ष एवं परिश्रम को त्याग देती है जो राज्य की प्राप्ति के लिए किया करती थी। अब वह सुख-शान्ति एवं आराम और चैन की अभिलाषी हो जाती है। वह उन वस्तुओं के संकलन में व्यस्त हो जाती है जो राज्य का वास्तविक फल हैं, अर्थात् भवन, निवास-स्थान इत्यादि। तब लोग भव्य राज-प्रासादों एवं महलों का, निर्माण कराने लगते हैं। सुन्दर नहरें निकालते हैं, रमणीक उद्यान लगवाते हैं। संक्षेप में सांसारिक आनन्दों का वे जी भरकर मज़ा लेते हैं। आराम को कष्ट की तुलना में अधिक पसन्द करते हैं। वस्त्र, भोजन, बरतन, फ़र्श इत्यादि में अमीराना चोचले करते हैं और इसी के आदी हो जाते हैं। फिर उनके बाद में आनेवाले इन्हीं बातों को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझकर हृदय से इन्हें पसन्द करते हैं। इस प्रकार यह भोग-विलास तथा आराम और चैन क़ौमों में कई कई पीढ़ियों तक चलता रहता है, यहाँ तक कि एक दिन राज्य के समाप्त होने पर क़ौम का यह सब ठाट-बाट भी समाप्त हो जाता है।

(१३) जब सल्तनत श्रेष्ठता, भोग-विलास, चैन और आराम की चरम सीमा तक पहुँच जाती है तो वह पतन की ओर बढ़ने लगती है और उसकी युवावस्था समाप्त होकर वृद्धावस्था के चिह्न दृष्टिगत होने लगते हैं

इसके कई प्रमाण हैं।

पहली बात यह कि सल्तनत की कमज़ोरी एवं शक्तिहीनता का कारण व्यक्तिगत राज्य होता है, कारण कि जब श्रेष्ठता "असबियत" वाली क़ौमों के प्राणियों में समान

रूप से होती है तो लोग मिल-जुलकर राज्य की उन्नति एवं उसके स्थायित्व के लिए प्रयत्न करते हैं। सब एक-जी और एक-जान होकर दूसरों पर प्रभुत्व प्राप्त करते हैं और राज्य पर आनेवाले ख़तरों को टालते रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने राज्य के विस्तार एवं प्रभुत्व को अपने सम्मान, समृद्धि एवं शक्ति का साधन समझता है। संक्षेप में पूरी क़ौम अपने राज्य के स्थायित्व हेतु जान पर खेलने को उद्यत हो जाती है और अपने विनाश को राज्य के पतन पर प्राथमिकता प्रदान करती है। इसके विपरीत यदि गौरव एवं श्रेष्ठता का केंद्र केवल एक ही व्यक्ति हो तो वह सब की "असबियत" को कुचलकर उनको स्वतंत्रता से वंचित कर देता है, दान-पुण्य, परोपकार द्वारा अन्य लोगों को सम्मानित करता है और क़ौम शिथिल होकर युद्ध त्याग देती है। उसका उत्साह ठंडा पड़ जाता है और अपमान, निरादर एवं दासता की उसमें आदतें प्रविष्ट हो जाती हैं। फिर वह संतान जो उन्हीं की गोद में पलती है, वह शाही इनामों को देश की रक्षा एवं सहायता का बदला अथवा पारिश्रमिक समझती है। इसके अतिरिक्त उसके मस्तिष्क में कोई बात नहीं आती। क़ौम का कोई व्यक्ति राज्य की रक्षा हेतु प्राणों के बलिदान के लिए तैयार नहीं होता। इस दशा में राज्य में कमज़ोरी आ जाती है। उसका गौरव घटने लगता है। देश वालों की वीरता की भावनाओं के समाप्त हो जाने के कारण "असबियत" में भी विघ्न आ जाता है और राज्य नित्य-प्रति पतन की ओर बढ़ने लगता है।

राज्य के कमज़ोर हो जाने का दूसरा कारण यह है कि किसी देश पर अधिकार प्राप्त कर लेने के उपरान्त, जैसा कि हम अभी उल्लेख कर चुके हैं, स्वाभाविक रूप से देशवासियों की आदतें बिगड़ जाती हैं। उनके व्यय में वृद्धि हो जाती है। उनकी आय, व्यय के लिए पर्याप्त नहीं होती। फ़क़ीर एवं दरिद्र लोग नष्ट हो जाते हैं। समृद्ध एवं विलासी लोग अपनी आय से अधिक अपव्यय करने लगते हैं। बाद में आनेवाली संतानें भी उन्हीं का अनुकरण करती हैं। वे अपनी आय से भोग-विलास का जीवन नहीं व्यतीत कर सकतीं। साथ ही अपनी बिगड़ी हुई आदतों को निभा भी नहीं पातीं। उनकी आवश्यकताएँ सर्वदा उन्हें कष्ट दिया करती हैं। उधर सुल्तान एवं मलिक वेतन एवं इनामों को युद्ध की सेवाओं पर व्यय करने की माँग करते हैं। उनके पास इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं होता। वे कठोर एवं भारी जुर्माने करके लोगों के हाथ से धन छीनते हैं और उसे अपनी वैयक्तिक इच्छाओं पर व्यय करते हैं अथवा अपने राज्य के उच्च पदाधिकारियों तथा अपनी संतान को इनाम के रूप में बाँट देते हैं। इस प्रकार प्रजा दरिद्र तथा कंगाल हो जाती है। उसमें अपनी दशा सँभालने

की शक्ति नहीं रहती। जब प्रजा की आर्थिक दशा कमज़ोर पड़ जाती है तो बादशाह की भी आर्थिक दशा डाँवाडोल हो जाती है।

इसके अतिरिक्त जब राज्य में भोग-विलास का ज़ोर हो जाता है और लोगों की आवश्यकताएँ उनके वेतन एवं उनकी वृत्तियों से पूरी नहीं हो पातीं और उनके खर्च नहीं चल पाते, तो समकालीन बादशाह को विवश होकर उनके वेतन में वृद्धि करनी पड़ती है, ताकि वे अपनी आय एवं व्यय के अन्तर को दूर कर सकें और आय की न्यूनता का निराकरण कर सकें। उधर खराज[1] एवं राज्य की आय सीमित एवं निर्धारित होती है। उसके घटने-बढ़ने का कोई उपाय नहीं हो पाता। यदि कर इत्यादि लगाकर राज्य की आय में कुछ वृद्धि कर ली जाय, फिर भी तो वह सीमित ही रहेगी। जब राज्य की आय को वेतन में बाँटा जाने लगे और प्रत्येक व्यक्ति के विलासमय जीवन को दृष्टि में रखते हुए उसके बढ़ते हुए व्यय के अनुसार उसके वेतन एवं इनाम में वृद्धि की जाय तो फिर सेना की संख्या अनिवार्य रूप से इस आशय से घटानी पड़ेगी कि राज्य की आय वेतनों के लिए पूरी हो सके। इसके साथ-साथ यह भी सच है कि भोग-विलास किसी विशेष सीमा पर आकर नहीं रुक जाता। जब भोग-विलास बढ़ेगा तो वेतन में और अधिक वृद्धि का प्रश्न उठेगा। जब वृद्धि का प्रश्न आयेगा तो सेना के कम करने का प्रश्न भी सामने आयेगा। इस प्रकार सेना को बार-बार कम करना पड़ेगा। राज्य की शक्ति नष्ट हो जायगी। पड़ोस के राज्य उसको हड़प कर लेने का साहस करने लगेंगे तथा अधीनस्थ क़बीले एवं "असबियतें" भी राज्य पर अधिकार जमाने का प्रयत्न करने लगेंगी, यहाँ तक कि वह राज्य, यदि ईश्वर का ऐसा ही आदेश हुआ तो नष्ट हो जायगा।

इसके अतिरिक्त विलासप्रियता मनुष्य का चरित्र नष्ट कर डालती है, क्योंकि उसके कारण मनुष्य में नाना प्रकार के दोष, त्रुटियाँ एवं अनुचित आदतें उत्पन्न हो जाती हैं। इसका सविस्तर उल्लेख हम शहरी संस्कृति के अध्याय में करेंगे। जब बदवियों की दशा उन्नत होती है तो उपकार एवं परोपकार, जिनके कारण राज्य प्राप्त होता है और स्थायी बनता है, देश से नष्ट हो जाते हैं। लोगों में दुष्टता एवं उद्दंडता की भावनाएँ ज़ोर पकड़ लेती हैं। यही देश के विनाश का सबसे बड़ा चिह्न है। उस दशा में सल्तनत विनाश के मार्ग पर अग्रसर हो जाती है। उसके कार्य में बाधाएँ आने लगती

१. राजस्व, विशेष रूप से भूमिकर।

हैं और वह युवावस्था से निकलकर वृद्धावस्था में प्रविष्ट हो जाती है, यहाँ तक कि एक निश्चित समय पर वह पूर्णतः समाप्त भी हो जाती है।

तीसरा प्रमाण यह है कि राज्य एवं सल्तनत की प्राप्ति स्वाभाविक रूप से जनता में आलस्य को जन्म देती है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि जब शासक क़ौम आलस्य, आरामतलबी एवं सुख-शान्ति की इच्छुक और अभ्यस्त हो जाती है तो ये सब बातें अन्य आदतों के समान उसके स्वभाव का अंग बन जाती हैं और उस राज्य के लोग उन्हीं के दास हो जाते हैं। अब भावी संतानें उसी आराम, चैन, आलस्य में तथा भोग-विलास में पल और बढ़कर उन वहशी आदतों एवं बदवी स्वभावों को एकदम भुला देती हैं जिनके कारण कभी उनके पूर्वजों ने राज्य एवं मुकुट प्राप्त किया था। अर्थात् वीरता, पौरुष, ख़ूँख्वारी, कठोरता, जंगलों में मारे मारे फिरने का स्वभाव तथा इसी प्रकार के अन्य गुण उनमें से पूर्णतः निकल जाते हैं, यानी शासकवर्ग एवं साधारण नगर-वासी में आज्ञापालन तथा क़ौमी पोशाक के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर शेष नहीं रहता। इस प्रकार उनकी क़ौमी सहानुभूति कमज़ोर पड़ जाती है। उनके पौरुष का दबदबा फीका पड़ जाता है। उनका गौरव कम होने लगता है। अब इन सबका परिणाम राज्य को स्वयं भोगना पड़ता है। वह एक वृद्ध के समान जीवन यापन करने लायक भर रह जाता है। संक्षेप में, विजयी क़ौम के लोग इसी प्रकार भोग-विलास तथा सुख-शान्ति के जीवन के विभिन्न रूपों में ग्रस्त रहते और इसी वातावरण में डूबकर परिश्रम, बदवी तत्परता एवं कठोरता से दूर हटते जाते हैं। वीरता की उन भावनाओं को पूर्णतः भुला देते हैं जिनसे प्रतिरक्षा एवं एक-दूसरे की सहायता की भावना का जन्म होता है। वे अन्य "असबियत" एवं अन्य भावनाओं में पलने लगते हैं। यदि संसार के इतिहास का अध्ययन किया जाय तो इस प्रकार के उदाहरण अनेक राज्यों के इतिहास में मिलेंगे और यह तथ्य निःसन्देह तर्कपूर्ण प्रमाणित होगा।

कभी-कभी जब प्रभुत्व वाली क़ौमें आलस्य एवं आराम में पड़कर स्वयं प्रतिरक्षा एवं बचाव करने में विवश हो जाती हैं तो वे अपने अतिरिक्त किसी अन्य क़ौम को, जो परिश्रम एवं कठिन कार्य करने की अभ्यस्त होती है, अपना सहायक एवं सहानुभवी बना लेती हैं। उस क़ौम वालों की एक सेना बनती है। वे सैनिक युद्ध-प्रिय होते हैं और भूख-प्यास एवं अन्य कठिनाइयों के झेलने में पक्के होते हैं। यह उपाय राज्य की शक्तिहीनता दूर करने का एक साधन होता है और उसे उस समय तक नष्ट होने से बचाये रखता है जो ईश्वर ने उस राज्य के विनाश हेतु निश्चित किया है। उदाहरणार्थ पूर्व के देशों में तुर्क सुल्तानों ने देश में आनेवाले दासों को सेना में भर्ती किया, अश्वारोही

भी रखे तथा पदाति भी, क्योंकि ये लोग निःसंकोच युद्ध किया करते थे और प्राचीन ममलूकों[1] की संतानों से अधिक कठोर एवं सहनशील होते थे। वे ममलूक भोग-विलास एवं शाही आश्रय में पले होते थे। इफ़रीक़िया में मुवह्हेदीन सुल्तानों ने भी इसी नियम का पालन किया। उनके बादशाह अपनी सेना में प्रायः ज़नाता एवं अरब क़ौमों के लोगों को भर्ती करते थे और सेना में उन्हीं की संख्या बढ़ाते थे। वे अपने उन देश-वासियों को, जो भोग-विलास में पलते थे और आलस्यमय जीवन के आदी हो चुके थे, सैनिक सेवाओं से पूर्णतः दूर रखते थे। इसी कारण उनके राज्य शक्तिहीनता एवं कमज़ोरी से दूर रहकर नयी स्फूर्ति एवं रौनक़ प्राप्त करते रहते थे। उनकी आबादियों में नित्यप्रति उन्नति होती रहती थी।

(१७) मनुष्यों के समान राज्यों की भी स्वाभाविक अवस्थाएँ होती हैं

चिकित्सकों एवं ज्योतिषियों के मतानुसार मनुष्यों की स्वाभाविक आयु चान्द्र गणनानुसार १२० वर्ष की है। एक ही पीढ़ी में विभिन्न परिस्थितियों में यह अबाध गति से घटती बढ़ती रहती है। कुछ जातियों में वह पूरे १०० वर्ष की होती है और कुछ में ५०–६० अथवा ७० वर्ष तक, यानी क़रनों[2] के अनुसार जो भी आयु निर्धारित हो। मुहम्मद साहब के अनुयायियों की आयु ६०–७० वर्ष के मध्य मानी गयी है। हदीस में यही बात स्पष्ट की गयी है। अब बहुत कम और बिरले ही लोगों की आयु किसी विशेष नक्षत्र के प्रभाव के कारण १०० या १२० वर्ष तक पहुँचती है। उदाहरणार्थ हज़रत नूह की अथवा आद एवं समूद क़ौमों के कुछ अन्य व्यक्तियों की आयु पेश की जा सकती है।

सल्तनतों की अवस्थाएँ यद्यपि क़रनों के अनुसार ही घटती बढ़ती रहती हैं, किन्तु अधिकांश सल्तनतों का स्थायित्व तीन क़रनों से अधिक नहीं होता। एक क़रन एक मनुष्य की औसत अवस्था के बराबर होता है, जो ४० वर्ष की होती है। वहाँ पहुँचकर मनुष्य का बढ़ना बन्द हो जाता है। ईश्वर ने कहा है—"जब तक वह वयस्क नहीं हो जाता अथवा ४० वर्ष की अवस्था को नहीं प्राप्त होता......।"[3] इसी तथ्य के आधार पर हमने एक पीढ़ी अथवा एक क़रन को ४० वर्ष के बराबर बताया है और इसी सिद्धान्त

१. श्वेत दासों।
२. १०–२०–३० अथवा ४० वर्ष की कोई अवधि।
३. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

की दृष्टि में बनी इसराईल के ४० वर्ष तक रेगिस्तान में भटकते फिरने के रहस्य का भी पता चल जाता है। वह रहस्य यह था कि ४० वर्ष की अवधि में जितने भी बनी इसराईल जीवित हों, वे मर-खपकर समाप्त हो जायँ और उनके स्थान पर दूसरी नयी संतान का जन्म हो, जो अपमान एवं निरादर की भावनाओं तथा दासता एवं आज्ञाकारिता के विचारों से पूर्णतः अपरिचित हो।

इसका निष्कर्ष यही निकला कि एक पीढ़ी अथवा एक क़रन की आयु-अवधि ४० वर्ष होती है। हमने जो यह कहा कि सल्तनतों का जीवन तीन क़रनों से अधिक नहीं बढ़ने पाता, इसका कारण यह है कि पहली पीढ़ी में लोग बदवी आदतों, वहशत एवं परिश्रम पर कटिबद्ध रहते हैं। जीवन की कटुता एवं कठोरता को सहन करते हैं। स्वभाव में कठोर एवं खूंख्वार हो जाते हैं। गौरव एवं श्रेष्ठता में परस्पर एक-दूसरे के साझीदार होते हैं। इसी कारण उनमें "असबियत" असली रूप में वर्त्तमान रहती है। उनकी धाक सब पर बैठी रहती है, उनसे सब काँपते और दबे रहते हैं। इसके विपरीत दूसरी पीढ़ी के लोग सल्तनत एवं विलासप्रियता के कारण "बदवियत" से निकलकर नागरिक जीवन में प्रवेश करते हैं और परिश्रम त्यागकर आरामतलबी एवं आलस्य ग्रहण करते हैं। श्रेष्ठ भावनाएँ सर्व-साधारण से निकलकर किसी एक व्यक्ति में केन्द्रित हो जाती हैं। शेष लोग प्रयत्न एवं क्रियाशीलता की भावनाओं को खो देते हैं। वे आगे बढ़ने की प्रवृत्ति से वंचित होकर पीछे हटने के अपमान के आदी हो जाते हैं। इस प्रकार "असबियत" के प्रति उत्साह समाप्त हो जाता है और लोग अपमान एवं विवशता के आदी हो जाते हैं। किन्तु इस दूसरी पीढ़ी अथवा क़रन में ऐसे लोग फिर भी शेष रहते हैं जो अपने जीवनकाल में प्रथम क़रन को देख चुके होते हैं। वे उनसे परिचित होते हैं। गौरव एवं श्रेष्ठता की प्राप्ति के सम्बंध में उनके प्रयत्नों से तथा प्रतिरक्षा एवं संगठन-विषयक उनके साहस एवं हौसले से खूब परिचित होते हैं। इस प्रकार दूसरे क़रन के ऐसे लोग इन सब आदतों को नहीं त्यागते, यद्यपि कुछ बातों की उनमें भी कमी आ जाती है। वे इसी आशा पर जीवित रहते हैं कि सम्भवतः प्रथम क़रन की अवस्था में पुनः पहुँच जायँ। कभी उन्हें यह भ्रम होता है कि वह स्थिति अब भी वर्त्तमान है। तीसरे क़रन में लोग "बदवी" परिश्रम को पूर्णतः भूल जाते हैं और शासन के आतंक से दबकर सम्मान एवं "असबियत" से हाथ धो बैठते हैं। समृद्धि एवं भोग-विलास के वातावरण में पलने के कारण वे अमीरी ठाट-बाट को उन्नति के शिखर पर पहुँचाते हैं। स्त्रियों एवं बालकों की भाँति प्रतिरक्षा के लिए सल्तनत का मुंह देखते रहते हैं। "असबियत" के नष्ट हो जाने के

कारण सहायता, प्रतिरक्षा एवं अपनी माँगों को भूल जाते हैं। यद्यपि युद्ध, वेष-भूषा, शहसवारी एवं सैनिक करतब में वे कुछ अकड़ दिखाकर लोगों को धोखा देते हैं, किन्तु अधिकांश में स्त्रियों से भी अधिक कायर होते हैं, समय पड़ने पर प्रतिरक्षा नहीं कर पाते। उन्हें इसी कारण बादशाह की आवश्यकता का अनुभव होता रहता है, ताकि राज्य की प्रतिरक्षा हेतु अपरिचित क़ौम से सहायता ली जाय, जो अपने आप में वीरता की भावानाएं रखती हो, और दासों को अधिक संख्या में सेना में भर्ती किया जाय, ताकि देश एक प्रकार से शान्ति की साँस ले सकें और अपने निश्चित समय पर समाप्त हों।

इस प्रकार तीन ही क़रनों में सल्तनत अपने ज़ोर-शोर को त्यागकर शक्तिहीन हो जाती है। वंश एवं कुल की मर्यादा भी, जैसा कि उल्लेख हो चुका और सिद्ध किया जा चुका है, चार पीढ़ियों तक चलती है। इस प्रकार ४० वर्ष का एक क़रन मान लेने पर तीन क़रनों में १२० वर्ष होते हैं। साधारणतः सल्तनत का स्थायित्व इतनी ही अवधि तक रहता है। यदि कोई अन्य कारण हो, उदाहरणार्थ राज्य तो अन्तिम साँसें ले रहा हो किन्तु मैदान में कोई दावेदार न खड़ा हो जो उस पर अधिकार जमाये, तो इस प्रकार सल्तनत की आयु मनुष्य की आयु के समान बढ़ती है। सर्वप्रथम वह बढ़ती जाती है, तदुपरान्त उसमें अपरिवर्तनशीलता आ जाती है और फिर समाप्त हो जाती है। इसी कारण प्रसिद्ध है कि एक सल्तनत की आयु १२० वर्ष की होती है।

इस वर्णन से एक सिद्धान्त बनाया जा सकता है और उससे पैतृक पीढ़ियों की गणना हो सकती है। यह इस प्रकार कि जब किसी विशेष व्यक्ति से लेकर अपने समय तक किसी को ज्ञान प्राप्त हो, किन्तु पीढ़ियों की गणना में कुछ सन्देह हो कि वे कितनी हो चुकी हैं, तो उस दशा में यही किया जाय कि प्रत्येक शताब्दी के लिए तीन पीढ़ियों को ध्यान में रखा जाय। यदि ज्ञात काल, पीढ़ियों की संदिग्ध संख्या पर पूरा पूरा बंट जाय तो समझ लेना चाहिए कि ज्ञात संख्या ठीक है और इतनी ही पीढ़ियाँ इस समय तक बीत चुकी हैं। यदि एक क़रन की कमी रह जाय तो समझ लेना चाहिए कि संख्या में भूल हुई है और एक पीढ़ी अधिक मान ली गयी है। यदि काल की संख्या एक क़रन से अधिक हो तो एक पीढ़ी कम हो गयी होगी। इसी प्रकार पूर्वजों की ठीक संख्या ज्ञात होने पर किसी विशेष पीढ़ी का काल उलटा हिसाब लगाकर लगभग ठीक ज्ञात किया जा सकता है। "ईश्वर ही रात और दिन निश्चित करता है।"[1]

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

(१५) राज्य शनैः शनैः बदवियत से निकलकर नागरिक जीवन तक पहुँचता है

समझ लेना चाहिए कि बदवियत एवं नागरिक जीवन सल्तनत की प्राकृतिक दशाएँ हैं। वह प्रभुत्व, जिससे राज्य प्राप्त होता है, "असबियत" एवं तत्सम्बन्धी वीरता तथा पौरुष से प्राप्त होता है। साधारणतः यह सब बातें "बदवियत" में ही विशेष रूप से पायी जाती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि राज्य का प्रारम्भ "बदवियत" से होता है। फिर जब राज्य की बागडोर हाथ में आती है तो सुख-सम्पन्नता के द्वार खुल जाते हैं, समृद्धि उत्पन्न हो जाती है। नगर का जीवन वास्तव में सुख-सम्पन्नता की विभिन्न स्थितियों और कला-कौशल को, जिनसे भोजन, वस्त्र, गृह, निवास-स्थान, फ़र्श, इमारतों, मंज़िलों इत्यादि के विभिन्न रूपों का आविष्कार किया जाता है, कहते हैं। इनमें से प्रत्येक के लिए सज्जा, बारीकियों एवं सौन्दर्य के नये-नये मार्ग निकाले जाते हैं जो विशेष रूप से उन्हीं के साथ सम्बन्धित होते हैं। इस सम्बन्ध में एक के बाद दूसरी कला उत्पन्न होती रहती है। जैसे-जैसे लोगों की इच्छाओं, उनके स्वभाव, उनके भोग-विलास की स्थिति में परिवर्तन होता जाता है, वैसे ही वैसे देश में नये कला-कौशल प्रचलित होते जाते हैं। इस प्रकार "बदवियत" पर शहरियत का रंग अवश्य चढ़ता है, कारण कि राज्य की प्राप्ति के उपरान्त विलासप्रियता का आ जाना स्वाभाविक है और सल्तनत वाले सर्वदा शहरियत एवं संस्कृति में अपने पिछले लोगों के पद-चिह्नों पर चलते हैं। उन्हीं की स्थिति को अपने जीवन का मापदंड बनाते हैं और बहुत कुछ उनसे प्राप्त करते हैं।

अरबों ने जब अन्य देशों को विजय करना प्रारम्भ किया तथा फ़ारस एवं रूम को अपने अधिकार में ले लिया और उनके बालकों तथा बालिकाओं से वे सेवा कराने लगे तो उनकी यही दशा रही कि उन्होंने नगर के जीवन की विशेषताएँ अपने अधीन राज्यों से सीखीं, अन्यथा विजय के पूर्व वे उनके नाम से भी परिचित न थे। कहा जाता है कि जब उन्हें तकिये दिये गये तो वे समझे कि यह गूदड़े की गठरी है।[1] जब उन्होंने किसरा के राजकोष में काफ़ूर देखा तो उसे नमक समझकर आटे

१. इस वाक्य का अनुवाद इस प्रकार भी हो सकता है--"कहा जाता है कि जब भोजन हेतु उनके पास चपातियाँ लायी गयीं तो वे उनके विषय में कुछ न समझ पाये।"

में नमक के स्थान पर प्रयोग करने लगे। संक्षेप में, इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जब अरबों ने रूम एवं फ़ारस को दास बनाया और वे उनसे सेवा कराने लगे, घर-बार के धंधे उनको सौंपे और अन्य कार्यों के लिए उनमें से माहिर चुने, तो उन्होंने अरबों को प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में सुधार, संशोधन एवं अच्छाई के मार्ग दर्शाये। भोग-विलास, समृद्धि एवं सुख-सम्पन्नता के नाना प्रकार के उपाय उन्हें समझाये। फिर क्या था, अरबों ने भी रंग बदला और अपने आपको नगर के जीवन एवं संस्कृति के शिखर पर पहुँचा दिया। गृह, अस्त्र-शस्त्र, फ़र्श, बर्तन, अपितु गर्व की बातों; उदाहरणार्थ बरात एवं दावतों की महफ़िलों में, बनावट एवं नज़ाकत में सीमा से आगे बढ़ गये।

उन घटनाओं पर ध्यान दीजिए जो मसऊदी एवं तबरी ने मामून के विवाह के सम्बन्ध में, जो हसन बिन सहल[२] की पुत्री बूरान से हुआ, लिखे हैं। वर एवं वधू की ओर से निःसंकोच धन व्यय किया गया। संक्षेप में ऐसी धूम-धाम से विवाह का आयोजन हुआ कि उसे सुनकर मनुष्य चकित रह जाता है। उदाहरणार्थ मामून के परिजनों को वधू के पिता हसन बिन सहल ने जो धन प्रदान किया एवं दान-पुण्य का उच्चतम उदाहरण प्रस्तुत किया, उसका सविस्तर उल्लेख इस प्रकार है--- उपस्थित गणों में जो प्रथम वर्ग के लोग थे उन पर कस्तूरी एवं अम्बर की गोलियाँ न्योछावर की गयीं। गोलियों पर जो काग़ज़ लपेटा हुआ था, उस पर विभिन्न आय की जागीरों के आदेश लिखे हुए थे। जिसको जो कागज़ मिल गया, उसने उस पर लिखी हुई भूमि पर अधिकार जमा लिया। दूसरी श्रेणी के लोगों में अशर्फ़ियों की थैलियाँ बाँटी गयीं, जिनमें से प्रत्येक थैली में १०-१० हज़ार दीनार थे। तीसरी श्रेणी के लोगों में १०-१० हज़ार दिरहम से भरी थैलियाँ बाँटी गयी। हसन ने मामून के आगमन के पूर्व जो व्यय किया था, वह उससे कई गुना अधिक था। मामून की ओर से बूरान को महर में पहली रात्रि में १,००० बहुमूल्य याक़ूत दिये गये और अम्बरी मोमबत्तियाँ जलवायी गयीं, जिनमें से प्रत्येक मोमबत्ती लगभग डेढ़-डेढ़ मन

१. **तबरी की तारीख़–उल-रुसुल वल मुलूक, मसऊदी की मुरूजुज्ज़हब। अन्य इतिहासकारों ने भी इस घटना का सविस्तर विवरण दिया है।**

२. **हसन बिन सहल, ख़लीफ़ा मामून का बहुत बड़ा विश्वासपात्र था। बूरान से मामून का विवाह ८२५–२६ ई० में हुआ। हसन की मृत्यु जून ८५० ई० में हुई।**

की थी। इसके लिए शाही राजप्रासाद में ऐसा फ़र्श बिछवाया गया जिसकी चटाई भी सोने के तारों एवं मोती तथा याक़ूत से जड़ी हुई थी। मामून ने जब यह देखा तो कहा कि अबू नुवास[१] को धन्य हो। उसने इसी दृश्य को सामने रखकर संभवतः मदिरा की प्रशंसा में यह शेर लिखा था—

शेर—मदिरा पर उसके छोटे बड़े बुलबुले ऐसे ज्ञात होते हैं
मानो सुनहरी भूमि पर मोती बिखरे हुए हों।

वलीमा[२] की रात्रि का भोजन पकाने के लिए एक वर्ष पूर्व से १४० खच्चरों पर लकड़ियाँ लदवाकर पूरे साल दिन में तीन-तीन बार रसोई में पहुँचायी जाती रहीं, किन्तु लकड़ी का यह बोझ भी उसी रात में समाप्त हो गया। तदुपरान्त तेल डालकर डालियाँ जलायी जाने लगीं। नाविकों को नौकाएँ उपस्थित करने का आदेश हुआ था, ताकि विशेष अतिथि दजला के मार्ग से मामून के नगर में लाकर शाही महलों में उतारे जायँ और वे वलीमा की दावत में सम्मिलित हों। इन नौकाओं की संख्या ३०,००० थी। इनमें बैठकर लोगों ने नदी के भ्रमण में दिन का पिछला भाग व्यतीत किया।

अपव्ययता का यही एक उदाहरण नहीं, अपितु इस प्रकार के अनेक उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। इसी प्रकार का अपव्यय मामून बिन ज़िन्नून[३] के विवाह में, जो तलीतला (टोलेडो) में हुआ, किया गया। इसका सविस्तर उल्लेख इब्ने बस्साम[४] ने किताबुज़् ज़ख़ीरा में और इब्ने हय्यान[५] ने अपने इतिहास में किया है, हालाँ कि यह

१. अबूनुवास प्रसिद्ध अरब कवि, जिसका जन्म अहवज़ में ७४७ ई० में हुआ। उसकी मृत्यु ८०६ से ८१४ ई० के बीच में बतायी जाती है।
२. विवाह के उपरान्त दुलहे की ओर से दी जानेवाली दावत।
३. बरबर मामून ने कारडोवा के राज्य के अन्त के उपरान्त टोलेडो में एक नये राज्य की स्थापना की। उसका समस्त जीवन अपनी शक्ति को बढ़ाने में व्यतीत हुआ। उसकी मृत्यु १०४६ ई० में हुई।
४. अली बिन बस्साम की मृत्यु ५४२ हि० (११४७–४८ ई०) में हुई।
५. इब्ने हय्यान बिन ख़लफ़ को स्पेन के मुसलमान इतिहासकारों में बड़ी श्रेष्ठता प्राप्त है। उसका जन्म ९८७–८८ ई० तथा मृत्यु १०७६ ई० में हुई।

वही अरब थे जो बदवियत के युग में अपनी सादगी तथा सीधे-सादे और सरल जीवन के कारण इन आडम्बरों से लेश मात्र भी परिचित न थे।

कहा जाता है कि हज्जाज ने अपने किसी पुत्र का ख़तना कराया। फ़ारस का एक ज़मींदार भी उस समारोह में उपस्थित हुआ। हज्जाज ने उससे फ़ारस की दावतों के विषय में पूछा और कहा कि "तुमने जो बड़ी से बड़ी दावत का समारोह देखा हो, उसके विषय में मुझे बताओ।" उसने कहा—"मैं एक बार नौशीरवाँ के एक अमीर के किसी समारोह में उपस्थित था। दावत के समय हम सबके समक्ष चाँदी के थालों में भोजन लगकर आया। प्रत्येक थाल में सोने के चार प्याले रखे थे। एक थाल को चार-चार दासियाँ उठाकर लाती थीं और चार आदमी एक थाल पर बैठ जाते थे। भोजन के उपरान्त वही चार आदमी थाल, प्यालों एवं दासियों को अपने घर लेते गये। हज्जाज ने यह कहानी सुनकर दास को आदेश दिया कि "जाओ, ऊँट जिबह करो और लोगों को भोजन कराओ।" ज़मींदार ताड़ गया कि हज्जाज इस सम्बन्ध में कुछ न करेगा और वास्तव में यही हुआ।

यही दशा बनी उमय्या के दान-पुण्य की थी। वे लोग प्रायः ऊँट इनाम में दिया करते थे और अरब में प्राचीन काल से यही प्रथा चली आ रही थी। तदुपरान्त अब्बासियों और इसी प्रकार उबैदीईन[1] के राज्यकाल में धन, वस्त्रों के थान, ज़ीन सहित घोड़े आदि वस्तुएँ पुरस्कार में प्रदान की जाती थीं।

यही दशा कुतामा की अग़ालबा के साथ इफ़रीक़िया में और बनू तुग़श (इख़शीदियों) की मिस्र में रही। यही व्यवहार लम्तूना का उन्दुलुस के मुलूकुत्तवाएफ़ के साथ और ज़नाता का मुवह्हेदीन के साथ रहा। इस प्रकार नगर का जीवन पिछले राज्यों से अगले राज्यों में अविरत गति से चलता रहा। फ़ारस के नगरों के जीवन ने बनी उमय्या एवं बनी अब्बास पर अपना रंग चढ़ाया। फिर उन्दुलुस में बनी उमय्या के नागरिक जीवन ने उस युग के ज़नाता एवं मुवह्हेदीन के बादशाहों को प्रभावित किया। इस प्रकार बनी अब्बास की सभ्यता एवं संस्कृति दैलम की ओर चली गयी। फिर तुर्क और सलजूकों की ओर आयी। इसके उपरान्त मिस्र में तुर्क दास एवं इराक़ के तातारी नागरिक जीवन एवं संस्कृति के स्वामी बने। फिर सल्तनत जितनी शक्तिशाली होती गयी, नागर-जीवन भी उतना ही अधिक सम्मानित होता गया, कारण कि नगर का जीवन भोग-विलास एवं आडम्बरों से परिपूर्ण था और उसका सब ठाट-बाट

१. फ़ातेमियों।

धन-सम्पत्ति पर निर्भर था। धन-सम्पत्ति की प्राप्ति राज्य के विस्तार एवं सुल्तानों की शक्ति पर अवलम्बित होती है। फलतः नगर का जीवन सल्तनत के सम्बन्ध से बदलता रहता है, अतः इसे इस प्रकार भली भाँति सोच और समझ लेने की जरूरत होती है। यह सिद्धान्त नगर के जीवन के विषय में पूर्णतः सत्य सिद्ध होता है। "जो कुछ इस भूमि पर है उसका वारिस ईश्वर ही है।"

(१६) प्रारम्भ में भोग-विलास से सल्तनत की शक्ति की उन्नति होती है

इसका कारण यह है कि जब देश में भोग-विलास बहुत फैल जाताहै तो संतति भी अधिक बढ़ने लगती है। क़ौमियत एवं "असबियत" की भावनाएँ भी तीव्र हो जाती हैं। तदुपरान्त दासों एवं पाले हुए लोगों की संख्या भी अधिक हो जाती है और वे सब उसी भोग-विलास में पीढ़ियों तक पलते-बढ़ते रहते हैं। इन दासों के बढ़ने से देश की जनसंख्या भी बढ़ती है और उनकी शक्ति में भी वृद्धि होती है। फलतः स्पष्ट है कि जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ "असबियतें" भी बढ़ती हैं। प्रथम एवं द्वितीय क़रन समाप्त करके सल्तनत जब शक्तिहीन होने लगती है तो दास एवं पोषित लोग स्वयं स्थायी राज्य की नींव नये सिरे से नहीं रख सकते, क्योंकि उनका शासन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वे तो शासन पर अवलम्बित एवं निर्भर होते हैं। मूल के समाप्त हो जाने के उपरान्त शाखाएँ किस प्रकार बच सकती हैं? ऐसी अवस्था में शाखाएँ भी नष्ट हो जाती हैं और सल्तनत शक्तिहीन हो जाती है।

इस तथ्य को इस्लामी इतिहास के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। मुहम्मद साहब एवं उनके उत्तराधिकारी खलीफ़ाओं के शासनकाल में मुज़र एवं क़हतान के क़बीलों को मिलाकर अरबों की संख्या एक लाख पचास हज़ार अथवा उसके लगभग थी। फिर जब भोग-विलास बढ़ा और जनसंख्या में वृद्धि हुई तथा धन-सम्पत्ति का बाहुल्य हुआ तो दासों एवं पाले हुए लोगों की अधिकता के कारण यह संख्या लगभग दुगुनी हो गयी। कहा जाता है कि जब मोतसिम[1] ने युद्ध के उपरान्त अमूरिया[2] विजय किया तो उसकी सेना की संख्या ९ लाख थी

१. अल-मोतसिम बिल्लाह, हारूनुर्रशीद का चौथा बेटा, जो ८३३ ई० से ८४२ ई० तक खलीफ़ा रहा।

२. अमोरियम।

और यह संख्या कल्पना से कुछ अधिक भी ज्ञात नहीं होती। यदि अब्बासी खलीफ़ाओं के सहायकों एवं मददगारों की संख्या पर, जो पूर्व-पश्चिम तथा दूर एवं निकट सब ओर लाखों की तादाद में फैले पड़े थे, ध्यान दिया जाय तो मोतसिम की सेना की संख्या पर आश्चर्य न होगा।

मसऊदी लिखता है कि जब मामून के राज्यकाल में अब्बास बिन अब्दुल मुत्त-लिब[1] के वंश वालों की जनगणना, उनके लिए वृत्ति निश्चित करने के उद्देश्य से की गयी तो उनकी स्त्रियों एवं उनके पुरुषों की संख्या ३०,००० निकली। इस प्रकार केवल २०० वर्ष में उनकी जनसंख्या किस सीमा तक ऊँची पहुँच गयी, इसका कारण केवल यही था कि सल्तनत सुख-सम्पन्नता एवं समृद्धि की ओर अग्रसर हुई और कई पीढ़ियों तक उनका भोग-विलास में पालन-पोषण हुआ। अन्यथा विजयों के प्रारम्भ में अरबों की संख्या इसके बराबर तो क्या इसके निकट भी न पहुँच सकी थी। "ईश्वर ही सर्जन करता है और वही सब कुछ जानता है।"[2]

(१७) सल्तनत की विभिन्न परिस्थितियाँ और विभिन्न प्रकार के बदवी जीवन

सल्तनत को अपने जीवनकाल में विभिन्न परिस्थितियों एवं नयी-नयी घटनाओं का सामना करना पड़ता है और देशवासी भी उन्हीं परिस्थितियों के कारण अपने चरित्र एवं अपनी आदतों में परिवर्तन करते जाते हैं। कारण कि चरित्र एवं आदतें वास्तव में एक विशेष परिस्थिति से ही उत्पन्न होती हैं। सल्तनत की परिस्थितियाँ प्रायः पाँच विभिन्न अवस्थाओं में ही सीमित रहती हैं।

पहली अवस्था विजय एवं सफलता की है। इसमें क़ौम प्रतिरक्षा सम्बन्धी समस्याओं में पूर्णतः शक्तिशाली होती है। वह राज्यों को विजित कर लेती है और शासन दूसरों के हाथ से छीन लेती है। इस रूप में पूरी क़ौम सम्मान एवं श्रेष्ठता के रंग में रँगी रहती है और धन-सम्पत्ति एकत्र करने में तल्लीन हो जाती है। प्रतिरक्षा एवं बचाव के उपाय सोचती रहती है। तत्कालीन सुल्तान किसी गुण का अकेला ठेकेदार नहीं बनता, कारण कि क़ौम को जो प्रभुत्व प्राप्त होता है वह "असबियत" के ही कारण

१. अब्बास बिन अब्दुल मुत्तलिब, मुहम्मद साहब के चाचा, जिनका निधन ६५३ ई० में हुआ। अब्बासी राज्य का संस्थापक अस्सफ़्फ़ाह उन्हीं के वंश से था।
२. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

उसे प्राप्त होता है। यह "असबियत" भी मौलिक रूप में तब मौजूद होती है। अपनी गौरव-गरिमा में वह सभी को साझीदार बनाती रहती है।

सल्तनत की दूसरी अवस्था में सुल्तान वैयक्तिक प्रभुत्व एवं गौरव का अभिलाषी होता है और देश का एक मात्र स्वामी बन जाता है। वह अपने शासन-प्रबन्ध में न तो किसी को साझीदार बनाता है और न किसी का हस्तक्षेप सहन कर सकता है। इस रूप में बादशाह अपने आश्रितों एवं दासों की ओर विशेष ध्यान देता है और उनकी संख्या इस आशय से बढ़ाता है कि वह उनकी सहायता से उन "असबियत" वालों एवं क़ौम के प्रेमियों के उत्साह एवं दल-बल को तोड़ दे, जिनकी ओर से यह भय हो सकता है कि वे राज्य में हिस्सा बटाने का प्रयत्न करेंगे, अथवा शासनप्रबन्ध में सम्मिलित होने की इच्छा करेंगे। ऐसे लोगों को वह शासनप्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों से पृथक् करता जाता है और ऐसे अवसरों से, जिनमें वे शासनप्रबन्ध में हस्तक्षेप कर सकें, दूर रखता है। इसका उद्देश्य केवल यह होता है कि किसी न किसी प्रकार राज्य एवं शासन उसी के अधिकार में रहे और उसकी मृत्यु के उपरान्त राज्य बिना किसी हस्तक्षेप के उसके वंश में चलता रहे। इस सम्बन्ध में बादशाह को अपनी प्रतिरक्षा एवं अपने प्रभुत्व हेतु जिन युक्तियों से कार्य करना पड़ता है उनमें वह अपने पूर्वजों की भाँति, जिन्होंने राज्य की नींव रखी थी, कठिन परिश्रम करता है। कभी-कभी उसे उनसे भी अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, कारण कि उसके पूर्वजों ने तो अपने सभी "असबियत" वालों की सहायता से अपने राज्य की अपरिचित लोगों से रक्षा की थी और अब उसको केवल अपने ही सम्बन्धियों के विरुद्ध प्रतिरक्षा का आयोजन करना पड़ता है, और वह भी कुछ अपरिचित लोगों की सहायता से। इसी कारण उसे इस सम्बन्ध में अपने पूर्वजों से अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

तीसरी अवस्था में समृद्धि एवं सुख-सम्पन्नता अधिक व्यापक हो जाती है। राज्य एवं शासनप्रबन्ध के ये वही फल हैं जिनकी ओर मनुष्य आकृष्ट होता है। धन एकत्र करने की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनायी जाती हैं। सल्तनत की प्रसिद्धि का डंका दूर-दूर तक बजता है। समकालीन बादशाह का ध्यान खराज इत्यादि की प्राप्ति की ओर पूर्णरूप से आकृष्ट होता है। आय-व्यय को सुव्यवस्थित किया जाता है। व्यय का अनुमान लगाकर संयम से काम लिया जाता है। भव्य भवनों का निर्माण किया जाता है। बड़े-बड़े कारखाने खुलते हैं। बड़े-बड़े नगर बसाये जाते हैं। भव्य पूजा-गृहों एवं मस्जिदों की नींव डाली जाती है। सम्मानित एवं प्रतिष्ठित क़ौमों

तथा क़बीलों की ओर से राजदूत आने लगते हैं। शाही वंश का अभ्युदय होने लगता है। बादशाह के न्याय एवं दान-पुण्य की उन्नति होने लगती है। उसके सहचर एवं मित्र उन्नति करने लगते हैं। उनकी आर्थिक दशा सुधरने लगती है और उनके आदर-सम्मान में वृद्धि होने लगती है। सेना सुव्यवस्थित होती है। उसके वेतन एवं वृत्तियाँ निश्चित की जाती हैं। दान-पुण्य करने में न्याय एवं संतुलन पर ध्यान रखा जाता है। प्रत्येक मास नियमित रूप से वेतन का भुगतान होता है। इसी सुव्यवस्था के कारण जब विशेष अवसरों पर सेना सज-धजकर सामने आती है तो उसकी प्रत्येक बात में रौनक़ दृष्टिगत होती है। सेना के वस्त्र, वर्दियाँ, अस्त्र-शस्त्र सभी अच्छे होते हैं। इसी सुव्यवस्था के कारण मित्र राज्यों में उसका सिर ऊंचा रहता है और शत्रु राज्य उससे काँपते रहते हैं। यह श्रेणी राज्यवालों के प्रभुत्व की अन्तिम सीमा होती है, कारण कि उस समय वे स्वतंत्र होते हैं, सम्मान एवं गौरव के स्रोत होते हैं और अपने बाद आनेवालों के लिए कर्म एवं उन्नति के मार्ग खोलते हैं।

चौथी अवस्था संतोष एवं शान्ति की है। इस श्रेणी को प्राप्त हो जाने के उपरान्त बादशाह अपने पूर्वजों के आचरण पर निर्भर रहने लगता है। अपने बराबर वाले राज्यों से सन्धि बनाये रखता है। शत्रुओं तक के साथ संयम-पूर्वक व्यवहार करता है। प्रत्येक बात में अपने पूर्वजों का अनुसरण करता है। उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलता है। वे जो कर गये हैं, वही वह भी करता है, मानो वह अपने पूर्वजों का पूर्णरूप से भक्त एवं उनका अनुयायी हो। उसे यह ज्ञात होता है कि यदि वह अपने पूर्वजों के अनुकरण से पीछे हटा तो उसके कार्य अस्त-व्यस्त हो जायंगे। वह भली भाँति समझता है कि उसके पूर्वज गौरव एवं श्रेष्ठता के संस्थापक थे, अतः वे ही उन कार्यों के मूलाधार हैं।

पाँचवीं अवस्था अपव्यय की है। इस युग का बादशाह अपने पूर्वजों द्वारा संचित धन-सम्पत्ति को कभी अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति एवं भोग-विलास पर और कभी अपने मित्रों एवं दरबारियों को दान देने में निःसंकोच व्यय करता है। संसार के दुराचारियों एवं व्यभिचारियों का उसकी छत्रछाया में पालन-पोषण होता है। संसार के महान् कार्य, जिन्हें वे कदापि नहीं चला सकते, उनके सिपुर्द होते हैं। इन लोगों की समझ में यह नहीं आता कि वे क्या करें अथवा क्या न करें। वे क़ौम के सम्मानित लोगों की कीर्तियों को नष्ट एवं अपने पूर्वजों के कार्यों को बरबाद करने लगते हैं। जब यह स्थिति हो जाती है तो लोग बादशाह से जलने लगते हैं। उसकी सहायता से हाथ खींचने लगते हैं। बादशाह क्योंकि सैनिक व्यय एवं ख़ज़ाने का धन

भोग-विलास में व्यय करने लगता है, अतः सेना की दशा भी शोचनीय हो जाती है। सेना की देखभाल एवं उसके विषय में पूछ-ताछ करने की ओर से उपेक्षा होने लगती है। इस प्रकार वह अपने पूर्वजों की कीर्ति पर पानी फेर देता है और उनकी बनायी हुई व्यवस्था का समूलोच्छेदन कर देता है। जब राज्य इस शोचनीय दशा को प्राप्त हो जाता है तो वह युवावस्था से निकलकर वृद्धावस्था में प्रविष्ट हो जाता है। वह एक ऐसे प्राचीन एवं स्थायी रोग से ग्रस्त हो जाता है कि उससे उसकी मुक्ति कठिन ही होती है। उसके स्वस्थ होने का कोई उपाय दृष्टिगत नहीं होता और उसकी मृत्यु ही शेष रह जाती है। इसकी अधिक व्याख्या हम बाद में करेंगे। "ईश्वर ही सर्वोत्कृष्ट वारिस है।"[१]

(१८) राज्य के अवशेष उसकी मूल शक्ति के अनुसार होते हैं

यह सत्य है कि किसी सत्ता के अवशेष उसकी शक्ति के द्योतक होते हैं और वे इस बात की घोषणा करते रहते हैं कि वह सत्ता कितनी शक्तिशाली थी। यही बात उन भव्य भवनों एवं मस्जिदों तथा पूजा-गृहों के विषय में कही जा सकती है, जो विगत राज्यों के अवशेष के रूप में अब भी वर्त्तमान हैं। उनसे राज्य के संस्थापकों के ऐश्वर्य एवं गौरव का पता चलता है। इसका कारण यह है कि ऐसे भवनों का निर्माण उसी दशा में हो सकता था जब बहुत बड़ी संख्या में भवन-निर्माण करनेवाले तथा शिल्पकार एकत्र किये जाते थे और वे मिल-जुलकर उस निर्माण-कार्य को सम्पन्न करते थे।

जब राज्य दूर-दूर तक फैला होता है और प्रजा बहुत बड़ी संख्या में बसी होती है, तब भवन-निर्माण करनेवाले भी सुगमतापूर्वक बड़ी संख्या में प्राप्त हो जाते हैं और राज्य की विभिन्न दिशाओं से एकत्र कर लिये जाते हैं। इस प्रकार भवन-निर्माण कार्य बड़े पैमाने पर पूरा कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ आद एवं समूद नामक क़ौमों के अवशेषों को देखिए। इनका उल्लेख क़ुरान शरीफ़ में भी हो चुका है। इनके अतिरिक्त किसरा के राजप्रासादों के दरबार-कक्षों की ओर दृष्टिपात कीजिए, जिनसे फ़ारस के राज्य की शक्ति प्रकट होती है। उनकी दृढ़ता इस सीमा को पहुँच गयी थी कि जब हारूनुर्रशीद ने उनको तुड़वाना चाहा और खुदाई का कार्य प्रारम्भ कराया, तो तोड़नेवाले तोड़ने में असमर्थ हो गये। वे किसी प्रकार न टूट सके।

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

इस सम्बन्ध में हारूनुर्रशीद का यहया बिन खालिद बरमकी[1] से परामर्श करना और उसका सुल्तान को इस संकल्प से रोकना बड़ा प्रसिद्ध है। ध्यानपूर्वक देखिए कि एक राज्य तो उनका निर्माण कराये और एक उन्हें तोड़ भी न सके, यद्यपि विध्वंस एवं निर्माण कार्य में सुगमता की दृष्टि से बड़ा अन्तर है। इसी से दोनों राज्यों के पारस्परिक अन्तर का पता चलता है।

इसी प्रकार दमिश्क़ में वलीद[2] द्वारा निर्माण कराये हुए राजप्रासादों, क़रतबा[3] में बनी उमय्या की बनवायी हुई जामा मस्जिद और नदी का पुल, क़रताजना[4] की ऊँची भूमि पर नहरों में जल लाने के हेतु बनी उमय्या के निर्माणकार्य, मग़रिब में शरशाल के अवशेष एवं मिस्र में एहराम[5] इत्यादि के निर्माणों के अवशेषों से उन राज्यों की निर्माणशक्ति का पता चलता है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि भूतकाल में इन आश्चर्यजनक भवनों का निर्माण इंजीनियरों एवं भवन निर्माण करनेवालों तथा शिल्पकारों के पारस्परिक सहयोग से सम्भव हो सका था। इसी कारण वे अत्यन्त दृढ़ बन सके थे। इसका कारण, जैसा जन-साधारण कहते हैं, यह नहीं है कि उस युग के लोगों का डीलडौल हमसे बहुत बड़ा था, अतः वे इतने भव्य भवनों का निर्माण करा सके। तब के और अब के मनुष्यों के डीलडौल में इतना अधिक अन्तर नहीं है जितना इन भवनों को देखने से ज्ञात होता है। वास्तव में क़िस्सा-कहानी गढ़नेवालों की अतिशयोक्ति एवं झूठ के कारण उपर्युक्त भ्रम उत्पन्न हो गया है। उदाहरणार्थ आद, समूद एवं अमालक़ा नामक क़ौमों के विषय में बिना सिर-पैर की झूठी कहानियाँ प्रसिद्ध हो गयी हैं। इनमें अधिक आश्चर्यजनक औज[6] बिन अनाक़[7] की कहानी है कि वह अमालक़ा नामक क़ौम का एक व्यक्ति था जिससे बनी इसराईल ने शाम में युद्ध किया। उसके डील-

१. यहया बिन खालिद, हारूनुर्रशीद का प्रसिद्ध बरमकी वज़ीर, जिसकी मृत्यु ८०५ ई० में हुई।
२. सम्भवतः वलीद (७०५–७१५ ई०) की मस्जिद की ओर संकेत है।
३. कारडोवा।
४. कारथेज।
५. पीरामिड।
६. ओग, Og.
७. अनक, Anak.

डौल के विषय में कहा जाता है कि वह समुद्र से मछलियाँ पकड़ लेता था और उन्हें सूर्यताप में भून-भूनकर खाता था। इस निराधार कहानी से जहाँ कहानी कहने-वालों की मानव-जीवन की अनभिज्ञता ज्ञात होती है, वहाँ नक्षत्रों के विषय में उनके अज्ञान का भी आभास होता है, कारण कि उन्हें यह भ्रम है कि सूर्य में गरमी होती है और जितना ही कोई उसके निकट जाय गरमी बढ़ जायगी । वे इस तथ्य से परिचित नहीं कि गरमी प्रकाश पर निर्भर होती है। किरणों का प्रकाश, भूमि के धरातल से प्रतिबिम्बित होने के कारण तीव्र हो जाता है, अतः भूमि के निकट गरमी भी ज्यादा हो जाती है। जब प्रतिबिम्बित किरणें अपने मूल स्थान से दूर हटती हैं अथवा ऊँचाई की ओर जाती हैं तो वहाँ गरमी नहीं होती, अपितु ठंडक हो जाती है। ऊँचाई के इस स्थान पर बादल उड़ते रहते हैं । सूर्य स्वयं न तो गरम होता है और न ठंडा । वह तो एक ललित एवं प्रकाशपूर्ण पदार्थ है। इसी प्रकार क़िस्सा कहनेवाले कहते हैं कि औज बिन अनाक़ अमालक़ा क़ौम का एक व्यक्ति था अथवा कनआनियों में से था, जो उस समय, जब बनी इसराईल ने शाम विजय किया, नष्ट हो गये । उस युग के बनी इसराईलवालों का डीलडौल आजकल के लोगों के समान था। इसका प्रमाण बैतुल मुक़द्दस[1] के द्वारों से मिलता है, यद्यपि वे इस बीच में नष्ट हो गये और पुनः बनवाये गये, किन्तु उनकी शकल एवं द्वारों की लम्बाई-चौड़ाई में कोई भी परिवर्तन नहीं किया गया । तब यह किस प्रकार सम्भव है कि औज बिन अनाक़ के डीलडौल और इस युग के लोगों के डीलडौल में इतना अधिक अन्तर हो।

वास्तव में इस भूल का कारण यह है कि इन कहानी सुनानेवालों ने ये भव्य अवशेष तो देखे, किन्तु उस युग की सामूहिक शक्ति का कोई अनुमान नहीं लगाया । न वे उन यंत्रों को समझ सके जिनके द्वारा इन आश्चर्यजनक भवनों का निर्माण कराया गया था। इस कारण उन्होंने इन अवशेषों की विशालता का सम्बन्ध उनके निर्माताओं के डीलडौल से जोड़ दिया और कह दिया कि चूँकि वे बड़े लम्बे डीलडौल वाले थे, अतः ऐसे भव्य भवनों का निर्माण वे ही कर गये, यद्यपि यह विचार पूर्णतः मिथ्या है।......[2]

इसी प्रकार सल्तनत के दान-पुण्य सल्तनत के ऐसे अवशेष हैं जिनसे उसकी शक्ति का पता लगाया जा सकता है। सल्तनत भले ही पतन एवं शक्तिहीनता की ओर बढ़

१. येरोशलम।

२. इसी प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण यहाँ लेखक ने दिये हैं, जिनका अनुवाद नहीं किया गया ।

रही हो, किन्तु सुल्तानों की दान-पुण्य एवं इनाम-इकराम की रुचि अवश्य अपना प्रभाव दिखाती है, कारण कि उनके साहस तथा हौसले उनके शासन के प्रभुत्व एवं उनकी शक्ति के अनुसार होते हैं। अन्त तक दान-पुण्य एवं साहस की भावना उनमें मौजूद रहती है। इस प्रकार इब्ने ज़ीयज़ान के उन पुरस्कारों द्वारा इस तथ्य का ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है, जो उसने क़ुरेशी शिष्ट मंडल को प्रदान किये। उसने लोगों को १०-१० सेर सोना-चाँदी तथा १०-१० दास एवं दासियाँ और एक-एक अम्बर की टिकिया प्रदान की। तदुपरान्त अब्दुल मुत्तलिब को अन्य लोगों की अपेक्षा दुगुनी चीज़ें प्रदान कीं। यद्यपि उस समय उसका राज्य फ़ारस के अधीन यमन तक सीमित था, किन्तु उसे उदारता एवं साहस अपनी तबाबेआ नामक क़ौम से, जिसने इराक़, मग़रिब एवं हिन्द तक की क़ौमों पर राज्य किया था, परम्परागत रूप में प्राप्त हुआ था, अतः उसने इनाम एवं दान-पुण्य में इतनी उदारता प्रदर्शित की।

इसी प्रकार इफ़रीक़िया में सिनहाजा सुल्तानों के दरबार में जब ज़नाता अमीरों के शिष्ट-मंडल आते थे तो वे भी उनको अत्यधिक धन-सम्पत्ति, वस्त्रों के थान एवं घोड़े प्रदान किया करते थे। इब्ने रफ़ीक़ ने उनके इस इतिहास का वर्णन किया है।

बरामेका के शाह भी इसी प्रकार दान-पुण्य किया करते थे। इनके इनाम एवं व्यय भी अपार एवं असीमित होते थे। जब वे किसी दरिद्र की सहायता करते तो उसे वे इतनी धन-सम्पत्ति प्रदान कर देते थे कि वह सर्वदा के लिए धन-धान्यसम्पन्न हो जाता था। यह दान ऐसा नहीं होता था कि प्राप्त धन एक-आध दिन में ही समाप्त हो जाय और प्राप्तकर्ता दरिद्र का दरिद्र ही बना रहे। यह सब कहानियाँ इतिहासों में लिखी हुई हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि सुल्तानों के दान-पुण्य उनके राज्यों की शक्ति के अनुसार होते हैं। देख लीजिए कि उबैदीईन का सेनापति, जौहर अल-कातिब सक़लबी जब मिस्र की विजय के उद्देश्य से क़ीरवान से चला तो नक़द धन का १,००० गधों का बोझ उसके साथ था। आज किसी भी राज्य का खज़ाना इतना न होगा।

इस सम्बन्ध में अहमद बिन मुहम्मद बिन अब्दुल हमीद के हाथ के कुछ लेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें मामून के खिलाफ़त काल की वह आय लिखी है, जो अधीनस्थ प्रदेशों एवं राज्यों से वसूल होकर शाही खज़ाने में आया करती थी। हम उसे "जिराबुद्दौला" नामक ग्रंथ से उद्धृत करते हैं।[1]

१. **यह सूची विभिन्न ग्रंथों में दी हुई है,** A. Von Kremer **ने** *Kulturgeschichte des Orients* (Vienna, 1875) **में इस पर विस्तार से प्रकाश**

प्रदेश	कर द्वारा आय
सवाद (दक्षिणी मेसोपोटामिया)	२७,७८०,००० दिरहम फ़सलों द्वारा, १४,-८००,००० दिरहम अन्य साधनों से, नजरानी क़बायें २००, मुहर लगाने की मिट्टी २४० रतल[1]।
कस्कर	११,६००,००० दिरहम ।
दजला के प्रदेश	२०,८००,००० दिरहम ।
हुलवान	४,८००,००० दिरहम ।
अहवाज़	२५,००० दिरहम तथा ३० हज़ार रतल शकर ।
फ़ारस	२७,०००,००० दिरहम, गुलाबजल की ३० हज़ार बोतलें मुनक़्क़े २० हज़ार रतल ।
किरमान	४,२००,००० दिरहम, यमन के ५०० रेशमी थान, खजूर २० हज़ार रतल और एक प्रकार का ज़ीरा १,००० रतल ।
मुकरान	४००,००० दिरहम ।
सिंध एवं उससे संबंधित स्थान	११,५००,००० दिरहम, ऊदे हिन्दी १५० रतल ।
सिजिस्तान	४,०००,००० दिरहम, विशेष प्रकार के वस्त्रों के ३०० थान, मिसरी २० हज़ार रतल ।
खुरासान	२८,०००,००० दिरहम, १,००० चाँदी की ईंटें, ४,००० लद्दू जानवर, १,००० दास, २७,००० थान, ३०,००० रतल आमलक ।
जुरजान	१२,०००,००० दिरहम, रेशम के १००० लच्छे ।
क़ूमिस	१,५००,००० दिरहम, १००० चाँदी की ईंटें ।
रै	१२,०००,००० दिरहम, मधु २०,००० रतल ।
तबरिस्तान, अर्खयान तथा निहावंद	६,३००,००० दिरहम, तबरिस्तानी क़ालीन ६०० । लबादे २००, पारचा ५०० थान, मुन्देल ३००, जामात ३०० ।

डाला है। उसका विचार है कि इसमें ८६ हि० (७८५ ई०) की स्थिति का उल्लेख है।

१. एक रतल लगभग एक पौंड के बराबर होता था।

हमदान	११,८००,००० दिरहम, अनार तथा नीबू इत्यादि का मुरब्बा १००० रतल, मधु १२,००० रतल।
बसरे एवं कूफ़े के मध्य के स्थान	१०,७००,००० दिरहम ।
मासबज़ान एवं अर्रयान	४,०००,००० दिरहम ।
शहर ज़ूर	६,०००,००० दिरहम ।
मूसल एवं उससे संबंधित स्थान	२४,०००,००० दिरहम, सफ़ेद मधु २०,००० रतल।
आज़रबाईजान	४,०००,००० दिरहम ।
जज़ीरा एवं फ़ुरात के आस-पास के स्थान	३४,०००,००० दिरहम।
जीलान	५,०००,००० दिरहम, १,००० दास, मधु १२,००० मशक, बाज़ १०, ख़िलअतें २०।
अरमीनिया	१३,०००,००० दिरहम, ज़रबफ़्त के फ़र्श २०, विभिन्न रंग के वस्त्र ५३० रतल, नमक में लगी हुई सूरमाही (एक प्रकार की छोटी मछली) १०,००० रतल, खच्चर २००, बाज़ ३०।
क़िन्नसरीन	४००,००० दीनार, मुनक़्क़े १००० ऊँट का बोझ।
दमिश्क़	४२०,००० दीनार।
जार्डन	९७,००० दीनार।
फ़िलस्तीन	३१०,००० दीनार, मुनक़्क़े ३००,००० रतल ।
मिस्र	९२०,००० दीनार ।
बरक़ा	१,०००,००० दिरहम।
इफ़रीक़िया	१३,०००,००० दिरहम, फ़र्श १२०।
यमन	३७०,००० दीनार, वस्त्रों को छोड़कर ।
हिजाज़	३००,००० दीनार ।

इसी प्रकार उन्दुलुस की धन-सम्पत्ति के विषय में विश्वस्त सूत्रों से ज्ञात होता है कि अब्दुर्रहमान नासिर[1] ने अपनी मृत्यु के समय बैतुल माल[2] में ५,०००,०००

१. अब्दुर्रहमान नासिर उन्दुलुस (स्पेन) का ८वाँ उमय्या ख़लीफ़ा, कहा जाता है कि उसी ने सर्वप्रथम ख़लीफ़ा की उपाधि धारण की।

२. मुसलमानों का ख़ज़ाना।

दीनार छोड़े थे, जिनका वज़न ५०० क़िन्तार[1] था। मैंने कुछ इतिहासों में रशीद[2] के विषय में पढ़ा है कि उसके राज्यकाल में बैतुल माल की आय ७,५०० क़िन्तार वार्षिक थी।

मैंने उबैदीईन वंश के विषय में इब्ने खलेकान[3] के इतिहास में सेनापति अल-अफ़ज़ल बिन बद्र अल जमाली के विषय में, जो मिस्र के उबैदीईन ख़लीफ़ाओं पर नियंत्रण रखता था, पढ़ा है कि जब अल-अफ़ज़ल की मृत्यु हो गयी तो ६००,००० दीनार एवं २५० इरदब[4] दिरहम उसके ख़ज़ाने में मिले। इसी प्रकार अँगूठियों के लिए बहुमूल्य पत्थर, मोती, वस्त्र, घर के सामान, सवारी के जानवर तथा माल लादनेवाले जानवर प्राप्त हुए।

जहाँ तक हमारे समय की सल्तनतों का सम्बन्ध है, उनमें सबसे बड़ी मिस्र के तुर्कों की सल्तनत है। इस तुर्क सुल्तान अन्नासिर मुहम्मद बिन क़लाऊन के समय में इस राज्य को बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया था। उसके शासन-काल के प्रारम्भ में उसके दो अमीरों, बैबर तथा सल्लार का बड़ा ज़ोर बंध गया था। बैबर ने सल्लार से मिलकर राजसिंहासन पर अधिकार जमा लिया। अल्प समय पश्चात् ही अन्नासिर ने राज्य पर अधिकार कर लिया और उसने बैबर के सहायक सल्लार को बन्दी बनाकर उसका ख़ज़ाना साफ़ करवाया[5]। मैंने उस ख़ज़ाने की धन-सम्पत्ति की सूची देखी है और उसे प्रस्तुत करता हूँ।

पीले रत्न एवं लाल	४½ रतल।
पन्ना	१९ रतल।
हीरे तथा अँगूठियों के लिए एक प्रकार के रत्न	३०० बड़े टुकड़े।
विभिन्न प्रकार के अँगूठियों के पत्थर	२ रतल।
गोल मोती १ मिस्क़ाल[6] से १ दिरहम तक	१, १५०।

१. एक क़िन्तार लगभग एक हण्डरेडवेट के बराबर होता था।
२. हारूनुर्रशीद।
३. शम्सुद्दीन अबुल अब्बास अहमद इब्ने मुहम्मद इब्ने अबू बक्र, इब्ने खलेकान (मृत्यु १२८२ ई०) का "वफ़ायतुल अयान" नामक ग्रन्थ, जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद भी हो चुका है, बड़ा प्रसिद्ध है।
४. इनके विषय में कोई निश्चित पता न चल सका।
५. यह घटना १३०९–१० ई० में घटी।
६. १½ दिरहम।

सोने के सिक्के	१,४००,००० दिरहम।
खालिस सोने का भंडार,	दो दीवारों के मध्य में सोने के थैले जिनके मूल्य का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सका।
दिरहम	२,०७१,०००।
जवाहरात	४ क़िन्तार।

इसी अनुपात से वस्त्रों के बहुत से थान, घरेलू सामान, सवारी के जानवर, लद्दू जानवर, (अनाज की) फ़सलें, मवेशी तथा दास और दासियाँ एवं जागीरों का भी हवाला दिया गया है।

इसके बाद मोराको में मरीनी वंश हुआ। उनके ख़ज़ाने की, मरीनी वित्त-मंत्री हस्सून बिन अल बव्वाक़ के हाथ की लिखी हुई एक सूची मुझे मिली है, जिसके अनुसार सुल्तान अबू सईद ने अपने ख़ज़ाने में जो धन-सम्पत्ति छोड़ी वह ७०० क़िन्तार सोने के दीनारों से अधिक थी। उसके पास इसी अनुपात से अत्यधिक अतिरिक्त धन-सम्पत्ति भी थी। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी अबुल हसन के पास इससे भी अधिक धन-सम्पत्ति थी। जब उसने तलेमसान पर विजय प्राप्त की[1], तो उसे ३०० क़िन्तार से अधिक सोने के सिक्के, जवाहरात और उसी अनुपात से अपार धन-सम्पत्ति वहाँ के सुल्तान अब्दुल वादिद अबू ताशफ़ीन के ख़ज़ाने से प्राप्त हुई।

इफ़रीक़िया में मेरा समकालीन, मुवह्हिद वंश का ९वाँ बादशाह अबू बक्र[2] था। उसने अपने सेनापति मुहम्मद बिन अल हकीम को बन्दी बनवाकर उसका सफ़ाया करा दिया। उसे ४० क़िन्तार सोने के दीनार और अँगूठियों के अत्यधिक बहुमूल्य पत्थर एवं मोती मिले।

मैं मिस्र में मलिक अज़् ज़ाहिर अबू सईद बरक़ूक़ के समय में था, जिसने क़लाऊन के उत्तराधिकारियों से राज्य छीन लिया था। जब उसने अमीर महमूद नामक उसके वज़ीर को बन्दी बनवा लिया[3] तो वज़ीर के ख़ज़ाने में १,६००,००० दीनारों का पता चला। इसके अतिरिक्त इसी अनुपात से अत्यधिक वस्त्र, सवारी

१. १३३७ ई०।
२. इब्ने ख़लदून का अबू बक्र (१३१८–४६ ई०) के राज्यकाल में जन्म हुआ था।
३. ७९८ हि० (१३९५–९६ ई०) में, अमीर महमूद की मृत्यु ७९९ हि० (१३९७ ई०) में हुई।

के जानवर, लद्दू जानवर मवेशी एवं (अनाज की) फ़सलें मिली थीं। इस प्रकार जब दो अथवा अधिक राज्यों की तुलना की जाय तो उनकी समृद्धि एवं धन-सम्पत्ति तथा शक्ति का ठीक-ठीक अनुमान लगाने के लिए सल्तनतों के कार-बार एवं ऐतिहासिक अवशेषों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कारण कि उनकी पृष्ठभूमि में राज्यविषयक वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अपनी देखी-भाली एवं अपने काल की चीज़ों की नाप-तौल तथा संख्या को सूचना की सत्यता का मापदंड निर्धारित न करना चाहिए और जो बात ज्ञात हो उसे असम्भव न समझना चाहिए। साधारण लोगों की तो चर्चा की ही नहीं जा सकती, विशेष लोग भी जब भूतकाल के राज्यों के विषय में सुनते हैं तो उनसे सम्बन्धित बातों पर विश्वास नहीं करते, यद्यपि ऐसा कदापि न करना चाहिए, कारण कि संसार तथा तत्सम्बन्धी सभ्यता एक समान नहीं रहतीं, अपितु उनमें अन्तर होता रहता है। जिसने घटिया अथवा मध्य स्तर का युग ही देखा हो वह उच्च स्तर के युग का ठीक-ठीक अनुमान किस प्रकार लगा सकता है, उदाहरणार्थ बनी अब्बास, बनी उमय्या तथा उबैदीईन की ठीक-ठीक एवं अस्वीकार न किये जाने योग्य घटनाएँ जब हम तक पहुँचती हैं और उन घटनाओं की तुलना हम अपने राज्य की वास्तविक घटनाओं से, जो भूतपूर्व राज्यों की अपेक्षा कहीं अधिक कमज़ोर हैं, करते हैं तो उनमें बड़ा अन्तर पाते हैं। इसका कारण केवल यह है कि राज्य की शक्ति एवं जनसंख्या में परस्पर बड़ा अन्तर होता है। निष्कर्ष यही निकलता है कि पिछले राज्यों के अवशेष अपने-अपने राज्यों से गहरा सम्बन्ध रखते हैं, जिसे अस्वीकार करना असम्भव है। इन राज्यों की उन घटनाओं के अनेकों प्रमाण हैं और उनके अवशेष एवं उनके वर्त्तमान भवन उनके इतिहास की पुष्टि करते हैं। अतः उन राज्यों की शक्ति का अनुमान उन ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा, जिनके विवरण दिये जाते हैं, उन पर तथा अवशेषों के आधार पर करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में शिक्षा ग्रहण करने योग्य एक अन्य कहानी का उल्लेख किया जाता है। वह इस प्रकार है कि इब्ने बत्तूता[1] जो तनजा[2] का निवासी था, पूरे २० वर्ष पूर्व के देशों में पर्यटन करता रहा। उसने इराक़, यमन तथा हिन्दुस्तान

१. शेख़ फ़क़ीह, अबू अब्दुल्लाह मुहम्मद इब्ने अब्दुल्लाह इब्ने मुहम्मद इब्ने इबराहीम जो इब्ने बत्तूता के नाम से प्रसिद्ध था, तानजीर-निवासी था (७०३–७७९ हि०। १३०४–१३७७ ई०)।

२. तानजीर।

की ख़ूब सैर की। वह देहली[1] में भी पहुँचा, जो हिन्दुस्तान के बादशाह सुल्तान मुहम्मद[2] शाह की राजधानी थी। बादशाह उसका अत्यधिक आदर-सम्मान किया करता था। वह मालकी मज़हब का क़ाज़ी नियुक्त कर दिया गया। वहाँ से वह मग़रिब की ओर रवाना हुआ और वहाँ पहुँचकर सुल्तान अबू इनान के दरबारियों में सम्मिलित हो गया। वह कभी-कभी अपने पर्यटन की चर्चा किया करता था और संसार के विभिन्न भागों में उसने जो आश्चर्यजनक बातें देखी थीं उनका उल्लेख किया करता था। हिन्दुस्तान के बादशाह की तो वह प्रायः ही चर्चा करता रहता था, जिसको सुनकर श्रोता आश्चर्यचकित रह जाते थे। उदाहरणार्थ यह कि हिन्द का सुल्तान जब यात्रा हेतु निकलता तो स्त्री-पुरुष एवं बालकों की जन-गणना कराकर उन सबके लिए छः मास का व्यय शाही राजकोश से अदा करने का आदेश दे जाता था। जब वह यात्रा से वापस आता तो समस्त नगर-निवासी सुल्तान का भव्य स्वागत करते थे। सब लोग बाहर निकलकर उसके चारों ओर चक्कर लगाते, फिर उसी समूह के मध्य दिरहम एवं दीनार लोगों पर न्योछावर किये जाते। सुल्तान के राजप्रासाद में प्रविष्ट होने के समय तक धन-सम्पत्ति इसी प्रकार लुटायी जाया करती थी। वह इसी तरह की कहानियों का उल्लेख करता था जिनका लोग खंडन किया करते थे। उन्हीं दिनों की बात है कि मेरी भेंट राज्य के वज़ीर फ़ारिस बिन वदरार से हुई और हम लोग इब्ने बत्तूता की कहानियों पर विचार-विनिमय करने लगे। साधारण लोगों के विचार के समान मैं उनको स्वीकार करने को तैयार न था। इस पर वज़ीर ने कहा कि क्या तुम भूतकाल की सल्तनतों की इन घटनाओं का केवल इस कारण खंडन करते हो कि तुमने उन्हें स्वयं अपनी आँखों से नहीं देखा है। यदि यह बात है तो तुम वज़ीर के उस पुत्र के समान हो जिसका पालन-पोषण बन्दीगृह में हुआ था।

यह कहानी इस प्रकार है कि जब एक वज़ीर पर राज्य की ओर से क्रोध प्रदर्शित किया गया तो उसे बन्दीगृह में डाल दिया गया। वज़ीर बहुत समय तक बन्दी रहा। उसके एक पुत्र पैदा हुआ। उसका भी पालन-पोषण वहीं हुआ। जब वह बड़ा हुआ

१. उसकी यात्रा के हिन्दी अनुवाद के लिए देखिए, सै० अ० अ० रिज़वी—"तुग़लुक़-कालीन भारत" भाग १ (अलीगढ़ १९५६ ई०) पृ० १५७–३०६।

२. सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लुक़ १३२५–१३५१ ई०।

तो एक दिन वह अपने पिता से पूछने लगा कि "जो मांस हम खा रहे हैं, वह किस चीज़ का है?" पिता ने उत्तर दिया कि "बकरे का।" पुत्र ने पूछा कि "बकरा कैसा होता है?" पिता ने बकरे का पूरा विवरण उसे बता दिया। पुत्र ने पूछा "पिता जी! क्या वह चूहे के समान होता है?" पिता ने कहा "वाह! कहाँ बकरा, कहाँ चूहा।" इसी प्रकार गौ एवं ऊँट के मांस के विषय में वार्त्ता हुई। इसका कारण यह था कि वज़ीर के पुत्र ने बन्दीगृह में जीवन व्यतीत करने के कारण चूहे के अतिरिक्त कोई अन्य जानवर देखा ही न था। अतः वह हर जानवर को चूहे की संतान समझता था। इसी प्रकार यह साधारण बात है कि जिस वस्तु को लोगों ने न देखा हो, उससे सम्बन्धित समाचार का वह खंडन कर देते हैं। यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार लोग आश्चर्यजनक बातों की रुचि के कारण, असम्भव बात को स्वीकार कर लेते हैं। अतः मनुष्य के लिए यह उचित है कि वह प्रत्येक सूचना की परीक्षा सिद्धान्त की कसौटी पर करे और निष्पक्ष भाव से विवेकशक्ति द्वारा सम्भव एवं असम्भव बात की जाँच करे। जिस बात का घटना सम्भव हो, उसे स्वीकार करे और जिस बात का घटना असम्भव हो, उसे स्वीकार न करे। यहाँ पर सम्भावना का तात्पर्य बुद्धि-आधारित सम्भावना से नहीं है जिसका क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है, क्योंकि घटनाओं की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। इसका तात्पर्य भौतिक सम्भावना से है, अर्थात् जब हम किसी वस्तु के तथ्य, गुण, शक्ति एवं वैभव का पता लगा लें तो फिर उसी के अनुसार उसके विषय में निर्णय करें। जो बातें उपर्युक्त सिद्धान्तों से पृथक् हों उन्हें असम्भव समझें। "कहो, ईश्वर हमें अधिक ज्ञान प्रदान करता है।"[१]

(१९) सुल्तान अपनी क़ौम तथा अपनी "असबियत" वालों के विरुद्ध दासों एवं आश्रितों से सहायता लेता है

यह तो ज्ञात ही है कि सुल्तान के राज्य-सम्बन्धी समस्त कार्य उसी की क़ौम द्वारा सम्पन्न होते हैं। उसकी क़ौमवाले उसकी "असबियत" वाले होते हैं और कठिन समय में उसके सहायक होते हैं। उन्हीं की सहायता से वह विद्रोहियों का दमन करता है और उन्हीं के भरोसे पर वह राज्य के समस्त कार्य करता है। उदाहरणार्थ विज़ारत के पदों पर भी वही आरूढ़ होते हैं और ख़राज एवं करों की वसूली भी उन्हीं के सिपुर्द

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

होती है। क़ौम के यही व्यक्ति राज्य की प्राप्ति में उसका दायाँ हाथ होते हैं और राज्य एवं शासन में उसके सहायक एवं साझीदार होते हैं। संक्षेप में समस्त कार्यों में उसका हाथ बँटाते हैं। इस प्रकार राज्य के प्रारम्भिक काल में क़ौम का सुल्तान के साथ यही सम्बन्ध रहता है। जब राज्य दूसरे काल-चक्र में प्रविष्ट होता है तो बादशाह स्वेच्छाचार एवं मन-माना कार्य करने का आदी हो जाता है और वह अपने आपको गौरव एवं श्रेष्ठता का अकेला ठेकेदार समझता है। अपनी क़ौम को शासन में हस्तक्षेप करने से रोकता है। जब यह स्थिति हो जाती है तो उसकी क़ौम के लोग उसके शत्रु हो जाते हैं। उनको रोकने के लिए तथा राज्य में हस्तक्षेप करने से बाज़ रखने के लिए सुल्तान अन्य क़ौमों से सहायता लेता है। इन्हीं अपरिचित लोगों की सहायता से बादशाह अपनी क़ौम पर प्रभुत्व स्थापित रखता है और राज्य का संचालन भी इन्हीं के हाथ में दे देता है, अत: उस युग में सुल्तान के सबसे बड़े विश्वास-पात्र वही होते हैं। सुल्तान के विशेष लोगों में उनकी गणना होती है। वे सम्मान एवं श्रेष्ठता प्राप्त कर लेते हैं, कारण कि वही अपरिचित लोग सुल्तान की क़ौम को उसके उचित अधिकारों से वंचित रखते हैं और उसे उस गौरव एवं श्रेणी से हटाते हैं जिसकी वह पूर्व से आदी होती है। इसी मार्ग में वे प्राणों की बाज़ी भी लगा देते हैं और मौत की चिन्ता नहीं करते। जब अपरिचित लोगों के इस प्रकार के बलिदान बादशाह की सेवा में प्रस्तुत किये जाते हैं तो बादशाह उन्हें विशेष रूप से सम्मानित करता है। उन पर सब कुछ न्योछावर करता है और उन्हें वह सब कुछ प्रदान करता है जो कभी अपनी क़ौम को दिया करता था। राज्य के महत्त्वपूर्ण कार्य, बड़े-बड़े पद, उदाहरणार्थ विज़ारत, सिपहसालारी एवं दीवानी के विभाग उन्हें सौंप देता है। उनको ऐसी-ऐसी उपाधियाँ प्रदान की जाती हैं जो उसकी क़ौमवालों को भी न प्राप्त थीं, कारण कि बलिदानों की वजह से वे लोग बादशाह के बहुत बड़े निष्ठावान्, हितैषी एवं मित्र हो जाते हैं, किन्तु सल्तनत की यह शोचनीय दशा उसके अन्त एवं विनाश की द्योतक होती है। यह घातक रोग उस "असबियत" को विनाश के घाट उतार देता है जो कभी प्रभुत्व प्राप्त करने का साधन थी। इधर राज्यवाले जब बादशाह को अपनी ओर से उपेक्षा करते हुए देखते हैं और पता लगा लेते हैं कि बादशाह के हृदय में उनका कोई स्थान नहीं, तो वे भी बादशाह के प्रति ईर्ष्या एवं द्वेष रखने लगते हैं और उस पर कोई न कोई विपत्ति पड़ने की अभिलाषा अपने हृदय में छिपाये रखते हैं। इसका कुप्रभाव राज्य को भी भोगना पड़ता है, कारण कि वे सल्तनत के लिए ऐसा रोग बन जाते हैं जिसका उपचार सम्भव नहीं। आगामी संतानों में भी

यह रोग अपना विष फैलाये बिना नहीं रहता, यहाँ तक कि राज्य के चिह्न भी मिट जाते हैं।

इस तथ्य के प्रमाण में बनी उमय्या के इतिहास का अध्ययन करना चाहिए कि वे किस प्रकार अपने युद्धों में और किस प्रकार राज्य के कार्यों में भी अरबवालों से ही सहायता लिया करते थे। उदाहरणार्थ अमर इब्ने साद इब्ने अबी वक़्क़ास, उबैदुल्लाह इब्ने ज़ियाद इब्ने अबी सुफ़यान[1], हज्जाज बिन यूसुफ़, मुहल्लब बिन अबी सुफ़रा[2], ख़ालिद[3] बिन अब्दुल्लाह अल क़सरी, इब्ने हुबैरा[4], मूसा बिन नुसैर[5], बिलाल बिन अबी बुरदा इब्ने अबी मूसा अशअरी और नसर बिन सैयार[6] इत्यादि। बनी अब्बास

१. उबैदुल्लाह इब्ने ज़ियाद, उमय्या वंश का विश्वास-पात्र, अपनी कठोरता के लिए सुप्रसिद्ध था। वह २५ वर्ष की अवस्था में ६७३–७४ ई० में ख़ुरासान का हाकिम नियुक्त हुआ। उमय्या ख़लीफ़ाओं की ओर से उसने अनेक युद्धों में भाग लिया। वह ६८६ ई० में एक युद्ध में मारा गया।

२. मुहल्लब बिन अबू सुफ़रा बड़ा प्रसिद्ध अरब सेनापति हुआ है। ६६३–६५ ई० में उसने काबुल तथा मुल्तान तक धावे किये। ख़ुरासान तथा समरक़न्द के हाकिमों के साथ भी वह कई अभियानों पर गया। उसकी मृत्यु ७०२ अथवा ७०३ ई० में हुई।

३. ख़ालिद बिन अब्दुल्लाह को ७०७–८ ई० अथवा ७०९–१० ई० में ख़लीफ़ा वलीद ने मक्के का हाकिम (गवर्नर) नियुक्त किया। ७२४ ई० में वह ख़लीफ़ा हिशाम द्वारा पूरे इराक़ का हाकिम नियुक्त कर दिया गया। वह कठोरता में हज्जाज से कम न था। उसको अन्त में पदच्युत कर दिया गया और अक्तूबर-नवम्बर ७४३ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

४. अबुल मुसन्ना उमर बिन हुबैरा ने उमय्या ख़लीफ़ा सुलेमान के समय में बैज़ण्टाइन वालों से घोर युद्ध किये। ख़लीफ़ा यज़ीद द्वितीय ने उसे इराक़ तथा ख़ुरासान का हाकिम नियुक्त कर दिया था। मार्च ७२४ ई० में ख़लीफ़ा हिशाम ने उसके स्थान पर ख़ालिद को हाकिम नियुक्त कर दिया।

५. मूसा बिन नुसैर ने मग़रिब के पश्चिमी भाग तथा स्पेन को विजय किया था, उसकी मृत्यु ७१६–१७ ई० में हुई।

६. नसर बिन सैयार, ख़ुरासान का प्रसिद्ध हाकिम था। उसने मध्य एशिया के कई युद्धों में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया। उसकी मृत्यु नवम्बर ७४८ ई० में हुई।

के राज्यकाल के प्रारम्भ में भी अरब के ही कन्धों पर राज्य का बोझ रहा, किन्तु जब राज्य ने अपना रंग पलटा और समस्त गौरव एवं श्रेष्ठता केवल एक व्यक्ति-विशेष में सीमित हो गयी तो अरबों को राज्य में हस्तक्षेप करने से रोका जाने लगा। विज़ारत अजम के हिस्से में आयी और राज्य के कार्यों का संचालन अजम (वाले) करने लगे। बनी बरामेका, बनी सहल, बनी नवबख़्त और बाद में बनी बोया, तुर्क दासों में बुग़ा, वसीफ़ उतामिश, बाकियाक इब्ने तूलून इत्यादि बारी-बारी से ख़िलाफ़त एवं सल्तनत पर अधिकार प्राप्त करने लगे, तब अरब संस्थापकों के हाथ से राज्य निकलने लगा और वे सम्मान एवं श्रेष्ठता से वंचित होने लगे।

(२०) सल्तनतों में दासों एवं आश्रितों का हाल

सल्तनत द्वारा आश्रय प्राप्त क़ौमें एवं क़बीले शासक क़ौम से सम्बन्ध रखने में विभिन्न रूप ग्रहण करते रहते हैं। कभी उनके सम्बन्ध प्राचीन एवं पुराने होते हैं और कभी नये। वास्तव में "असबियत" के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति वंश की प्रतिरक्षा एवं वंश के प्रभुत्व द्वारा होती है, अर्थात् अपने सहायकों को अन्य लोगों से बचाना एवं अन्य लोगों पर प्रभुत्व प्राप्त करना ही "असबियत" का वास्तविक उद्देश्य है। सम्बन्धियों, रिश्तेदारों एवं नातेदारों का एक-दूसरे के लिए बलिदान करना एवं अन्य लोगों तथा अपरिचित लोगों में प्रत्येक का दूसरे के प्रति उपेक्षा करना स्वभाविक है। वह मित्रता एवं मेल-जोल जो दासता के कारण उत्पन्न होते हैं, वे भी सहायता एवं प्रतिरक्षा के सम्बन्ध में नस्ल का स्थान ले लेते हैं, अपितु उससे अधिक गहरा प्रभाव रखते हैं। कारण कि नस्ल यद्यपि प्राकृतिक एवं स्वभाविक है, किन्तु काल्पनिक भी है। वास्तविक सम्बन्ध वह है जो एक साथ रहने, एक-दूसरे की रक्षा की भावना रखने, प्राचीन मेल-जोल, एक ही स्थान पर पालन-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने एवं दुःख-सुख में एक साथ जीवन व्यतीत करने से उत्पन्न हो। जब इन साधनों से प्रेम एवं निष्ठा उत्पन्न हो जाती है तो एक व्यक्ति दूसरे पर प्राण न्योछावर करने लगता है और कठिनाई के समय सहायता हेतु उद्यत रहता है। यह कोई काल्पनिक बात नहीं, अपितु रात-दिन की देखी-भाली बात है कि लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध इसी प्रकार स्थापित होते हैं और यही अपना प्रभाव दिखाते हैं।

यही सिद्धान्त उपकार करने तथा उपकृत होने पर लागू होता है, कारण कि आश्रयदाता एवं उपकारक और आश्रित तथा उपकृत में उपकार के कारण एक विशेष सम्बन्ध एवं रिश्ता स्थापित हो जाता है, जो कुल के सम्बन्ध अथवा अन्य प्रकार के

सम्बन्धों के समान प्रभाव रखता है और दोनों पक्षों को मित्रता के बंधन में बाँध देता है। उपकार के इस सम्बन्ध को हम यद्यपि कुल का सम्बन्ध नहीं कह सकते, किन्तु उसके फल एवं लाभ सबके-सब उसमें वर्त्तमान हैं। फिर यदि क़बीलों एवं प्रभुत्व-वाली क़ौमों में ये सम्बन्ध राज्य की प्राप्ति के पूर्व ही स्थापित हो गये हैं और अब तक चले आ रहे हैं तो इस ऐक्य की जड़ें बड़ी दृढ़ होंगी। उचित भावनाओं पर इनका आधार होगा और प्रभाव एवं लाभ में यह कुछ कम न होगा। दो कारणों से राज्य की प्राप्ति के पूर्व इस सम्बन्ध के स्थापित हो जाने के कारण कुल एवं मित्रता के संबंध में कोई भेद-भाव न रहेगा। राज्य प्राप्त होने पर उनमें ऐसे गहरे एवं निकटतम सम्बन्ध होंगे कि बहुत कम लोग ही समझ सकेंगे। दोनों पक्षों में कुल के नहीं अपितु मैत्री के सम्बन्ध होंगे। इस कारण शासक वंश एवं अधीनस्थ क़बीले परस्पर निकटतम संबंधी दृष्टिगत होंगे। यदि उपकार एवं आश्रय का सम्बन्ध दोनों पक्षों में राज्य की प्राप्ति के उपरान्त स्थापित होता है, तो राज्य उनमें पारस्परिक भेद-भाव को क़ायम रखता है। स्वामी अन्य होता है तथा दास अन्य। सम्बन्धी पृथक् होते हैं और मित्र एवं दोस्त पृथक्। राज्य को इसी की आवश्यकता होती है। शासन समस्त सम्मानों एवं श्रेणियों को परखकर अलग-अलग रखता है। अतः देश वाले एवं शासकवर्ग एक-दूसरे से विभिन्न होंगे और सर्वदा अपरिचित समझे जायँगे। इनमें पारस्परिक प्रेम कम एवं एक-दूसरे की सहायता की भावनाएँ कमज़ोर होंगी और यह संबंध, राज्य की प्राप्ति के पूर्व सहायता एवं उपकार द्वारा जो प्रेम का संबंध स्थापित हो जाता है, उसकी अपेक्षा घटिया एवं दोषपूर्ण होगा।

दूसरा कारण यह है कि जब उपकार एवं आश्रय का संबंध राज्य की प्राप्ति के पूर्व दीर्घकाल से स्थापित होता है, तो इस सम्बन्ध की वास्तविकता के विषय में कुछ ज्ञात नहीं होता और उसके रूप का पता नहीं चलता, अपितु अधिकांश दोनों ओर से घनिष्ठता के कारण कुल के सम्बन्ध का धोखा होने लगता, है। इस प्रकार "असबियत" भी ज़ोर पकड़े रहती है, किन्तु राज्य की प्राप्ति के उपरान्त उत्पन्न होनेवाला सम्बन्ध क्योंकि निकटतम काल का होता है और अधिकांश लोग जानते हैं कि दोनों के मध्य में कुल का सम्बन्ध नहीं, अपितु उपकार एवं आश्रय का संबंध है, अतः ऐसी अवस्था में "असबियत" भी कमज़ोर रहती है और वे स्वयं पूर्व के सम्बन्ध से (जो राज्य की प्राप्ति के पूर्व स्थापित होता है) कमज़ोर होते हैं।

साधारण सल्तनतों एवं राज्यों के लिए भी यही बात सत्य है कि यदि शासक ने राज्य पर अधिकार प्राप्त करने के पूर्व ही किसी पर दया एवं कृपा की है और वह

उसका आश्रित है, तो राज्य की प्राप्ति के उपरान्त यह संबंध और भी दृढ़ हो जायगा और उपकृत के विषय में इस तथ्य का पता न चल सकेगा, अपितु वह निकटतम सम्बन्धी, पुत्र अथवा भाई ज्ञात होगा। इसके विपरीत यदि यह संबंध प्रभुत्व प्राप्त करने के उपरान्त स्थापित हुआ है तो इसको निकटतम रिश्तेदारी का सम्मान नहीं प्राप्त हो सकता। इसमें पहले सम्बन्धवाली बात नहीं उत्पन्न हो सकती। यह कोई काल्पनिक बात नहीं है, अपितु रात-दिन की देखी एवं अनुभव की हुई बात है। राज्य अपने जीवनकाल के अन्तिम दिनों में ऐसा ही करते हैं। वे अपरिचित लोगों का उपकार करके उन्हें अपना बना लेते हैं, किन्तु इन अपरिचित लोगों को वह गौरव एवं सम्मान नहीं प्राप्त होता जो उन लोगों को प्राप्त होता है जो राज्य के पूर्व से ही उपकृत होते हैं, कारण कि उनके साथ उपकार का सम्बन्ध स्थापित हुए अधिक दिन व्यतीत नहीं होते, दूसरे, राज्य स्वयं दम तोड़ता होता है और समाप्त होनेवाला रहता है। उसकी छाया में किसी को अधिक लाभ नहीं हो सकता, अतः उन लोगों का सम्मान गिरा ही रहता है।

यह भी स्पष्ट रहे कि सुल्तान अपने प्राचीन मित्रों एवं उपकृतों को छोड़कर नये अपरिचित लोगों को इस कारण मुँह लगाता है और उन्हें उपकार के भार से लाद देता है कि पिछले लोगों के हृदय में स्वयं बादशाह के मुक़ाबले की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और वे उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करने लगते हैं। वे उसे उसी दृष्टि से देखने लगते हैं जिससे उसकी अपनी क़ौम अथवा कुलवाले देखते हैं। उन लोगों को इस बात का अभिमान होता है कि वे दीर्घकाल से बादशाह के आश्रित रह चुके हैं और उनके पूर्वज, बादशाह के पूर्वजों एवं क़ौम वालों के सहचर थे अतः उनमें अहं भाव एवं अपनी मर्यादा की रक्षा की अत्यधिक भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। तब बादशाह को भी उनके प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है और वह उनकी उपेक्षा करके अन्य लोगों को अपना मित्र बनाने लगता है। क्योंकि इन नये लोगों को वर्त्तमान काल में ही आश्रय प्रदान होता है, अतः ये लोग उस श्रेष्ठता एवं गौरव तक नहीं पहुँच पाते, अपितु अपनी प्राचीन अवस्था में ही पड़े रहते हैं। ऐसी स्थिति राज्य के अन्तिम काल में दृष्टिगत होती है और राज्य के सहायक दो वर्गों में बंट जाते हैं; एक प्राचीन सहायकों का वर्ग और दूसरे नये सहायकों का वर्ग। किन्तु वास्तव में पिछले सहायकों को ही राज्य का सहायक कहा जा सकता है और नये लोग तो केवल सेवक ही होते हैं, न कि राज्य के सहायक। "ईश्वर धर्मनिष्ठ मुसलमान का मित्र है।"[1]

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

(२१) (अन्य लोगों द्वारा) सल्तनतों में बादशाह पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है तथा उसे वश में रखा जा सकता है

किसी क़ौम अथवा क़बीले के किसी विशेष वंश अथवा घराने में जब राज्य स्थापित होता है और वह वंश पूरी विजयी क़ौम में अकेला राज्य का स्वामी होकर अन्य वंशों को पीछे ढकेल देता है और राज्य वंशागत एक नस्ल में चलने लगता है, तब अधिकांश सल्तनत के वज़ीरों एवं बादशाह के सहचरों की ओर से बादशाह के विरुद्ध षड्यन्त्र होने लगते हैं और राज्य उस वंश के हाथ से छीन लिया जाता है। इसका कारण प्रायः यह होता है कि वंश का कोई अयोग्य व्यक्ति अथवा बालक अपने पिता के जीवनकाल में ही राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया जाता है अथवा बादशाह की मृत्यु के उपरान्त उसके सम्बन्धियों एवं निकटवर्त्तियों के प्रयत्न के फलस्वरूप सिंहासनारूढ़ हो जाता है। जब यह अनुभव किया जाने लगता है कि राज्य का नया उत्तराधिकारी अपनी अयोग्यता के कारण शासनप्रबंध चलाने में असमर्थ है, तो उसका कोई सहायक राज्य की बागडोर सँभालता है, चाहे वह उसके पिता का वज़ीर हो चाहे सहचर या क़बीले का कोई अन्य व्यक्ति। वह राज्य का पूर्ण प्रबंध अपने हाथ में लेकर बादशाही करने लगता है, बालक को शासनप्रबंध से पृथक् रखकर भोग-विलास में ग्रस्त रखता है और राज्यव्यवस्था की ओर उसे दृष्टिपात करने भी नहीं देता, यहाँ तक कि राज्य का स्वामी वही हो जाता है। जब शहंशाहियत की उसे चाट पड़ जाती है तो फिर वह सोचने लगता है कि शहंशाहियत कभी-कभी केवल राजसिंहासन पर आसीन होकर लोगों को इनाम एवं उपाधियाँ प्रदान करने तथा स्त्रियों के साथ घर की चहारदीवारी में जीवन व्यतीत करने का नाम है, और राज्यव्यवस्था एवं शासन प्रबंध, हुकूमत की समस्याओं का समाधान, आदेशों एवं देश की दशा की देखभाल और छानबीन, देश की सैनिक अथवा आर्थिक दशा की देखरेख एवं सीमान्तों की व्यवस्था वज़ीर के कार्य हैं। इस कारण वह इन समस्याओं को वज़ीर पर ही छोड़ देता है। इस तरह बादशाह का एक निरंकुश राज्य स्थापित हो जाता है और वह तदुपरान्त उसकी संतान में चलता रहता है। इतिहास से पता चलता है कि बनी बोया[1], तुर्कों, क़ाफ़ूर अल-

१. बुवह, हिव्ज़।

इखशीदी[1] इत्यादि को पूर्व में तथा मंसूर[2] इब्ने अबी आमिर को उन्दुलस में इसी प्रकार प्रभुत्व प्राप्त हुआ।

कभी ऐसा होता है कि अधिकारहीन बादशाह असावधानी की निद्रा से जागकर अपनी स्थिति की परीक्षा करता है और फिर प्रयत्न एवं परिश्रम के फलस्वरूप खोया हुआ अधिकार एवं प्रभुत्व पुनः अपने हाथ में ले लेता है और अधिकार प्राप्त करने के उपरान्त विद्रोहियों एवं उन लोगों को, जिन्होंने प्रभुत्व प्राप्त कर लिया था, ख़ूब कुचलता है। कभी उनकी हत्या कराता है और कभी उन्हें पदच्युत कराता है, किन्तु राज्य पर इस प्रकार बिरले को ही अधिकार प्राप्त होता है। क्योंकि जब राज्य की शक्ति इतनी गिर जाती है कि वज़ीर एवं उच्च पदाधिकारी स्वतंत्र एवं स्वेच्छाचारी हो जाते हैं, तो फिर स्थिति का सुधरना कठिन हो जाता है और राज्य वज़ीरों एवं उच्च पदाधिकारियों के हाथ का खिलौना बना रहता है। कारण कि प्रायः राज्य की यह दशा ऐसे अवसरों पर हो जाती है जब राज्य भोग-विलास का केन्द्र बन जाय, राज्य वाले समृद्धि एवं विलासिता में डूबे हुए हों, वीरता एवं पौरुष की भावनाएँ उनमें से निकल चुकी हों, लोग ऐश व इश्रत के आदी हो चुके हों और उनका पालन-पोषण इसी वातावरण में हुआ हो। ऐसी अवस्था में वे राज्य व्यवस्था के कष्टों की किस कारण चिन्ता करेंगे और स्वाधीनता एवं पराधीनता में क्या भेद-भाव कर सकेंगे। वे सल्तनत का सबसे बड़ा उद्देश्य यह समझते हैं कि ख़ूब रंगरलियाँ मनायी जायँ और भोग-विलास में जीवन व्यतीत किया जाय। फिर राज्य के उच्च पदाधिकारियों एवं स्तम्भों की ओर से इस प्रकार का अपहरण ऐसे अवसर पर होता है, जब कि शाही वंश अपनी समस्त क़ौम को राज्य एवं शासन से निकालकर निरंकुश राज्य प्रारम्भ कर देता है और सबको बिना किसी अधिकार के और अपने आपको अधिकार वाला समझने लगता है।

१. क़ाफ़ूर, जो इखशीदियों के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में अधिकार का स्वामी था। उसने मिस्र तथा शाम में प्रभुत्व प्राप्त कर लिया था। उसकी मृत्यु ९६८ ई० में हुई।

२. अल मंसूर इब्ने अबी आमिर को उसके समय में कारडोवा में अत्यधिक प्रभुत्व प्राप्त हो गया था। उसने मलिक करीम (सम्मानित बादशाह) की उपाधि धारण कर ली थी, किन्तु स्पेन के उमय्या ख़लीफ़ाओं को उसने हटाने का कभी प्रयत्न न किया। उसकी मृत्यु अगस्त १००२ ई० में हुई।

संक्षेप में ये दोनों रोग, अर्थात् बादशाह का अधिकार से वंचित हो जाना और वज़ीरों एवं आश्रितों का ज़ोर पकड़ लेना, ऐसे हैं जो सल्तनत में उत्पन्न होकर रहते हैं और फिर अधिकतर उनका कोई उपचार नहीं हो सकता। "ईश्वर जिसे चाहता है उसे अपना राज्य प्रदान करता है।"

(२२) जो लोग सल्तनत एवं सुल्तान पर प्रभुत्व प्राप्त करते हैं वे शाही उपाधि में उसके साझीदार नहीं बनते

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि सल्तनत एवं राज्य का आधार क़ौमी "असबियत" है और अन्य "असबियतें" उसकी सहायता होती हैं। जब प्रभुत्व वाले वंश का आतंक एवं दबदबा सब पर छा जाता है तो फिर सल्तनत उसी वंश का हक़ हो जाती है और वह स्वतंत्र रूप से शासन करने लगता है। यही "असबियत" क़ौमी सल्तनत की रक्षा एवं स्थायित्व की भी उत्तरदायी होती है। फिर यदि कोई महत्त्वाकांक्षी समय की चिन्ता न करके राज्य का समस्त शासन अपने अधीन कर लेता है और वह "असबियत" वाला भी है, किन्तु उसकी "असबियत" देशवालों की "असबियत" में लीन है और राज्य उसे वंशागत नहीं प्राप्त हुआ है, तो ऐसी दशा में वह स्वाधीन बनने का प्रयत्न नहीं करता, अपितु सल्तनत के लाभों द्वारा लाभान्वित होता है, उदाहरणार्थ समस्त शासनप्रबंध वह अपने हाथ में ले लेता है, राज्य के समस्त प्रबंध को सँभालता है, देश के सियाह-सफ़ेद का स्वामी बनता है, किन्तु बाह्यरूप में उसके शहंशाहियत के दिखावे से पृथक् होने के कारण लोग इसी भ्रम में रहते हैं कि वह बादशाह का कर्मचारी एवं आज्ञाकारी है। किन्तु परदे के पीछे उसी के आदेश मुल्क में प्रचलित होते हैं, अतः वह कभी शाही उपाधि ग्रहण नहीं करता और ऐसी स्थिति से, जिसमें यह पता चले कि वह राज्य प्राप्त करने का इच्छुक एवं स्वतंत्र होना चाहता है—यद्यपि परदे के पीछे उसे पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है, बचता रहता है। उसके अधिकारों पर स्वयं बादशाह की ओर से आवरण पड़ता है, कारण कि वह प्रारम्भ से ही राज्य के कार्यों से पृथक् होकर भोग-विलास में ग्रस्त होते हुए राज्य का समस्त भार उसके कंधों पर रख देता है। लोगों को भ्रम होता है कि वह अब भी बादशाह का सहायक है और उसी के द्वारा नियुक्त है। वास्तव में अपहरणकर्त्ता इतना शक्तिहीन होता है कि लोग उसके प्रभुत्व को स्वीकार करने पर किसी प्रकार तैयार नहीं होते और यदि वह भूलकर भी खुल्लम-खुल्ला राज्य की बागडोर सँभालने का इरादा कर बैठे तो बादशाह की "असबियत" वाले उस पर टूट पड़ेंगे और उसका विनाश कर देंगे। इन कारणों से वह स्वयं शहंशाहियत की ओर

रुख़ नहीं करता और उसे अपने लिए ख़तरनाक समझता है। इस प्रकार अब्दुर्रहमान बिन मंसूर बिन अबी आमिर[1] को इसी स्थिति का सामना करना पड़ा, जब कि उसने शाही उपाधि ग्रहण करने का प्रयत्न किया और हिशाम[2] एवं उसके कुटुम्ब वालों की बराबरी का प्रयत्न करने लगा। वह अपने पिता एवं भाई की भाँति केवल राज्य पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करने से संतुष्ट न हुआ और हिशाम से इस बात की माँग कर बैठा कि उसे ख़िलाफ़त का वली अहद बना दिया जाय। तब बनूमरवान एवं समस्त क़ुरैश उसके विरोधी हो गये और हिशाम के चाचा के पुत्र मुहम्मद बिन (हिशाम बिन) अब्दुल जब्बार बिन नासिर से बैअत कर ली और आमिर के सहायकों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। फलतः उसका राज्य नष्ट हो गया और उसका विनाश हो गया। उसका ख़लीफ़ा मुअय्यद मारा गया और उसके स्थान पर ख़लीफ़ा के वंश में से किसी अन्य को सिंहासनारूढ़ कर दिया गया। संक्षेप में राज्य की दशा अस्त-व्यस्त हो गयी। "ईश्वर ही सर्वोत्कृष्ट वारिस है।"

(२३) सल्तनत के वास्तविक गुण एवं उसकी किस्में

देश एवं राज्य की आवश्यकता मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। इसका प्रमाण हम दे चुके हैं, कारण कि मनुष्य का जीवन एवं अस्तित्व मानवजाति से मिल-जुलकर रहने तथा एक-दूसरे की सहायता से जीविकोपार्जन एवं जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से सम्भव नहीं। जब मनुष्य सामूहिक जीवन व्यतीत करने पर विवश हुआ, तो मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार, लेन-देन एवं एक-दूसरे की आवश्यकता की पूर्ति के द्वार भी खुले। क्योंकि मनुष्य में स्वभाविक रूप से अत्याचार एवं शोषण की भावनाएँ भी पायी जाती हैं, अतः कोई न कोई एक-दूसरे को उसके अधिकार से वंचित करने की चेष्टा किया करता है। उसके मुक़ाबले में पीड़ित अपने अधिकारों की प्रतिरक्षा का प्रयत्न एवं संघर्ष करता है, कारण कि क्रोध

१. वह अन्नासिर के नाम से प्रसिद्ध था। उसकी मृत्यु ३९९ हि० (१००९ ई०) में हुई। अल-मंसूर का एक अन्य प्रिय पुत्र अब्दुल मलिक अल्-मुज़फ़्फ़र नामक था।

२. हिशाम द्वितीय कारडोवा (क़रतेबा) का १०वाँ उमय्या शासक था जिसन ९७६–१००९ ई० तथा १०१०–१०१३ ई० तक भली-भाँति राज्य किया।

एवं आतंक की भावनाएं सभी में पायी जाती हैं। फलतः संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है और आपस में मारकाट होने लगती है। देश नष्ट हो जाता है। रक्त की नदियाँ बहती हैं। असंख्य प्राण नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार मानव-संतान के नष्ट हो जाने की शंका उत्पन्न होने लगती है, यद्यपि ईश्वर ने उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व लिया है। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्यों का बिना किसी शासक अथवा बादशाह के स्वतंत्र रूप से जीवित रहना असम्भव है, अपितु ऐसे किसी शासक या प्रभुत्व वाले व्यक्ति का होना आवश्यक है जो एक को दूसरे पर अत्याचार करने से रोके और अपने प्रभुत्व एवं आतंक से सबको अपने वश में रखे और किसी को आज्ञा के क्षेत्र से बाहर निकलने न दे। उसको यह प्रभुत्व एवं आतंक "असबियत" द्वारा प्राप्त होता है, कारण कि हम उल्लेख कर चुके हैं कि माँगें एवं प्रतिरक्षा सम्बन्धी बातें "असबियत" के बिना कदापि पूर्ण नहीं होतीं। क्योंकि सल्तनत को सर्वोच्च सम्मान प्राप्त है और इसके समान कोई अन्य सम्मान नहीं अतः प्रत्येक के हृदय में उसकी प्राप्ति की इच्छा होती है और जिन्हें यह पद प्राप्त होता है उनको उसकी रक्षा में अपने बचाव के लिए नाना प्रकार के उपाय सोचने पड़ते हैं और ये दोनों उद्देश्य, माँगें एवं प्रतिरक्षा "असबियतों" के बिना प्राप्त नहीं हो सकतीं। इसके अतिरिक्त "असबियतें" भी नाना प्रकार की होती हैं। प्रत्येक का अधिकार एवं प्रभुत्व अपनी ही क़ौम तथा क़बीले पर होता है, किन्तु प्रत्येक क़बीले एवं क़ौम में एक बादशाह नहीं होता। बादशाह वास्तव में वह है जो समस्त प्रजा को अपने सामने झुका ले। राजस्व एवं ख़राज वसूल कर सके। अपने राज्य की सभी दिशाओं में सेना नियुक्त कर सके। सीमांतों का उचित प्रबंध कर सके। उस पर किसी अन्य का अधिकार न हो। ऐसा ही व्यक्ति बादशाह कहलाता है। यदि उसकी "असबियत" एवं प्रभुत्व उपर्युक्त समस्याओं में से किसी के समाधान में असमर्थ है, उदाहरणार्थ वह सीमांतों का उचित प्रबंध नहीं कर सकता, अथवा राजस्व एवं ख़राज वसूल नहीं कर सकता, अथवा उचित स्थान एवं अवसर पर सेना की नियुक्ति नहीं कर सकता, तो वह उतना ही असफल बादशाह है और उसकी शहंशाहियत में उतनी ही कमी है।

क़ीरवानी अग़्लेबा के राज्यकाल में बरबर मुलूक और अब्बासी खिलाफत के प्रारम्भ में अधिकांश अजम मलिक इसी प्रकार के थे। इस तरह यदि बादशाह की "असबियत" अन्य "असबियतों" को अपने वश में न कर सके और उन पर प्रभुत्व न प्राप्त कर सके, अपितु वह स्वयं किसी शक्ति के अधीन हो तो ऐसा बादशाह भी अपनी सल्तनत एवं अपने प्रभुत्व में खोटा एवं अधूरा रहता है। इसी प्रकार के अमीर एवं शासक राज्य की विभिन्न दिशाओं में होते हैं, जो सब मिलकर किसी एक

विस्तृत राज्य के अधीन रहते हैं। जब किसी सल्तनत का प्रभावक्षेत्र बहुत फैल जाता है तो उसके दूरस्थ स्थानों के छोटे-छोटे शासक एवं हाकिम अपने केंद्रीय शासन के अधीन अपना राज्य चलाते हैं। उदाहरणार्थ सिनहाजा, उबैदीईन के विस्तृत राज्य के अधीन और ज़नाता कभी बनी उमय्या के अधीन और कभी उबैदीईन के अधीन रहते थे। यही दशा अजम के मलिकों की थी जो अब्बासियों के राज्य की छत्र-छाया में हुकूमत करते थे। फ़ारस के विभिन्न वंशों के शासक सिकन्दर एवं यूनानियों के अधीन राज्य करते थे। इतिहास में इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। "ईश्वर अपने दासों पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित रखता है।"

(२४) शासन-प्रबंध में बादशाह का संयम से आगे बढ़ जाना राज्य के लिए प्रायः हानिकारक होता है और उससे राज्य का विनाश हो जाता है

यह समझ लेना चाहिए कि प्रजा की उन्नति एवं उपकार सुल्तान के व्यक्तित्व, उसके शरीर, उसके रूप-रंग एवं सुन्दरता, उसके स्वास्थ्य, विद्वत्ता एवं विवेक तथा बुद्धि पर निर्भर नहीं, अपितु प्रजा की उन्नति, उसका उपकार एवं हित उस संबंध में निहित हैं जो बादशाह को प्रजा द्वारा प्राप्त है। कारण कि सल्तनत एवं राज्य विशेष सम्बन्ध को कहते हैं और यह सम्बन्ध दोनों पक्षों में पूर्ण रूप से निश्चित होता है। अतः इस प्रकार सुल्तान वास्तव में वह हुआ जो प्रजा का स्वामी हो और उसके कार्यों को सँभालता हो। अर्थात् सुल्तान वह है जिसकी कोई प्रजा हो और प्रजा वह है जिसका कोई सुल्तान एवं बादशाह हो। अतः जिस प्रकार का संबंध सुल्तान प्रजा के साथ रखता है उसी के अनुसार हम सल्तनत एवं शासन का नाम रख देते हैं। अब यह सल्तनत एवं शासन यदि न्याय एवं उचित सिद्धान्तों पर आधारित है और भली-भाँति चल रहा है तो बादशाह के व्यक्तित्व से प्रजा पूरा-पूरा लाभ उठायेगी और उसकी आवश्यकताओं का प्रबंध उचित रूप से हो सकेगा। यदि इसके विपरीत राज्य दुराचार एवं बुराई पर आधारित है और राज्य-व्यवस्था अत्याचार के सिद्धान्तों पर हो रही है, तो यह राज्य प्रजा के लिए हानिकारक होगा और नष्ट हो जायगा। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार कहना चाहिए कि राज्य के गुण मृदुलता एवं नरमी में निहित हैं, कारण कि यदि बादशाह अत्याचारी, कठोर एवं क्रूर है, प्रजा को अधिकतर दंड देता रहता, अपनी प्रजा के अवगुणों एवं दोषों की खोज में तल्लीन रहता है, तो ऐसी दशा में लोग आतंकित एवं अपमानित हो जायँगे और वे झूठ, छल, धूर्तता एवं जाल द्वारा बादशाह से अपने प्राणों

की रक्षा किया करेंगे। फिर एक समय तक यही कार्य करने से ये दोष उनके स्वभाव में प्रविष्ट हो जायँगे। उनके अनुभव में भी दोष उत्पन्न हो जायँगे। उनके चरित्र नष्ट हो जायँगे। कभी ऐसा होगा कि युद्ध एवं प्रतिरक्षा के अवसर पर प्रजा बादशाह का साथ छोड़ देगी और किसी संकट के समय विश्वासघात कर देगी। ऐसी दशा में सहायता एवं प्रतिरक्षा का कोई उपाय न हो सकेगा। कभी-कभी ऐसा होता है कि प्रजा बादशाह की हत्या पर उद्यत हो जाती है और राज्य नष्ट हो जाता है तथा समस्त व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है। यदि प्रजा की ओर से इस प्रकार की कोई बात प्रस्तुत न भी हो और बादशाह कुछ समय तक अपनी प्रजा पर अत्याचार करता रहे तो कम से कम "असबियत" तो नष्ट हो ही जायगी और सहायता से वंचित होने के कारण राज्य की नींव खोखली पड़ जायगी।

यदि बादशाह कठोर नहीं, अपितु प्रजा के साथ नरमी का व्यवहार करता है, उसकी भूलों को क्षमा करता है, तो प्रजा भी उससे स्नेह करने लगती है। कष्टों में उसकी प्रतीक्षा किया करती है। उससे हृदय से प्रेम करने लगती है। यदि बादशाह का किसी शत्रु से युद्ध हो जाय तो प्रजा उसकी रक्षा में प्राण की बाज़ी लगा देती है, अतः इस दशा में राज्य के समस्त अंग ठीक रहते हैं। अब रहे राज्य से लाभ, तो वे इस प्रकार हैं कि बादशाह प्रजा के साथ दया एवं कृपापूर्वक व्यवहार करे, उसकी रक्षा में प्रयत्नशील रहे। कभी-कभी प्रतिरक्षा संबंधी उत्तरदायित्व को पूरा करने से राज्य की वास्तविकता पूरी हो जाती है और उसका कर्त्तव्य पूर्ण हो जाता है। अब प्रजा के प्रति बादशाह की अधिक दया एवं उपकार, उसके नरमी के व्यवहार में सम्मिलित हैं, जो वह अपनी प्रजा के प्रति प्रदर्शित करता है। प्रजा की आर्थिक दशा को ठीक करना भी नरमी के व्यवहार से संबंधित है। यह उसका कर्त्तव्य नहीं। संक्षेप में प्रजा के प्रति दया एवं कृपापूर्वक व्यवहार करने से बादशाह अपनी प्रजा के हृदय को आकृष्ट कर लेता है और उसकी प्रजा उस पर हृदय से अपने प्राण न्योछावर करने को तैयार रहती है।

फिर इस तथ्य को भी समझ लेना चाहिए कि कुशाग्र बुद्धि एवं विवेकवाले बादशाहों में मृदुलता एवं नरमी की भावनाएँ बड़ी कम होती हैं। भोले-भाले एवं सीधे-सादे लोगों में ही यह नरमी की भावनाएँ अधिक पायी जाती हैं। विवेक एवं तीक्ष्ण बुद्धि और सूझ-बूझ वाले बादशाहों में मृदुलता इस कारण कम पायी जाती है कि वह अपनी कुशाग्र बुद्धि एवं सूझबूझ के कारण कार्यों के परिणाम को पूर्व से ही समझ लेता है और वहाँ तक प्रजा की बुद्धि पहुँचने में पूर्णतः असमर्थ होती है। इन्हीं परिणामों को प्राप्त करने के उद्देश्य से वह प्रजा पर उसकी सामर्थ्य से अधिक भार डाल देता है

और प्रजा बेचारी नष्ट हो जाती है। इसी बात को दृष्टि में रखकर मुहम्मद साहब ने कहा है—"तुममें जो लोग सबसे कमज़ोर हों उनके पीछे-पीछे चलो।"

इसी कथन को ध्यान में रखकर शरीअत के आदेशानुसार शासक को अत्यधिक बुद्धिमान् न बनना चाहिए। इसका प्रमाण ज़ियाद बिन अबी सुफ़यान[1] की कहानी से, जब कि हज़रत उमर फ़ारूक़ ने उसे इराक़ के राज्य से पदच्युत किया, मिलता है। ज़ियाद ने पूछा—"हे अमीरुल मोमिनीन! क्या आपने मुझे इस कारण पदच्युत किया है कि मैं शासनप्रबंध करने में असमर्थ हूँ, अथवा मैंने कोई अपहरण किया है।" उत्तर मिला कि "इन दोनों कारणों में से किसी कारण से मैंने तुमको पदच्युत नहीं किया। मुझे तुम्हारी असाधारण तीक्ष्ण बुद्धि से खटका पैदा हो गया कि कहीं तुम अपनी प्रजा के लिए कष्ट का कारण न बन जाओ।" इस प्रकार फ़िक़ह-वेत्ताओं ने शासक के लिए यह शर्त लगा दी है कि वह ज़ियाद इब्ने अबी सुफ़यान तथा अमर बिन आस के समान अत्यधिक बुद्धिमान् एवं राजनीतिज्ञ न हो, कारण कि ऐसी दशा में शासक द्वारा अत्याचार एवं ज़ुल्म तथा प्रजा पर सामर्थ्य से अधिक भार पड़ जाने की आशंका बनी रहती है। इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिज्ञ के लिए अत्यधिक बुद्धिमान् एवं समझदार होना बहुत बड़ा दोष है, न कि गुण।

स्पष्ट सिद्धान्त है कि मानव के गुणों में से किसी एक का भी सीमा से अधिक बढ़ जाना दोष का कारण बन जाता है। उत्तम केवल मध्य का मार्ग ही है। दान-पुण्य मध्य के मार्ग पर होने के कारण उत्कृष्ट हैं और उनके दोनों सिरों पर अपव्ययता एवं कृपणता हैं जो दोनों ही अवगुण हैं। वीरता भी मध्य वर्ग को होने पर प्रशंसनीय है। यही बात अन्य गुणों के विषय में भी कही जा सकती है। यही कारण है कि जिस व्यक्ति में उच्च कोटि का विवेक होता है उसको शैतानी गुणों से सम्पन्न बताया जाता है और कहा जाता है कि वह तो बना-बनाया शैतान अथवा अत्यंत धूर्त है। "ईश्वर जिसे चाहता है, उसे पैदा करता है।"[2]

१. जियाद बिन अबीही को मुआविया ने इराक़ का हाकिम नियुक्त किया। वह प्रथम हि० में पैदा हुआ और ५३ हि० (६७३ ई०) में मृत्यु को प्राप्त हुआ। वह हज़रत उमर के जीवनकाल के अन्तिम वर्षों में बसरे का हाकिम नियुक्त हो गया था। इतिहासकारों ने उसकी तथा हज़रत उमर की कई वार्त्ताओं का उल्लेख किया है। वह मुआविया का सौतेला भाई बताया जाता है।

२. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

(२५) ख़िलाफ़त तथा इमामत

वास्तव में सल्तनत का अस्तित्व मानव के सामाजिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है और सल्तनत का स्थायित्व प्रभुत्व एवं आतंक के बिना सम्भव नहीं। यह दोनों भावनाएँ आतंक एवं पाशविक स्वभाव के परिणाम हैं, इसी कारण आतंक-शील बादशाह के आदेश प्रायः न्यायपथ से विचलित हुआ करते हैं और उसके कारण प्रजा का जीवन कष्टमय हो जाता है। इसी लिए समकालीन अत्याचारी बादशाह की आज्ञाकारिता बड़ी कठिन हो जाती है। इसके अतिरिक्त प्रारम्भ एवं बाद के लोगों के उद्देश्यों में भी बड़ा अन्तर होता है। जिसे भी प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है वह अपने अधीनस्थ प्राणियों को अपनी ही इच्छाओं एवं आकांक्षाओं की ओर आकृष्ट करता है। इसी कारण देश में कोई न कोई शक्तिशाली "असबियत" उसके विरुद्ध उठ खड़ी होती है और देश में हत्याकांड एवं लूट-मार द्वारा छोटी-मोटी प्रलय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी संकटपूर्ण अवस्था में शासन सम्बन्धी अधिनियमों का बनाना परमा-वश्यक होता है, जिनके कारण कोई भी राजाज्ञा की अवहेलना करने का साहस न कर सके, अपितु सब आज्ञाकारी एवं अधीन बने रहें। इस प्रकार फ़ारस इत्यादि के राज्य इन्हीं नियमों के आधार पर चलते रहे हैं। यदि कोई राज्य शासनविधान न बना सके अथवा उसे देश में न चला सके तो वह अपना प्रभुत्व एवं सम्मान भी स्थापित करने में असफल रहेगा और देश पूर्णरूप से उसके अधिकार में न आ सकेगा। यही ईश्वरीय नियम उसके बन्दों में प्रचलित है।

यदि शासन-विधान राज्य एवं देश के बुद्धिमानों एवं योग्य व्यक्तियों द्वारा संकलित हो तो उसका संकलन बुद्धिजन्य राजनीति कहलायेगी, और यदि ये नियम ईश्वर की ओर से संकलित एवं तैयार होकर किसी रसूल एवं नबी द्वारा मनुष्यों तक पहुँचें, तो इन्हें हम धार्मिक राजनीति कहेंगे। यह धार्मिक राजनीति इस लोक तथा परलोक दोनों को लाभ पहुँचायेगी।

केवल यही लोक मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य नहीं है, कारण कि यह तो नश्वर एवं व्यर्थ है और कभी न कभी नष्ट हो जायगा। ईश्वर ने कहा है—"क्या तुम यह समझ बैठे हो कि हमने तुम्हें व्यर्थ पैदा किया है?" अतः मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य धर्म ही है जो उसे परलोक में सदा सुखी रखेगा। इसी कारण संसार में जितनी "शरीअतें" आयीं वे मनुष्यजाति के लिए इबादत एवं उपासना संबंधी अन्यआ देश लायीं, यहाँ तक कि शासनप्रबंध संबंधी अधिनियमों की भी उपेक्षा नहीं की गयी, जो कि मनुष्य के सामाजिक जीवन के लिए स्वाभाविक हैं। अतः धर्म एवं "शरीअत" के प्रकाश में "शरीअतों"

ने देश में इस आशय से संविधान चलाये कि ईश्वर के समस्त प्राणी रसूल के आदेश के क्षेत्र में आ जायँ। अब सुल्तान लोग अपनी व्यक्तिगत भावनाओं, क्रोध, आतंक एवं रोष से प्रेरित होकर जो कुछ भी करते हैं वह अत्याचार एवं ज़ुल्म है, जिसे ईश्वर किसी तरह पसन्द नहीं करता। इसी अत्याचार को मिटाने के लिए उसने धार्मिक नीति बनायी है, अतः जो बातें सांसारिक राजनीति के अनुसार सुल्तान सम्पन्न करते हैं वे भी बुरी एवं दोषपूर्ण हैं, कारण कि अल्लाह द्वारा प्रदत्त प्रकाश की पृष्ठभूमि में उनका निर्माण नहीं होता। ईश्वर स्वयं कहता है—"जिसके लिए ईश्वर कोई प्रकाश नहीं रचता उसे कोई प्रकाश नहीं मिलता।" रसूल ही एक ऐसा व्यक्ति है जो ईश्वर की कृपा से मनुष्यों की परलोक संबंधी समस्याओं को भली-भाँति जानता एवं समझता और उनके हित से भली-भाँति परिचित होता है, किन्तु साधारण मनुष्यों की दृष्टि में उनमें से कोई भी सामने नहीं। फिर चाहे कोई दरिद्र हो अथवा धनी, सब के कर्म परलोक में उसी रूप में उनके समक्ष आ जायँगे।

इसी बात की ओर मुहम्मद साहब ने संकेत किया है—"तुम्हें तुम्हारे ही कर्मों का बदला मिलता है।" सांसारिक राजनीति के अधिनियम केवल सांसारिक हितों के अनुसार होते हैं, कारण कि मनुष्य की दृष्टि बाह्य दृश्यों तक सीमित होती है। इसके विपरीत "शरा" के बनानेवाले के सामने परलोक की उन्नति ही सबसे बड़ा उद्देश्य होता है, अतः "शरीअतों" की आवश्यकतानुसार समस्त प्राणियों को लोक एवं परलोक की दृष्टि से "शरई" आदेशों के पालन पर विवश किया जाता है। इसके पालन कराने का उत्तरदायित्व नबियों एवं उनके ख़लीफ़ाओं पर है जो नबियों के उत्तराधिकारी होते हैं।

इस विवरण से खिलाफ़त की स्थिति स्पष्ट हो जाती है और पता चल जाता है कि सुल्तान का मनमाना राज्य उसकी अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं एवं अभिलाषाओं का राज्य कहलाता है। पर राजनीति के अनुसार "शासन", मानवबुद्धि के अनुसार राज्य करने का नाम है। शासन का उद्देश्य यह होता है कि मनुष्य संसार का यथेष्ट लाभ प्राप्त कर सके और उसकी हानियों से बच सके। ख़िलाफ़त का अर्थ यह है कि सबको शरई दृष्टिकोण के अनुसार जीवन निर्वाह करने पर प्रेरित किया जाय, जिससे पर-लोक का सौभाग्य भी उसे प्राप्त हो और सांसार के वे लाभ भी हासिल हो जायँ जो परलोक के सौभाग्य में सहायक हैं। "शरीअत" के अनुसार संसार की सभी स्थितियों पर इसी कारण ध्यान देना उचित है कि उनसे पारलौकिक जीवन सुधर सके। इस प्रकार अधिक स्पष्ट शब्दों में ख़िलाफ़त धर्म की रक्षा एवं देख-भाल और संसार की

राजनीति में "शरा" के बनानेवाले का ठीक ठीक उत्तराधिकारी एवं जानशीन होना है। इस तथ्य को भली-भाँति समझ लेना चाहिए, कारण कि इससे अन्य विवरणों के समझने में सहायता मिलेगी। "ईश्वर ही बुद्धिमान् है और सब कुछ जानता है।"

(२६) ख़िलाफ़त एवं उसकी शर्तों के सम्बन्ध में मुसलमानों का मतभेद

अभी इस बात का उल्लेख हो चुका है कि "ख़िलाफ़त" वास्तव में धर्म की रक्षा एवं देख-भाल और सांसारिक राजनीति में शरा के बनानेवाले का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करने और उसका उत्तराधिकारी बनने का नाम है। इसे "ख़िलाफ़त" भी कहते हैं और "इमामत" भी। उत्तराधिकारी एवं नायब को ख़लीफ़ा भी कहते हैं और इमाम भी। इमाम शब्द नमाज़ के इमाम के समान है। जिस प्रकार नमाज़ के इमाम का अनुसरण किया जाता है, उसी प्रकार समकालीन इमाम का भी अनुसरण करना चाहिए। इसी कारण इसे "इमामते कुबरा[1]" भी कहते हैं। "ख़लीफ़ा" को ख़लीफ़ा इस कारण कहा जाता है कि वह नबी के अनुयायियों में नबी का उत्तराधिकारी एवं नायब होता है। कभी उसे केवल ख़लीफ़ा कहा जाता है और कभी ईश्वर के रसूल का ख़लीफ़ा। ईश्वर का ख़लीफ़ा कहकर सम्बोधित करने में मतभेद है, किन्तु कुछ आलिम लोगों ने इसकी भी अनुमति दे दी है। इसका कारण यह है कि सभी मनुष्यों को भूमि पर ईश्वर का ख़लीफ़ा होने का सम्मान प्राप्त है, अतः बादशाह को यह सम्मान सबसे बढ़कर हासिल है, जैसा कि ईश्वर ने कहा है—"मैं पृथ्वी पर अपना ख़लीफ़ा बनाना चाहता हूँ।" और "उसने पृथ्वी पर तुम्हें अपना ख़लीफ़ा बनाया।"[2] किन्तु अधिकांश आलिम प्रत्येक व्यक्ति को अल्लाह का ख़लीफ़ा कहकर सम्बोधित करने में सहमत नहीं, क्योंकि उनकी राय में उपर्युक्त आयतों[3] में इस ख़िलाफ़त की चर्चा नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी कारण है कि एक बार हज़रत अबू बक्र को अल्लाह का ख़लीफ़ा कहकर सम्बोधित किया गया तो आपने इसका खंडन किया और कहा—"मैं अल्लाह का ख़लीफ़ा नहीं अपितु रसूलल्लाह का ख़लीफ़ा हूँ।" दूसरा प्रमाण यह है कि ख़िलाफ़त ऐसे व्यक्ति की की जाती है जो उपस्थित न हो। अल्लाह प्रत्येक समय उपस्थित है अतः उसकी ख़िलाफ़त एवं उसके नायब होने का कोई अर्थ नहीं।

१. बड़ी इमामत।
२. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
३. क़ुरान शरीफ़ के वाक्यों।

खलीफ़ा तथा इमाम की नियुक्ति परमावश्यक है। उसकी आवश्यकता सहाबा[1] एवं ताबेईन के कथनों द्वारा भी प्रमाणित होती है। जब मुहम्मद साहब की मृत्यु हुई तो सहाबा ने तुरन्त हज़रत अबू बक्र के प्रति बैअत[2] की और अपने राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी कार्य उन्हीं को सौंप दिये। मुहम्मद साहब की मृत्यु के उपरान्त भी खलीफ़ा एवं इमाम के चुनाव को बड़ा महत्त्व प्राप्त रहा और प्रत्येक काल में इसी सिद्धांत पर आचरण होता रहा। मनुष्य को कभी भी बिना किसी नियंत्रण के नहीं रखा गया। इस प्रकार खलीफ़ा एवं इमाम की नियुक्ति पर मुहम्मद साहब के सभी अनुयायियों का सहमत होना सिद्ध हो जाता है। कुछ लोगों का मत है कि इमामत की स्थापना इजमा[3] के अनुसार नहीं, अपितु बुद्धि के अनुसार आवश्यक है। उम्मत ने सर्वसम्मति से बुद्धि की आवश्यकता को प्रचलित किया है। बुद्ध्यनुसार इमामत इसी लिए आवश्यक है कि मनुष्य का सामाजिक जीवन इमाम के बिना सम्भव नहीं, क्योंकि जब मनुष्य मिल-जुलकर रहेंगे तो उनके उद्देश्यों में परस्पर संघर्ष होने के कारण वे बिना युद्ध किये नहीं रह सकते। अतः जब तक कोई न्यायकारी शासक न होगा, संसार रणक्षेत्र बन जायगा और अन्त में सभी नष्ट हो जायँगे,हालाँ कि मानव-जीवन की रक्षा "शरीअत" का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है।

दार्शनिकों ने मनुष्यों में "नबूअत" की आवश्यकता को सिद्ध करते हुए इसी तथ्य को अपने समक्ष रखा है। इस तर्क में जो दोष है उसे भी हम स्पष्ट कर चुके हैं। उनके तर्क की एक प्रस्तावना तो यह है कि न्यायकारी हाकिम अल्लाह की शरीअत लेकर आता है, जिसे सभी मनुष्य अपना धार्मिक विश्वास समझकर हृदय से उसे स्वीकार कर लेते हैं। यह सिद्धान्त इस कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता कि कभी-कभी कोई हाकिम आतंक एवं निरंकुशता द्वारा भी सब पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है, "शरीअत" का उसमें कोई हाथ नहीं होता। उदाहरणार्थ मजूसी क़ौम अथवा ऐसी क़ौमों के, जो "अहले किताब" नहीं और दीन का प्रचार जिन तक पहुँचा ही नहीं, राज्य भी राज्य ही कहलाते हैं जो "शरीअत" के अधीन नहीं, अपितु निरंकुशता एवं आतंक पर आधारित हैं। फिर दार्शनिकों के कथनों के खंडन में हम यह भी कह सकते हैं कि लड़ाई-झगड़े को शान्त करने के लिए क्या यह उचित नहीं कि बुद्धि के प्रकाश में प्रत्येक व्यक्ति को

१. मुहम्मद साहब के सहायक, मित्र।
२. अधीनता की शपथ।
३. विचारों में मतैक्य।

अत्याचार एवं निरंकुशता के दोष समझाये जायँ और इस प्रकार मार-काट की रोक-थाम की जाय। क्या यह आवश्यक है, जैसा कि विद्वानों का मत है कि झगड़ों का निपटारा केवल "शरीअत" के अनुसार एवं इमाम की नियुक्ति द्वारा हो? जिस प्रकार इमाम की नियुक्ति द्वारा झगड़े समाप्त किये जा सकते हैं, उसी प्रकार प्रभावशाली बादशाह की नियुक्ति द्वारा भी उनको मिटाया जा सकता है, अथवा लोग स्वयं समझ-बूझकर जुल्म एवं अत्याचार को त्याग सकते हैं। अतः दार्शनिकों का तर्क जो इस प्रस्तावना का आधार है, अधिक वज़न नहीं रखता और यह स्वीकार करना पड़ता है कि "ख़िलाफ़त" एवं "इमामत" की आवश्यकता केवल हज़रत मुहम्मद के अनुयायियों की सर्वसम्मति के सिद्धान्त पर आधारित है।

कुछ लोगों का मत पूर्णतः इससे भिन्न है। उनके मतानुसार इमाम की नियुक्ति न तर्कानुमोदित है और न शरा द्वारा। मोतज़ेला में से असम[1] इसी मत का अनुयायी है और कुछ खारजी भी इसी मत पर निर्भर हैं। उनके लिए तो इतना ही आवश्यक है कि "शरीअत" के आदेश पर संसार चलने लगे। यदि सब लोग मिल-जुलकर न्यायपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगें और दैवी आदेशों के प्रचलित कराने में संगठित रूप से कार्य करने लगें तो फिर इमाम की नियुक्ति की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। किन्तु मुसलमानों की सर्वसम्मति इसके विरुद्ध है अतः यह मत ठीक नहीं। लोगों के इमामत को आवश्यक न समझने और इस प्रकार का मत स्वीकार कर लेने का यह कारण है कि राज्य प्रायः अत्याचार, जुल्म, लोगों की धन-सम्पत्ति के अपहरण एवं सांसारिक आनन्दों द्वारा लाभान्वित होने का साधन है। सुल्तान ऐसा व्यक्ति होता है जो इन सब कुकृतियों में तल्लीन रहे, यद्यपि "शरीअत" इन कुकर्मों की निन्दा से भरी पड़ी है। इन कर्मों को वह बहुत ही बुरा बताती है। इनके परित्याग पर बड़ा ज़ोर देती है। ऐसी दशा में इमाम अथवा हाकिम की आवश्यकता का किस कारण अनुभव किया जाय और उसे क्यों उचित समझा जाय। किन्तु इनको यहाँ धोखा हुआ है, कारण कि "शरीअत" ने केवल सल्तनत की ही निंदा नहीं की और उसके स्थायित्व को ही बुरा नहीं बताया, अपितु उन दोषों एवं बुराइयों को भी स्पष्ट किया है जो निरंकुशता

१. प्रारम्भिक मोतज़ेला में अल-असम को बड़ा महत्त्व प्राप्त है। वह ८०० ई० के लगभग जीवित था। मावरदी ने भी ख़िलाफ़त सम्बन्धी उसके विचारों पर "अल-अहकामु-स्सुल्तानिया" नामक अपने ग्रंथ में वाद-विवाद किया है।

एवं अत्याचार अथवा सांसारिक भोग-विलास के लोभ से उत्पन्न होती हैं। इनकी बुराई में तो कोई सन्देह नहीं, किन्तु "शरीअत" ने जहाँ उन दोषों को स्पष्ट किया है वहाँ संसार में न्याय की स्थापना, धार्मिक आदेशों के प्रचार, उनकी रक्षा इत्यादि सभी की प्रशंसा की है और इन कार्यों के कारण लोगों को पुण्य एवं परलोक के लाभ की आशा दिलायी है। इस प्रकार इमामत के अच्छे एवं बुरे दो रूप हैं। बुरे रूप की "शरीअत" ने निंदा की है और अच्छे रूप की प्रशंसा, इमामत एवं सल्तनत के मौलिक रूप की बुराई नहीं की है और न उसके परित्याग का आदेश दिया है। इसका उदाहरण इस प्रकार है कि "शरीअत" ने वासना एवं क्रोध की निन्दा की है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ये दोनों भावनाएँ होनी ही न चाहिए, कारण कि बहुत-से स्थानों पर इनकी भी आवश्यता होती है। इनकी बुराई का उद्देश्य यह है कि अनुचित मार्गों में और "शरीअत" के आदेशों के विरुद्ध इन शक्तियों से काम न लिया जाय। यों तो हज़रत दाऊद[1] एवं सुलेमान[2] जैसे लोग महान् राज्यों के स्वामी हुए हैं जिनके समकक्ष कोई नहीं मिलता, यद्यपि दोनों ही बड़े सम्मानित नबी थे, और ईश्वर के निकट प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ एवं सम्मानित। ऐसी दशा में इमामत एवं सल्तनत मूल रूप से किस कारण दोषपूर्ण कही जा सकती हैं?

इसके अतिरिक्त हम यह भी कहते हैं कि इमामत को अनिवार्य न समझकर उसकी उपेक्षा करने से "मोतज़ेला" को कोई लाभ नहीं पहुँचा, कारण कि इसे तो वे भी स्वीकार करते हैं कि "शरई" आदेशों का प्रचार अनिवार्य एवं परमावश्यक है। यह "असबियत" एवं प्रभुत्व द्वारा सम्भव है और "असबियत" की यह स्वाभाविक माँग है कि कोई बादशाह एवं शासक होना चाहिए, अतः शासक एवं बादशाह का होना आवश्यक हो गया, चाहे दिखाने को इमाम न नियुक्त किया जाय। इस प्रकार वे जिस बात से बचे थे, वही उनके सामने आयी।

जब यह सिद्ध हो गया कि इमाम की नियुक्ति इजमा के अनुसार आवश्यक है, तो उसका रूप "फ़र्ज़े किफ़ाया"[3] के समान है और यह देश के प्रभावशाली व्यक्तियों का

१. डेविड।

२. सालोमन।

३. फ़र्ज़ (कर्त्तव्य) की दो क़िस्में हैं, "फ़र्ज़े आम", प्रत्येक मनुष्य का अलग अलग कर्त्तव्य, जैसे नमाज़ पढ़ना, रोज़ा रखना इत्यादि, और दूसरी क़िस्म "फ़र्ज़े किफ़ाया", पूरी उम्मत अथवा हज़रत मुहम्मद के अनुयायियों के समाज का कर्त्तव्य।

कर्त्तव्य है कि वे किसी व्यक्ति को इमाम चुनकर नियुक्त करें और समस्त प्राणियों के लिए यह अनिवार्य है कि उसकी आज्ञाकारिता से मुँह न मोड़ें। कारण कि ईश्वर ने कहा है—"ईश्वर के आदेशों, उसके रसूल के आदेशों तथा तुममें जो लोग अधिकार के स्वामी हों, उनके आदेशों का पालन करो।"[१]

एक ही समय में दो इमामों का नियुक्त करना सम्भव नहीं। आलिम लोग कुछ हदीसों के आधार पर इस बात से सहमत हैं। ये हदीसें मुस्लिम[२] की सहीह नामक पुस्तक के "इमारह" नामक अध्याय में मौजूद हैं। वे इस सिद्धान्त की स्पष्ट रूप से द्योतक हैं।

अन्य लोगों का मत है कि दो इमामों के सिद्धान्त का यह अर्थ है कि एक ही स्थान पर अथवा पास-पास दो इमाम न हों। जब दूरी अधिक हो और इमाम दूर के भू-भाग का भली-भाँति शासनप्रबंध न कर सके तो वहाँ लोकहित की दृष्टि ते दूसरा इमाम नियुक्त किया जा सकता है। जो विद्वान् इस मत को मानते हैं उनमें सर्वोत्कृष्ट अबू इसहाक़ अल-इसफ़रायिनी हैं।[३] इमामुल हरमैन[४] ने भी "किताबुल इरशाद" नामक ग्रंथ में इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है। उन्दुलुस या मग़रिब के विद्वान् भी इसी मत का अनुमोदन करते हैं। उन्दुलुस के आलिमों की बहुत बड़ी संख्या ने उमय्या खलीफ़ा अब्दुर्रहमान अन्नासिर एवं उसके वंश वालों की बैअत कर ली थी और उन्हें "अमीरुल मोमिनीन" कहते थे। "अमीरुल मोमिनीन" की उपाधि, जैसा कि हम आगे चलकर उल्लेख करेंगे, केवल खलीफ़ाओं को ही दी जाती है। कुछ समय उपरान्त मग़रिब में मुवह्हेदीन ने भी यही किया।

कुछ आलिम इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं कि जहाँ तक इजमा

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
२. मुस्लिम बिन हज्जाज नीशापुरी अथवा क़शमिरी सहीह मुस्लिम के, जो मुहम्मद साहब की हदीसों का संग्रह है, संकलनकर्त्ता थे। उनकी मृत्यु ८७५ ई० में हुई। "सहीह मुस्लिम" को सहीह बुख़ारी के समान सुन्नी लोग बड़ा विश्वस्त ग्रन्थ मानते हैं और दोनों ग्रंथ सहीहैन के नाम से प्रसिद्ध हैं।
३. इबराहीम बिन मुहम्मद अल इसफ़रायिनी की मृत्यु ४१८ हि० (१०२७ ई०) में हुई।
४. अबुल मआली अब्दुल मलिक बिन अब्दुल्लाह अल जुवैनी (४१९–४७८ हि०। १०२८–१०८५ ई०)।

का प्रश्न है, दो इमाम हो सकते हैं। यह कोई प्रमाण नहीं, कारण कि यदि इस प्रश्न पर कोई इजमा होता तो अबू इसहाक़ तथा इमामुल हरमैन इसका अवश्य विरोध करते। उन्हें इजमा के महत्त्व का अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक ज्ञान था। इमाम अल मज़ारी[1] तथा अन्नवाई[2] के मत का उपर्युक्त हदीस[3] के आधार पर खंडन हो चुका है।

कुछ हाल के आलिमों ने केवल एक ही इमाम की नियुक्ति के औचित्य पर वाद-विवाद किया है, किन्तु उनके मत परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। वे इस आयत का सहारा लेते हैं—"यदि अल्लाह के अतिरिक्त (ज़मीन तथा आसमान पर) अन्य ईश्वर होते तो (ज़मीन और आसमान) नष्ट हो चुके होते।" इस आयत के आधार पर कोई स्पष्ट सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता, कारण कि इसका सारा ज़ोर तर्क पर आधारित है। ईश्वर ने इस आयत में केवल यह बात ही स्पष्ट की है कि हम ईश्वर के एक होने का तर्कपूर्ण प्रमाण पा जायँ और उसकी एक मात्र सत्ता के दृढ़ विश्वासी हो जायँ। जहाँ तक इमामत का सम्बन्ध है, हमें यह जानने की आवश्यकता है कि दो इमामों की नियुक्ति का निषेध किस कारण किया गया, और यह कि इस बात का सम्बन्ध शरीअत एवं दीन (इस्लाम) की आवश्यकताओं से है, अतः क़ुरान की उपर्युक्त आयत से, उस समय तक कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, जब तक कि हम इसे शरा से सम्बद्ध मानकर यह न कहें कि अधिक ईश्वरों के कारण भ्रष्टाचार फैलता है, और उन चीज़ों से जिनके कारण भ्रष्टाचार फैलता है हमें बचते रहना चाहिए। तभी इस आयत का प्रयोग शरीअत के संदर्भ में उचित रूप से किया जा सकता है।

यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात होनी चाहिए कि इमामत की चार शर्तें हैं—(१) ज्ञान, (२) न्याय, (३) योग्यता, (४) पंच ज्ञानेन्द्रियों तथा शारीरिक भुजाओं का सुरक्षित होना, जो विचार एवं आचरण हेतु परमावश्यक हैं। पाँचवीं शर्त अर्थात् इमाम के क़ुरैशी वंश से संबंधित होने के विषय में मतभेद है।

(१) ज्ञान की शर्त इस कारण लगायी गयी कि इमाम यदि ज्ञान-सम्पन्न और शरई आदेशों से परिचित न होगा तो वह शरा को अपने राज्य में किस प्रकार

१. मालिकी इमाम मुहम्मद बिन अली, जन्म लगभग ४५३ हि० (१०६१ ई०), मृत्यु ५३६ हि० (११४१ ई०)।
२. मुहीउद्दीन यहया बिन शरफ़, ६३१–६७६ हि० (१२३३ ई०–१२७७ ई०)।
३. इमाम मुस्लिम की "सहीह"।

प्रचलित कर पायेगा। इसके अतिरिक्त इमाम का ज्ञान इजतेहादी[1] श्रेणी का हो न कि तक़लीदी[2], कारण कि तक़लीद एक प्रकार का दोष है और इमामत के लिए गुणों एवं प्रत्युत्पन्नमतित्व की आवश्यकता होती है। इसका दोष से क्या सम्बन्ध ?

(२) न्याय की शर्त इस कारण लगायी गयी कि इमामत एक ऐसा धार्मिक पद है जो उन समस्त पदों की रक्षा करता है जिनमें न्याय परमावश्यक है। अतः इमामत के पद में तो बहुत बड़ी सीमा तक न्याय का गुण होना चाहिए। इस बात पर कोई मत-भेद नहीं कि यदि इमाम शरा के विरुद्ध कार्य करने लगे तो उसका न्याय समाप्त हो जायगा, किन्तु इस बात पर मतभेद है कि यदि वह बिदअत[3] सम्बन्धी विश्वास रखने लगे तो न्याय समाप्त होगा अथवा नहीं।

(३) योग्यता की शर्त का यह तात्पर्य है कि इमाम शरई आदेशों के पालन कराने एवं युद्ध तथा जेहाद में सम्मिलित होने में निर्भीक एवं वीर हो और लोगों को समझने में उसकी बुद्धि कुशाग्र हो। पूर्ण उत्तरदायित्व से शरई आदेशों के पालन कराने एवं जेहाद में सम्मिलित होने के लिए वह लोगों को उद्यत कर सके। "असबियत" एवं राज-नीति से भली-भाँति परिचित हो ताकि धर्म की रक्षा, शत्रुओं से जेहाद, धार्मिक आदेशों का चलाना एवं राज्य के हित संबंधी जो उत्तरदायित्व इमाम के ऊपर हैं, उन्हें वह भली-भाँति सम्पन्न कर सके।

(४) पंच ज्ञानेन्द्रियों तथा शारीरिक भुजाओं के ठीक होने का उद्देश्य यह है कि उनमें कोई दोष न हो और वे अनुपयोगी न हों। उदाहरणार्थ इमाम पागल न हो, अन्धा न हो, बहरा न हो और गूँगा न हो। जो भुजाएँ कार्य हेतु आवश्यक हैं वे सुरक्षित हों, उदाहरणार्थ हाथ, पाँव एवं अण्डकोष सुरक्षित हों। इन भुजाओं के सुरक्षित होने की शर्त इस कारण लगायी गयी कि ये सब इमाम के उन समस्त कर्त्तव्यों एवं कार्यों के सम्पन्न कराने में परमावश्यक हैं जो उसके सिपुर्द किये गये हैं। यदि इमाम के बाह्य रूप-रंग में कोई दोष उत्पन्न हो गया हो, उदाहरणार्थ उपर्युक्त भुजाओं में से कोई भुजा हो ही नहीं तो फिर इसमें कोई अधिक आपत्ति नहीं। इस प्रकार भुजाओं के ठीक होने का तात्पर्य भुजाओं एवं ज्ञानेन्द्रियों की निपुणता है।

यदि कोई ऐसी स्थिति प्रस्तुत हो जाय जिससे इमाम को राज्य-व्यवस्था के संचा-

१. नयी परिस्थिति में शरीअत के सिद्धान्तों के आधार पर तदनुकूल निर्णय कर सकना।
२. अनुकरण, जिसमें कोई नया मार्ग खोज निकालने की सामर्थ्य न हो।
३. इस्लाम में नयी राहें निकालना।

लन में कठिनाई हो तो फिर उसकी इमामत पर विश्वास न हो सकेगा। इसके दो रूप हैं। प्रथम रूप सुरक्षा की शर्त के निकटतम पहुँचने से संबंधित है। उसे आवश्यक शर्त समझना चाहिए। इसका रूप इस प्रकार है कि इमाम को बन्दी बनाकर ऐसा विवश कर दिया जाय कि वह राज्य-व्यवस्था में पूर्णतः असमर्थ हो जाय। दूसरा रूप यह है कि उसके कुछ सहचर एवं सहायक उसे इस प्रकार से अधिकार में कर लें कि वह राज्यव्यवस्था में हस्तक्षेप करने से असमर्थ हो जाय, किन्तु कोई विद्रोह न कर सके। ऐसी दशा में अधिकार प्राप्त कर लेनेवाले की दशा देखी जाती है। यदि उसका आचरण धर्म के अनुसार है, वह न्यायप्रिय एवं उचित रूप से राजनीति का ज्ञान रखता है, तो ऐसी दशा में उसकी इमामत स्वीकार की जा सकती है और यदि उसकी दशा इसके विरुद्ध है, तो मुसलमानों के लिए पिछले इमाम की सहायता करना अनिवार्य है, ताकि अपहरणकर्त्ता से उसे मुक्ति प्राप्त हो जाय और वह स्वाधीन होकर आज़ादी की साँस ले सके।

(५) अब जहाँ तक क़ुरैशी वंश का संबंध है, तो सक़ीफ़ा[1] में सहाबा[2] इस पर सहमत हो चुके हैं। इस प्रकार अंसार[3] ने जब साद इब्ने उबादह[4] से बैअत करने की इच्छा प्रकट की और कहने लगे कि "एक अमीर हममें से हो और एक तुममें से", तो क़ुरैश ने मुहम्मद साहब के इस कथन पर अपना तर्क आधारित किया कि "इमाम क़ुरैश से होंगे" और यह भी कहा कि मुहम्मद साहब ने हमको यह भी आदेश दिया है कि "हम तुम लोगों में से ऐसों का उपकार करें जो सदाचारी हैं एवं अन्य लोगों का उपकार करते हैं और हम तुम लोगों की भूलों को क्षमा करें।" यदि इमामत तुम्हारा हक़ होता तो मुहम्मद साहब हमको तुम्हारे विषय में यह आदेश क्यों देते। इस वार्त्ता से अंसार संतुष्ट हो गये और उन्होंने पुनः यह न कहा कि "एक अमीर हममें से हो और एक तुममें से" तथा साद बिन उबादा से बैअत करने का विचार भी छोड़ दिया। सहीह बुख़ारी में भी लिखा है कि "यह वस्तु[5] क़ुरैश क़बीले में ही रहेगी।"

१. बनू साइदह का बड़ा कक्ष, जहाँ हज़रत अबू बक्र को ख़लीफ़ा चुना गया।
२. मुहम्मद साहब के सहचर, मित्र।
३. मुहम्मद साहब के मदीने के सहायक।
४. साद बिन उबादह, मुहम्मद साहब के प्रतिष्ठित सहाबी थे। कहा जाता है कि उस समय अरबों में कोई भी उनसे अच्छा लिख-पढ़ न सकता था। उनकी मृत्यु १५ हि० (६३६–३७ ई०) में हुई।
५. ख़िलाफ़त।

संक्षेप में इसी प्रकार के अन्य बहुत से प्रमाण हैं, किन्तु जब क़ुरैश का ज़ोर घटा तो उनकी "असबियत" में भी अन्तर पड़ गया, कारण कि वे भोग-विलास में ग्रस्त हो गये और चारों ओर फैल गये तथा खिलाफ़त का बोझ सहन न कर सके, जिससे अजम ने उन पर अधिकार जमा लिया। वही समस्त अधिकारों के स्वामी बन बैठे। इस परिवर्तन के कारण अधिकांश विद्वानों को भ्रम हो गया और उन्होंने क़ुरैशी की शर्त का निषेध कर दिया। कुछ लोग मुहम्मद साहब के ज़ाहिरी शब्दों से अपने विचारों का समर्थन करने लगे, उदाहरणार्थ मुहम्मद साहब ने कहा है-"सुनो तथा आज्ञाकारी रहो, यद्यपि तुम पर एक अंगूर सरीखा छोटे सिर वाला हबशी दास अमीर बना दिया जाय।" हालाँ कि मुहम्मद साहब के इस कथन द्वारा कोई तर्क नहीं किया जा सकता, कारण कि उन्होंने जो कुछ कहा है वह उदाहरणस्वरूप और इस उद्देश्य से कि अमीर की आज्ञाकारिता का अत्यधिक प्रयत्न करते रहना चाहिए। कभी यह लोग हज़रत उमर के इस कथन[1] को प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं—"यदि अबू हुज़ैफ़ा का दास सालिम[2] जीवित होता तो मैं उसे नियुक्त कर देता", अथवा "...मैं उसके प्रति कोई आपत्ति न प्रकट करता।"

यह कथन भी उनके उद्देश्य के लिए लाभदायक नहीं, कारण कि सहाबी का कथन हमारे लिए प्रमाण नहीं। इसके अतिरिक्त क़ौम का दास भी तो क़ौम में ही सम्मिलित होता है और सालिम की "असबियत" भी तो क़ुरैश की ही "असबियत" थी। ऐसी अवस्थाओं में "असबियत" को ही महत्त्व प्राप्त है। हज़रत उमर के कथन का आधार यह ज्ञात होता है कि जब आपने खिलाफ़त के विषय को अत्यधिक महत्त्व दे दिया और उसकी शर्तें अपने मतानुसार उपस्थित लोगों में से किसी में न पायीं, अपितु सालिम के व्यक्तित्व में ही पायीं, तो आपने सालिम को प्राथमिकता प्रदान कर दी, कारण कि खिलाफ़त की योग्यता के अतिरिक्त क़ुरैश क़बीले की "असबियत" भी उसे प्राप्त थी। इस प्रकार हज़रत उमर का विचार साधारण मुसलमानों के उपकार एवं उन्नति से सम्बन्धित था। वे खिलाफ़त का कार्य ऐसे व्यक्ति को सौंपना चाहते थे जिसमें कोई दोष न हो।

क़ाज़ी अबू बक्र बाक़िल्लानी भी इमाम के लिए क़ुरैशी वंश का होना आवश्यक न समझता था, कारण कि उसने भी अपने युग में यह देखा था कि क़ुरैशी "असबियत"

१. तबरी के अनुसार हज़रत उमर ने मरते समय यह शब्द कहे थे।
२. कहा जाता है कि सालिम मुसलमानों के प्रारम्भिक काल में मदीने में इमाम रहा करता था।

का अन्त हो चुका है और ईरानी मलिकों ने खलीफ़ाओं पर अधिकार जमा लिया है। अतः उन्होंने क़ुरैशी होने की शर्त हटा दी और खारजियों के साथ सहमत होने की ओर ध्यान न दिया। इसका यह कारण है कि उनके युग के खलीफ़ाओं की समस्त दशा उनकी दृष्टि में थी, किन्तु अधिकांश आलिम लोग इसी मत पर दृढ़ रहे कि "इमामत" के लिए क़ुरैशी होना आवश्यक है, चाहे इमाम मुसलमानों का शासनप्रबंध चलाने में असमर्थ ही क्यों न हो। इस बात पर यह आलोचना की गयी कि ऐसी दशा में तो 'योग्यता' की भी शर्त नहीं पूरी होती, कारण कि "असबियत" के समाप्त होने के साथ साथ शक्ति एवं प्रभुत्व का भी अन्त हो जाता है और 'योग्यता' की शर्त भी समाप्त हो जाती है। जब योग्यता का पतन हुआ तो ज्ञान एवं धर्म किस प्रकार सुरक्षित रह सकते हैं। इस प्रकार इमामत की समस्त शर्तें एक साथ समाप्त हो जाती हैं, हालाँ कि यह इजमा के विरुद्ध है। अब हम यहाँ इस बात को स्पष्ट करना चाहते हैं कि वंश की शर्त का क्या रहस्य है, ताकि उपर्युक्त धर्मों में से सच्चे धर्म का पता लगाया जा सके।

यह सच है कि समस्त शरई आदेश विशेष उद्देश्यों पर, जिनके कारण वे मानव-जाति में प्रचलित किये जाते हैं, आधारित होते हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार जब हम क़ुरैशी वंश के सम्बन्ध में जो आदेश दिया गया है, उसके रहस्य का पता लगाने बैठते हैं, तो उसका रहस्य केवल यह नहीं पाते कि इस शर्त में मुहम्मद साहब से सम्बन्ध को सामने रखा गया है और इस सम्बन्ध द्वारा आशीर्वाद प्राप्त करने का विचार है, जैसा कि साधारण लोग समझते हैं। यद्यपि इसका निषेध नहीं किया जा सकता कि क़ुरैशी होने में इस सम्बन्ध को सामने रखा गया है, किन्तु केवल आशीर्वाद शरीअत का उद्देश्य नहीं, अतः इस शर्त का कोई अन्य रहस्य भी होना चाहिए जो वास्तविक उद्देश्य हो। जब बात को और अधिक गहराई से देखा जाय तो "असबियत" पर ही दृष्टि जमती है कि यहाँ इसी को महत्त्व दिया गया है, कारण कि इसी से सहायता एवं मदद की आशा की जाती है और इसी के कारण इमाम के विषय में झगड़ा एवं मतभेद समाप्त हो जाता है और समस्त उम्मत उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेती है तथा पारस्परिक प्रेम एवं स्नेह में कोई अन्तर नहीं पड़ता, कारण कि क़ुरैश का एक ऐसा वंश था जिसे समस्त मुज़र क़बीलों पर प्रभुत्व प्राप्त था। "असबियत" एवं शराफ़त का उसे विशेष सम्मान प्राप्त था और सारा अरब उसकी इस शराफ़त एवं सम्मान से प्रभावित था। इसी के प्रभुत्व को स्वीकार करता था। यदि मुहम्मद साहब क़ुरैश के अतिरिक्त किसी अन्य के लिए इमाम होने का प्रस्ताव रखते तो कुछ दूर न था कि उम्मत में फूट पड़ जाती। अरब क़ुरैशी के अतिरिक्त किसी अन्य के समक्ष कदापि

सिर न झुकाते और उसके विरोध पर तुल जाते। मुज़र के क़बीलों में से कोई भी उनकी रक्षा न कर सकता था और न लोगों को जेहाद के लिए उभार सकता था। फलतः लोगों में विरोध की ख़तरनाक अग्नि भड़क पड़ती और लोग बहुत बड़े विरोध का शिकार हो जाते। मुहम्मद साहब को इसी कलह का बड़ा भय था। वे संगठन पैदा करने के लिए अत्यधिक प्रयत्न करते रहते थे। पारस्परिक फूट एवं विरोध दूर करने के उपाय सोचते रहते थे, ताकि आपस में गहरा संगठन स्थापित हो जाय। "असबियत" की भावनाएँ ज़ोर पकड़ें और एक दूसरे की सहायता एवं सहयोग से भली-भाँति कार्य कर सकें। क़ुरैश में इमामत का पद स्थापित हो जाने से ये समस्त संघर्ष एक साथ समाप्त हो जाते थे, कारण कि वे अपने प्रभुत्व की लाठी से जिस दिशा में चाहते लोगों को घेर ले जाते। किसी के विषय में यह सोचा नहीं जा सकता था कि वह उनसे बदल जायगा अथवा विरोधी हो जायगा, कारण कि विरोध एवं झगड़ा रोकने पर उन्हें पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त था, अतः इसी तथ्य एवं क़ुरैश की अत्यधिक "असबियत" के अधीन इमाम के क़ुरैशी वंश का होने की शर्त लगी,ताकि समस्त मुसलमान संगठन एवं मेल के सूत्र में बंधे रहें और समस्त प्रबंध भली-भाँति सम्पन्न हो सकें। जब शासन एवं इमामत क़ुरैश के हाथ में आ गयीं तो मुज़र नामक क़बीले ने उनका साथ दिया। जब मुज़र साथ हुए तो फिर समस्त अरब, क़ुरैश के समक्ष झुक पड़ा और सभी क़ौमें उनकी आज्ञाकारी बन गयीं। तदुपरान्त इस्लामी सेनाओं ने दूरस्थ स्थानों को पद-दलित कर दिया। इस प्रकार विजयों के युग में यही दशा रही और बनी उमय्या एवं बनी अब्बास के काल में इमामत का यह बढ़ता हुआ गौरव शेष रहा, यहाँ तक कि खिलाफ़त शक्तिहीन हो गयी। अरबी "असबियत" छिन्न-भिन्न हो गयी। जो भी व्यक्ति अरब के इतिहास से भली-भाँति परिचित है और उसके विषय में गहरा अध्ययन किये हुए है, उसे अच्छी तरह ज्ञात है कि क़ुरैश को मुज़र पर कितना प्रभुत्व एवं कितनी श्रेष्ठता प्राप्त थी। इब्ने इसहाक़ ने भी "किताबुस् सियर" में इन समस्त बातों का सविस्तर उल्लेख किया है।

जब यह बात सिद्ध हो गयी कि इमाम के लिए क़ुरैशी की शर्त इस कारण लगायी गयी कि वह अपनी "असबियत" एवं प्रभुत्व से लोगों के विरोध एवं झगड़ों को मिटा डाले, साथ ही साथ हमें यह भी ज्ञात है कि शरा संबंधी आदेश किसी विशेष काल, युग अथवा क़ौम तक सीमित नहीं होते, अतः स्वीकार करना पड़ेगा कि इसी से "योग्यता" की शर्त भी लगायी गयी। "असबियत" दोनों शर्तों के साथ आवश्यक है। इसी कारण हमने मुसलमानों के इमाम के लिए यह शर्त लगा दी कि वह ऐसी क़ौम का व्यक्ति हो

जिसकी "असबियत" उस युग की समस्त "असबियतों" पर भारी हो, ताकि सभी उसके अधीन हो जायँ और फिर सब एक-जान एवं एक-दिल होकर उसकी सहायता करें। इस तथ्य का विरोध नहीं किया जा सकता कि जो "असबियत" क़ुरैश रखते थे, उसका इस युग में कोई उदाहरण नहीं मिल सकता। कारण कि इस्लामी प्रचार का स्रोत वही थे और अरब की समस्त "असबियतें" उनका साथ दे रही थीं, अतः उन्होंने समस्त क़ौमों पर अधिकार जमा लिया, किन्तु अब क़ुरैशी "असबियत" समाप्त हो चुकी है। अब इसके अतिरिक्त क्या उपाय है कि हर देश में उसी व्यक्ति को अमीर तथा इमाम बनाया अथवा स्वीकार किया जाय जिसकी "असबियत" उस देश में शक्तिशाली एवं प्रभुत्व रखती हो।

यदि ख़िलाफ़ते इलाही के रहस्य को समझ लिया जाय तो हमारा कथन असत्य न ज्ञात होगा, कारण कि ईश्वर ने ख़लीफ़ा को इस कारण नियुक्त किया है कि वह प्राणियों के हित की देख-भाल कर सके और उनकी कोई हानि न होने दे। इस विषय में ईश्वर ने उसे अपना प्रतिनिधि बनाया है, उसको इमामत का उत्तरदायित्व सौंपा है। किसी को कोई उत्तरदायित्व उसी समय सौंपा जाता है जब उसमें उसे पूरा करने की शक्ति हो। इस प्रकार इब्नुल ख़तीब[1] ने स्त्रियों के विषय में लिखा है कि स्त्रियाँ बहुत से शरई आदेशों में पुरुषों के अधीन की गयी हैं। उन्हें सीधे सम्बोधित नहीं किया गया है अपितु किसी निष्कर्ष के आधार पर भी उन्हें उन आदेशों में सम्मिलित नहीं किया गया। इसका कारण यह है कि स्त्रियाँ स्वाधीन नहीं अपितु उनके अधिकार की बाग पुरुषों के हाथ में है। इबादतों में निःसन्देह स्त्रियों को सीधे सम्बोधित किया गया है, कारण कि इबादतों का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति अलग रखता है। इस ख़िलाफ़त की समस्या पर दृष्टि न भी डाली जाय तब भी सांसारिक घटनाओं से पता चलता है कि किसी क़ौम तथा क़बीले पर वही व्यक्ति शासन करता है जिसे उन सब पर प्रभुत्व प्राप्त हो। क्योंकि शरई आदेश साधारणतः अनुभव एवं अन्य घटनाओं के विरुद्ध नहीं होते, अतः स्वीकार करना पड़ेगा कि इमाम गौरव तथा "असबियत" वाला ही हो सकता है। "परमेश्वर ही सब कुछ जानता है।"

(२७) इमामत के विषय में शीओं के विभिन्न मत

शब्दार्थ के अनुसार शीआ अनुयायियों एवं सहायकों को कहते हैं। फ़िक़ह एवं

१. मुहम्मद बिन उमर ११४८–४९ अथवा ११४९–५० ई० से १२०९–१० ई० तक। वे फ़ख़ुद्दीन राज़ी के नाम से प्रसिद्ध थे।

कलाम-वेत्ताओं के अनुसार हज़रत अली तथा उनकी संतान के अनुयायियों को शीआ कहा जाता है। समस्त शीआ इस बात पर सहमत हैं कि इमामत सर्वसाधारण के हित संबंधी उन कार्यों में नहीं है जिनका संचालन एवं व्यवस्था आम लोगों की राय पर रखी जा सके, उदाहरणार्थ वे जिसे चाहें चुन लें और इमाम बना लें, अपितु इमामत धर्म के स्तम्भों में एक बहुत बड़ा स्तम्भ है और इस्लाम का वास्तविक आधार है। नबी के लिए यह कदापि उचित नहीं कि वह उसकी उपेक्षा करे और उसे उम्मत की राय पर छोड़ दे कि जिसे वह चाहे इमाम बनाये, अपितु नबी पर इस बात का पूर्ण उत्तरदायित्व है कि इमाम को वह स्वयं नियुक्त करे। फिर इमाम के लिए यह भी आवश्यक है कि वह छोटे और बड़े हर प्रकार के पापों से मुक्त हो।

शीओं का विश्वास है कि हज़रत मुहम्मद, हज़रत अली को इमाम मनोनीत कर चुके थे और इसका प्रमाण वे कुछ उन हदीसों से देते हैं जिनके सूत्र वे ही हैं और जिनकी व्याख्या वे अपने ही धर्म के अनुसार करते हैं। साधारण सुन्नी इन रवायतों के तथ्य से पूर्णतः अपरिचित एवं अनभिज्ञ हैं, अपितु अधिकांश रवायतें, जिनका शीआ लोग उल्लेख करते हैं, जाली तथा बनावटी हैं। उनके रवायत के ढंग में दोष है अथवा वे अपने धर्मानुसार उनका अर्थ समझाते एवं व्याख्या करते हैं।

इसके अतिरिक्त शीआ लोग इस विषय में जिन हदीसों की चर्चा करते हैं, वे उनके मतानुसार दो प्रकार की हैं—एक स्पष्ट दूसरी गर्भित। स्पष्ट का उदाहरण मुहम्मद साहब का यह आदेश है कि "मैं जिसका मौला हूँ, अली भी उसके मौला हैं।" शीओं का कथन है कि इस प्रकार की किसी हदीस का किसी अन्य सहाबी के विषय में पता नहीं। यह विशेषता हज़रत अली को ही प्राप्त है। इस आधार पर हज़रत उमर ने हज़रत अली को सम्बोधित करते हुए कहा कि "आप प्रत्येक मोमिन स्त्री एवं पुरुष के मौला हो गये।"

इसके अतिरिक्त मुहम्मद साहब ने कहा—"तुममें सबसे बड़े न्यायकर्त्ता हज़रत अली हैं। इमामत का उद्देश्य ईश्वर के आदेशों के अनुसार न्याय करना है।" ईश्वर के इन वाक्यों "ईश्वर, उसके रसूल और उसके आदेशों का पालन करो जो तुम्हारा हाकिम हो" का तात्पर्य आपके ही व्यक्तित्व से है, जिनकी आज्ञाकारिता अनिवार्य बतायी गयी है, कारण कि आयत में आज्ञाकारिता का तात्पर्य दैवी आदेशों की आज्ञाकारिता से है। इसी आधार पर सक़ीफ़े[1] के दिन जब इमाम की नियुक्ति की समस्या पर विचार-विनिमय होने लगा तो आपके अतिरिक्त कोई अन्य पंच न हो सका।

१. याक़ूबी के अनुसार हज़रत अली ने स्वयं अपने सहायकों को सक़ीफ़ा में रोक दिया।

इसी प्रकार का एक मुहम्मद साहब का अन्य कथन बताया जाता है—"जो अपनी जान की बाज़ी लगाकर मुझसे बैअत करेगा, मैं उसी के लिए वसीयत करूँगा और वही मेरे बाद मेरे अधिकार का वारिस होगा।" केवल हज़रत अली ने ही इस प्रकार बैअत की।

यह रवायतें स्पष्ट थीं। अब जो रवायतें गार्भित हैं उनका उदाहरण यह है कि जब बराअह नामक[2] सूरा ईश्वर की ओर से आया तो मुहम्मद साहब ने हज के समय उसके पाठ एवं प्रचार हेतु हज़रत अली को नियुक्त किया। सर्वप्रथम मुहम्मद साहब ने हज़रत अबू बक्र को इस उद्देश्य हेतु रवाना किया था, किन्तु आपके पास दैवी आदेश आया कि "आप अपने किसी निकट-संबंधी अथवा क़ौम के किसी सम्मानित व्यक्ति को भेजें", तब आपने हज़रत अली को रवाना किया कि वे उस सूरे का पाठ एवं प्रचार करें। शीओं का मत है कि इस कथन से हज़रत अली की अन्य सहाबियों पर श्रेष्ठता प्रमाणित होती है।

इसके अतिरिक्त वे कहते हैं कि ऐसा कोई उदाहरण नहीं कि मुहम्मद साहब ने हज़रत अली पर किसी सहाबी को प्राथमिकता दी हो। हज़रत अबू बक्र एवं हज़रत उमर पर अन्य लोगों को दो बार प्राथमिकता दी गयी, एक बार हज़रत उसामा[3] बिन ज़ैद को और दूसरी बार अमर आस को। शीओं का मत है कि यह सब घटनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि हज़रत अली ख़िलाफ़त के लिए चुन लिये गये थे।

उपर्युक्त रवायतों के अतिरिक्त वे अन्य रवायतों का भी उल्लेख करते हैं, जो पूर्णतः अप्रसिद्ध एवं अपरिचित हैं और उन रवायतों तथा व्याख्याओं में दूर का भी संबंध नहीं। जो समूह शीओं की उपर्युक्त हदीसों के आधार पर हज़रत अली के इमाम होने पर विश्वास रखता है और उनके उपरान्त उनकी सन्तान के इमाम होने पर, उसे "इमामिया" कहते हैं। वे शेख़ैन[4] से इस आधार पर अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखते कि उन्होंने इन रवायतों के अनुसार न तो हज़रत अली से बैअत की और न उनको इमाम तथा

२. क़ुरान शरीफ़ का ९वाँ सूरा।

३. मुहम्मद साहब ने अपने निधन के पूर्व शाम के विरुद्ध एक सेना तैयार करायी। इस सेना की सरदारी के लिये हज़रत अबू बक्र तथा हज़रत उमर के अतिरिक्त अन्य मुसलमान सरदारों ने भी इच्छा प्रकट की, किन्तु हज़रत मुहम्मद ने उसामह को इस कार्य हेतु चुना।

४. हज़रत अबू बक्र तथा हज़रत उमर।

खलीफ़ा नियुक्त किया। वे शेख़ैन की खिलाफ़त एवं इमामत को स्वीकार नहीं करते। ऐसे कट्टर शीआ जो शेख़ैन में त्रुटियाँ निकालते हैं, उनका कथन हमारे निकट भी और अन्य शीओं के निकट भी असत्य एवं अविश्वसनीय है।

कुछ शीआ ऐसे हैं जो यह कहते हैं कि उपर्युक्त हदीसें हज़रत अली को गुणों के अनुसार नियुक्त करती हैं न कि व्यक्तित्व के अनुसार। अर्थात् उनसे केवल गुणों का पता चलता है जो केवल हज़रत अली में पाये जाते हैं, विशेष व्यक्ति की ओर वे संकेत नहीं करतीं। लोगों ने केवल यह भूल की कि वे उन गुणों को उस व्यक्ति से संबंधित न कर सके जिसमें वास्तव में वे वर्त्तमान थे और अन्य व्यक्ति में उन गुणों के अस्तित्व की कल्पना कर ली। ज़ैदिया फ़िर्क़ेवाले इसी मत के अनुयायी हैं। ये शेख़ैन से अपने संबंध पृथक् नहीं समझते और न उनकी इमामत में दोष निकालते हैं, किन्तु हज़रत अली को शेख़ैन से श्रेष्ठ अवश्य मानते हैं। उनके मतानुसार क्योंकि श्रेष्ठ के होते हुए भी उससे कम की इमामत स्वीकृत है, अतः हज़रत अली की उपस्थिति में वे शेख़ैन की इमामत को ठीक समझते हैं।

हज़रत अली के उपरान्त खलीफ़ाओं का जो क्रम चला उसके विषय में भी शीओं में मतभेद है। कुछ लोग हज़रत फ़ातेमा[1] की संतान में रवायतों के आधार पर खिलाफ़त का क्रम चलाते हैं। ये इमामिया कहलाते हैं, कारण कि इनके निकट इमाम की पहचान एवं उसकी नियुक्ति धार्मिक विश्वास का एक अंग है और इसे ये मूल सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो हज़रत फ़ातेमा की संतान में ही खिलाफ़त का क्रम चलाते हैं किन्तु रवायतों को इसमें कोई स्थान नहीं देते, अपितु चुनाव का आधार शीओं की सूझ-बूझ पर रखते हैं। ये शर्त लगाते हैं कि इमाम विद्वान् हो, ज़ाहिद[2] हो, दानी हो, वीर हो और साथ-साथ अपने सिद्धान्तों का प्रचार भी करे। यह फ़िर्क़ा ज़ैदिया कहलाता है। इस प्रकार ये लोग अपने धर्म का सम्बन्ध ज़ैद[3] बिन अली बिन

१. हज़रत मुहम्मद की पुत्री, हज़रत अली की पत्नी एवं इमाम हसन, हुसेन की माता।
२. तपस्वी
३. ज़ैद बिन अली ज़ैनुल आबेदीन (इमाम) ज़ैदिया फ़िरक़े के संस्थापक। इन्होंने उमय्या राज्य के विनाश के लिए घोर प्रयत्न किये और ७४० ई० के लगभग कई गुप्त योजनाएँ चलायीं।

हुसेन शहीद की ओर बताते हैं। ये ज़ैद अपने भाई मुहम्मद बाक़िर[1] से इस बात पर वाद-विवाद किया करते थे कि इमाम के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी इमामत की घोषणा करे। इमाम मुहम्मद बाक़िर उत्तर देते कि इस दलील से तो स्वयं हमारे तथा तुम्हारे सम्मानित पिता ज़ैनुल आबेदीन[2] भी इमाम नहीं रहते, कारण कि न तो उन्होंने अपनी इमामत का प्रचार किया और न प्रचार का विचार भी कभी उनके हृदय में आया। वे उन्हें मोतज़ेला ने ता वासिल बिन अता[3] का अनुयायी बताते थे। इधर इमामिया ने जब यह देखा कि ज़ैद शेख़ैन की इमामत को स्वीकार करते हैं और उनसे पृथक् नहीं होते, तो वे उनसे पृथक् हो गये और उनकी गणना इमामों में न करते थे। इसी कारण उनको राफ़िज़ा[4] कहा जाता है।

कुछ शीओं का यह मत है कि खिलाफ़त का अधिकार हज़रत अली, हसन तथा हुसेन से होता हुआ मुहम्मद बिन अल हनफ़िया[5] तक पहुँचा और फिर उनसे उनकी संतान की ओर। यह फ़िर्क़ा केसानिया कहलाता है। इस प्रकार वे मुहम्मद बिन अल हनफ़िया के दास केसान[6] से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। फिर इन उपर्युक्त फ़िर्क़ों में थोड़ा-बहुत मतभेद है, जिसे हम इस वर्णन के अधिक बढ़ जाने के भय से छोड़ देते हैं।

१. इमाम मुहम्मद बाक़िर, इमाम ज़ैनुल आबेदीन के पुत्र तथा इमामियों के ५वें इमाम थे। इनका निधन ७३१ ई० में तथा जन्म ६७६ ई० में हुआ था।
२. इमाम हुसेन के पुत्र तथा शीओं के चौथे इमाम। कहा जाता है कि इनकी माता शहर बानू ईरान के बादशाह यज़्द जिर्द तृतीय की पुत्री थी। उनका जन्म ६५७ ई० तथा मृत्यु ७१३ ई० में हुई।
३. वासिल बिन अता अबू हुज़ैफ़ा अल ग़ज़्ज़ाली, मोतज़ेला का मुख्य नेता (जन्म मदीना ६९९–७०० ई०, मृत्यु ७४८–४९ ई०)।
४. पृथक् होनेवाले।
५. हज़रत अली के पुत्र, जिनकी माता बनू हनीफ़ा के क़बीले की थीं। इमाम हुसेन की हत्या का बदला लेने के लिए इन्होंने मुख़्तार को प्रोत्साहन दिया। इनकी मृत्यु ७००–७०१ ई० में हुई।
६. अबू अमरा कैसान बजीला-निवासी एवं शीओं का बहुत बड़ा समर्थक था। उसकी मृत्यु सम्भवतः ६८६ ई० में मज़ार के युद्ध में हुई।

इन शीओं में एक फ़िर्क़ा "ग़ुलात"[१] का है जो बुद्धि एवं धार्मिक (इस्लाम के) विश्वास के क्षेत्र से बाहर हो गया है और इमामों में उलूहियत[२] को मानता है। इनमें भी मतभेद है। एक समूह कहता है कि इमाम लोग स्वयं तो मनुष्य हैं किन्तु उनमें दैवी गुण भी पाय जाते हैं। कुछ लोगों का मत है कि ईश्वर इन इमामों के व्यक्तित्व में प्रविष्ट हो गया है। उनका यह धार्मिक विश्वास ईसाइयों के उस धार्मिक विश्वास से मिलता-जुलता है जो वे हज़रत ईसा के विषय में रखते हैं। हज़रत अली को जब ऐसे मार्गभ्रष्टों का पता चला तो आपने उनको आग में जलवा दिया। इसी प्रकार मुहम्मद बिन हनफ़िया को जब यह ज्ञात हुआ कि मुख़्तार बिन उबैद[३] इसी प्रकार के "उलूहियत" के विचार रखता है, तो आपने उस पर लानत की और उससे अपना कोई सम्बन्ध न होने की घोषणा की। इसी प्रकार एक रवायत हज़रत जाफ़रे सादिक़[४] के विषय में भी बतायी जाती है कि आपने जब ऐसे मार्गभ्रष्टों के समाचार सुने तो उन पर लानत की और उनसे कोई मतलब न रखने की घोषणा की।

इनमें एक फ़िर्क़े का धार्मिक विश्वास है कि इमाम की निपुणता किसी अन्य व्यक्ति को, जो इमाम नहीं है, नहीं प्राप्त होती। उनके मतानुसार जब किसी इमाम की मृत्यु हो जाती है तो उसकी आत्मा किसी दूसरे इमाम में प्रविष्ट हो जाती है, ताकि उसमें भी वही निपुणता उत्पन्न हो जो पहले इमाम में थी। यह फ़िर्क़ा मानो आवागमन पर विश्वास रखता है।

ग़ुलात में से एक फ़िर्क़ा वाक़िफ़िया के नाम से प्रसिद्ध है। यह इमामत के अधिकार को एक ही व्यक्ति में सीमित समझता है और उसके अतिरिक्त किसी अन्य को इमाम नहीं मानता। अब इनमें से भी कुछ लोगों का यह विश्वास है कि इमाम जीवित हैं

१. अतिशयवादी।
२. दैवी गुणों।
३. मुख़्तार बिन अबी उबैद अल सक़फ़ी, जिसने इमाम हुसेन के हत्यारों से बदला लेने के लिए ६६ हि० (६८५–८६ ई०) में कूफ़े पर अधिकार जमा लिया। उसकी मृत्यु १४ रमज़ान ६७ हि० (३ अप्रैल ६८७ ई०) को हुई।
४. इमाम जाफ़रे सादिक़, इमाम मुहम्मद बाक़िर के पुत्र, इमाम हुसेन के पौत्र तथा इमामियों के छठे इमाम थे। इनका जन्म लगभग ७०२ ई० में मदीने में हुआ और ७६५ ई० में मृत्यु हुई।

किन्तु दृष्टि से ओझल है, और हज़रत खिज़्र[1] की कहानी को दलील के रूप में प्रस्तुत करते हैं। कुछ लोग यही विचार हज़रत अली के विषय में भी रखते हैं कि वे अब तक जीवित हैं और बादल में मौजूद हैं। गरज आपकी ध्वनि और विद्युत् आपका कोड़ा है। वे मुहम्मद बिन अल हनफ़िया के विषय में भी इसी प्रकार के विचार रखते हैं कि वे हिजाज़ के भूभाग में जबले रिज़वा में जीवित हैं।......[2]

इमामिया फ़िर्क़े में से जो लोग ग़ुलात हैं, विशेष रूप से असना अशरी[3], तो वे भी बारहवें इमाम मुहम्मद बिन हसन असकरी के, जिनकी उपाधि महदी है, सम्बन्ध में यही विचार एवं विश्वास रखते हैं कि वे हिल्ला (इराक़) में अपने घर के तहखाने में अपनी माता सहित अदृश्य हो गये और संसार के अन्तिम काल में प्रकट होकर संसार को न्याय एवं इंसाफ़ से भर देंगे। वे अपने मत की पुष्टि में तिरमिज़ी की वह हदीस प्रस्तुत करते हैं जो इमाम महदी के विषय में है। अभी तक उनको उन महदी के प्रकट होने का इंतज़ार है, यहाँ तक कि उन्होंने उनका नाम भी मुंतज़िर रखा है। ये लोग प्रत्येक रात्रि में एशा[4] की नमाज़ के उपरान्त घोड़ा लेकर तहखाने के द्वार पर खड़े हो जाते हैं और उनका नाम लेकर उन्हें पुकारते हैं और प्रकट होने के विषय में आग्रह करते हैं। जब अंधेरा हो जाता है और तारे निकल आते हैं तो इस विषय को आगामी रात्रि के लिए स्थगित करके घरों को लौट जाते हैं। अब तक उनका यही दैनिक कार्य-क्रम है।

वाक़िफ़या फ़िर्क़े में कुछ ऐसे लोग हैं जिनका कथन है कि जिन इमामों की मृत्यु हो चुकी है, वे पुनः जीवित होंगे। इसके उदाहरण में वे असहाबे कहफ़[5] की कहानी (उस व्यक्ति की कहानी जो एक ग्राम में पहुँचा तथा बनी इसराईल के उस व्यक्ति की, जिसकी हत्या हो चुकी है, क़हानी) प्रस्तुत करते हैं, जिस पर दैवी आदेश से ज़िबह किये हुए बैल की हड्डी मारी गयी थी और जिसका उल्लेख क़ुरान शरीफ़ में हो चुका है। वे इसी प्रकार की अस्वाभाविक घटनाएँ प्रस्तुत करते हैं जो चमत्कार के रूप में किसी समय घटी थीं और उन्हें प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत करना अनुचित है।......[6]

१. एक पैग़म्बर जिनके विषय में धार्मिक विश्वास है कि वे सर्वदा जीवित रहेंगे।
२. इस स्थान पर कुछ अशआर दिये गये हैं जिनका अनुवाद नहीं किया गया।
३. हज़रत अली की संतान से १२ इमामों के अनुयायी।
४. रात्रि की अन्तिम अनिवार्य नमाज़।
५. सात सोनेवाले, इनकी कहानी का क़ुरान शरीफ़ में उल्लेख है।
६. कुछ अशआर, जिनका अनुवाद नहीं किया गया।

बड़े-बड़े शीआ लोग स्वयं इन ग़ाली शीओं से सहमत नहीं अपितु इनके विचारों का खंडन करते हैं। इस प्रकार शीओं ने मानो हमको ग़ाली शीओं के विचारों के खंडन से मुक्त कर दिया और इसका भार स्वयं ही अपने कंधों पर ले लिया। केसानी, मुहम्मद बिन हनफ़िया के उपरान्त उनके पुत्र अबू हाशिम की इमामत से सहमत हैं और इसी कारण वे हाशिमिया के नाम से प्रसिद्ध हैं। अबू हाशिम के उपरान्त इमामत में फिर इनका मतभेद है। कुछ लोगों का कथन है कि इनके उपरान्त इमामत इनके भाई अली को प्राप्त हुई, फिर उनके पुत्र हसन बिन अली को। दूसरे कहते हैं कि अबी हाशिम की जब शरह[1] के भू-भाग में मृत्यु हो गयी तो उन्होंने मुहम्मद बिन अली बिन अब्दुल्लाह बिन अब्बास के लिए इमामत की वसीयत की, और मुहम्मद ने अपने पुत्र इबराहीम के लिए, जो इमाम के नाम से प्रसिद्ध हैं, और इबराहीम ने अपने भाई अब्दुल्लाह बिन अल हारिसिया के लिए, जिनकी उपाधि सफ़्फ़ाह थी, और उन्होंने अपने भाई अबू जाफ़र अब्दुल्लाह के लिए, जिनकी उपाधि मंसूर थी, वसीयत की। फिर इसी प्रकार उनकी संतान में से एक के बाद दूसरा इमाम होता रहा। यह धार्मिक विश्वास उन हाशिमियों का है जो अब्बासियों के राज्य के समर्थक थे। अबू मुस्लिम, सुलेमान इब्ने कसीर, अबू सलेमा खल्लाल तथा प्रारम्भिक अब्बासी शीओं की भी इन्हीं में गणना होती है। किसी समय वे अपने विचारों की इस प्रकार पुष्टि करते हैं कि इमामत का अधिकार उनको हज़रत अब्बास द्वारा पहुचता है, जो मुहम्मद साहब की मृत्यु के समय जीवित थे और चाचा होने के कारण खिलाफ़त के सबसे अधिक पात्र थे।

ज़ैदिया का धार्मिक विश्वास यह है कि इमामत का निर्णय प्रभावशाली व्यक्तियों की सूझ-बूझ पर निर्भर है। नस्स[2] का इससे कोई संबंध नहीं। ये लोग सर्वप्रथम हज़रत अली की इमामत को स्वीकार करते हैं, फिर उनके पुत्र इमाम हसन की, फिर इमाम हसन के भाई हज़रत हुसेन को इमाम मानते हैं, फिर कहते हैं कि इमामत उनसे इमाम ज़ैनुल आबेदीन तक पहुँची और उनसे उनके पुत्र ज़ैद बिन अली को, जो ज़ैदिया फ़िर्क़े के संस्थापक थे, पहुँची। उन्होंने कूफ़े में पहुँचकर इमाम होने का दावा किया किन्तु उन्हें कनासा में शूली दे दी गयी। उनकी मृत्यु के उपरान्त ज़ैदिया ने उनके पुत्र यहया को इमाम स्वीकार कर लिया जो खुरासान चले गये और जूज़जान में उनकी

१. सम्भवतः शाम के बेलक़ा के भू-भाग में।
२. शरा के वे आदेश जो पूर्ण रूप से स्पष्ट हों और उनमें किसी प्रकार का मतभेद न हो।

हत्या कर दी गयी। उन्होंने मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह बिन हसन बिन हसन मुहम्मद साहब के नाती को, जो नफ़से ज़किया[1] के नाम से प्रसिद्ध हैं, इमाम नियुक्त किया। वे हिज़ाज़ पहुँच गये और महदी की उपाधि धारण कर ली। फिर उन्हें मंसूर की सेना ने बन्दी बना लिया और उनकी हत्या कर दी गयी। वे अपने भाई इबराहीम को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर गये। वे बसरा में प्रकट हुए और ईसा बिन ज़ैद बिन अली ने उनकी सहायता की। मंसूर ने उनके मुक़ाबले के लिए भी सेनाएँ भेजीं। फलतः इबराहीम तथा ईसा दोनों की हत्या कर दी गयी। हज़रत जाफ़र सादिक़ ने इन घटनाओं की पूर्व से ही भविष्यवाणी कर दी थी, जिसे उनका चमत्कार समझा जाता है।

कुछ (ज़ैदियों) का मत है कि मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह नफ़से ज़किया के बाद इमामत मुहम्मद बिन अल-क़ासिम बिन अली बिन उमर को प्राप्त हुई। ये उमर, ज़ैद बिन अली के भाई थे। मुहम्मद बिन अल-क़ासिम तालिक़ान पहुँच गये, किन्तु बन्दी बनाकर उन्हें मोतसिम के पास पहुँचा दिया गया। मोतसिम ने उन्हें बन्दी बना दिया और बन्दीगृह में ही उनकी मृत्यु हो गयी।

कुछ ज़ैदियों का यह मत है कि यहया बिन ज़ैद के उपरान्त इमामत उनके भाई ईसा को प्राप्त हुई जिन्होंने इबराहीम बिन अब्दुल्लाह के साथ होकर मंसूर से युद्ध किया था। इन शीओं के मतानुसार, इमामत उन्हीं के वंश में चलती रही और ज़ंगियों[2] ने भी, जैसा कि हम आगे चलकर उल्लेख करेंगे, उनकी इमामत का प्रचार किया।

कुछ ज़ैदियों का मत है कि मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह के बाद इमाम इदरीस[3] हुए जो मग़रिब की ओर चल दिये और वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। तदुपरान्त उनके पुत्र इदरीस असग़र उनके उत्तराधिकारी हुए। उन्होंने फ़ास[4] नगर बसाया। फिर उन्हीं की संतान मग़रिब में सिंहासनारूढ़ हुई। यहाँ तक कि एक दिन उनका भी विनाश हो गया। इसका उल्लेख हम उनके इतिहास में करेंगे। इसके उपरान्त ज़ैदिया फ़िर्क़े वाले छिन्न-भिन्न हो गये।

१. पवित्र आत्मा।
२. हबशियों।
३. इदरीस प्रथम बिन अब्दुल्लाह, मग़रिब के हज़रत अली के समर्थकों के राज्य के संस्थापक। इनकी मृत्यु जुलाई ७९३ ई० में हुई।
४. फ़ेज़।

इसके उपरान्त ज़ैदियों में से हसन बिन ज़ैद बिन मुहम्मद बिन इस्माईल बिन हसन बिन ज़ैद बिन हसन (मुहम्मद साहब के नाती) तथा उनके भाई मुहम्मद बिन ज़ैद दाई[1] बनकर उठे और तबरिस्तान के स्वामी बन गये। फिर दैलम में नासिर तरूश ने इस दावत को ज़िंदा किया और समस्त दैलम उनका अनुयायी हो गया। नासिर का नाम वास्तव में हसन बिन अली बिन हसन बिन अली बिन उमर था और वे ज़ैद बिन अली के भाई थे। नासिर के उपरान्त तबरिस्तान में उनकी संतान में राज्य चलता रहा और दैलम को उन्हीं के कारण राज्य प्राप्त हुआ। तदुपरान्त उन्होंने बग़दाद के खलीफ़ाओं पर भी, जैसा कि हम उनके इतिहास में उल्लेख करेंगे, प्रभुत्व प्राप्त कर लिया।

अब इमामिया के विषय में सुनिए। वे इमामत का क्रम इस प्रकार मानते हैं— हज़रत अली के उपरान्त उनकी वसीअत द्वारा उनके पुत्र हसन, फिर उनके भाई हुसेन, फिर उनके पुत्र ज़ैनुल आबेदीन, फिर उनके पुत्र मुहम्मद बाक़िर, फिर उनके पुत्र जाफ़रे सादिक़। यहाँ से मतभेद के कारण वे दो समूहों में विभाजित हो गये हैं। एक फ़िर्क़ा हज़रत जाफ़र के उपरान्त उनके पुत्र इस्माईल को इमाम मानता है। इसी फ़िर्क़े को इस्माईलिया कहते हैं। दूसरा फ़िर्क़ा हज़रत जाफ़र के पुत्र मूसा काज़िम को इमाम स्वीकार करता है। यह फ़िर्क़ा असना अशरिया[2] के नाम से प्रसिद्ध है, कारण कि ये लोग इमामत के क्रम को १२ इमामों पर समाप्त कर देते हैं और कहते हैं कि १२वें इमाम संसार के अन्त तक लोगों की दृष्टि से ओझल रहेंगे।

इस्माईलिया का कथन है कि इस्माईल[3] अपने पिता जाफ़र की प्रामाणिक "नस्स" द्वारा इमाम नियुक्त हुए थे। इस्माईल की मृत्यु यद्यपि अपने पिता के पूर्व हो चुकी थी, किन्तु इन लोगों का मत है कि "नस्स" का उद्देश्य यह था कि इमामत का क्रम उन्हीं की संतान में चले, जैसा कि मूसा नबी एवं हारून नबी की कहानियों द्वारा ज्ञात होता है। कहा जाता है कि इस्माईल के उपरान्त उनके पुत्र मुहम्मद अल मकतूम[4] में इमामत पहुँची, जो गुप्त रहनेवाले इमामों में सबसे पहले इमाम थे। उनका मत है कि यदि

१. बुलानेवाला, विशेष रूप से इस्लाम के विभिन्न फ़िर्क़ों का प्रचारक।
२. १२ इमामों का अनुयायी।
३. इमाम जाफ़रे सादिक़ के ज्येष्ठ पुत्र, जिनकी मृत्यु उनके पिता की मृत्यु के ५ वर्ष पूर्व मदीने में ७६०–६१ ई० में हुई।
४. छिपे हुए।

इमाम शक्तिशाली न हो तो वह गुप्त ही रहता है और उसके अनुयायी उसका प्रचार करते हैं और अन्य लोगों को उसका अनुयायी बनाते हैं। इमाम जब शक्तिशाशी होता है तो खुले आम अपना प्रचार करता है। इस्माईलिया के अनुसार मुहम्मद अल मकतूम के पश्चात् उनके पुत्र जाफ़र अल मुसद्दिक़ इमाम हुए। उनके बाद उनके पुत्र मुहम्मद अल हबीब और वे गुप्त इमामों में अन्तिम इमाम हैं। उनके उपरान्त उनके पुत्र उबैदुल्लाह अल-महदी इमाम हुए। अबू अब्दुल्लाह शीई ने कुतामा में खुल्लम-खुल्ला प्रचार किया और लोगों ने उसका साथ देना प्रारम्भ कर दिया और उसके प्रचार का समर्थन किया। वे महदी को सिजिलमासह की क़ैद से निकाल लाये और कुछ ही दिनों में क़ैरवान एवं मग़रिब का राज्य भी महदी को प्राप्त हो गया। फिर महदी की संतान मिस्र पर शासन करती रही।

इस्माईल की इमामत को स्वीकार करने के कारण उन्हें इस्माईलिया कहा जाता है। क्योंकि वे लोग इमामे बातिन[1] के सिद्धान्त को भी मानते हैं, अतः उन्हें बातिनिया भी कहते हैं। उन्हें मलाहेदा की उपाधि इस कारण दी गयी कि उनके धार्मिक विश्वास एवं मत मलाहेदा[2] तथा ज़िन्दीक़ों से मिलते हैं। इनके विश्वास कुछ प्राचीन हैं और कुछ नवीन। पाँचवीं शताब्दी हि०[3] के अन्त में हसन बिन मुहम्मद अस् सब्बाह ने इस धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया और शाम तथा इराक़ के कुछ क़िलों पर भी अधिकार जमा लिया और फिर उसका प्रचार इसी प्रकार चलता रहा, यहाँ तक कि मिस्र में तुर्कों ने और इराक़ में तातारियों ने उनका अन्त कर दिया। इस सब्बाह के प्रचार का सविस्तर उल्लेख शहरस्तानी की "मिलल वन् नहल" में दिया हुआ है।

इनमें से असना अशरी फ़िर्क़े को बाद के लोग इमामिया के नाम से पुकारते हैं। उनका कथन है कि इस्माईल के अपने पिता जाफ़रे सादिक़ के जीवनकाल में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाने के कारण उनके भाई मूसा काज़िम अपने पिता की प्रामाणिक "नस्स" के अनुसार इमाम नियुक्त हुए। फिर उनके पुत्र अली रिज़ा इमाम माने गये, जिनको मामून ने अपना उत्तराधिकारी बनाया था, किन्तु इनकी मामून के राज्यकाल ही में मृत्यु हो गयी, अतः इन्हें राज्य करने का अवसर न मिल सका। फिर मुहम्मद तक़ी

१. गुप्त।
२. इस्लाम के विरोधी, अधर्मी।
३. ११वीं शताब्दी ईसवी।

उनके पुत्र इमाम स्वीकार किये गये। उनके बाद उनके पुत्र अली हादी, फिर उनके पुत्र मुहम्मद हसन असकरी, फिर उनके पुत्र मुहम्मद महदी मुंतज़िर इमाम नियुक्त हुए।

शीओं के यही धार्मिक विश्वास अधिक प्रसिद्ध हैं, यद्यपि इनमें भी कहीं कहीं अधिक मतभेद हैं, किन्तु उनके प्रसिद्ध न होने के कारण उनका उल्लेख नहीं किया गया। यदि किसी को इससे भी अधिक इनका सविस्तर उल्लेख आवश्यक हो तो वह इब्ने हज़म की "किताबुल मिलल वन् नहल" एवं शहरस्तानी तथा अन्य लोगों के ग्रन्थों का अध्ययन करे। इनमें उसे संतोषजनक हाल मिलेगा।

"ईश्वर जिसे मार्गभ्रष्ट करना चाहता है उसे मार्गभ्रष्ट करता है और जिसका पथ-प्रदर्शन करना चाहता है, उसका पथ-प्रदर्शन करता है।"[1]

(२८) ख़िलाफ़त ने किस प्रकार सल्तनत का रूप धारण किया

समझ लेना चाहिए कि राज्य एवं सल्तनत "असबियत" का स्वाभाविक परिणाम हैं,जिसमें किसी की इच्छा का कोई स्थान नहीं। "असबियत" के अस्तित्व से ही उसकी आवश्यकता का प्रमाण मिलता है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि शरा एवं धर्म संबंधी आंदोलन अथवा अन्य साधारण आन्दोलन "असबियत" के बिना नहीं चल पाते, कारण कि समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति "असबियत" के बिना नहीं होती। इस प्रकार "असबियत" क़ौम के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। इसी से ईश्वर के आदेशों का संसार में पालन होता है। इसी तथ्य के आधार पर "सहीह" नामक हदीस में यह चर्चा की गयी है—"ईश्वर ने कोई ऐसा नबी नहीं भेजा जिसे उसकी क़ौम वालों का समर्थन न प्राप्त हो।" एक ओर तो यह बात, दूसरी ओर शरा में "असबियत" की निंदा की गयी है और उस पर ध्यान न देने की सलाह दी गयी है। उदाहरणार्थ कहा गया है कि "अल्लाह ताला ने तुम्हारी जाहिलियत की उद्दंडता एवं कुल के अभिमान को मिटा दिया। तुम सब आदम की संतान हो और आदम मिट्टी से पैदा हुए हैं।[1]" इसी प्रकार अल्लाह ने कहा है कि "तुममें अल्लाह की दृष्टि में विश्वस्त वही है जो अधिक धर्मनिष्ठ हो।[1]" साथ ही साथ सल्तनत एवं सल्तनत वालों की निन्दा भी की गयी है और उनके द्वारा जो अनुचित परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है,जिसके फलस्वरूप लोग अधिकांश अपव्यय एवं दुराचार में पड़ जाते हैं, उसकी बुराई भी की गयी है। धार्मिक प्रेम एवं स्नेह स्थापित रखने पर ज़ोर दिया गया है

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

और विरोध एवं शत्रुता को बड़ी कठोरता से रोका गया है। फिर यह भी स्पष्ट रहना चाहिए कि यह लोक-परलोक तक पहुंचने की सवारी है। जिसकी सवारी खो जाय वह अपने निर्धारित लक्ष्य तक किस प्रकार पहुँच सकता है। अब जिन सांसारिक बातों एवं कार्यों की निंदा की गयी है अथवा उनके आचरण का शरीअत द्वारा निषेध हुआ है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि उन बातों एवं कार्यों को पूर्णतः त्याग दिया जाय और उनका आचरण ही न किया जाय, जिन शारीरिक अंगों द्वारा ये कार्य सम्पन्न होते हैं उनको बेकार डाल दिया जाय, अपितु इसका उद्देश्य यह है कि सांसारिक कार्यों का मुख यथा-शक्ति एवं यथासम्भव उचित एवं ठीक उद्देश्यों की ओर फेर दिया जाय, ताकि समस्त कार्य भली-भाँति सम्पन्न हो सकें और एक ही उद्देश्य के अधीन वे संसार में प्रकट हों, जैसा कि मुहम्मद साहब ने कहा है—"जिसने अल्लाह तथा उसके रसूल के लिए हिजरत की उसकी हिजरत निःसन्देह अल्लाह एवं उसके रसूल के लिए है और जिसने संसार की प्राप्ति अथवा किसी स्त्री के लिए हिजरत की, उसकी हिजरत इन्हीं वस्तुओं के लिए है न कि अल्लाह एवं रसूल के लिए।" उदाहरणार्थ यदि शरा में क्रोध की निंदा की गयी है तो इसका उद्देश्य यह नहीं कि क्रोध की शक्ति का ही अन्त कर दिया जाय, कारण कि यदि मनुष्य के क्रोध की शक्ति पूर्णतः समाप्त हो जाय तो फिर वह सत्य की सहायता कैसे कर सकेगा, जिहाद किस प्रकार करेगा, अल्लाह के कलमे[1] का प्रचार किस प्रकार होगा। केवल उस क्रोध की निंदा की गयी है जो शैतानी भावनाओं के अधीन हो और जिससे शैतानी उद्देश्यों की पूर्ति हो। अतः क्रोध यदि शैतानी मार्ग में हो तो बुरा है और यदि अल्लाह के लिए है तथा सत्य के कारण एवं सत्य की सहायतार्थ, तो उचित एवं प्रशंसनीय है। मुहम्मद साहब के स्वभाव में भी क्रोध पाया जाता था।

यही बात वासनाओं के विषय में कही जा सकती है। यदि शरीअत में वासनाओं की निंदा की गयी है तो इसका यह उद्देश्य कदापि नहीं कि वासनाओं का समूल उच्छेद कर दिया जाय, कारण कि यदि यह शक्ति पूर्णतः समाप्त हो जाय तो मनुष्य के अधि-कारों की रक्षा में दोष आ जायगा, अपितु इसकी निंदा का उद्देश्य यह है कि वासनाओं से शिष्टजन-स्वीकृत एवं प्रशंसनीय मार्गों में काम लिया जाय। ताकि मनुष्य अपने आपको ऐसा आज्ञाकारी दास सिद्ध करे जिसके समस्त कार्य एवं कर्त्तव्य दैवी आदेशों के क्षेत्र में हों।

इसी प्रकार यदि "असबियत" की निंदा इन शब्दों में की गयी है कि "तुम्हारे

१. इस्लामी कलमा—"ला इलाहा इल्लल्लाह मुहम्मदुर्रसूलल्लाह।"

संबंधी, निकटवर्ती एवं संतान कदापि तुम्हें कोई लाभ न पहुँचायेंगी", तो इससे उस "असबियत" की निंदा की गयी है जो असत्य एवं अस्वीकृत मार्गों तथा दुराचार में प्रयोग की जाय। जैसा कि जाहिलियत के युग में प्रथा थी कि "असबियत" के अभिमान में वे एक-दूसरे पर अनुचित गर्व करते थे अथवा किसी पर व्यर्थ में अपना हक़ जताते थे, कारण कि यह व्यर्थ बात है जिससे परलोक में कोई लाभ सम्भव नहीं। जो "अस बियत" सत्य के मार्ग में काम आये और उसके बल पर दैवी आदेश संसार में प्रचलित हों तो वह निःसन्देह प्रशंसनीय है। यदि यही "असबियत" मिट जाय तो शरीअतें भी मिट जायँ, कारण कि शरीअतों का अस्तित्व एवं उनकी वास्तविकता "अस बियत" से ही पूर्ण होती है।

यही दशा सल्तनत की भी है कि शारे[1] ने जहाँ-जहाँ इसकी निंदा की है तो वह इस कारण कदापि नहीं कि सल्तनत के ज़ोर से संसार में सत्य का प्रचार न हो। सबको दीन एवं धर्म की ओर आकृष्ट किया जाय और अन्य धार्मिक बातों का भी ध्यान रखा जाय, कारण कि इस दृष्टि से सल्तनत पूर्ण रूप से आशीर्वाद एवं लाभ का भंडार है, ईश्वर की छाया है, वह बुरी किस कारण हो सकती है। हाँ यदि वह बुरी है तो इसी कारण कि सल्तनत की आड़ में असत्य का ज़ोर बढ़े, मनुष्यों को अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों एवं अभिलाषाओं के आधार पर तंग किया जाय। इसके विपरीत यदि शासनप्रबंध का यह उद्देश्य हो कि संसार में सच्ची "खिलाफ़ते इलाही" की व्यवस्था की जाय, लोगों को ईश्वर की इबादत तथा अल्लाह के लिए जिहाद के वास्ते तैयार किया जाय, तो इस प्रकार के राज्य की किसी तरह निन्दा नहीं की जा सकती। हज़रत सुलेमान ने राज्य की जो इच्छा की और ईश्वर से यह प्रार्थना की कि "हे ईश्वर! मुझे ऐसा राज्य दे जो मेरे बाद किसी को न प्राप्त हो सके।"[2] तो यही पवित्र उद्देश्य उनके समक्ष था और वे असत्य एवं झूठ से मुक्त थे।

इसी प्रसंग में यह ऐतिहासिक घटना भी ध्यान देने योग्य है कि हज़रत उमर जब शाम के दौरे पर पहुँचे और हज़रत मुआविया उनके सम्मुख शाहाना ऐश्वर्य एवं वैभव तथा वस्त्र धारण करके उपस्थित हुए, तो हज़रत उमर को हज़रत मुआविया की यह सजधज अच्छी न लगी और कहा—"मुआविया! क्या यह किसरा की प्रथा है?"

१. मुहम्मद साहब से तात्पर्य है।

२. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

उन्होंने उत्तर दिया कि "अमीरुल मोमिनीन ! मैं ऐसे सीमान्त पर नियुक्त हूँ जहाँ शत्रु मेरे अत्यधिक निकट हैं। युद्ध जिहाद, तथा ऐश्वर्य एवं वैभव द्वारा उन्हें आतंकित करने की आवश्यकता है।" यह उत्तर सुनकर हज़रत उमर मौन हो गये। क्योंकि मुआविया ने अपने कार्य को सत्य एवं धर्म के उद्देश्यों पर आधारित किया, अतः हज़रत उमर ने उनकी बात का विरोध नहीं किया। अब यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सल्तनत यदि पूर्णतः त्याग देने योग्य एवं घृणित होती तो हज़रत उमर मुआविया के इस उत्तर को स्वीकार न करते जो उन्होंने अपनी शहंशाहियत के गौरव के स्पष्टीकरण में प्रस्तुत किया, अपितु उसको त्याग देने का आदेश दे देते। उधर हज़रत उमर ने जो यह कहा कि "मुआविया ! क्या यह किसरा की प्रथा है ?" इससे फ़ारस वालों की झूठ की पूजा, अत्याचार, निष्ठुरता, विद्रोह, मार्ग-भ्रष्ट होने, ईश्वर की उपेक्षा की बुरी आदत की ओर संकेत था, जिन पर वे अपने राज्यकाल में आचरण करते थे। इसी बात का उत्तर मुआविया ने दिया कि "इस ज़ाहिरी ऐश्वर्य तथा वैभव से मेरा उद्देश्य फ़ारस वालों के समान झूठ की पूजा एवं भोग-विलास नहीं, अपितु धार्मिक उद्देश्य है और उसी पर इस आचरण का आधार है।" यह उत्तर सुनकर हज़रत उमर चुप हो गये।

सम्मानित सहाबा का भी यही हाल था कि वे राज्य एवं शासन से बचा करते थे और उसके दुष्परिणामों को सामने रखकर उनसे दूर रहने का प्रयत्न करते रहते थे कि कहीं झूठ की पूजा एवं भोग-विलास का अपराध उन पर न लग जाय। इस प्रकार जब मुहम्मद साहब की मृत्यु का समय निकट आया तो आपने नमाज़ की इमामत के लिए हज़रत अबू बक्र को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया, कारण कि धार्मिक बातों में वही सबसे अधिक अग्रणी थे। फिर इस घटना को दृष्टि में रखकर लोगों ने आपको ख़लीफ़ा चुन लिया, किन्तु ख़िलाफ़त का उत्तरदायित्व केवल यहीं तक सीमित था कि लोगों को शरई आदेशों का पाबंद किया जाय। जिस प्रकार का राज्य उस युग के असत्यवादियों में प्रचलित था, उसकी किसी को कल्पना तक न थी। उन राज्यों से झूठों की उन्नति के भय से हज़रत अबू बक्र ने ख़िलाफ़त का उत्तरदायित्व सँभाला और मुहम्मद साहब के आदेशों का भली-भाँति पालन किया। मुर्तिदों[1] से जिहाद किया, यहाँ तक कि समस्त अरब इस्लामी सूत्र में बँध गया।

तदुपरान्त आपने ख़िलाफ़त का भार हज़रत उमर के कंधों पर रखा और हज़रत

१. उन लोगों से, जिन्होंने इस्लाम स्वीकार करने के उपरान्त उसे त्याग दिया था।

उमर भी आपके ही पदचिह्नों पर चले। संसार की क़ौमों से युद्ध करके आपने उन्हें पराजित किया। फिर अरब ने आपके नेतृत्व में अन्य देशवालों की धन-सम्पत्ति छीन ली। फिर ख़िलाफ़त का उत्तरदायित्व हज़रत उमर से हज़रत उस्मान को प्राप्त हुआ और आपसे हज़रत अली को। ये सब सम्मानित ख़लीफ़ा लोग प्रचलित सल्तनत से दूर का भी सम्बन्ध न रखते थे। सल्तनत से इतनी दूर रहने का कारण उनकी धर्मनिष्ठा थी जो सरल जीवन का पाठ पढ़ाती थी। दूसरा कारण उनका अरबी बदवीपन, जिसके कारण वे भोग-विलास से दूर रहे। अरब वाले उस समय सांसारिक बातों एवं भोग-विलास से कोई संबंध न रखते थे। उनका धर्म भी उन्हें इसकी अनुमति न देता था, कारण कि धर्म उनको सांसारिक आनन्दों एवं भोग-विलास से दूर रखता था, उनकी "बदवियत" एवं उनकी वासभूमि भी इसके लिए अनुपयुक्त थी। वे प्रारम्भ से ही एक सरल जीवन के आदी हो गये थे और उसी को वे पहचानते थे। भोग-विलास से उनका क्या सम्बन्ध? इसी कारण कहा जाता है कि कोई भी क़ौम मुज़र के समान कठिन और गरीबी का जीवन व्यतीत करने की आदी न थी, कारण कि वे हिजाज़ के बिना चारे और जल वाले भू-भाग में पैदा हुए थे और हरे-भरे स्थानों की समृद्धि एवं भोग-विलास से अनभिज्ञ थे। ऐसे स्थान उनसे अत्यधिक दूरी पर स्थित थे। उन पर रबीआ एवं यमन के क़बीले अधिकार जमाये थे। इसी लिए वे उनकी नक़ल नहीं कर सकते थे। वे गोबरैला तथा बिच्छू खाया करते थे। ऊँट का ऊन रक्त में पकाकर खाते और इस पर गर्व करते थे। क़ुरैश की खाने-पीने एवं रहन-सहन की भी दशा यही थी। यहाँ तक कि जब अल्लाह ताला ने उनको हज़रत मुहम्मद के पवित्र व्यक्तित्व द्वारा संगठित किया और क़ुरैश में ही आपको भेजकर उन्हें सम्मानित किया तो पूरे अरब की "असबियत" धर्म की सेवा के लिए सिमट आयी और फिर वे एक-जान एवं एक-दिल होकर फ़ारस एवं रूम की क़ौमों पर टूट पड़े और अल्लाह ताला ने अपने सच्चे वचन से उनके भाग्य में जो राज्य एवं सांसारिक धन-सम्पत्ति लिख दी थी, वह उन्हें प्राप्त हो गयी। फिर तो समृद्धि ने अरबों का घर देख लिया और धन-सम्पत्ति इस सीमा तक आने लगी कि किन्हीं-किन्हीं युद्धों में एक-एक अश्वारोही के हिस्से में ३०–३० हज़ार अशरफ़ियाँ अथवा इसके लगभग आ जाती थीं। संक्षेप में उन्होंने इतनी धन-सम्पत्ति एकत्र की जिसकी कोई सीमा नहीं, किन्तु शिक्षा ग्रहण करने योग्य तो यह बात है कि इस पर भी उन्होंने अपना सरल एवं नीरस जीवन नहीं त्यागा। इसी लिए कहा जाता है कि हज़रत उमर अपने वस्त्रों में चमड़े का पेवंद लगा लेते थे और हज़रत अली कहा करते—"हे सोने-चाँदी! मेरे अतिरिक्त किसी अन्य को

जाकर बहकाओ।" अबू मूसा[1] मुर्ग़ का मांस नहीं खाया करते थे, कारण कि अरब में मुर्ग़ों के कम मिलने के कारण वे उसके आदी न थे। आटा चालने के लिए चलनी की तो प्रथा ही न थी और वे बिना छना आटा खाया करते थे।

उनका जीवन जहाँ एक ओर इतना सरल था वहाँ दूसरी ओर उनकी आय एवं धन-संपत्ति इतनी अधिक थी कि वे संसार के अन्य धनी लोगों से मुक़ाबला करते थे। इस प्रकार मसऊदी हज़रत उसमान के राज्यकाल के विषय में लिखता है कि उस समय सहाबा बड़ी-बड़ी जागीरों एवं धन-सम्पत्ति के स्वामी बन गये थे और हज़रत उस्मान के शहीद हो जाने के पश्चात् उनके ख़जाने में १½ लाख दीनार तथा १० लाख दिरहम वर्त्तमान थे। क़ुरा एवं हुनैन की घाटियों में जो आपकी जागीर थी, वह भी २ लाख दीनार से कम न थी। इनके अतिरिक्त आपने अत्यधिक ऊँट-घोड़े छोड़े थे। ज़ुबैर[2] की मृत्यु के उपरान्त उनके तरके का मूल्य ५० हज़ार दीनार था। इसके अतिरिक्त १००० घोड़े तथा १००० दासियाँ और भी थीं। तलहा के समय इराक़ की दैनिक आय १००० दीनार थी और अश् शहरह् के भू-भाग की आय इससे भी अधिक बतायी गयी है। अब्दुर्रहमान बिन औफ़ के अस्तबल में १००० घोड़े, १००० ऊँट तथा १०,००० भेड़ें मौजूद थीं और मृत्यु के उपरान्त उनकी छोड़ी हुई सम्पत्ति ८४ हज़ार दीनार मूल्य की ज्ञात हुई। ज़ैद बिन साबित ने १ लाख दीनार की जागीर तथा बहुत कुछ नक़द छोड़ा। चाँदी-सोने की ईंटें इसके अतिरिक्त थीं। ज़ुबैर ने बसरा, मिस्र, कूफ़ा तथा इस्कन्दरिया में बड़े-बड़े भवनों का निर्माण कराया। इसी प्रकार तलहा ने भी कूफ़े में अपने लिए भवन बनवाये और मदीने में चूने एवं ईंटों से अपने लिए एक नया घर बनवाया। साद बिन अबी वक़्क़ास ने (मदीने के समीप) में अपने लिए एक भव्य भवन का अक़ीक़ निर्माण कराया। इसका प्रांगण बड़ा लम्बा-चौड़ा और उसकी ऊपरी मंज़िल

१. अबू मूसा अशअरी, इस्लाम के प्रारम्भिक काल के बड़े प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ हुए हैं। जुलाई ६५७ ई० में सिफ़्फ़ीन का युद्ध रुक जाने के बाद उन्हें हज़रत अली एवं मुआविया का निर्णय कराने के लिए पंच नियुक्त किया गया था। उनकी मृत्यु कूफ़े में ४२ हि० (६६३-६२ ई०) अथवा ५२ हि० (६७२ ई०) में हुई।

२. ज़ुबैर बिन अल अव्वास उन लोगों में थे जो मुहम्मद साहब के इस्लाम के प्रचार के प्रारम्भ होते ही मुसलमान हो गये थे। उनकी मृत्यु जमल के युद्ध (दिसम्बर, ६५६ ई०) में हुई।

में झरोखे रखवाये। मिक़दाद[1] ने मदीने में अपने लिए भवन का निर्माण कराया, जिसके भीतर और बाहर चूने का पलस्तर भी था। याला बिन मुनयह[2] ने ५० हज़ार दीनार नक़द तथा जागीर छोड़ी। उसकी धन-सम्पत्ति का मूल्य ३ लाख लगाया गया।

इन समस्त तथ्यों को सामने रखकर इसका ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है कि मुसलमानों की धन-सम्पत्ति उस समय किस सीमा तक पहुँच चुकी थी, किन्तु यह भी स्मरण रहे कि यह सम्पत्ति दीन (इस्लाम) खोकर नहीं प्राप्त की गयी थी और न दीन के आदेशों के विरुद्ध। यह सब कुछ उन्हें युद्ध की लूट में प्राप्त हुआ था। उन्होंने इसमें कोई अपव्यय नहीं किया, अपितु संयम को सर्वदा ध्यान में रखा, अतः यह अपार धन-सम्पत्ति सम्मानित सहाबा के उत्कृष्ट व्यक्तित्व में कोई दोष उत्पन्न न कर सकी। अब सांसारिक धन-सम्पत्ति की बहुतायत की जो निंदा की जाती है इसका कारण यह है कि उसका अपव्यय किया जाता है और उसके कारण लोगों में असंयम का सूत्रपात होता है। किंतु यदि धन-सम्पत्ति की अधिकता के बावजूद संयम न त्यागा जाय और व्यय उचित रूप से धर्म के मार्ग में ही हो, तो धन की अधिकता धर्म के मार्ग पर चलने में सहायता देती है और परलोक के लाभ का साधन बनती है। अतः जब अरब की "बद-वियत" एवं दरिद्रता अपनी चरम सीमा को प्राप्त हो गयी और "असबियत" के कारण उन्हें राज्य प्राप्त हो गया एवं ऐश्वर्य तथा गौरव हासिल हुआ, तो सल्तनत के समान, समृद्धि एवं अधिक धन-सम्पत्ति प्राप्त कर लेने के कारण उन्होंने दुराचार की ओर क़दम नहीं बढ़ाया और सत्य एवं न्याय के मार्ग को नहीं त्यागा। इस प्रकार जब हज़रत अली एवं मुआविया में "असबियत" के आधार पर विरोध की अग्नि भड़क उठी तो उन्होंने अपने युद्धों[3] में कभी भी सांसारिक लोभ, झूठ एवं द्वेष को, जैसा कि कुछ लोगों को भ्रम हो जाता है, अपने सामने न रखा। वास्तव में यह एक "इजतेहादी विरोध"[4] था और प्रत्येक अपने इजतेहाद के प्रकाश में दूसरे को ग़लती पर बताता था, इसी कारण दोनों

१. मिक़दाद बिन् अल-असवद की मृत्यु ३३ हि० (६५३–५४ ई०) में हुई।
२. मुनयह याला की माता अथवा दासी थी। याला उमय्या का पुत्र था।
३. सिफ़्फ़ीन का युद्ध के बाद भी हज़रत अली तथा मुआविया का संघर्ष, हज़रत अली के खिलाफ़त के काल के अन्त तक चलता रहा।
४. प्रस्तुत परिस्थिति को अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार समझकर शरा की पृष्ठ-भूमि में निर्णय।

पक्ष आपस में टकरा गये। यह बात स्वीकार की जा सकती है कि हज़रत अली सत्य के मार्ग पर थे, किन्तु मुआविया भी किसी झूठे उद्देश्य से उनके मुक़ाबले में नहीं आये। उनकी दृष्टि के समक्ष भी सत्य की खोज थी यद्यपि उन्होंने सत्य की प्राप्ति में भूल की। इसी प्रकार सभी मुसलमान अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य पर आरूढ़ थे। किसी में भी असत्य की ज़िद न थी।

जब इस अशान्ति के समाप्त होने के उपरान्त गौरव एवं श्रेष्ठता सुल्तान के अकेले व्यक्तित्व में केन्द्रित हो गयी और सियाह-सफ़ेद का अधिकार एक व्यक्ति के हाथ में चला गया तो मुआविया अपने एवं अपनी क़ौम के पद-गौरव एवं सम्मान को न त्याग सके। यह एक स्वाभाविक बात थी, जिसका कारण "असबियत" थी। उधर बनी उमय्या तथा उनके सहायकों ने, जो सत्य के पालन के कारण मुआविया का साथ न दे रहे थे, इस बात को समझ लिया तो उन्होंने मुआविया की सहायता में कोई कसर उठा न रखी और जान तक की बाज़ी लगा दी। यदि मुआविया अपने आचरण को बदलते और सल्तनत की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके लोगों का विरोध करते तो जो संगठन उन्होंने पैदा किया था, वह समाप्त हो जाता। हालाँ कि सल्तनत की आवश्यकताएँ एवं संगठन तथा मेल उन घटनाओं की अपेक्षा, जो पेश आयीं, कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे, उनके कारण किसी बड़े विरोध का भय न रहा। इस प्रकार उमर इब्न अब्दुल अज़ीज़,[1] क़ासिम बिन मुहम्मद बिन अबू बक्र[2] को देखकर कहा करते थे कि यदि मेरा बस चलता तो मैं इनको खिलाफ़त देता। यदि वे क़ासिम को उत्तराधिकारी नियुक्त करना चाहते तो कर भी सकते थे, किन्तु जो बनी उमय्या अधिकारसम्पन्न हो गये थे, उनसे वे डरते थे कि बनी उमय्या के हाथ से राज्य निकल जाने पर कहीं उनमें विरोध एवं मतभेद न हो जाय। ये सब सल्तनत के खेल हैं जिनका आधार "असबियत" है।

इस पूरे वर्णन का निष्कर्ष यह निकला कि जब सल्तनत प्राप्त होती है और एक ही व्यक्ति राज्य के पूरे संगठन का अकेला स्वामी एवं सियाह-सफ़ेद का मालिक हो जाता है और सत्य एवं सिद्धान्त को अपनी सल्तनत में से नहीं त्यागता, तो ऐसी सल्तनत की कोई भी निंदा नहीं करता। इस प्रकार हज़रत सुलेमान एवं उनके पिता हज़रत दाऊद बनी इसराईल के स्वतंत्र शासक थे, हालाँ कि दोनों ही ईश्वर के सम्मानित नबी एवं सत्य तथा

१. उमय्या वंश का ९वाँ खलीफ़ा, जो ७१७ ई० से ७२० ई० तक खलीफ़ा रहा। वह अपने पवित्र जीवन के लिए बड़ा प्रसिद्ध था।

२, खलीफ़ा अबू बक्र का पोता, जिसकी मृत्यु ७२० तथा ७३० ई० के मध्य में हुई।

सिद्धान्त के सच्चे अनुयायी थे। इसी प्रकार मुआविया ने यज़ीद को अपना उत्तराधिकारी बनाया। यदि ऐसा न करते तो अशांति उत्पन्न हो जाती, कारण कि बनी उमय्या अपने वंश से सल्तनत का किसी अन्य वंश में जाना किसी मूल्य पर सहन न कर सकते थे। यदि मुआविया किसी अन्य को अपना उत्तराधिकारी बनाते तो बनी उमय्या स्वयं उन पर टूट पड़ते, चाहे उनके साथ इसके पूर्व उनके कितने ही अच्छे सम्बन्ध क्यों न थे। उनके गुणों में किसी को सन्देह न था। इसके विरुद्ध मुआविया के विषय में कुछ सोचना इनसाफ़ का ख़ून करना है, कारण कि वे यज़ीद के व्यभिचार एवं दुराचार को जानते हुए उसको अपना उत्तराधिकारी कभी न नियुक्त करते।

इसी प्रकार मरवान बिन अल हकम[1] तथा उसके पुत्र यद्यपि बादशाह थे, किन्तु बादशाहत से उनका उद्देश्य झूठ की पूजा, विद्रोह एवं उपद्रव को उन्नति देना कदापि न था, अपितु वे यही प्रयत्न करते रहे कि राज्य में सत्य एवं न्याय का प्रचार हो, सदाचरण एवं परोपकार की उन्नति हो। किन्तु विशेष परिस्थितियों में उनके द्वारा ऐसे कार्य सम्पन्न हो गये जो इसके विरुद्ध दृष्टिगत होते हैं, किन्तु उन्हें इसका भय था कि कहीं ऐसा न करने से क़ौम का संगठन भंग न हो जाय। संगठन एवं मेल उनके निकट समस्त बातों पर सर्वोपरि था। हमने जो इस ऐतिहासिक तथ्य की चर्चा की उसका प्रमाण उनके द्वारा सुन्नत एवं दीन के पालन के उदाहरणों से मिल जायगा, जिनका विवरण बुज़ुर्गों के प्रामाणिक तथा प्रचलित इतिहास से प्राप्त होता रहा है। उदाहरणार्थ अब्दुल मलिक[2] के आचरण को ध्यान में रखकर इमाम मालिक सरीखे महान् व्यक्ति ने अपने "मोता" नामक ग्रंथ में तर्क के आधार पर समर्थन करते हुए उसे प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया। मरवान को ताबेईन[3] की प्रथम श्रेणी में माना गयाहै, उसका न्याय बड़ा प्रसिद्ध है। फिर अब्दुल मलिक की संतान में राज्य चलता रहा और वे भी धर्म के सम्बन्ध में अपने पूर्वजों की श्रेणी के समझे जाते थे। उन्हीं के हाथ में उमर बिन अब्दुल अज़ीज़ का राज्य आया। वे प्रथम चारों ख़लीफ़ाओं के समान ख़िलाफ़त

१. उमय्या वंश का चौथा ख़लीफ़ा, जो ६८४ ई० से ६८५ ई० तक लगभग २९८ दिन ख़लीफ़ा रहा।

२. अब्दुल मलिक बिन मरवान, उमय्या वंश का ५वाँ ख़लीफ़ा। वह ६८५ ई० से ७०५ ई० तक ख़लीफ़ा रहा। उसका राज्य विभिन्न विजयों के लिए प्रसिद्ध है।

३. वे लोग जो मुहम्मद साहब के बाद की दूसरी पीढ़ी में थे।

चलाने का प्रयत्न करते रहे और सहाबा का अनुसरण करने में बाल बराबर भी पीछे नहीं हटे।

उनके उपरान्त ऐसे लोगों को प्रभुत्व प्राप्त हुआ जिन्होंने सल्तनत से अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं एवं सांसारिक उद्देश्यों में लाभ उठाना चाहा। उन्होंने अपने पूर्वजों के संयम एवं संतुलन को त्याग दिया। उनके समान उन्होंने हर बात में सत्य की खोज की चिंता त्याग दी। जब उनके स्वभाव में इतना बड़ा परिवर्तन आ गया तो लोग भी उनके कार्यों एवं आचरण से घृणा करने लगे। तदुपरान्त अब्बासियों के राज्य के प्रचार की पताका उन्नत हुई और राज्य बनी अब्बास के अधीन हो गया। ये लोग भी प्रारम्भ में न्याय के उच्च स्तर पर दृढ़ रहे और सल्तनत का पूरा ज़ोर सत्य एवं धर्म की उन्नति में लगाया और इसमें कोई कसर उठा न रखी। यहाँ तक कि जब रशीद की संतान का राज्यकाल आया तो उनमें से कुछ सदाचारी थे और कुछ दुराचारी। फिर जब उस संतान की संतान को राज्य प्राप्त हुआ तो उनके भोग-विलास की कोई सीमा न रही और वे सांसारिक आनन्द एवं दुराचार में डूब गये तथा धर्म को पीछे डाल दिया। ऐसी अवस्था में अल्लाह ने भी उन्हें विनाश के घाट उतार दिया और सभी अरबों से हुकूमत की बागडोर छीन ली और अन्य लोगों को प्रभुत्व प्रदान कर दिया। अब जो इतिहास का अध्ययन करते समय भूतकाल के ख़लीफ़ाओं एवं बादशाहों का हाल तथा उनका परस्पर भेद पढ़ेगा कि कोई सत्य पर मिटता है और कोई झूठ पर प्राण त्यागता है, तो वह हमारे विवरण के तथ्य को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता।

मसऊदी[1] ने बनी उमय्या के विषय में अबू जाफ़र अल मंसूर के कथन के आधार पर उल्लेख किया है कि अल मंसूर के दरबार में उसके चाचाओं ने बनी उमय्या की चर्चा की तो अबू जाफ़र भरे दरबार में बोल उठा कि "अब्दुल मलिक एक निरंकुश व्यक्ति था। जो चाहता कर डालता। सुलेमान इन्द्रिय-लोलुपता के वश में था और उमर 'अंधों में काना राजा' था। इनमें यदि कोई व्यक्ति था तो हिशाम था उसने फिर यह भी कहा कि बनी उमय्या ने जब तक अल्लाह के दिये हुए राज्यप्रबंध को कुशलतापूर्वक थामे रखा और उन्नति की ओर अग्रसर होते हुए वे अनुचित बातों को त्यागते रहे, उस समय तक उनकी दशा अच्छी रही, किन्तु जब उनकी विलास-प्रिय संतान का युग आया तो उनकी दृष्टि एवं उनके विचार इन्द्रिय-लोलुपता की ओर आकृष्ट हो गये और वे नाना प्रकार के पापों में ग्रस्त हो गये और यह न समझे कि अल्लाह ने उनकी

१. मुरूजुज़ ज़हब।

रस्सी ढीली छोड़ रखी है, इसी लिए वे अल्लाह् की उपेक्षा करने की ओर ध्यान न देकर असावधान हो गये। ख़िलाफ़त की रक्षा का ध्यान त्याग दिया। राज्य के उत्तरदायित्व को साधारण बात समझने लगे और राजनीति के क्षेत्र में बड़ी अयोग्यता का परिचय देने लगे। जब यह् दशा हो गयी तो अल्लाह् ने भी उनसे सम्मान को छीनकर अपमान के वस्त्र उनको पहना दिये और अपनी देन से उन्हें वंचित कर दिया।

फिर अब्दुल्लाह् बिन मरवान को दरबार में उपस्थित किया गया। उसने एक घटना का उल्लेख किया जो नोबा के बादशाह् तथा उससे संबंधित थी। उसने बताया कि जब मैं भागकर नोबा पहुँचा और कुछ समय तक वहाँ ठहरा रहा तो एक दिन नोबा का बादशाह् मेरे पास आया। मैंने यद्यपि उसके लिए बहुमूल्य एवं उत्तम फ़र्श बिछवाया था, किन्तु वह आकर भूमि पर ही बैठ गया। मैंने पूछा कि "आप मेरे बिछाये हुए फ़र्श पर किस कारण नहीं बैठते?" तो उसने उत्तर दिया कि "मैं बादशाह् हूँ और प्रत्येक बादशाह् का कर्त्तव्य है कि यतः ईश्वर ने उसको उच्च श्रेणी प्रदान की है अतः वह अल्लाह् के गौरव को प्रकट करे और स्वयं दीनता एवं नम्रता ज़ाहिर करे।" फिर उसने मुझसे पूछा कि "तुम लोग मदिरा-पान क्यों करते हो, जब कि अल्लाह् ताला ने तुम्हारे धार्मिक ग्रंथों में इसका निषेध किया है?" मैंने कहा कि "यह् पाप हमारे दास, सेवक इत्यादि अज्ञान के कारण करते हैं।" उसने फिर पूछा कि "तुम कृषि को घोड़े की टापों से क्यों रौंदते हो, हालाँ कि उपद्रव फैलाने का तुम्हारी शरीअत में निषेध किया गया है।" मैंने उत्तर दिया कि "यह पाप भी हमारे दासों एवं सेवकों ने अज्ञान में किया।" उसने कहा—"अच्छा तुम रेशमी वस्त्र किस कारण धारण करते हो और सोने-चाँदी के आभूषणों का क्यों प्रयोग करते हो, हालाँ कि यह् सब चीज़ें तुम्हारे धर्म में निषिद्ध हैं।" मैंने कहा कि "जब राज्य हमारे हाथ से निकलने लगा तो हमने अजम से, जो हमारे धर्म में आ चुके थे, सहायता ली। वे इन वस्तुओं का हमारी इच्छा के विरुद्ध प्रयोग करते हैं।" मेरे उत्तर सुनकर वह हाथ से भूमि कुरेदने लगा और कहने लगा कि "क्या ख़ूब! जो कुछ किया वह तुम्हारे दासों, सेवकों एवं उन अजमियों ने किया जो तुम्हारे धर्म में प्रविष्ट हो गये थे।" फिर उसने सिर उठाकर कहा—"जो कुछ तुमने बताया वह सत्य के विरुद्ध है। सत्य तो यह है कि तुमने अल्लाह् की हराम की हुई वस्तुओं को हलाल कर लिया और जिन बातों का उसने निषेध कर दिया है, उन्हें पसन्द कर प्रयोग करते हो। अपने राज्य में तुमने अत्याचार को प्रश्रय दिया, फलतः अल्लाह् ने तुम्हें जो सम्मान प्रदान किया था, वह तुमसे छीन लिया और अपमान के वस्त्र तुमको पहनाये। अब भी दैवी प्रकोप अपनी चरम सीमा को नहीं पहुँचा

है। मुझे भय है कि कहीं ईश्वर का कोप तुम्हारे ऊपर इसी समय न टूट पड़े, जब कि तुम हमारे नगर में ठहरे हुए हो तो कहीं हम भी तुम्हारे साथ न पिस जायँ और पाप में ग्रस्त हो जायँ। आतिथ्य केवल तीन दिन तक होता है। मार्ग-व्यय मुझसे ले लो और मेरे राज्य से चले जाओ।" इस पर मंसूर ने बड़ा आश्चर्य प्रकट किया तथा सोच में पड़ गया।

अब तुमने देख लिया कि खिलाफ़त सल्तनत में कैसे परिवर्तित हुई और यह भी जान लिया कि प्रारम्भ में केवल खिलाफ़त थी और प्रत्येक व्यक्ति पर उसके धर्म का राज्य था। संसार की प्रत्येक वस्तु के मुक़ाबले में वे धर्म का पालन करते थे चाहे इससे वे नष्ट ही क्यों न हो जाते। हज़रत उस्मान का उदाहरण प्रस्तुत है कि जब आप अपने घर में घिर गये, तो हज़रत हसन, हज़रत हुसेन, अब्दुल्लाह बिन उमर, इब्ने जाफ़र तथा अन्य लोग प्रतिरक्षा हेतु आपके पास पहुँचे, किन्तु हज़रत उस्मान ने मुसलमानों के विरुद्ध तलवार निकालने से रोक दिया। उन्हें केवल यही भय था कि कहीं मुसलमानों में संघर्ष न हो जाय और उस प्रेम एवं स्नेह का अन्त न हो जाय जिससे मुसलमानों ने धर्म की रक्षा की थी, यद्यपि युद्ध से रोक देना स्वयं उनकी हत्या का कारण बन गया, किन्तु उन्होंने इसकी कोई चिन्ता न की।

दूसरा उदाहरण हमारे सामने हज़रत अली का मौजूद है कि जब प्रारम्भ में आपकी खिलाफ़त पर बैअत की गयी तो मुग़ीरह[1] ने आपको परामर्श दिया कि जुबैर, मुआविया एवं तलहा को अपने-अपने स्थान पर नियुक्त रहने दिया जाय, यहाँ तक कि सब लोग आपकी बैअत से सहमत और समस्त मुसलमान संगठित हो जायँ। इसके उपरान्त आपकी जो इच्छा हो करें। वास्तव में राजनीति की दृष्टि से यह उचित था, किन्तु हज़रत अली ने इस परामर्श के अनुसार आचरण करना स्वीकार न किया, कारण कि छल एवं धूर्तता को इस्लाम में स्वीकृति नहीं दी गयी है। दूसरे दिन जब मुग़ीरह आये तो कहने लगे कि "मैंने कल जो आपको परामर्श दिया था उस पर जब मैंने पुनः ग़ौर किया तो ज्ञात हुआ कि वह उचित न था और आपका मत ही ठीक था।" इस पर हज़रत अली ने उत्तर दिया कि "नहीं, मुझे भली-भाँति ज्ञात है कि तुम्हारा कल का परामर्श उचित था और आज की बात मिलावट से शून्य नहीं, किन्तु मैं क्या करूँ। तुम्हारे परामर्श पर आचरण करने से मुझे सत्य रोकता है।" इन बुजुर्गों की वास्तव में यही दशा थी कि धर्म के सुधार के लिए वे सांसारिक हानि सहन कर लेते

१. मुग़ीरह बिन शोबा (मृत्यु ६६८–६७१ ई० के मध्य में), हज़रत उमर की खिलाफ़त के काल में कुछ समय तक बसरे का हाकिम रहा।

थे। एक हम हैं कि जो अपना धर्म नष्ट करके सांसारिक लाभ की चिन्ता करते हैं। फिर न धर्म ही बाक़ी रहता है और न संसार ही प्राप्त होता है।

इन ऐतिहासिक घटनाओं से यह अनुमान लगा लिया गया होगा कि ख़िलाफ़त किस प्रकार राज्य में परिवर्तित हो गयी और ख़िलाफ़त का केवल यह अर्थ रह गया कि "वह धर्म की रक्षा और सत्य के मार्गों के पालन का नाम है।" किन्तु उस समय तक यही परिवर्तन हुआ था कि दीन एवं शरीअत के राज्य के स्थान पर राजनीतिक शासन स्थापित हुआ था। आगे चलकर तो "असबियत" एवं तलवार ने समस्त अधिकार अपने हाथ में ले लिये। प्रथम दशा बनी उमय्या में मुआविया एवं मरवान से अब्दुल मलिक तक और बनी अब्बास में सफ़्फ़ाह से रशीद तथा उसकी किसी सदाचारी संतान तक चलती रही। फिर खिलाफ़त कर्त्तव्य छोड़कर केवल नाम मात्र की ही रह गयी और सल्तनत प्रचलित हो गयी। प्रभुत्व एवं शक्ति अपनी चरम सीमा को पहुँच गयी। इसका प्रयोग क्रोध एवं आतंक को शान्त करने एवं सांसारिक इच्छाओं तथा इन्द्रिय-लोलुपता की पूर्ति के लिए होने लगा। राज्य का यही रूप अब्दुल मलिक की संतान एवं रशीद के अब्बासी उत्तराधिकारियों में प्रचलित हुआ। अरब की "असबियत" के बाक़ी रहने के कारण खिलाफ़त का नाम चलता रहा। तथ्य कुछ न था। ख़िलाफ़त एवं सल्तनत इन युगों में समान रूप धारण किये हुए थीं, किन्तु जब अरबी "असबियत" का अन्त हुआ तो क़ौमवालों की योग्यता भी समाप्त हो गयी। स्थिति के परिवर्तन के कारण खिलाफ़त का नाम भी मिट गया और अब केवल सल्तनत एवं राज्य रह गये।

पूर्व में ईरानी बादशाहों की जो शान थी वह यहाँ भी प्रकट हुई। वे केवल आशीर्वाद हेतु ख़लीफ़ा के आज्ञाकारी थे और हर प्रकार से राज्य दूसरों के अधिकार में था। ख़लीफ़ा का इससे कोई सम्बन्ध न था। ज़नाता सुल्तानों ने मग़रिब में यही किया सिनहाजा का उबैदीईन से यही सम्बन्ध था। मग़रावा तथा बनू यफ़रान के उन्दुलुस के उमय्या ख़लीफ़ाओं एवं क़ैरवान के उबैदीईन से यही संबंध थे।

इस विवरण का निष्कर्ष यह निकला कि सर्वप्रथम खिलाफ़त रही। सल्तनत एवं शासन की उसमें झलक तक न थी। फिर आगे चलकर दोनों परस्पर मिल-जुल गये और मिश्रित हो गये। फिर और आगे बढ़कर केवल सल्तनत रह गयी। यह उस समय हुआ जब कि देश की "असबियत" एवं खिलाफ़त की "असबियत" पृथक् हो गयी। "ईश्वर ही रात और दिन निकालता है।"[1]

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

(२९) बैअत

ज्ञात होना चाहिए कि बैअत, आज्ञाकारिता हेतु प्रतिज्ञा करने का नाम है। इस प्रकार बैअत करनेवाला अपने अमीर[1] से प्रतिज्ञा करता है कि वह अपने व्यक्तिगत एवं मुसलमानों के समस्त कार्यों में अमीर के अधिकारों को स्वीकार करेगा और वह उसका किसी विषय में विरोध न करेगा और अमीर की ओर से उसे जो आदेश प्राप्त होगा, चाहे वह उसकी इच्छा के अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल, वह उसका पूर्णरूप से पालन करेगा। फिर यह प्रथा चली आ रही है कि जब अमीर से बैअत करते और वचनबद्ध होते हैं तो हाथ में हाथ देते हैं, ताकि वचन और भी दृढ़ हो जाय। यह कार्य मानो बेचनेवाले एवं क्रय करनेवाले के समान है, अतः इसका नाम बैअत रखा गया, जो "बाअह" धातु से बना है, अतः बैअत का अर्थ हाथ मिलाना हुआ। शब्दकोश एवं शरा के अनुसार बैअत का तथ्य यही है।

हदीस में जो लैलतुल अक़बा व शजरा[2] की बैअत का उल्लेख है, तो उसका अर्थ यही बैअत है, अथवा जहाँ कहीं बैअत शब्द आता है वहाँ इसके अर्थ यही होते हैं। बैअतुल ख़ुलफ़ा[3] एवं ऐमानुल बैअह[4] भी इसी प्रकार की चीज़ है। ख़लीफ़ाओं की आदत थी कि बैअत में प्रतिज्ञा कराते और फिर शपथ द्वारा उसकी पुष्टि कराते थे। इसी को ऐमानुल बैअह कहा जाता था और इसी के लिए अधिकांश लोगों से आग्रह किया जाता था। इसी कारण जब इमाम मालिक से इस शपथ के विषय में फ़तवा[5] लिया गया तो आपने फ़तवा दिया कि इसको बैअत से पृथक् कर देना चाहिए, किन्तु विभिन्न राज्यों के शासकों ने इसे स्वीकार न किया। फिर इमाम साहब को भी इस फ़तवे के कारण बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

हमारे युग में जो प्रथा प्रचलित है वह ईरानी शाहाना अभिवादन से मिलती

१. हाकिम।
२. अक़बा की रात्रि में तथा वृक्ष पर, अक़बा वह स्थान है जहाँ मुहम्मद साहब ने मक्के से मदीने की हिजरत के पूर्व भेंट की थी और मदीने वालों ने वृक्ष के नीचे बैअत की थी।
३. ख़लीफ़ाओं से बैअत।
४. बैअत के सम्बन्ध में निष्ठा की घोषणा।
५. किसी कर्म के उचित अथवा अनुचित होने के सम्बन्ध में मुफ़्ती या आलिम द्वारा शरा के अनुसार दी गयी व्यवस्था।

जुलती है, उदाहरणार्थ लोग भूमि, हाथ, पाँव अथवा दामन का चुम्बन करते हैं और इसी आचरण को बैअत कहा जाता है। यह वास्तव में एक प्रकार की आज्ञाकारिता की प्रतिज्ञा है, कारण कि अभिवादन भी आज्ञाकारिता के प्रदर्शन का एक साधन है। प्रयोग होते होते यही बैअत का ढंग वास्तविक बैअत में परिणत हो गया। फिर इसमें हाथ मिलाने की आवश्यकता भी, जो बैअत की वास्तविक द्योतक है, ज़रूरी न समझी जाने लगी। कारण कि प्रत्येक साधारण एवं विशेष व्यक्ति से हाथ मिलाना राजकीय गौरव एवं सम्मान के प्रतिकूल समझा जाने लगा, जिसकी रक्षा बादशाह के लिए परमावश्यक थी। हाँ, कभी ऐसा होता है कि बादशाह सम्मानित करने की दृष्टि से अपने विशेष व्यक्तियों एवं धार्मिक आलिमों से हाथ मिलाते हैं। अतः हमारे शब्दों में बैअत का अर्थ, जिसका ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है, स्पष्ट हो गया होगा, कारण कि सुल्तान एवं इमाम की बैअत तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

(३०) वली अहदी

इस बात का हम उल्लेख कर चुके हैं कि इमामत में शरा सम्बन्धी तथ्य होता है और इसमें बड़े रहस्य निहित हैं। इसमें तथ्य केवल इतना है कि उम्मत के धार्मिक एवं सांसारिक हितों पर ग़ौर करके उनका उचित प्रबंध किया जाय। इस अर्थ के अधीन इमाम उम्मत का वली हुआ और उसका रक्षक, जो अपने समस्त जीवन-काल में अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखता है, जो कुछ उसकी मृत्यु के उपरान्त घटने की सम्भावना है उसका प्रबन्ध भी वह यथासम्भव एवं यथाशक्ति अपने जीवनकाल ही में कर देता है। उदाहरणार्थ उम्मत की देख-भाल के लिए वह अपना एक ऐसा उत्तराधिकारी नियुक्त कर जाता है, जिस पर उम्मत को ऐसा ही विश्वास होता है जिस प्रकार उस पर था। शरीअत में उम्मत की "इजमा" द्वारा इस आचरण (वली अहद नियुक्त करने) का उचित होना सिद्ध हो जाता है। कारण कि हज़रत अबू बक्र ने सम्मानित सहाबा के मजमे में हज़रत उमर को अपना उत्तराधिकारी एवं वली अहद नियुक्त किया। इसको समस्त सहाबा ने उचित समझा और हज़रत उमर की आज्ञाकारिता अपने लिए आवश्यक समझी। इसी प्रकार हज़रत उमर ने अपने निधन के पूर्व वली अहद की नियुक्ति की समस्या अशरये मुबश्शेरा[1] में से शेष छः सहाबियों पर छोड़ी कि जैसा वे उचित समझें करें और

१. मुहम्मद साहब के १० सहाबी, जिनके विषय में कहा जाता है कि वे अवश्य ही स्वर्ग में जायेंगे।

मुसलमानों के लिए कोई भी इमाम छाँट लें। अन्त में चुनाव का अधिकार अब्दुर्रहमान बिन औफ़[1] को दिया गया। उन्होंने सोच विचार के उपरान्त मुसलमानों की हार्दिक इच्छा ज्ञात की तो सबका हृदय हज़रत उस्मान एवं हज़रत अली की ओर आकृष्ट पाया। इस कारण उन्होंने हज़रत उस्मान से बैअत कर ली, कारण कि अब्दुर्रहमान बिन औफ़ के समान हज़रत उस्मान भी इस बात पर सहमत थे कि शेख़ैन का अनुसरण किया जाय और स्वयं कोई निर्णय न किया जाय। अतः हज़रत उस्मान की खिलाफ़त सबने स्वीकार कर ली और वे ख़लीफ़ा मान लिये गये और उनकी आज्ञाकारिता आवश्यक समझी गयी। जिस मजमे में इस चुनाव की घोषणा की गयी उसमें वे सब सहाबा उपस्थित थे जो शेख़ैन की बैअत कर चुके थे। किसी ने वली अहदी एवं उत्तराधिकार की इस समस्या पर कोई आपत्ति प्रकट न की, अपितु मौन रहे। इससे यह स्पष्ट है कि वे जानशीनी के इस नियम से सहमत थे और इसे शरा के अनुकूल समझते थे। यह बात ज्ञात हो ही गयी है कि "इजमा" को शरई समस्याओं के लिए प्रमाण माना गया है।

अब यदि इमाम अपने पिता अथवा पुत्र को अपना वली अहद नियुक्त कर दे तो हम इस पर कोई शंका नहीं कर सकते, कारण कि जब उसे उसके जीवन-काल की समस्त समस्याओं एवं मामलों में विश्वास के योग्य माना गया है, तो वह अपने जीवनकाल के बाद की समस्याओं के विषय में भी जो निर्णय दे, उस पर हमको कोई शंका न करनी चाहिए और इमाम की कोई आलोचना न करनी चाहिए। यह बात उन लोगों के धार्मिक विश्वास के विरुद्ध है जो कहते हैं कि इमाम का अपने पिता अथवा पुत्र को वली अहद नियुक्त करना अपराध है, अथवा जो लोग केवल पुत्र को वली अहद नियुक्त करना पाप समझते हैं और पिता को नहीं। वास्तव में यह कार्य शंका एवं भ्रम से बहुत दूर है, विशेष कर जब कोई ख़ास हित भी इसके साथ हो अथवा किसी विशेष उपद्रव या अशान्ति से बचने का विचार हो। ऐसी अवस्था में तो शंका का कोई स्थान रह ही नहीं सकता, जैसा किमु आविया ने जब अपने पुत्र यज़ीद को अपना उत्तराधिकारी बनाया तो इसके लिए बनी उमय्या के अधिकार-

१. अब्दुर्रहमान बिन औफ़, अरब के क़ुरैशी क़बीले के थे और मुहम्मद साहब द्वारा इस्लाम का प्रचार प्रारम्भ होते ही मुसलमान हो गये थे। वे उन दस लोगों में बताये जाते हैं जिनके विषय में मुहम्मद साहब का कथन है कि वे अवश्य स्वर्ग में जायेंगे। उनकी मृत्यु ६५२ ई० में हुई।

सम्पन्न एवं सम्मानित व्यक्तियों की सहमति पर्याप्त समझी। इसी सहमति एवं संगठन की दृष्टि से उन्होंने अन्य लोगों को छोड़कर यज़ीद को अपना उत्तराधिकारी चुना। वास्तव में बनी उमय्या उस समय यज़ीद के अतिरिक्त किसी अन्य को वली अहद बनाने के लिए सहमत न हो सकते थे। क़ुरैश तथा समस्त मुसलमानों की "असबियत" उनकी सहायतार्थ उनके साथ थी। वे स्वयं प्रभावशाली थे और प्रतिभा-सम्पन्न भी, अतः इन्हीं कारणों से मुआविया ने अन्य अच्छे लोगों को छोड़कर यज़ीद को चुना और योग्य एवं श्रेष्ठ को त्यागकर अयोग्य एवं निम्न को केवल इस लोभ से सिंहासनारूढ़ किया कि लोगों का संगठन एवं ऐकमत्य भंग न हो, जिसको शारे[१] ने अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया था। इस बात के अतिरिक्त मुआविया के विषय में और कहा ही क्या जा सकता है, कारण कि उनके जाने-माने न्याय तथा मुहम्मद साहब के सहचरों की दृष्टि में उनके विषय में कोई शंका प्रकट करना सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त सम्मानित सहाबा की उपस्थिति एवं उनका इस विषय में मौन रहना इस बात की खुली दलील है कि मुआाविया के प्रति कोई शंका नहीं की जा सकती और न उन पर कोई दोष लगाया जा सकता है। उस युग में न तो मुआविया का ही स्वभाव ऐसा था कि वे राज्य के सम्मान एवं गौरव हेतु सत्य पर आचरण करने से बाज़ रहते और न सहाबा ही सत्य का प्रचार करने से बाज़ रह सकते थे। इन बुज़ुर्गों की न्यायप्रियता इस प्रकार के दुराचार को कदापि स्वीकार न कर सकती थी।

अब रही यह समस्या कि यदि यह उत्तराधिकार उचित था तो अब्दुल्लाह बिन उमर[२] क्यों इस मौक़े से टल गये और बचकर चल दिये, तो इसका कारण वास्तव में यह था कि वे अपनी पवित्रता एवं धर्मनिष्ठा के कारण प्रत्येक अनुचित बात से बचना चाहते थे और ऐसी किसी बात में किसी प्रकार का भाग नहीं लेना चाहते थे। उनकी यह सावधानी बड़ी प्रसिद्ध है। यज़ीद के वली अहद नियुक्त किये जाने के सम्बन्ध में इब्ने ज़ुबैर के अतिरिक्त सभी सहमत थे किन्तु यदि किसी समस्या के विषय में सभी सहमत हों तो किसी एक का विरोध कोई महत्त्व नहीं रखता। फिर मुआविया के उपरान्त जो लोग ख़लीफ़ा हुए, वे सत्य की खोज एवं उस पर आचरण करते रहे। उदाहरणार्थ, अब्दुल मलिक तथा सुलेमान बनी उमय्या में से और सफ़्फ़ाह, मंसूर,

१. हज़रत मुहम्मद से तात्पर्य है।
२. अब्दुल्लाह बिन उमर, ख़लीफ़ा हज़रत उमर के ज्येष्ठ पुत्र। वे अपनी धर्मनिष्ठता के लिए बड़े प्रसिद्ध थे। उनकी मृत्यु ७३ हि० (६९३ ई०) में हुई।

महदी एवं रशीद बनी अब्बास में से, अथवा उन सरीखे अन्य लोग जिनकी निर्णय-शक्ति एवं न्यायप्रियता सर्वमान्य थी। वे मुसलमानों के हित के विषय में ईमानदारी से सोच-विचार करते थे और ऐसा कार्य न करते थे जिससे उनकी कटु आलोचना हो सकती। उन्होंने अपने पुत्रों एवं भाइयों को अपना उत्तराधिकारी बनाया, किन्तु किसी ने उन पर अँगुली न उठायी।

यह कहना उचित नहीं कि उनका यह आचरण प्रथम चारों खलीफ़ाओं के आचरण के विरुद्ध था तो उनकी दशा एवं उनकी परिस्थितियों की तुलना प्रथम चारों खलीफ़ाओं की स्थिति से क्यों की जाय। ये खलीफ़ा ऐसे युग में हुए थे जब खिलाफ़त पर सल्तनत की लेश मात्र भी छाप न पड़ी थी। खलीफ़ा केवल धार्मिक एवं दीनी मनुष्य होता था और दीन की ही पृष्ठ-भूमि में अपने प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करता था। इसी कारण खलीफ़ा लोग अपना उत्तराधिकारी केवल उसी को नियुक्त करते थे जो धर्म एवं दीन के मामले में श्रेष्ठ होता था। उनके उपरान्त मुआविया के युग में स्थिति में बड़ा परिवर्तन हो गया था। सल्तनत का गौरव बढ़ चुका था। धर्म की शान घट चुकी थी। अब ऐसे शासक की आवश्यकता का अनुभव हुआ जो सल्तनत एवं "असबियत" में अद्वितीय हो। अतः यदि मुआविया "असबियत" की आवश्यकताओं के विरुद्ध किसी अन्य को सिंहासनारूढ़ करते तो उनकी इमामत कौन स्वीकार करता, देखते-देखते वह समाप्त हो जाती और इस दशा में क़ौम को जिस विरोध का सामना करना पड़ता, वह स्पष्ट है।

एक बार एक आदमी ने हज़रत अली से पूछा कि "हज़रत! इसका क्या कारण है कि मुसलमानों ने आपकी खिलाफ़त का तो बड़ा विरोध किया, किन्तु हज़रत अबू बक्र तथा हज़रत उमर की खिलाफ़त का किसी ने विरोध नहीं किया?" आपने उत्तर दिया—"इसका कारण यह है कि इनमें से दोनों बुज़ुर्ग मुझ-जैसे लोगों के शासक थे और अब मैं तुम-जैसे लोगों का।" इसका अर्थ यही है कि अब राज्य धार्मिक भावनाओं से शून्य है, अतः यह परिवर्तन हो गया।

मामून ने जब अली बिन मूसा बिन जाफ़र अस् सादिक़ को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और उनका नाम रिज़ा रखा तो, अब्बासियों को यह बड़ा बुरा लगा। उन्होंने मामून की बैअत तोड़कर उसके चाचा इबराहीम बिन अल महदी से बैअत कर ली और फिर राज्य में इतनी अशान्ति फैल गयी कि डाके तक पड़ने लगे और राज्य छिन्न-भिन्न होनेवाला ही था कि मामून खुरासान से बग़दाद की ओर लपका और पुनः बैअत ली गयी तथा अशान्ति का अन्त हो गया।

संक्षेप में वली अहद के चुनाव में सर्वसाधारण की मनोवृत्ति को बहुत बड़ा स्थान प्राप्त है। युग के रंग-ढंग की उस पर अत्यधिक छाप पड़ती है। जैसे-जैसे युग रंग पलटता है, स्थिति में परिवर्तन हो जाता है। क़बीले एवं "असबियतें" अपनी गति-विधि बदलती हैं। देश की आवश्यकताएँ और लोगों की चित्त-वृत्ति कुछ की कुछ होती जाती हैं और नयी-नयी मसलेहतें उत्पन्न होती हैं। फिर प्रत्येक का आदेश पृथक् होता है और प्रत्येक की बात अलग। यदि वलीअहदी का उद्देश्य केवल यह हो कि बाप-दादा की मीरास बेटे-पोतों में सुरक्षित रहे तो धार्मिक दृष्टिकोण से यह उद्देश्य बड़ा ही हीन है, कारण कि ख़िलाफ़त तथा सल्तनत अल्लाह का प्रदान किया हुआ सम्मान है। वह जिसे चाहे, उसे उसके द्वारा सम्मानित करे। अतः इसके चुनाव में यथासम्भव ईमानदारी से काम लेना चाहिए, ताकि यह धार्मिक पद एवं ख़िलाफ़ते इलाही नष्ट न हो जाय।

अब वली अहदी के चुनाव में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं, ताकि इनके द्वारा सत्य एवं असत्य तथा उचित एवं अनुचित का भेद किया जा सके।

१—यह कि मुआविया यज़ीद को ख़लीफ़ा नियुक्त करते समय उसके दुराचार एवं व्यभिचार के विषय में अच्छी तरह जानता था। यज़ीद ने अपने ख़िलाफ़त-काल में इन अवगुणों का प्रदर्शन किया। वास्तव में मुआविया अपनी श्रेष्ठता एवं अपनी न्याय-प्रियता के कारण इस प्रकार की शंका से मुक्त थे, अपितु वे तो अपने जीवन-काल में यज़ीद को संगीत सुनने से कठोरतापूर्वक रोका करते थे, हालाँ कि यह पाप उन पापों की अपेक्षा, जो यजीद ने किये, बहुत निम्न श्रेणी का है। फिर समा[1] के विषय में सहाबा का स्वयं एक मत नहीं।

जब यज़ीद खुल्लमखुल्ला व्यभिचार में ग्रस्त रहने लगा तो इस विषय में भी लोगों का मतभेद हो गया। कुछ लोगों ने उससे विद्रोह करने एवं बैअत को तोड़ने का विचार कर लिया, उदाहरणार्थ हज़रत इमाम हुसेन, अब्दुल्लाह बिन ज़ुबैर अथवा उनका अनुसरण करने वाले अन्यलोग। कुछ लोगों ने यज़ीद का विरोध क़रना इस कारण उचित न समझा कि कहीं विद्रोह एवं अशान्ति की अग्नि न भड़क उठे और हत्याकांड न प्रारम्भ हो जाय। साथ ही साथ यह भी विचार था कि यदि यज़ीद के विरुद्ध क़दम उठाया गया तो उसे निभा न सकेंगे, कारण कि यज़ीद के सहायतार्थ बनी उमय्या की "असबियत" थी और क़ुरैश के उच्च पदाधिकारी भी उसके सहाय-

१. सूफ़ियों के संगीत की गोष्ठियाँ।

तार्थ उपस्थित थे, अपितु मुज़ार की "असबियत" भी उसके सहायतार्थ उद्यत थी। उसका मुक़ाबला कोई भी न कर सकता था, अतः वे यज़ीद से पृथक् ही रहते थे और उसके पथप्रदर्शन हेतु ईश्वर से प्रार्थना किया करते थे। अधिकांश मुसलमान इसी विचार के अनुयायी थे। ये दोनों वर्ग इजतेहाद[1] कर सकते थे और अपना स्वतंत्र मत रखते थे जिसका कोई खंडन नहीं कर सकता था, कारण कि उनकी सच्चरित्रता, पवित्रता एवं सत्य के प्रति प्रेम सर्वमान्य और प्रसिद्ध है। इनका खंडन कोई किस प्रकार करे। अल्लाह हमको भी उन्हीं पवित्र बुज़ुर्गों के पदानुसरण का सौभाग्य प्रदान करे।

२—फिर समस्या यह है कि मुहम्मद साहब ने अपना उत्तराधिकारी किसे नियुक्त किया? शीओं का दावा कि मुहम्मद साहब ने हज़रत अली के विषय में खिलाफ़त के लिए वसीअत की थी, प्रामाणिक रूप से सिद्ध नहीं होता। रवायतों का उल्लेख करनेवालों ने इस प्रकार की चर्चा नहीं की। प्रामाणिक रवायतों में इतना अवश्य है कि मुहम्मद साहब ने अपनी मृत्यु के समय वसीअत लिखने के लिए दवात-क़लम माँगी और हज़रत उमर ने मना कर दिया। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उत्तराधिकारी की नियुक्ति की समस्या का समाधान न हो सका। इसी प्रकार हज़रत उमर से जब वली अहद नियुक्त करने के लिए कहा गया तो आपने उत्तर दिया कि "यदि मैं अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करूँ तो यह कोई नयी बात न होगी, कारण कि मुझ से अच्छे अर्थात् हज़रत अबू बक्र यह कर चुके हैं और यदि न नियुक्त करूँ तो इसका भी उदाहरण उपलब्ध है, कारण कि मुहम्मद साहब ने भी अपना कोई उत्तराधिकारी नहीं नियुक्त किया।" यही प्रमाण हज़रत अली के शब्दों से भी मिलता है, जिनसे आपने हज़रत अब्बास[2] को सम्बोधित किया। यह उस समय की घटना है जब हज़रत अब्बास ने हज़रत अली को अपने साथ लेकर और मुहम्मद साहब की सेवा में उपस्थित होकर उत्तराधिकारी की समस्या का समाधान करने के विषय में कहा। हज़रत अली ने इस उद्देश्य के लिए जाना स्वीकार न किया और कहा कि "यदि मुहम्मद साहब ने मना कर दिया तो फिर कभी भी हम इसकी इच्छा न कर सकेंगे।" अतः हज़रत अली का यह कथन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है

१. स्वतंत्र रूप से निर्णय करना।

२. मुहम्मद साहब के चाचा।

कि मुहम्मद साहब ने अपने उत्तराधिकारी के विषय में कोई वसीअत न की थी और न किसी को उत्तराधिकारी नियुक्त किया था।

वास्तव में इमामिया को अपने इस अशुद्ध विचार से भ्रम हुआ कि इमामत की समस्या धर्म के स्तम्भों में से है अतः इसका निर्णय शारे[1] द्वारा होना चाहिए, हालाँ कि इस कल्पना का कोई आधार नहीं। वास्तव में वलीअहदी का मामला सर्वसाधारण के हित से सम्बंधित है जो उनके उचित निर्णय पर निर्भर है। यह बात स्पष्ट है कि वलीअहदी की समस्या यदि धर्म के स्तम्भों में होती तो उसको नमाज़ की श्रेणी प्राप्त होती, अर्थात् मुहम्मद साहब अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त करते, जिस प्रकार आपने हज़रत अबू बक्र को नमाज़ में अपने स्थान पर नियुक्त किया। जिस तरह नमाज़ के सम्बन्ध में प्रसिद्धि हुई उसी प्रकार इसकी भी प्रसिद्धि होती। फिर सबसे बड़ी दलील वह थी जो हज़रत अबू बक्र को ख़लीफ़ा चुनने के लिए सम्मानित सहाबा ने प्रस्तुत की, अर्थात् "जब मुहम्मद साहब ने हज़रत अबू बक्र को हमारे धार्मिक कार्यों में अपना उत्तराधिकारी बनाया तो हम उन्हें अपने सांसारिक मामलों में प्रसन्नतापूर्वक ख़लीफ़ा क्यों न स्वीकार कर लें?" इससे यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो गयी कि समस्त सहाबा के निकट उत्तराधिकारी के विषय में मुहम्मद साहब द्वारा किसी वसीअत का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यहीं से यह बात भी ज्ञात हो गयी कि मुहम्मद साहब की मृत्यु के समय इमामत एवं उत्तराधिकारी की समस्या को इतना महत्त्व न प्राप्त था जितना आज है। वह "असबियत" जिसे संगठन एवं विघटन करने में इतना महत्त्व प्राप्त है, उस समय इतनी महत्त्वपूर्ण न थी, कारण कि उस समय इस्लाम चमत्कारों के आधार पर चल रहा था। इन्हीं चमत्कारों के बल पर सब मुसलमान संगठित थे और इस्लाम के लिए प्राण त्यागने पर उद्यत थे। उदाहरणार्थ मुसलमानों की आँखों के समक्ष फ़िरिश्ते उनकी सहायतार्थ पहुँचते रहते थे, आकाश से समाचार निरन्तर आते रहते थे, विभिन्न घटनाओं के समय ईश्वर की बातें उनके समक्ष पढ़ी जाती थीं, तो फिर ऐसी दशा में "असबियत" की क्या आवश्यकता थी? सब लोगों ने इस्लाम के समक्ष सिर झुका दिया था। उसकी सत्यता पर सबको विश्वास था। निरन्तर चमत्कार होते रहते, दैवी आदेश आते रहते, एवं फ़िरिश्तों के बार-बार के आगमन ने लोगों को चकित कर दिया था। कोई दम न मार सकता था। खिलाफ़त लीजिए अथवा राज्य एवं सल्तनत, उत्तराधिकारी की समस्या को

१. हज़रत मुहम्मद द्वारा।

देखिए अथवा "असबियत" या प्रभुत्व को, ये सब बातें उस युग की विचित्र शासन-व्यवस्था में पायी जाती थीं। जब चमत्कारों का युग समाप्त हुआ, दैवी सहायता का क्रम टूटा, वह लोग भी समाप्त हो गये जिन्होंने इन चमत्कारों को अपनी आँखों से देखा था, तथा प्रकृति ने पूर्व की भाँति चमत्कारों का स्थान लिया, तो "असबियत" प्रारम्भ हो गयी। प्रकृति का पुनः आगमन हुआ और उससे हित एवं अहित प्रकट होने लगे तो इस नवीन वातावरण में राज्य, खिलाफ़त एवं जानशीनी सरीखी समस्याएँ, जिनका इसके पूर्व कोई मूल्य न था, बड़ी महत्त्वपूर्ण समझी जाने लगीं।

यह बात देखनी चाहिए कि मुहम्मद साहब के शुभ काल में खिलाफ़त अधिक महत्त्व की चीज़ न थी। इसी कारण उन्होंने उत्तराधिकार की समस्या का कोई समाधान नहीं किया। खिलाफ़ते राशिदा[1] के समय इसे कुछ महत्त्व प्राप्त हुआ, कारण कि धर्म की सहायता, जिहाद, मुर्तिद होने के उपद्रव की रोक-थाम एवं राज्यों के विजय हेतु खिलाफ़त की आवश्यकता हुई, ताकि उसके नेतृत्व में ये सब कार्य सम्पन्न हों। इस प्रकार उत्तराधिकारी की समस्या खलीफ़ा के अधिकार की बात हो गयी। चाहे वह कोई निर्णय करे और चाहे उसकी उपेक्षा, जैसा कि अभी हज़रत उमर के कथन द्वारा ज्ञात हुआ। फिर आज तो उत्तराधिकारी को बड़ा ही महत्त्व प्राप्त हो गया है, कारण कि लोगों की सहायता एवं हितों की रक्षा इसी पर निर्भर है। अब "असबियत" की बड़ी चिंता की जाने लगी, कारण कि वही सब को संगठित रखकर परस्पर विरोध एवं पृथक् होने से बचाती है और शरा के उद्देश्यों तथा दैवी आदेशों के स्थायित्व का भी उत्तरदायित्व उसी पर है।

३—जो युद्ध इस्लाम के प्रारम्भिक युग में सहाबा अथवा ताबेईन[2] में हुए उनका क्या उद्देश्य था? इसका उत्तर इस प्रकार समझना चाहिए कि उन बुज़ुर्गों के विरोध अधिकांश धार्मिक मामलों के सम्बन्ध में थे, न कि सांसारिक मामलों में। यह मतभेद प्रामाणिक दलीलों में इजतेहाद के कारण उत्पन्न हुआ। मुजतहिदों में जब इजतेहादी मतभेद उत्पन्न हो जाय तो इजतेहाद सम्बंधी समस्याओं में सत्य एक ही ओर होगा। अब जिस मुजतहिद[3] का मत सत्य से मिल जाय उसे पुण्य

१. हज़रत मुहम्मद के बाद के चार प्रथम खलीफ़ा।
२. मुहम्मद साहब के बाद की दूसरी पीढ़ी के लोग।
३. जिन्हें इजतेहाद अर्थात् धार्मिक समस्याओं में स्वतंत्र रूप से निर्णय करने का अधिकार हो।

होगा और जिसका न मिले वह भूल पर रहा होगा, कारण कि सत्य की सीमाएँ निश्चित नहीं, अतः सत्य की शंका प्रत्येक मुजतहिद के विषय में होगी। किसी मुजतहिद को विश्वासपूर्वक भूल करता हुआ नहीं कहा जा सकता और कोई मुजतहिद भी पापी एवं दंडनीय न होगा। उम्मत का इजमा इसी पर है। यदि हम यह कहें कि इजतेहादी विरोध के समय सब मुजतहिद सत्य का पालन करते हैं और प्रत्येक मुजतहिद ठीक मार्ग पर होता है, तो भूल का अपराध किसी पर नहीं लगाया जा सकता। सहाबा एवं ताबेईन का मतभेद इजतेहादी मतभेद था और धार्मिक समस्याओं पर अपने-अपने मतानुसार उनमें पारस्परिक विरोध था। उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार किसी को पापी नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार के इजतेहादी मतभेद पर इस्लाम में जो युद्ध हुए, वे निम्नांकित हैं। हज़रत अली तथा मुआविया, ज़ुबैर व आएशा एवं तलहा का युद्ध, इमाम हुसेन तथा यज़ीद का युद्ध और इब्नुज़् ज़ुबैर तथा अब्दुल मलिक का युद्ध। हज़रत अली को जिन घटनाओं का सामना करना पड़ा, वे इस प्रकार हैं।

(१) जिस समय हज़रत उस्मान शहीद हुए तो अधिकांश सहाबी नगरों में फैले हुए थे। वे हज़रत अली की बैअत के लिए नहीं आये। मदीने में उपस्थित सहाबी भी दो समूहों में विभाजित हो गये। एक समूह ने तुरन्त बैअत कर ली और दूसरे ने टालमटोल की और इस बात की प्रतीक्षा करने लगा कि सब लोग किसी इमाम पर सहमत होकर उससे बैअत कर लें। इस समूह में साद[१], सईद[२], इब्ने उमर, उसामा बिन ज़ैद, मुग़ीरा बिन शोबा, अब्दुल्लाह बिन सल्लाम, क़ुदामह बिन मज़ऊन, अबू सईद ख़ुज़री, काब बिन अज़रा, काब बिन मालिक, नोमान बिन बशीर, हस्सान बिन साबित, मुसेलमा बिन मख़लद, फ़ुज़ालह बिन उबैद इत्यादि। जो सहाबा नगरों में छिन्न-भिन्न थे, उन्होंने भी बैअत से इस कारण हाथ खींचा कि सर्वप्रथम हज़रत उस्मान की हत्या का बदला ले लिया जाय और फिर बैअत की समस्या सामने आये। इस प्रकार इन लोगों ने हज़रत उस्मान की हत्या के बदले के समय तक मुसलमानों को बिना ख़लीफ़ा तथा अमीर के रखना उचित समझा। उनका यह भी मत था कि हज़रत अली, हज़रत उस्मान के हत्यारों से बदला लेने में मौन हैं, न यह कि

१. साद बिन अबी वक़्क़ास, प्रसिद्ध अरब सेनापति (मृत्यु ६७०–७१ ई० अथवा ६७४–७५ ई०)।

२. सईद बिन ज़ैद, मृत्यु ५० अथवा ५१ हि० (६७०–६७१ ई०)।

(ईश्वर क्षमा करे) आपके द्वारा हज़रत उस्मान की हत्या हुई है। इस प्रकार जब मुआविया ने हज़रत अली पर खुल्लमखुल्ला दोषारोपण किया तो केवल यह कहा कि "आप हज़रत उस्मान के हत्यारों से बदला लेने के विषय में उपेक्षा करते हैं," न यह कि उनकी हत्या में आपका हाथ है। उधर हज़रत अली अपने इस दृष्टिकोण पर दृढ़ रहे कि मुझसे बैअत करना सबका कर्त्तव्य है, कारण कि जब मदीना-निवासी बैअत के विषय में सहमत हो गये तो उन लोगों के लिए भी बैअत अनिवार्य हो गयी जो मदीने के बाहर थे, कारण कि मदीना मुहम्मद साहब का निवास-स्थान था। हज़रत अली का विचार था कि जब लोग संगठित हो जायँ और कुछ शान्ति हो जाय तब इतमीनान से हज़रत उस्मान के हत्यारों से बदला लिया जायगा। उस समय यह सब कुछ सम्भव हो सकेगा। अन्य सहाबियों का यह मत था कि प्रतिभाशाली एवं उच्च श्रेणी के सहाबा विभिन्न स्थानों पर फैले हुए हैं और बहुत कम सहाबी उपस्थित हैं, अतः बैअत उचित रूप से प्रामाणिक नहीं हुई, कारण कि बैअत में उच्च श्रेणी वालों एवं प्रतिभाशालियों की भी सहमति आवश्यक है। यदि कुछ थोड़े से लोग मिलकर खलीफ़ा नियुक्त कर लें और उससे बैअत कर लें तो इससे कुछ नहीं होता। उनका विचार था कि इस समय मुसलमानों का कोई अमीर अथवा खलीफ़ा नहीं है, अतः सबको चाहिए कि सर्वप्रथम उस्मान के हत्यारों की माँग की जाय और इस कार्य से मुक्त होकर सर्वसम्मति से किसी को इमाम चुना जाय। मुआविया, अमर बिन आस, उम्मुल मोमिनीन[1] आएशा, ज़ुबैर, इब्नुज़ ज़ुबैर, अब्दुल्लाह, तलहा और उनके पुत्र मुहम्मद, साद, सईद, नोमान बिन बशीर, मुआविया बिन हुदैज इत्यादि का यही मत था। मदीने में रहकर उन्होंने बैअत की ओर से उपेक्षा की। यह प्रथम पीढ़ी वालों का मतभेद था, किन्तु द्वितीय पीढ़ी वालों में सब लोग इस बात पर सहमत हो गये कि हज़रत अली की बैअत अपने स्थान पर पूर्णतः ठीक थी और वह समस्त मुसलमानों के लिए अनिवार्य थी। इसके विपरीत मुआविया एवं उनके अनुयायियों ने भूल की, विशेष कर तलहा एवं ज़ुबैर ने, जिन्होंने बैअत करके तोड़ डाली। इस युग में उपर्युक्त मतभेद के बावजूद इस बात पर सभी सहमत थे, क्योंकि दोनों पक्ष वालों को इजतेहाद का अधिकार प्राप्त है, अतः दोनों ही भूल एवं पाप से मुक्त हैं।

१. मोमिनों की माता, मुहम्मद साहब की पत्नियाँ उम्मुल मोमिनीन कहलाती थीं। हज़रत आएशा मुहम्मद साहब की एक प्रिय पत्नी एवं हज़रत अबू बक्र की प्रिय पुत्री थीं।

एक बार हज़रत अली से पूछा गया कि "जमल[1] एवं सिफ़्फ़ीन[2] के युद्धों में जो लोग मारे गये उनके विषय में आपका क्या मत है? वे मुक्ति प्राप्त करने योग्य हैं अथवा दंडनीय।" आपने उत्तर दिया कि "ईश्वर की शपथ लेकर कहता हूँ कि इन युद्धों में जो भी मारा गया, यदि उसका हृदय पाक है तो वह स्वर्ग का पात्र है।" इस प्रकार आपका यह निर्णय दोनों पक्षों की ओर से जिनकी हत्या हुई, उनके विषय में था। तबरी एवं अन्य इतिहासकारों ने इस घटना का उल्लेख इन्हीं शब्दों में किया है। संक्षेप में ये लोग ऐसे बुज़ुर्ग थे जिनकी न्यायप्रियता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता और जिनकी निन्दा किसी तरह सम्भव नहीं। यही वे लोग हैं जिनके वचन एवं कर्म शरीअत के अनुसार प्रामाणिक हैं। सुन्नी मुसलमान उनकी न्याय-प्रियता पर एकमत हैं। केवल थोड़े से मोतज़ेला उनकी आलोचना करते हैं। न्याय-प्रिय लोग उनकी बातों को कोई महत्त्व नहीं देते। यदि न्याय की दृष्टि से उनके विषय में अध्ययन किया जाय तो उनके और हज़रत उस्मान के विषय में तथा उनके बाद अन्य मामलों में मतभेद रखनेवाले समस्त सहाबियों को निरपवाद समझा जायगा और किसी पर कोई दोष न लगाया जा सकेगा तथा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने पर बाध्य होंगे कि यह सब झगड़ा-फ़साद अल्लाह की ओर से एक ऐसी परीक्षा थी जिसके द्वारा उसने उम्मत को जाँचा तथा परखा था। यह समय वह था कि ईश्वर ने मुसलमानों के हाथों उनके शत्रुओं का ज़ोर तोड़ डाला था और उनकी भूमि एवं राज्य पर अधिकार जमा लिया था। बसरा, कूफ़ा, शाम तथा मिस्र में मुसलमान प्रतिरक्षा की दृष्टि से फैले हुए थे।

यह भी सत्य है कि केंद्र से दूर बसे हुए अरब बड़े असभ्य थे। उन्हें मुहम्मद साहब के साथ रहने का अवसर न मिला था। उनसे अपने चरित्र को सुधारने तथा मुहम्मद साहब के चरित्र के गुण सीखने की आशा न की जा सकती थी। इसके साथ साथ जाहिलियत की भावनाएँ उनमें पूर्णतः वर्त्तमान थीं, उदाहरणार्थ, वे निष्ठुर "असबियत" की पूजा करनेवाले एवं अभिमानी थे। धार्मिक विश्वास के कारण जो सौभाग्य

१. यह युद्ध हज़रत अली एवं हज़रत मुहम्मद साहब की पत्नी हज़रत आएशा में ४ दिसम्बर ६५६ ई० को बसरे के समीप हुआ। हज़रत आएशा ऊँट पर सवार थीं अतः यह युद्ध जमल अथवा ऊँट का युद्ध कहलाता है।

२. सिफ़्फ़ीन का युद्ध हज़रत अली एवं मुआविया में फ़ुरात नदी के उस पार रक़्क़ा के समीप जून से अगस्त ६५७ ई० तक ११० दिन चलता रहा।

उन्हें प्राप्त हुआ था, उससे वे सन्तुष्ट न थे। जब इस्लामी सल्तनत को प्रभुत्व प्राप्त हुआ तो वे अरब उन महाजिरों एवं अंसार के अधीन हो गये जो क़ुरैश, किनाना, सक़ीफ़, हुज़ैल, हिजाज़ एवं यसरिब[1] के क़बीलों में सबसे पहले मुसलमान हुए। उनको उन महाजिरों एवं अंसार की अधीनता खटकी और वे इस बात पर कुढ़ने लगे, कारण कि वे अपने कुल को भी सबसे ऊँचा समझते थे और उन्हें अपनी संख्या पर भी गर्व था। उन्हें इस बात का अभिमान था कि वे फ़ारस तथा रूम सरीखी बहुत बड़ी-बड़ी शक्तियों से टक्कर ले चुके हैं। उदाहरणार्थ, बक्र बिन वाइल, अब्द-अल-क़ैस बिन रबीअह, किन्दह तथा यमन के अज़्द, मुज़र के तमीम तथा क़ैस सब इसी भ्रम में पड़े हुए थे। ये लोग क़ुरैश के प्रभुत्व से जलते और उसे बुरा मानते थे। उनकी आज्ञाकारिता की उपेक्षा करते और उनसे बचने के लिए बहाने ढूँढ़ा करते थे। कभी कहते कि हम पर अत्याचार हो रहा है और अपने अधिकारों के नष्ट होने की चर्चा करने लगते। क़ुरैश न्याय करने में कमज़ोर हैं। इसी प्रकार की बातें राज्य में फैलने लगीं। शनैः-शनैः ये समाचार मदीने तक पहुँच गये और अतिशयोक्ति के साथ हज़रत उस्मान के कानों तक पहुँचाये जाने लगे। आपने, इब्ने उमर, मुहम्मद बिन मसलमा, उसामा बिन ज़ैद इत्यादि को जाँच हेतु नगरों में भेजा। इन लोगों ने जाँच-पड़ताल की तो इन्हें क़ुरैश अधिकारियों की किसी अनुचित बात का पता न लगा। उन्होंने लौटकर जो कुछ देखा था वह बता दिया। उधर नगर के दुष्ट लोगों ने अपनी दुष्टता को जारी रखा। उनके दुराचार में वृद्धि होती गयी, यहाँ तक कि कूफ़े के हाकिम वलीद बिन उक़बा पर मदिरा-पान का आरोप लगाया गया और एक समूह ने इस विषय में गवाही दे दी। हज़रत उस्मान ने उसे इस्लामी दंड-विधानानुसार दंड देकर पदच्युत कर दिया। फिर विभिन्न नगरों के लोग अपने-अपने हाकिमों की शिकायतें लाने लगे और उनको पदच्युत करने की माँग करने लगे। यही शिकायतें हज़रत अली, आएशा, ज़ुबैर एवं तलहा से भी की गयीं। इन्हीं शिकायतों पर हज़रत उस्मान ने कुछ हाकिमों को पदच्युत भी किया, किन्तु लोग कटु आलोचनाएँ एवं निंदा करते ही गये। फिर कूफ़ा के हाकिम सईद बिन आस को शिष्ट-मंडल के साथ भेजा गया, किन्तु मार्ग में ही उसे रोककर पदच्युत करके लौटा दिया गया। फिर मदीने में हज़रत उस्मान एवं अन्य सहाबियों में मतभेद हो गया। समस्त सहाबियों ने हाकिमों को पदच्युत करने

१. मदीने।

की माँग की। हज़रत उस्मान ने कहा, कि "उनके अपराध का प्रमाण न मिलने तक ऐसा नहीं हो सकता।" फिर सहाबियों ने हज़रत उस्मान के अन्य कार्यों एवं आचरण की आलोचना की, किन्तु हज़रत उस्मान भी इजतेहाद पर दृढ़ थे तथा अन्य सहाबा भी। तदुपरान्त उपद्रवकारियों एवं विद्रोहियों के एक बहुत बड़े समूह ने मदीने पर आक्रमण कर दिया। बाह्य रूप से वे यह कहते थे कि हम हज़रत उस्मान से न्याय माँगने आये हैं, हालाँ कि वास्तव में वे हज़रत उस्मान की हत्या का षड्यंत्र रच कर आये थे। ये समूह बसरा, कूफ़ा एवं मिस्र से आये थे। हज़रत अली, आएशा, ज़ुबैर तलहा इत्यादि भी इन लोगों का समर्थन करने लगे। उनका कथन था कि न्याय होना चाहिए और जिस प्रकार सम्भव हो विद्रोह को शान्त करना चाहिए। अन्त में उन लोगों ने हज़रत उस्मान को भी सहमत कर लिया। उनके आदेशानुसार मिस्र का हाकिम पदच्युत कर दिया गया। विद्रोही मदीने से वापस हो गये और फिर लौट आये। इस बार वे हज़रत उस्मान का एक जाली पत्र लाये और यह दावा किया कि इसे हमने हज़रत उस्मान के राजदूत से, जिसे वह मिस्र के हाकिम के पास ले जा रहा था, छीना है। उसमें लिखा था कि इन विद्रोहियों की हत्या कर दो। हज़रत उस्मान ने शपथ लेकर इस पत्र से अज्ञानता प्रकट की। विद्रोहियों ने माँग की कि अपने कातिब[1] मरवान को हमारे सुपुर्द कर दें। मरवान ने भी शपथ लेकर अपनी अज्ञानता प्रकट की। हज़रत उस्मान ने कहा कि "इससे बढ़कर और सफ़ाई क्या हो सकती है?" फिर तो खुल्लमखुल्ला विद्रोहियों ने हज़रत उस्मान के घर का अवरोध कर लिया और अवसर पाकर घर में घुस गये और आप को शहीद कर दिया। इस प्रकार उपद्रव एवं अशान्ति के द्वार खुल गये। अब इन मामलों में विरोध करनेवाले सहाबियों में से प्रत्येक गुट के पास पर्याप्त बहाने थे। प्रत्येक गुट धर्म को पूरा-पूरा महत्त्व देता था और धर्म की किसी बात को किसी मूल्य पर नष्ट करने के लिए तैयार न था। उनके आचरण का आधार इजतेहाद पर था और अपने इजतेहाद के ही प्रकाश में वे सब कुछ करते थे। इसके अतिरिक्त उनकी हार्दिक इच्छाओं से ईश्वर ही परिचित है। हम उनके विषय में कोई शंका प्रकट करने में असमर्थ हैं, कारण कि इन सम्मानित बुज़ुर्गों की कृतियाँ एवं उनकी वाणी हमें उनके विषय में सद्भावनाएँ रखने पर विवश करती हैं।

(२) हज़रत हुसेन की घटना इस प्रकार है। जब यज़ीद के दुराचार एवं

१. सचिव।

व्यभिचार से सब लोग परिचित हो गये तो शीओं के समर्थकों ने हज़रत हुसेन को कूफ़े में आमंत्रित करते हुए लिखा कि "आप पधारें, हम आपकी सहायता करेंगे।" हज़रत इमाम ने सोचा कि 'यज़ीद के दुराचार का विरोध तो करना ही है' फिर इसमें विलम्ब क्यों किया जाय, जब कि उन्होंने स्वयं अपने को इसके लिए समर्थ और शक्तिमान् भी पाया। योग्यता तो उनमें और भी अधिक थी, किन्तु शक्ति के सम्बन्ध में वे उचित निर्णय न कर सके। कारण कि मुज़र की "असबियत" क़ुरैश में पायी जाती थी, क़ुरैश की अब्दे मनाफ़ में, और अब्दे मनाफ़ की बनी उमय्या में। क़ुरैश एवं सभी लोग इस तथ्य को भली-भाँति जानते थे और कोई इसे अस्वीकार नहीं कर सकता था। इस्लाम के प्रारम्भ में लोग चमत्कारों, वहियों[1] के अवतरण एवं मुसलमानों की सहायतार्थ फ़िरिश्तों के आगमन को देखकर अपनी "असबियत" एवं शक्ति को भूल गये थे। जाहिलियत की "असबियत" का अन्त हो चुका था और अब केवल वह स्वाभाविक "असबियत" शेष रह गयी थी, जिससे लोग अपनी प्रतिरक्षा कर सकते, धर्म को उन्नति दे सकते और जिहाद में उससे काम ले सकते थे। इस प्रकार धर्म तो अपनी नींव पर दृढ़ था और आदतों का प्रभाव समाप्त हो चुका था।

जब नबी का युग समाप्त हुआ और आश्चर्य चकित करनेवाले चमत्कार बन्द हो गये तो प्राचीन आदतें पुनः अपना रंग दिखाने लगीं। मुज़र, बनी उमय्या के सबसे बड़े आज्ञाकारी बन गये। इस बात से यह पता चलता है कि हज़रत इमाम हुसेन से स्थिति समझने में कुछ भूल हो गयी, किन्तु यह सांसारिक वार्ता-विषयक भूल थी, अतः इससे उनके सम्मान में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अब जहाँ तक शरई आदेश का सम्बंध है, उसके समझने में उन्होंने कदापि भूल नहीं की, कारण कि उसका आधार उनकी निर्णय-शक्ति थी और उनका विचार यही था कि उनमें विरोध की शक्ति वर्त्तमान है।

जब हज़रत इमाम मदीने से कूफ़े को प्रस्थान करने लगे तो हज़रत इब्ने अब्बास, इब्नुज़् ज़ुबैर, इब्ने उमर तथा हज़रत हुसेन के भाई इब्ने हनाफ़िया एवं अन्य लोगों ने उन्हें जाने से रोका। उनका विचार था कि हज़रत भूल कर रहे हैं। किन्तु भाग्य में इसी प्रकार लिखा जा चुका था, अतः इमाम हुसेन ने अपने संकल्प को न त्यागा

१. वही।

और रवाना हो गये। हज़रत इमाम हुसेन के अतिरिक्त जो अन्य सहाबी लोग हिजाज़ में थे तथा जो शाम एवं इराक़ में यज़ीद के साथ थे, वे यज़ीद पर आक्रमण उचित न समझते थे, हालाँ कि वह व्यभिचारी था,कारण कि इसमें अशान्ति एवं रक्त-पात का भय था। इसी कारण वे इससे बचे रहे और उन्होंने हज़रत इमाम का साथ न दिया। किन्तु उन्होंने हज़रत इमाम को न बुरा बताया और न दोषी,कारण कि वे भी तो मुजतहिद थे और मुजतहिदों की यह विशेषता है कि उनके मत-भेद को पाप का कारण नहीं बताया जाता। इसी प्रकार उन सहाबियों को भी पापी समझना बहुत बड़ी भूल है, जिन्होंने हज़रत इमाम हुसेन की सहायता की ओर से उपेक्षा की और यज़ीद के साथ थे और यज़ीद के विरुद्ध विद्रोह उचित न समझते थे। कारण कि इमाम हुसेन ने स्वयं अपने सम्मान एवं अधिकार की पुष्टि में जाबिर बिन अब्दुल्लाह, अबी सईद ख़ुज़री, अनस बिन मालिक, सहल बिन साद तथा ज़ैद बिन अरक़म सरीखे सहाबियों के नाम प्रमाण में प्रस्तुत किये, किन्तु इनमें से किसी पर भी यह दोष नहीं लगाया कि उसने मेरी सहायता की ओर से उपेक्षा की, क्योंकि वे जानते थे कि सहाबा भी इजतेहाद के अनुसार आचरण कर रहे हैं। वे स्वयं भी इजतेहाद के अनुसार कार्य कर रहे थे, फिर किसी पर क्या दोष लगाया जा सकता था। प्रत्येक का इजतेहाद पृथक् है। इसका उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है कि कोई शाफ़ई तथा मालिकी क़ाज़ी किसी हनफ़ी को नबीज़[1] पीने के कारण इस्लाम के अनुसार स्वीकृत दंड नहीं दे सकता, क्योंकि नबीज़ पीने का हनफ़ियों में निषेध नहीं।

फिर यह भी न समझना चाहिए कि जिस प्रकार अन्य सहाबा ने इजतेहादी मत-भेद के कारण हज़रत इमाम का साथ छोड़ा, उसी प्रकार हज़रत इमाम उन्हीं के इजतेहाद से शहीद भी हुए होंगे। ईश्वर क्षमा करे। इस घोर पाप का उत्तर-दायित्व तो केवल यज़ीद और उसके साथियों पर है। फिर यह भी न कहना चाहिए कि जब सम्मानित सहाबा ने यज़ीद के व्यभिचारी होने पर भी उस पर आक्रमण की स्वीकृति नहीं दी तो उसका आचरण भी उनके निकट ठीक ही होगा। यह कदापि सम्भव नहीं। व्यभिचारी के वही आचरण ठीक एवं स्वीकृत बताये जा सकते हैं जो शरीअत के क्षेत्र में हों। इस स्थान पर युद्ध की तो सहाबा के निकट कोई कल्पना ही नहीं थी, जो वे इसे उचित समझते, क्योंकि विद्रोहियों से युद्ध करने के लिए

१. एक प्रकार की खजूर की मदिरा।

उनके निकट इमामे आदिल[1] का नेतृत्व अनिवार्य है, जिसका यहाँ अभाव था, कारण कि यज़ीद इमामे आदिल नहीं था, जिसके नेतृत्व में युद्ध किया जा सके।

इस विवरण का निष्कर्ष यह निकला कि सहाबा के निकट न तो इमाम हुसेन का यज़ीद के साथ युद्ध उचित था, न यज़ीद का युद्ध हज़रत इमाम के साथ। यज़ीद ने जो अनुचित कार्य किये उनसे उसकी दुष्टता में वृद्धि होती है और उसकी कुकृतियों का ही प्रमाण मिल जाता है। हज़रत इमाम शहीद हैं और पुण्य के पात्र। वे अपने इजतेहाद पर और सत्य के मार्ग पर आरूढ़ ही माने गये हैं। जो सहाबा यज़ीद के साथ थे, वे भी अपने इजतेहाद पर दृढ़ होने के कारण सत्य के ही अनुयायी माने जायँगे। इस समस्या पर क़ाज़ी अबू बक्र बिन अरबी मालिकी[2] ने "अल-क़वासिम वल अवासिम" नामक ग्रंथ में जो मत प्रकट किया है वह सत्य एवं न्याय पर आधारित नहीं। उसने कहा है कि "हज़रत इमाम की हत्या अपने नाना[3] की शरीअत के अनुसार हुई। इस भूल का यह कारण है कि क़ाज़ी अबू बक्र ने इमामे आदिल की शर्त की ओर से उपेक्षा की है।"

(३) जहाँ तक इब्नुज़् ज़ुबैर का सम्बंध है उन्होंने भी इमाम हुसेन की भाँति स्थिति का भली-भाँति अनुमान लगाने में भूल की और धोखा खाया। कारण कि बनू असद न तो जाहिलियत ही में और न इस्लाम के बाद बनी उमय्या के टक्कर के थे। यह सिद्ध हो चुका कि हज़रत अली तथा मुआविया के झगड़े में मुआविया की भूल नहीं बतायी जा सकती, कारण कि इजतेहाद उन्होंने भी किया था और इजमा के आधार पर इजतेहाद में भूल भी हो सकती है और वह ठीक भी हो सकता है। इसी प्रकार इब्नुज़् ज़ुबैर एवं अब्दुल मलिक[4] के झगड़े में भी अब्दुल मलिक को दोषी नहीं ठहरा सकते। रहा यज़ीद का मामला, तो वहाँ यज़ीद के व्यभिचार ने उसे पापी बना दिया था। फिर अब्दुल मलिक की न्याय सम्बंधी शक्ति बड़ी ही उत्कृष्ट थी। उनके न्याय के सम्बंध में यह प्रमाण पर्याप्त है कि इमाम मालिक उनके आचरण से अपने तर्क की पुष्टि करते थे।[5] इसके अतिरिक्त इब्ने अब्बास तथा इब्ने उमर

१. न्यायकारी इमाम।
२. मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह, ४६९–५४३ हि० (१०७६–७७ से ११४८ ई०)।
३. मुहम्मद साहब।
४. अब्दुल मलिक बिन मरवान, उमय्या वंश का ५वाँ ख़लीफ़ा (६८५–७०५ ई०)
५. इससे पूर्व भी इब्ने ख़लदून में यही दलील दी गयी है।

ने इब्नुज़् ज़ुबैर की बैअत को छोड़कर अब्दुल मलिक से बैअत की, यद्यपि इब्नुज़् ज़ुबैर की बैअत के समय दोनों बुज़ुर्ग हिजाज़ में ही थे। अधिकांश सहाबा का यही मत था कि इब्नुज़् ज़ुबैर की बैअत वास्तव में प्रामाणिक नहीं, कारण कि बैअत के समय सम्मानित एवं श्रेष्ठ व्यक्ति उपस्थित न थे, जिस प्रकार मरवान[1] की बैअत के समय ये लोग अनुपस्थित थे। इसके साथ-साथ दूसरी ओर इब्नुज़् ज़ुबैर का मत इसके विरुद्ध था। क्योंकि प्रत्येक दशा में दोनों ओर मुजतहिद थे, अतः बाह्य रूप से सत्य की सम्भावना दोनों ही ओर थी, किन्तु निश्चित रूप से सत्य के विषय में कुछ कहना कठिन था। जो रक्तपात एवं हत्याकांड बाद में हुआ वह फ़िक़ह के नियमों एवं सिद्धांत के अनुसार हुआ, किन्तु इब्नुज़् ज़ुबैर हर प्रकार से शहीद ठहरे और पुण्य के पात्र भी, कारण कि उनके उद्देश्य एवं संकल्प शुभ थे। वे जीवन पर्यन्त सत्य की खोज, इच्छा एवं सहायता करते रहे।

यही दृष्टिकोण हमें भूतकाल के सभी पवित्र सहाबा एवं ताबेईन के विषय में रखना चाहिए। यही बुज़ुर्ग उम्मत के चुने हुए एवं सम्मानित व्यक्ति समझे जाते हैं। यदि हम इन्हीं की आलोचना करने लगें तो फिर उम्मत में सत्यता किसमें मिलेगी? मुहम्मद साहब का आदेश है—"मेरे समय के लोग उम्मत में सर्वोत्कृष्ट हैं। उनके बाद वे लोग होंगे जो इनका अनुसरण करेंगे।" अन्तिम वाक्य को दो-तीन बार दुहरा-कर उन्होंने कहा कि "इनके बाद तो झूठ प्रचलित हो जायगा।" इस कथन में मुहम्मद साहब ने सत्यता को प्रथम पीढ़ी और उसके बाद की पीढ़ी तक ही सीमित किया है।

जब वास्तविकता यह है तो फिर बड़ी सावधानी से कार्य करना चाहिए। हृदय एवं जिह्वा को अपने अधिकार में रखना चाहिए। ऐसा न हो कि इन बुज़ुर्गों के कार्यों के विषय में कोई शंका अथवा सन्देह हृदय में आ जाय, अथवा उनकी शान के विरुद्ध कोई शब्द ज़बान से निकल जाय, अपितु यथासम्भव इन लोगों के कार्यों की व्याख्या अच्छी ही करनी चाहिए, कारण कि इन्होंने जो कुछ भी मतभेद प्रकट किया वह तर्क एवं दलील से किया, इनका पारस्परिक युद्ध जिहाद के रूप में था और केवल सत्य के सहायतार्थ। यह भी भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि इन बुज़ुर्गों

१. अब्दुल मलिक का पिता, मरवान बिन हकम, जो उमय्या वंश का चौथा ख़लीफ़ा था और जो ६८४ से ६८५ ई० तक लगभग २९८ दिन तक ख़लीफ़ा रहा।

का विरोध बाद में आनेवाली उम्मत के लिए उपकार का साधन है। जो जिसका चाहे उसका अनुकरण करे और अपना इमाम तथा मार्गदर्शक बनाये।

(३१) धार्मिक ख़िलाफ़त के पद एवं सेवाएँ

इससे पूर्व यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ख़िलाफ़त वास्तव में शारे[1] का उत्तराधिकारी एवं जानशीन होना है। इसका उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा धर्म की भी रक्षा हो और संसार का भी शासन-प्रबंध चले। शारे धार्मिक एवं सांसारिक दोनों ही समस्याओं का समाधान करता है। धार्मिक समस्याओं का समाधान उन शरई आवश्यकताओं की पूर्ति द्वारा, जिनके प्रचार हेतु वे नियुक्त किये गये हैं और जिनके पालन कराने का उत्तरदायित्व उन पर है, किया जाता है। सांसारिक राजनीति में वे उन आवश्यकताओं के कारण हस्तक्षेप करते हैं जो मानव-समाज के लिए ज़रूरी हैं। यह बात भी मान्य हो चुकी कि समाज एवं संस्कृति मनुष्य के लिए आवश्यक है, अतः तत्सम्बंधी समस्याओं की देख-भाल भी उन्हें करना ज़रूरी है, कारण कि इन समस्याओं के समाधान की उपेक्षा के कारण मनुष्यों की सब आबादी नष्ट हो जायगी। हम इस बात का भी उल्लेख कर चुके हैं कि बादशाह तथा उसका गौरव सांसारिक आवश्यकताओं की रक्षा हेतु पर्याप्त है। यदि शासन शरा के आदेशों के अनुसार होने लगे तो वह पूर्ण समझा जायगा, कारण कि शारे मनुष्यों की आवश्यकताओं को सबसे अधिक अच्छा समझता है। इस तथ्य के अनुसार यदि शासन इस्लामी व्यवस्था के अनुसार है तो वह ख़िलाफ़त कहलायेगी और उसी से सम्बंधित समझी जायगी। यदि सल्तनत एवं शासन का धर्म से कोई सम्बंध न हो तो वह केवल सल्तनत होगी।

प्रत्येक दशा में हर सल्तनत के अधीन कुछ पद एवं विभाग होते हैं, जिनमें सल्तनत का कार्य विभाजित होकर लोगों में बँट जाता है। प्रत्येक पदाधिकारी अपने कर्त्तव्य का, जिसके लिए वह बादशाह के आदेशानुसार नियुक्त होता है, उत्तरदायी होता है। सर्वोच्च प्रभुत्व बादशाह को प्राप्त होता है। इस प्रकार सल्तनत का कार्य भली-भाँति सम्पन्न होता रहता है। ख़िलाफ़त के अधीन भी शासन-प्रबन्ध होता है और ख़िलाफ़त का धार्मिक उत्तरदायित्व भी विभिन्न पदों में विभाजित होता है, जिनकी व्यवस्था इस्लामी ख़लीफ़ाओं के हाथ में होती है। अतः हम अब उस धार्मिक

१. मुहम्मद साहब से तात्पर्य है।

उत्तरदायित्व एवं उन पदों का उल्लेख करते हैं जिनका सम्बंध विशेष कर खिलाफ़त से है। तदुपरान्त हम सल्तनत एवं राज्य के पदों एवं सेवाओं का उल्लेख करेंगे।

यह बात भली-भाँति ज्ञात होनी चाहिए कि धार्मिक अथवा शरा सम्बंधी उत्तरदायित्व अथवा पद, उदाहरणार्थ नमाज़, फ़तवा, क़ज़ा, जिहाद एवं एहतिसाब इत्यादि इमामते कुबरा[1] अथवा खिलाफ़त के अधीन हैं, कारण कि खिलाफ़त ही इन समस्त उत्तरदायित्वों का मूल सूत्र है और ये सब उसी से निकली हैं और उसी में समाविष्ट हैं। जाहिर है कि खिलाफ़त इस सामान्य दृष्टिकोण पर आधारित होती है कि इसके द्वारा क़ौम एवं मिल्लत की सांसारिक एवं धार्मिक आवश्यकताओं में उचित परिवर्तन किये जायँ और सब लोगों पर शरई आदेश जारी किये जायँ। इस कारण ये सब पद खिलाफ़त से सम्बंधित हैं और वास्तव में ये उसी की शाखाएँ हैं।

नमाज़ के इमाम

इनमें नमाज़ की इमामत का पद सब से ऊँचा है, अपितु राज्य एवं सल्तनत से भी श्रेष्ठ है, कारण कि वे तो खिलाफ़त के ही अधीन हैं। खिलाफ़त का यह एक सर्वोच्च पद है। इस दावे का प्रमाण हमें उस दलील से मिलता है जो सम्मानित सहाबा ने हज़रत अबू बक्र सिद्दीक़ को खिलाफ़त के लिए चुनते समय दी थी और ये शब्द कहे थे कि "जब मुहम्मद साहब ने धार्मिक मामले में आपका हमारे नेतृत्व के लिए चुनाव किया तो हम आपको अपने सांसारिक मामले में सरदार एवं ख़लीफ़ा क्यों न बना लें।[2]" यदि नमाज़ को राजनीति की अपेक्षा अधिक सम्मान न प्राप्त होता तो सहाबा का यह निष्कर्ष ठीक न होता।

जब यह बात सिद्ध हो गयी तो यह भी समझ लेना चाहिए कि मदीने में मस्जिदें दो प्रकार की थीं। एक बड़ी मस्जिदें, जहाँ लोग अधिक संख्या में एकत्र होकर नमाज़ पढ़ते थे, दूसरी प्रत्येक मुहल्ले की छोटी-छोटी मस्जिदें, जो मुहल्ले वालों के लिए सीमित थीं। वे ही वहाँ नमाज़ पढ़ते थे। इनमें बड़ी मस्जिदों की व्यवस्था या तो ख़लीफ़ा के हाथ में होती थी अथवा बादशाह, वज़ीर एवं क़ाज़ी के हाथ में, जिनको ख़लीफ़ा की ओर से अधिकार प्राप्त होता था। इन मस्जिदों में इमाम नियुक्त किये जाते थे जो पाँचों समय की नमाज़ जुमे एवं दोनों ईदों की नमाज़, चन्द्र तथा सूर्य-

१. सर्वोत्कृष्ट इमामत।
२. इब्ने ख़लदून ने इस दलील का इससे पूर्व भी उल्लेख किया है।

ग्रहण के समय की नमाज़ तथा वर्षा की प्रार्थना हेतु नमाज़ पढ़ाते थे। इमाम की नियुक्ति उत्कृष्ट एवं सर्वोपरि कार्य है ताकि सर्वसाधारण के हित की रक्षा में कोई विघ्न न पड़े। जो आलिम जुमे की (सामूहिक) नमाज़ को अनिवार्य समझते हैं वे इमाम की नियुक्ति को भी अनिवार्य मानते हैं।

जो मस्जिदें विशेष मुहल्लों तथा क़ौमों की हैं उनके अधिकार आस-पास के निवासियों के हाथ में रहते हैं। खलीफ़ा अथवा सुल्तान का उनसे कोई सम्बंध नहीं रहता। अब रहे इमामत के अन्य आदेश और उसकी शर्तें, तो वह फ़िक़ह के ग्रंथों में विस्तार से लिखीं हैं या "एहकामे सुल्तानिया[1]" के ग्रंथों में, उदाहरणार्थ मावर्दी इत्यादि के ग्रंथों में इनका उल्लेख किया गया है। अतः हम इस विवरण को अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। नमाज़ की इमामत के विषय में भूत काल के खलीफ़ाओं का यह आचरण रहा है कि वे इसको किसी अन्य पर नहीं टालते थे, अपितु इस उत्तरदायित्व को स्वयं पूरा करते थे और इस कार्य हेतु किसी को अपनी ओर से नियुक्त न करते थे। कई खलीफ़ा खास मस्जिद में अज़ान अथवा नमाज़ की प्रतीक्षा करते हुए आहत हुए। इससे यह सिद्ध होता है कि खलीफ़ा लोग स्वयं नमाज़ पढ़ाते थे और इस कार्य को किसी अन्य पर न छोड़ते थे। उमय्या वंश के खलीफ़ाओं के समय में भी यही प्रथा रही। वे इस सम्मान को इतना उत्कृष्ट समझते थे कि वे स्वयं यह उत्तरदायित्व निभाते थे। अब्दुल मलिक के विषय में प्रसिद्ध है कि उसने अपने हाजिब को आदेश दे दिया था कि "तुमको तीन व्यक्तियों के अतिरिक्त प्रत्येक को रोक लेने का अधिकार प्राप्त है। एक भोजन लानेवाले को, कारण कि विलम्ब की वजह से भोजन नष्ट हो जाता है, दूसरे अज़ान देनेवाले को, कारण कि वह अल्लाह के आदेश को पूरा करने के लिए लोगों को बुलाता है, उसका रोकना किसी प्रकार उचित नहीं, तीसरे डाक लानेवाले को, कारण कि डाक के रुक जाने अथवा उसमें देर लगने से राज्य का शासन अस्त-व्यस्त हो जाता है।" जब खिलाफ़त पर सल्तनत की छाप पड़ी और शाहाना शान एवं गौरव की उन्नति हुई तो खलीफ़ाओं ने सर्वसाधारण से अपने आपको पृथक् रखना एवं ऊँचा समझना प्रारम्भ कर दिया। खलीफ़ाओं ने इमामत के लिए अपना नायब नियुक्त करने की प्रथा चलायी। कभी-कभी वे स्वयं इमाम बन जाते और कभी ईद अथवा जुमे की नमाज़ पढ़ाते। इस प्रकार अब्बासी एवं उबैदीईन खलीफ़ाओं के समय में यही प्रथा रही।

१. राज्य के शासन-प्रबंध संबंधी ग्रंथ।

मुफ़्ती

इमाम के बाद मुफ़्ती का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए ख़लीफ़ा के वास्ते यह आवश्यक है कि आलिमों एवं शिक्षकों में से किसी योग्य व्यक्ति को छाँटकर फ़तवे का कार्य सुपुर्द करे और उसके कार्य को सुगम बनाये। जो फ़तवा देने के योग्य न हों उनको फ़तवा लिखने से पूर्णतः रोक दे, कारण कि फ़तवा लिखने का कार्य मुसलमानों के धार्मिक हित से अत्यधिक सम्बंधित है। इस लिए इसकी व्यवस्था ख़लीफ़ा के ही ज़िम्मे है और इसका भार उसी के कन्धों पर है। यदि कोई अयोग्य व्यक्ति इस पद पर नियुक्त हो जायगा तो लोगों को मार्गभ्रष्ट कर डालेगा। ख़लीफ़ा का यह भी कर्त्तव्य है कि शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान के प्रचार हेतु मस्जिदों में शिक्षकों एवं मुर्दरिसों को नियुक्त करे। यदि मस्जिदें बड़ी हैं जो सीधे सुल्तान की देख-रेख में हैं, तो इस प्रकार की धार्मिक संस्थाओं के लिए सुल्तान की अनुमति आवश्यक है। यदि साधारण मस्जिदें हैं तो सुल्तान की आज्ञा आवश्यक नहीं। संक्षेप में मुफ़्तियों एवं शिक्षकों पर कड़ी दृष्टि रखी जाय। जो जिस उत्तरदायित्व का पात्र न हो उसे वह उत्तरदायित्व कदापि न दिया जाय, अन्यथा नेतृत्व के इच्छुक मार्गभ्रष्ट हो जायँगे और भलाई चाहनेवाले भटक जायँगे। इसी लिए हदीस में उल्लेख हुआ है—"तुममें से जो कोई निःसंकोच फ़तवा दे देता है, वह मानो नरक का भोजन बनने के लिए अधिक तैयार होता है।" इसी महत्त्व के कारण सुल्तानों का यह कर्त्तव्य हो गया कि वे जैसा उचित समझें, लोगों को फ़तवे एवं शिक्षा-दीक्षा की अनुमति दें। जो इस कार्य के योग्य न हो उसे पूर्णतः रोक दें।

क़ाज़ी

अब रहा क़ाज़ी का पद, तो यह भी ख़िलाफ़त के उत्तरदायित्व में सम्मिलित है। ख़िलाफ़त का सबसे बड़ा कर्त्तव्य यह है कि लोगों के पारस्परिक झगड़ों का इस प्रकार निर्णय करे कि वे सर्वदा के लिए समाप्त हो जायँ, किन्तु निर्णय के लिए यह आवश्यक है कि वह क़ुरान शरीफ़ एवं सुन्नत के आदेशों के अनुसार हो। ख़िलाफ़त से क़ज़ा[1] के इसी गहरे सम्बंध के कारण इसको ख़िलाफ़त का उत्तरदायित्व माना गया है। इस्लाम के प्रारम्भिक काल में ख़लीफ़ा लोग इस पद को स्वयं सँभालते थे और अपने अतिरिक्त किसी को यह पद न प्रदान करते थे। हज़रत उमर पहले

१. क़ाज़ी का पद।

ख़लीफ़ा थे जिन्होंने क़ज़ा के पद पर अन्य लोगों को नियुक्त किया। मदीने में वे स्वयं तथा अबू दरदा क़ज़ा के कार्य को सँभालते थे। बसरे में आपने शुरैह को तथा कफ़े में अबू मूसा अशअरी को क़ाज़ी का पद प्रदान कर दिया था। इस सम्बंध में अबू मूसा को नियुक्त करते समय हज़रत ने एक पत्र लिखा जो क़ज़ा के आदेशों एवं निर्णय के विषय में एक पूर्ण विधान है। इसी महत्व के कारण हम उसे यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

"कज़ा निःसन्देह एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व एवं ऐसी सुन्नत है जिसका पालन करना आवश्यक है। इस कारण सोच-समझकर इस उत्तरदायित्व को पूरा करो और उन बातों का ध्यान रखो जिनसे न्याय की उपेक्षा न हो सके। अपने वचन का पालन करो। अपने सामने तथा अपने न्यायालय में न्याय की उपेक्षा मत करो, ताकि शक्तिशाली शरीफ़ लोग तुमसे अनुचित पक्षपात की आशा न करें और शक्तिहीन लोग तुम्हारे न्याय की ओर से निराश न हो जायँ। वादी से साक्षी माँगो और अपराध अस्वीकार करनेवाले से शपथ लो। मुसलमानों में आपस में समझौता करा देना बड़ा अच्छा है, किन्तु ऐसा समझौता न हो जिससे कोई हराम चीज़ हलाल अथवा हलाल चीज़ हराम हो जाय। यदि कल तुम कोई निर्णय कर चुके हो तो उस पर ठंडे दिल से सोचो। यदि न्याय तुम्हें किसी अन्य ओर ज्ञात हो तो न्याय का पालन करने में तुम किसी प्रकार का संकोच एवं लज्जा मत करो, कारण कि न्याय ही सर्वोत्कृष्ट है। सत्य की ओर लौट आना, असत्य पर दृढ़ रहने से कहीं अच्छा है। जो बात तुम अल्लाह की किताब एवं रसूल की सुन्नत में न पाओ और तुम्हें उसके निर्णय में कोई झिझक हो तो उस निर्णय के उदाहरण एवं नज़ीरें सामने लाओ और उनके अनुसार निर्णय करो। जो व्यक्ति किसी ऐसी वस्तु के विषय में दावा करे जिसका कोई प्रमाण न हो, अथवा किसी ऐसे साक्षी का हवाला दे जो उपस्थित न हो, तो निर्णय को गवाही की प्राप्ति तक टाल दो और स्थगित रखो। यदि वह गवाह पेश कर दे तो उसके विषय में निर्णय दो, अन्यथा नहीं। सन्देह दूर करने का केवल यही उपाय हो सकता है और अज्ञानता केवल इसी प्रकार दूर हो सकती है। एक मुसलमान की गवाही दूसरे मुसलमान के विषय में स्वीकार की जा सकती है। केवल उस व्यक्ति की गवाही स्वीकार नहीं की जा सकती जिसको किसी अपराध के दंड में कोड़े लग चुके हों, अथवा

उसकी गवाही झूठी सिद्ध हो चुकी हो, अथवा यह प्रमाण मिल जाय कि वह दास की श्रेणी में है। कारण कि अल्लाह शपथ के कारण क्षमा कर देता है। अभियोगी को कभी मत डाँटो फटकारो, क्योंकि न्याय की माँग करने-वालों को न्याय प्रदान करने में बड़ा पुण्य है। इसी से संसार में प्रसिद्धि होती है।"

भूत काल के ख़लीफ़ाओं ने यद्यपि क़ज़ा का उत्तरदायित्व दूसरों के ज़िम्मे रखा था, किन्तु जो समस्याएँ सर्वसाधारण की राजनीति से सम्बंधित थीं, उनका समाधान करना ख़लीफ़ाओं का ही विशेष उत्तरदायित्व होता था। उदाहरणार्थ जिहाद का प्रबंध, राजधानी की रक्षा का प्रबन्ध तथा सीमांतों की प्रतिरक्षा इत्यादि कार्य वे स्वयं ही करते थे। उन्हें वे किसी अन्य पर न छोड़ते थे, कारण कि वे बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य थे। अन्य लोगों को केवल अभियोगों के निर्णय का उत्तरदायित्व दिया जाता था। ख़लीफ़ा लोग अपना कार्य कुछ हलका करने के लिए उनको इस कार्य हेतु अपना उत्तराधिकारी बनाते थे। फिर क़ज़ा का उत्तरदायित्व उसी को सौंपते थे जो वंश अथवा कुल में उनकी "असबियत" में ही सम्मिलित होता था। किसी अपरिचित को यह पद न दिया जाता। क़ज़ा के सम्बंध में आदेश तथा शर्तें फ़िक़्ह अथवा "एह-कामे सुल्तानिया" के ग्रन्थों में मिल जायँगी। ख़लीफ़ाओं के शासनकाल में क़ाज़ी को केवल अभियोगों के निर्णय का अधिकार था, किन्तु शनैः-शनैः क़ाज़ियों के जिस प्रकार अधिकार बढ़ते चले गये, अन्य अधिकार भी उन्हीं को सौंपे जाने लगे। आगे चलकर अभियोगों के निर्णय के अतिरिक्त सर्व साधारण के हित की रक्षा भी उन्हीं के सुपुर्द हुई। उदाहरणार्थ, पागलों, अनाथों, दरिद्रों एवं मूर्खों की धन-सम्पत्ति की देख-भाल, वसीअतों का पालन, वक़्फ़ों का प्रबन्ध, विधवाओं का, यदि उनकी देख-रेख करनेवाला कोई न हो तो, विवाह, मार्गों एवं घरों की देख-भाल, दस्तावेज़ों की जाँच-पड़ताल, साक्षियों की छान-बीन, अमीनों एवं नायबों की देख-रेख और इस विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करना कि कौन सच्चा है और कौन विश्वास के अयोग्य।

ख़लीफ़ा लोग पहले क़ाज़ी को मज़ालिम[1] के निर्णय का भी अधिकार दिया करते थे। इस प्रकार फ़ौजदारी विभाग का भी उसे हाकिम बनाते थे, हालाँ कि वह एक ऐसा पद है जो एक प्रकार से बादशाह के अधिकारों में सम्मिलित है और

१. ऐसे अभियोग, जिनका शरा में उल्लेख नहीं।

दूसरे प्रकार से क़ाज़ी के उत्तरदायित्व में भी। इसके लिए अपार शक्ति की आवश्यकता है ताकि वह अत्याचारी को डाँट-डपट कर, तथा दंड देकर उसकी उद्दंडता को सर्वदा के लिए समाप्त कर सके। सुल्तान के अतिरिक्त केवल क़ाज़ी तथा किसी अन्य में इतनी शक्ति कहाँ। क़ाज़ी का कर्त्तव्य यहीं समाप्त हो जाता है कि वह गवाही सुने, दोनों पक्षों का इज़हार ले, प्रत्येक वस्तु की छान-बीन में सूझ-बूझ से कार्य करे और यदि सत्य बात का पता न चल सके तो उसे किसी अन्य तिथि पर टाल दे। दोनों पक्षवालों को संधि पर राज़ी करे, गवाहों से हलफ़ ले, क़ाज़ी के अधिक से अधिक ये ही अधिकार हैं।

भूतकाल के खलीफ़ा लोग क़ज़ा के उत्तरदायित्व को स्वयं संभालते थे। मुहतदी अब्बासी[1] तक यही प्रथा चली आयी। कभी-कभी इस कार्य को वे क़ाज़ियों को भी सौंप दिया करते थे। उदाहरणार्थ, हज़रत उमर[2] ने अबू इदरीस खालानी[3] को क़ाज़ी का पद प्रदान कर दिया था। मामून ने यहया बिन अकसम को क़ाज़ी नियुक्त किया था और मोतसिम ने इब्ने अबी दाऊद[4] को। कभी-कभी सैनिक दस्ते भी जिहाद हेतु क़ाज़ी के नेतृत्व में भेजे जाते थे, मामून के राज्यकाल में यहया बिन अकसम ने सेनाएँ लेकर रूम[5] के भू-भाग में कई बार जाकर जिहाद किये। इसी प्रकार क़ाज़ी मुनज़र बिन सईद अब्दुर्रहमान नासिर उमवी उन्दुलस से कई बार मुजाहिदों को लेकर जिहाद के लिए गया। क़ाज़ी को सेनापति के पद पर नियुक्त करना खलीफ़ाओं, अधिकार-सम्पन्न वज़ीरों अथवा प्रतापी सुल्तानों के सुपुर्द होता था।

शुर्ता[6]

अब्बासी एवं उन्दुलुस में उमय्या सल्तनत में एवं उबैदीईन के राज्यकाल में मिस्र तथा मग़रिब में अपराधों की देख-भाल एवं छान-बीन तथा दंड देना साहेबुश् शुर्ता[7] के सुपुर्द होता था। इस प्रकार यह दूसरा धार्मिक पद था जो इन सल्तनतों में

१. अल-मुहतदी बिल्लाह १४वाँ अब्बासी खलीफ़ा (८६९-८७० ई०)।
२. कुछ पोथियों के अनुसार हज़रत अली।
३. सम्भवतः उसका पूरा नाम अइज़ल्लाह बिन अब्दुल्लाह था।
४. अहमद बिन अबी दाऊद की मृत्यु २४० हि० (८५४ ई०) में हुई।
५. बैज़न्टाइन।
६. पुलिस।
७. मुख्य पुलिस अधिकारी।

शरा का उत्तरदायित्व समझा जाता था। साहेबुश शुर्ता के अधिकार क़ाज़ी से कुछ अधिक होते थे। जिन लोगों पर अपराध का सन्देह होता था, उन्हें वह न्यायालय में पेश करता था। अपराधों के पूर्व अपराध की रोक-थाम के लिए वह दंड भी देता था। शरई क़ानूनों के आधार पर वह लोगों को दंड दिला सकता था। जब दंड का आदेश हो जाता तो वह उनको पूरा कराता। क़सास[1] के ख़ून के अपराधियों के हेतु प्रयत्न करता। निरंतर अपराध करने वालों को दंड देना भी उसी के ज़िम्मे होता था, किन्तु जब ख़िलाफ़त का महत्व भुला दिया गया तो क़ज़ा एवं साहेबुश् शुर्ता दोनों के पद भी समाप्त कर दिये गये। मज़ालिम की देख भाल का उत्तरदायित्व सुल्तानों ने स्वयं सँभाला, चाहे ख़लीफ़ा की अनुमति से अथवा बिना उसकी अनुमति के। साहेबुश् शुर्ता के कर्त्तव्य दो पदों में विभाजित हो गये। एक पद के अधीन अपराधों की छान-बीन, दंड दिलवाना, अपराधियों के शरीर के अंग कटवाना एवं क़सास के मामले आये। इस पद पर एक पूर्णत:पृथक् हाकिम बिठाया गया जो केवल राजनीति की दृष्टि से, न कि शरा की दृष्टि से आदेश जारी करता था। उसको कभी वाली कहते और कभी शुर्ता। दूसरे पद के अधीन उन अपराधों का दंड था, जिनका शरा में उल्लेख नहीं। कुछ ऐसे भी अपराध इसके अधीन थे जिनका शरा में उल्लेख है। इस पद की ज़िम्मेदारी भी क़ाज़ी की अन्य ज़िम्मेदारियों में सम्मिलित कर दी गयी थी। इस प्रकार हमारे समय तक पदों के विभाजन की यही प्रथा चली आ रही है।

अब क़ज़ा का पद सल्तनत की "असबियत" से पृथक् हो गया है कारण कि जब तक ख़िलाफ़त धार्मिक रही तो क़ज़ा की गणना भी धार्मिक कार्यों में होती रही तथा "असबियत" वाले अरब ही क़ज़ा के पद को सँभालते अथवा उन लोगों को प्रदान करते थे जो ख़लीफ़ाओं के सहायक, दास अथवा, आश्रित होने के कारण उन्हीं की "असबियत" में सम्मिलित होते थे। ख़लीफ़ा को उनका विश्वास होता था कि वे अपने उत्तरदायित्व को भली-भाँति निभा सकेंगे, किन्तु जब आगे चलकर ख़िलाफ़त का गौरव समाप्त हुआ और राज्य एवं सल्तनत की उसपर छाप पड़ी तो इस प्रकार के धार्मिक पद ख़िलाफ़त से पृथक् हो गये, कारण कि ये उपाधियाँ बादशाह को शोभा न देती थीं और न उसके अनुकूल थीं। फिर युग बीतने पर सल्तनत अरबों के हाथ से पूर्णत: निकल गयी और अरबों के अतिरिक्त अन्य लोग सिंहासन के अधिकारी बन गये। उदाहरणार्थ—तुर्क, बरबर इत्यादि। तब तो ख़िलाफ़त के ये पद ख़िलाफ़त

१. ख़ून का बदला ख़ून।

की "असबियत" से पूर्ण रूप से पृथक् हो गये। यह कार्य इस प्रकार सम्भव हुआ कि अरब शरीअत को अपना धर्म समझते थे और जानते थे कि मुहम्मद साहब उन्हीं में पैदा हुए थे और उनके लाये हुए शरीअत के आदेश दूसरी क़ौमों में प्रचलित हैं, किन्तु जो लोग अरब न थे उनके विचार ऐसे न थे। वे तो इन पदों को केवल इस लिए महत्त्व देते थे कि वे मुसलमान थे। वे उन पदों को उन लोगों को प्रदान करते थे जिन्हें पिछले खलीफ़ाओं के युग में इसका अनुभव हो जाता था।

इस प्रकार के क़ाज़ी समृद्धि में पले हुए तथा भोग-विलास के आदी हो चुकते थे, बदवियत एवं सरल जीवन को पूर्णतः भुला चुकते और शहरी जीवन के पूरे आदी हो चुकते थे । उनकी आदतें अमीराना, रंग-ढंग शाहाना एवं वासनाओं से बचने की योग्यता समाप्त हो चुकती थी । संक्षेप में खिलाफत का युग समाप्त होने के उप-रान्त जब सल्तनत का युग प्रारम्भ हुआ तो क़ज़ा इत्यादि के पद उपर्युक्त दुर्दशा को प्राप्त नगर वालों के हिस्से में आये, कारण कि वे अपने कुल के महत्त्व को भुला चुके थे और नगर के जीवन की आदतें भी उनमें बहुत बड़ी सीमा तक आ गयी थीं, अतः इन लोगों का सम्मान समाप्त हो गया। उन नगर वासियों के समान जो भोग-विलास एवं समृद्धि के आनन्द में डूबे रहते थे और सल्तनत की "असबियत" से दूरका भी सम्बन्ध न रखते थे, अपितु सल्तनत पर निर्भर होते थे, क़ाज़ी तथा शरीअत के आलिम भी अपमानित हो गये। सल्तनत में उनका सम्मान केवल इस कारण होता कि शरा सम्बन्धी आदेश उनके द्वारा प्राप्त होते थे और ये लोग शरा के आदेशों के रक्षक समझे जाते थे, अन्यथा उनको कोई आदर-सम्मान न प्राप्त होता था । शरा सम्बन्धी पदों का कुछ आदर सम्मान शेष था, अतः सुल्तानों की सभाओं में इनका कुछ आदर-सम्मान हो जाता था, किन्तु शासन-प्रबंध एवं राज्य-व्यवस्था में इन्हें कोई अधिकार प्राप्त न था। प्रथानुसार वे भी दरबारों में उपस्थित हो जाते थे किन्तु वास्तव में उन्हें कोई महत्त्व हासिल न था। अधिकार सम्पन्न एवं प्रतिभाशाली तो वही होते हैं जिनके हाथ में शक्ति हो । जो लोग शक्ति एवं अधिकार से शून्य हों उनको शासन प्रबंध से क्या मतलब । केवल शरा सम्बन्धी आदेशों की उनसे पूछ-ताछ की जाती थी, फ़तवे माँगे जाते और बस! उनका उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता था।

कुछ लोगों का यह मत है कि वास्तविक बात कुछ और है । वह इस प्रकार कि क़ाज़ियों एवं धार्मिक आलिमों का सम्मान इस कारण नहीं घटा कि वे सल्तनत की "असबियत" से सम्बन्ध नहीं रखते थे,अपितु बादशाहों ने स्वयं इन बुज़ुर्गों को परामर्श गोष्ठियों से पृथक् कर दिया जो वास्तव में बड़ा ही अनुचित कार्य था, कारण कि परा-

मर्श-गोष्ठियों में सम्मिलित होने का उनसे अधिक पात्र कौन हो सकता था जब कि उनके विषय में मुहम्मद साहब का महत्त्वपूर्ण आदेश वर्त्तमान है "आलिम लोग नबियों के उत्तराधिकारी नियुक्त किये गये हैं ।" तो यह समझ लीजिए कि लोगों का यह विचार निराधार है इस कारण कि बादशाहों एवं सुल्तानों का शासन प्रबंध सभ्य सिद्धांतों पर आधारित होता है । यदि ऐसा न हो तो वे शासन हाथ से खो बैठें । इस प्रकार सभ्यता के नियमों के आधार पर यह परमावश्यक है कि फ़क़ीहों एवं क़ाज़ियों को शासन-प्रबंध एवं राज्य-व्यवस्था से पृथक् रखा जाय और उनमें हस्तक्षेप का अधिकार उनको न दिया जाय । ज़ाहिर है कि परामर्श अथवा राज्य-व्यवस्था की अन्य समस्याओं में "असबियत" वाले ही अपने महत्त्व को प्रदर्शित कर सकते हैं। वे पूर्ण रूप से अधिकार-सम्पन्न होते हैं और किसी कार्य को करने अथवा न करने का उन्हें पूर्ण अधिकार होता है, किन्तु जिसमें "असबियत" नहीं होती उसे न अपने ऊपर अधिकार होता है और न वह वासनाओं का दमन कर सकता है । जो अन्य लोगों पर भार हो और अन्य लोगों के भरोसे पर जीवित हो, वह परामर्श-गोष्ठी में बैठकर क्या कर सकेगा और उसका क्या महत्त्व होगा । शरा सम्बन्धी आदेशों पर विचार विनिमय होने लगे और क़ाज़ी से फ़तवा माँगा जाय तो इस क्षेत्र में वह निःसन्देह महत्त्वपूर्ण योगदान करेगा, किन्तु राजनीति एवं शासन-प्रबन्ध से उस बेचारे का क्या सम्बन्ध ? क्यों कि उसमें "असबियत" ही नहीं और न उसे "असबियत" की आवश्यकताओं एवं आदेशों से कोई मतलब होता है । बादशाह एवं अमीर उनकी अपने प्रति सद्भावना एवं धर्म के प्रति निष्ठा के कारण उनका आदर सम्मान करते हैं। उनके हृदय में प्रत्येक उस व्यक्ति का आदर सम्मान होता है जो किसी प्रकार धर्म से अपना सम्बन्ध रखता है।

रहा मुहम्मद साहब का कथन कि 'आलिम लोग नबियों के उत्तराधिकारी नियुक्त हुए' हैं तो यह वास्तव में आजकल के उन अधिकांश फ़क़ीहों के अनुकूल नहीं जो शरीअत के आदेशों को कंठस्थ कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, एबादत किस प्रकार होनी चाहिए, अभियोगों का निर्णय किस प्रकार होना चाहिये इत्यादि बातें जिनका उनसे सम्बन्ध होता है, वे भली-भाँति बता सकते हैं । आजकल के फ़क़ीहों एवं क़ाज़ियों की योग्यता की अंतिम सीमा यही है। उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जो अपने बताये हुए धार्मिक-सिद्धांतों का उदाहरण अपनी कृतियों से दे सकते हैं। भूतकाल के पवित्र लोग धर्मनिष्ठ थे और पवित्र जीवन व्यतीत करते थे । शरा सम्बन्धी समस्त बातों पर शोध की दृष्टि डाल सकते थे । उनमें स्वयं शरा में वर्णित गुण पाये जाते थे । जिन फ़क़ीहों में यह योग्यता हो कि वे वचन एवं कर्म दोनों से शरा की व्यवस्था कर सकें, वे निःसन्देह

नबी के उत्तराधिकारी हैं। उदाहरणार्थ, अलकुशैरी के रिसाले के लेखक को प्रस्तुत किया जा सकता है। संक्षेप में जिनमें वचन एवं कर्म दोनों ही के उत्तम गुण पाये जाते हों, वे वास्तव में आलिम भी हैं और नबी के उचित उत्तराधिकारी भी। उदाहरणार्थ, ताबेइन, फ़क़ीह लोग, भूतकाल के पवित्र लोग या चारों मुजतहिद इमाम अथवा जो भी उन बुजुर्गों के पदचिह्नों पर चले वह नबी का वास्तविक उत्तराधिकारी है। मेरा तो यह दृष्टिकोण है कि जो लोग केवल उपासक हैं वे उस फ़क़ीह से जो उपासक नहीं नबी का उत्तराधिकारी बनने के अधिक योग्य है, कारण कि उपासक कम से कम एक गुण में तो उनका उत्तराधिकारी है ही, किन्तु फ़क़ीह किसी चीज में भी नबी का वारिस नहीं। वह तो केवल ज़बान का धनी है। कर्म से उसका कोई सम्बंध नहीं। आजकल के अधिकांश फ़क़ीहों के विषय में यह बात सच है।

अदालत

यह भी एक धार्मिक पद है जो क़ज़ा के अधीन स्थापित होता है और क़ाज़ी के अधीन ही रहता है। उस पद का अधिकारी क़ाज़ी के समक्ष लोगों के अधिकारों के विषय में प्रमाण प्रस्तुत करता है। जब अदालत एवं क़ज़ा-विभाग में गवाही का मामला पेश होता है और मत-भेद हो जाता है तो उसका प्रमाण अटल समझा जाता है। जिसके हक़ की वह पुष्टि करे यह ठीक है और जिसकी न करे उसे कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता। वह एक पंजिका भी रखता है जिसमें लोगों की धन-सम्पत्ति, उनकी इमलाक, उनके ऋण तथा उनके सभी मामलों का सविस्तार विवरण लिखा होता है, किन्तु यह पद उसी के सुपुर्द होता है जो स्वयं शरा के अनुसार सच्चा मान लिया गया हो और जिस पर कभी किसी प्रकार का दोष अथवा आरोप न लगा हो। लेन-देन के सभी मामले, दस्तावेज की भाषा एवं तत्सम्बन्धी अन्य बातों की देख-भाल, शरा सम्बन्धी आदेशों की पृष्ठ-भूमि में उनकी जाँच, दस्तावेज़ों का जारी करना, उसी के हाथ में होता है। क्योंकि ये सब उत्तरदायित्व फ़िक़ह की पृष्ठ-भूमि में सम्पन्न होते हैं, अतः उसका फ़िक़ह के ज्ञान से परिचित होना भी आवश्यक होता है। इन्हीं प्रतिबन्धों अथवा शर्तों की दृष्टि में, अथवा इस पद के उत्तरदायित्व को कुशलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए यह कार्य कुछ विशेष लोगों तक सीमित रह गया है और यह समझा जाने लगा है कि वे लोग सच्चाई के ठेकेदार हैं तथा वे ही इस कार्य के विशेष रूप से उपयुक्त हैं। हालाँ कि तथ्य ऐसा नहीं है। सच्चाई की शर्त तो उनके साथ केवल यह पद संभालने के लिए लगा दी गयी।

क़ाज़ी का कर्त्तव्य है कि वह उनकी छान-बीन करता रहे और उनके स्वभाव एवं उनकी आदतों का निरीक्षण करता रहे ताकि सच्चाई की शर्त किसी समय भी ओझल न हो और उसकी उपेक्षा न की जाने लगे, कारण कि लोगों के हक़ों की रक्षा करना क़ाज़ी के ही ज़िम्मे है और उसी के कंधों पर उसका भार है। वही वास्तव में इन सब खोजों एवं छान-बीन का उत्तरदायी है।

इस पद के बन जाने से क़ाज़ियों को अभियोगों का निर्णय करने में बड़ी सुगमता होती है कारण कि नगर दूर-दूर तक फैले होते हैं और जब वहाँ से क़ाज़ी के समक्ष अभियोग आते हैं और साक्षियों की सत्यता के विषय में क़ाज़ी को कुछ पता नहीं चल पाता तो क़ाज़ी उन्हीं अधिकारियों पर भरोसा करने पर विवश होता है और उन्हीं के द्वारा छान-बीन करके निर्णय करता है। नगरों में इन अधिकारियों के बैठने के स्थान निश्चित होते हैं जहाँ वे विधिपूर्वक बैठते हैं और मामलेवाले अपने लेन-देन उनसे निर्गत कराते हैं। वे उसे अपनी पंजिका में लिख लेते हैं।

अदालत शब्द का प्रयोग एक तो उसी पद के लिए होता है जिसका सविस्तर उल्लेख ऊपर किया गया है। दूसरी अदालत वह है जो शरा के अनुसार झूठ के मुकाबले में बोली जाती है। कभी इन दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता है और कभी पृथक्-पृथक्।

हिस्बा

एहतेसाब-विभाग दीनी तथा धार्मिक पद समझा जाता था। एक प्रकार से वह धार्मिक प्रचार का एक विभाग था। इस पद के लिए उचित व्यक्ति की नियुक्ति करने का उत्तरदायित्व मुसलमानों के खलीफा पर होता था। वह जिसको चाहता था, इस कार्य के लिए नियुक्त करता था। फिर वह अपने सहायक नियुक्त कर लेता था और लोगों की कुकृतियों एवं दुराचार की खोज में लगा रहता और पता लगाता रहता था। पता लगाने पर उचित दंड प्रदान करता था और प्रत्येक बात में लोगों पर प्रतिबन्ध लगाता था कि वे कोई ऐसे कार्य न करें जिनसे सर्व साधारण के हित में कोई बाधा पड़े। उदाहरणार्थ, मार्गों पर भीड़ न लगायें, पशुओं एवं नौकाओं पर अनुचित भार न लादें, जिन घरों के गिरने का भय हो उनको घरों के स्वामी स्वयं गिरवा दें ताकि वे अचानक गिर जाने से यात्रियों को हानि न पहुँचा सकें। पाठशालाओं के गुरु, बालकों एवं विद्यार्थियों की आवश्यकता से अधिक मार-पीट न करने पायें। संक्षेप में इसी प्रकार के दायित्व मुहतसिब के कर्त्तव्यों में सम्मिलित थे। मुहतसिब इस

बात की प्रतीक्षा न करता था कि ये सब झगड़े अभियोग के रूप में ही उसके समक्ष प्रस्तुत किये जायँ और तब वह उनपर विचार करे। वह स्वयं उन कार्यों की देख-भाल और सब हालात पर कड़ी दृष्टि रखता था और जो कुछ उसे ज्ञात होता उसके अनुसार वह उचित कार्यवाही करता था। सभी अभियोगों का निर्णय उसके ज़िम्मे न था, अपितु केवल उन्हीं का जो आर्थिक लेन-देन एवं कारोबार में अनुचित व्यवहार से सम्बन्धित होते थे। उदाहरणार्थ, तोल एवं वजन में जो बेईमानी तथा धूर्तता होती उसकी रोक-थाम उसी के ज़िम्मे थी। ऋण न अदा करने वालों से ऋण अदा करवाना भी मुहतसिब के ही ज़िम्मे होता था। संक्षेप में ऐसे समस्त मामले जिनमें न गवाही की आवश्यकता होती है और न कोई विशेष निर्णय करने की, वे सब उसी के सिपुर्द होते थे। इस प्रकार मुहतसिब के हाथ में ऐसे मामले दिये जाते हैं, जो प्रायः पेश आते रहते थे और जिनका निर्णय आसान होता था। क़ाज़ी को उन अभियोगों से पृथक् रखा जाता था। इस प्रकार मुहतसिब, क़ाज़ी का सहायक होता था और अन्य कार्यों में उसका हाथ बँटाता था।

इसी कारण बहुत-सी इस्लामी सल्तनतों में, उदाहरणार्थ—उबैदीईन के राज्य में, मिस्र तथा मग़रिब में और उन्दुलुस में उमय्या शासकों के राज्यकाल में मुहतसिब की नियुक्ति क़ाज़ी की इच्छानुसार होती थी। फिर जब सल्तनत ने खिलाफत का स्थान ले लिया और राजनीति सम्बन्धी सभी समस्याएं सीधे सुल्तान की देख-रेख में सुलझायी जाने लगीं तो एहतिसाब भी उसी के अधीन हो गया। वह जिसे चाहता, मुहतसिब नियुक्त करता था।

सिक्के तथा टकसाल

टकसाल का अधीक्षक प्रचलित सिक्कों की देख-भाल रखता था और उसे प्रत्येक खोट एवं हानि से बचाता था। प्रचलित सिक्के के सम्बन्ध में प्रत्येक प्रकार की शिकायत को दूर करना उसी के ज़िम्मे था, फिर वह इस बात की भी देख-रेख रखता था कि सिक्के पर बादशाह का चिह्न अथवा नाम इत्यादि शाही ठप्पे से खोदा जा रहा है या नहीं। इसके लिए एक लोहे का ठप्पा होता था जिसपर विशेष चिन्ह खुदे होते थे। दिरहम अथवा दीनार की तोल को ठीक करके ठप्पा उसपर रखा जाता था और हथौड़े से उसपर चोट मारी जाती थी और ठप्पे के पूरे चिन्ह दिरहम अथवा दीनार पर उभर आते थे। ये चिह्न इस बात के द्योतक होते थे कि सिक्का खरा है और लेन-देन में प्रयोग के योग्य है। सिक्के के खरे होने का माप-

दंड पृथक् स्थापित होता था जिसके अनुसार खरे-खोटे सिक्कों का निर्णय किया जाता था। जब किसी देश अथवा राज्य में सिक्के के खरे होने का कोई नियत माप दंड निर्धारित हो जाता तो वह माप दंड एक कसौटी हो जाता था। जो सिक्का उसके अनुसार होता वह खरा और जो कम अथवा बदला होता वह खोटा समझा जाता था और चलने योग्य न रहता था।

इन सब बातों की देख भाल टकसाल के अधीक्षक के सिपुर्द होती थी। क्यों कि यह उत्तरदायित्व आम मुसलमानों के अधिकारों से सम्बन्धित था। अतः यह एक प्रकार से धार्मिक उत्तरदायित्व बन गया था। इसकी गणना ख़िलाफ़त के उत्तर-दायित्व में हो गयी थी। इसी आधार पर एक समय क़ाज़ी इसकी भी देख भाल करता था, किन्तु आजकल हमारे युग में जिस प्रकार एहतेसाब-विभाग सुल्तान के हाथ में आया उसी प्रकार टकसाल भी सुल्तान की देख-रेख में आ गया। यह ख़िलाफ़त के उत्तरदायित्व की अन्तिम कड़ी थी, जिसका उल्लेख हुआ।

ख़िलाफ़त के कुछ उत्तरदायित्व एवं कर्त्तव्यों का इस कारण उल्लेख नहीं किया गया कि वे अब समाप्त हो चुके हैं। कुछ ऐसे कार्य हैं जो सुल्तान के उत्तरदायित्व में सम्मिलित हैं। उदाहरणार्थ, विज़ारत तथा इमारत, युद्ध एवं ख़राज से सम्बन्धित पद तो इनका उल्लेख जिहाद के विवरण के बाद आयेगा। जिहाद से सम्बन्धित पद भी लग भग समाप्त हो गये हैं और खिलाफ़त के साथ इनका भी अन्त हो चुका है, किन्तु किन्हीं-किन्हीं सल्तनतों में अब भी इनकी कुछ प्रथाएँ शेष हैं, किन्तु इनके समस्त अधिकार सुल्तानों के हाथ में हैं। इसी प्रकार वंशों की जाँच का विभाग भी ख़िलाफ़त के साथ समाप्त हो गया। इस विभाग से ख़िलाफ़त एवं बैतुल माल में हक़ों को प्रमाणित करने के लिए काम लिया जाता था। संक्षेप में आज-कल की समस्त सल्तनतों में वर्त्तमान राजनीतिक तौर-तरीकों ने ख़िलाफ़त के उत्तर-दायित्व का पूरा-पूरा स्थान ले लिया है।

(३२) अमीरुल मोमिनीन की उपाधि ख़िलाफ़त के युग की एक प्राचीन यादगार है और इस उपाधि का खिलाफ़त के युग में ही सर्वप्रथम प्रयोग हुआ

हज़रत अबू बक्र से बैअत होने के उपरान्त समस्त मुसलमान आपको अल्लाह के रसूल के ख़लीफ़ा के नाम से पुकारते थे। जब तक आप जीवित रहे यह नाम इसी प्रकार चलता रहा। आप के पश्चात् जब हज़रत उमर ख़लीफ़ा हुए तो प्रारम्भ

में आपको मुसलमान रसूलल्लाह के ख़लीफ़ा का ख़लीफ़ा कहने लगे, किन्तु यह उपाधि कुछ लम्बी होने के कारण जबान पर बोझ मालूम होने लगी क्योंकि इसका अधिक प्रयोग होता रहता था, अतः इसका उच्चारण कठिन हो गया। यह भी सोचा गया कि खिलाफ़तों के परिवर्तन से यदि इसी प्रकार नाम जोड़े जाने लगे तो इस उपाधि का कोई अर्थ न रहेगा और इससे कुछ भी पता न चल सकेगा। अतः मुसलमान लोग इस उपाधि के स्थान पर अन्य उचित उपाधियों का हज़रत उमर के लिए प्रयोग करने लगे। जाहिलियत के युग में अरब लोग मुहम्मद साहब को 'अमीर मक्का' अथवा 'अमीर हिज़ाज' कहा करते थे। सम्मानित सहाबा साद बिन अबी बक़्क़ास को "अमीरुल मोमिनीन[1]" कहते थे, कारण कि क़ादिसया के युद्ध में आप मोमिनों के सेनापति नियुक्त हुए थे और यही सहाबा उस समय मुसलमानों में अधिकारवाले समझे जाते थे।

फिर कभी-कभी कुछ सहाबा ने हज़रत उमर को अमीरुल मोमिनीन की उपाधि से सम्बोधित किया तो समस्त श्रोताओं ने इस उपाधि को पसन्द किया। कुछ लोगों का मत है कि अब्दुल्लाह बिन जहश[2] ने इस उपाधि का आविष्कार किया, कुछ का मत है कि उमर बिन आस तथा मुग़ीरा बिन शोबा ने इस उपाधि का प्रयोग प्रारम्भ किया। यह भी कहा जाता है कि एक दूत किसी इस्लामी दस्ते की विजय के सुखद समाचार लाया और मदीना पहुँचा तो हज़रत उमर को पूछने लगा और कहने लगा कि अमीरुल मोमिनीन कहाँ हैं ? धर्मनिष्ठ मुसलमानों ने इस उपाधि को सुना तो बहुत पसन्द किया और इस आविष्कार की प्रशंसा करते हुए कहा कि वास्तव में उसने बड़ी उत्तम उपाधि दी है, हज़रत उमर, मोमिनीन के अमीर ही तो हैं।" तब से सब लोग उन्हें इसी उपाधि द्वारा सम्बोधित करने लगे और इसकी ऐसी प्रसिद्धि हुई कि यह उपाधि एक खिलाफ़त के उपरान्त दूसरी खिलाफ़त में विरासत की भाँति चलती रही। बनी उमय्या के युग में भी यही उपाधि प्रचलित रही और ख़लीफ़ाओं को इस उपाधि के अतिरिक्त किसी अन्य उपाधि से सम्बोधित न किया जाता था।

शीआ लोग हज़रत अली को इमाम के नाम से पुकारते थे। इस इमामत को उन्होंने खिलाफ़त के समानान्तर कर दिया और इससे अपने उस धार्मिक विश्वास की ओर

१. धर्मनिष्ठ मुसलमानों का हाकिम।

२. इब्ने जहश की उहुद के युद्ध में ६२५ ई० में मृत्यु हो गयी थी। अतः उनके विषय में यह कहना कि इस उपाधि का आविष्कार उन्होंने किया, ठीक नहीं।

संकेत किया कि हज़रत अबू बक्र के मुकाबले में हज़रत अली ही नमाज़ के इमाम बनने के अधिक पात्र थे। हज़रत अली को विशेष रूप से इस उपाधि से सम्बोधित करना इन शीओं का आविष्कार है। फिर उनके बाद के उत्तराधिकारियों को वे लोग इमाम के नाम से ही सम्बोधित करते रहे, किन्तु जब इन्होंने शासन की बागडोर सँभाली तो इमाम की उपाधि के स्थान पर 'अमीरुल मोमिनीन' की उपाधि का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार शीआ बनी अब्बास का यही आचरण रहा कि इबराहीम[1] तक वे अपने इमामों को इमाम के नाम से सम्बोधित करते थे, किन्तु जब उनका प्रचार खुल्लम-खुल्ला प्रारम्भ हुआ और बनी उमय्या से युद्ध हेतु पताकाएँ एवं झंडे सुव्यवस्थित किये जाने लगे और इबराहीम मारे गये तो उनके भाई सफ़्फ़ाह को शीओं ने "अमीरुल मोमिनीन" की उपाधि दे दी। इफ़रीकिया के राफ़ज़ियों[2] ने भी ऐसा ही किया कि वे इस्माईल की संतान में सबको इमाम ही कहते रहे। यहाँ तक कि उबैदुल्लाह अल महदी और उसके उपरान्त उसके पुत्र अबुल क़ासिम को भी वे इमाम ही कहते रहे, किन्तु जब उनकी सल्तनत की जड़ें दृढ़ हो गयीं तो उन्होंने अपने इमामों को "अमीरुल मोमिनीन" कहना प्रारम्भ कर दिया। मग़रिब में इदरीसियों ने भी इसी प्रथा का अनुसरण किया। वे इदरीस को इमाम कहते रहे और इसी प्रकार उनके पुत्र छोटे इदरीस को भी।

इसके बाद अमीरुल मोमिनीन की उपाधि खलीफ़ाओं में प्रचलित हुई और यह उपाधि विशेष रूप से उन शासकों के लिए प्रचलित होने लगी जो हिजाज़, शाम तथा इराक़ पर शासन कर रहे थे। ये स्थान अरबों के घर अथवा अरबों के क्षेत्र कहलाते हैं और वास्तव में इस्लामी राज्य के केन्द्र हैं; और वहीं से इस्लामी विजयों का क्रम प्रारम्भ हुआ। जब सल्तनत की उन्नति हुई तो खलीफ़ाओंने पारस्परिक भेद-भाव के लिए अन्य उपाधियों का भी प्रयोग प्रारम्भ कर दिया, कारण कि अमीरुल मोमिनीन की उपाधि का प्रयोग तो सभी के लिए होता था, अतः इससे किसी प्रकार का कोई भेद-भाव न हो सकता था। उदाहरणार्थ, बनी अब्बास ने सफ़्फ़ाह, मनसूर, महदी, हादी तथा रशीद सरीखी उपाधियाँ गढ़ीं जिनका एक उद्देश्य यह भी था कि ये उपा-

१. **इबराहीम, बिन मुहम्मद, बिन अली, बिन अब्दुल्लाह, बिन अब्बास, प्रथम दो अब्बासी खलीफ़ाओं के बड़े भाई थे। अन्तिम उमय्या खलीफ़ा मरवान द्वितीय अथवा हिमार ने अक्तूबर ७४९ ई० में उनकी हत्या करा दी।**

२. **शीओं से तात्पर्य है।**

धियाँ उनके नामों के लिए आवरण बन जायें और सर्व-साधारण एवं विशेष व्यक्ति उनके नामों का उच्चारण करके उनका अपमान न करें। इस प्रकार इन्हीं विभिन्न उपाधियों की प्रथा इस वंश में चलती रही। यहाँ तक कि मिस्र एवं इफ़रीक़िया में उबैदीईन ने भी इसी प्रथा का पालन किया, हालाँ कि इसके पहले पूर्व में बनू उमय्या ने ऐसी उपाधियों को ग्रहण नहीं किया, कारण कि उनमें उस समय "बदवियत" एवं सरलता पूर्ण रूप से वर्त्तमान थी। अरबी बू-बास एवं स्वभाव उनमें बदवियों की तरह ही वर्त्तमान थे। संक्षेप में उन्होंने उस समय तक बदवियत को नहीं त्यागा था, न नगर जीवन के किसी प्रकार आदी हुए थे।

उन्दुलुस में बनी उमय्या ने अपने पूर्वी पूर्वजों के अनुसार उपाधियाँ ग्रहण नहीं कीं। वे इस बात को स्वीकार करते थे कि उनके पूर्वजों के समान उन्हें वह सम्मान प्राप्त नहीं है, कारण कि वे मूल अरब केन्द्र, मिल्लत एवं उसकी राजधानी हिजाज़ देश से जो अरब "असबियत" का स्रोत था, दूर पड़े थे, किन्तु यह दूरी उनके लिए शुभ ही रही, कारण कि वे उन ख़तरों एवं ध्वंस के शिकार न बने जिसने बनी अब्बास को हड़प लिया। जब चौथी शताब्दी[1] हि० के प्रारम्भ में अब्दुर्रहमान तृतीय अर्थात् अन्नासिर बिन मुहम्मद बिन अल अमीर अब्दुल्लाह बिन मुहम्मद बिन अब्दुर्रहमान द्वितीय का राज्यकाल प्रारम्भ हुआ और अब्बासी ख़लीफ़ाओं की बड़ी दुर्दशा हुई तथा यह बात प्रसिद्ध हो गयी कि अजमवालों को उन लोगों पर प्रभुत्व प्राप्त हो गया है और ख़लीफ़ाओं में अदल-बदल भी हुई और हत्याकांड एवं लूट-मार भी प्रारम्भ हो गयी तो अब्दुर्रहमान तृतीय ने भी पूर्व के ख़लीफ़ाओं की भाँति 'अमीरुल मोमिनीन नासिर ले दीनिल्लाह' की उपाधि धारण कर ली। अब्दुर्रहमान के बाद फिर यह प्रथा चल पड़ी कि ख़लीफ़ा लोग अमीरुल मोमिनीन के साथ अन्य विशेष उपाधियों का प्रयोग करने लगे। इस प्रकार यह प्रथा उन्हीं से चली। उनके पूर्वजों ने उसका प्र ोग कभी नहीं किया।

संक्षेप में अब्दुर्रहमान के उपरान्त उपाधियों का यह क्रम चल निकला। यहाँ तक कि अरबी "असबियत" समाप्त हो गयी और ख़िलाफ़त का नाम मिट गया। इधर अजम के दास बनी अब्बास पर, उबैदीईन के आश्रित क़ाहिरा में उबैदीईन पर, सिन-हाजा इफ़रीकिया पर जनाता मग़रिब पर और विभिन्न समूह उन्दुलुस में बनी उमय्या पर छा गये और राज्यों को परस्पर बाँट लिया। इस्लामी ख़िलाफ़त के छिन्न-

1. १० वीं शताब्दी ईसवी।

भिन्न हो जाने के कारण पश्चिम एवं पूर्व में बादशाहों ने उपाधियों के सम्बन्ध में प्रचलित प्रथा को बदल दिया। सुल्तान के नाम से तो सभी प्रसिद्ध थे, किन्तु पूर्व में अजमी बादशाहों को कुछ विशेष उपाधियाँ अब्बासी ख़लीफ़ाओं की ओर से प्रदान की जाने लगीं जिनसे पता चलता है कि अजम के बादशाह ख़लीफ़ाओं के वशंवद एवं आज्ञाकारी थे। उनकी सल्तनत ख़लीफ़ाओं की दृष्टि में प्रशंसनीय थी। उदाहरणार्थ, शरफ़ूद्दौला, अज़दुद्दौला, रुक्नुद्दौला, मुईज़्ज़ुद्दौला, नसीरुद्दौला, निज़ामुल मुल्क, बहाउद्दौला, ज़ख़ीरतुल मुल्क इत्यादि। यही हाल उबैदीईन का था कि वे भी सिनहाजा के अमीरों को विशेष उपाधियाँ प्रदान करते थे। फिर जब सिनहाजा ने ख़िलाफ़त पर पूर्ण अधिकार जमा लिया तो वे उन्हीं उपाधियों से सन्तुष्ट हो गये और खिलाफ़त की उपाधियों से कोई सम्बन्ध न रखा। इस प्रकार उन्होंने ख़िलाफ़त के प्रति सम्मान का व्यवहार प्रदर्शित किया और यह बता दिया कि ख़िलाफ़त की उपाधियाँ ख़िलाफ़त के साथ ही सीमित रहेंगी। इसमें किसी अन्य को साझीदार बनने का कोई अधिकार नहीं। हम यह पहले बता चुके हैं कि अपहरणकर्त्ताओं एवं राज्यों पर ज़बरदस्ती अधिकार जमा लेनेवालों की यही प्रथा होती है।

पूर्व में अजमवालों ने जब स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया और उनकी सल्तनत के क़दम जम गये और दूसरी ख़िलाफ़त की "असबियत" का अन्त हो गया तो उन्होंने विशेष उपाधियाँ धारण कर लीं। उदाहरणार्थ, नासिर एवं मंसूर इत्यादि। पिछली उपाधियों में साधारण-सा परिवर्तन करके वे यह प्रकट करने लगे कि मानों उनकी गर्दनें ख़लीफ़ाओं की वशंवदता से पूरी तरह मुक्त हो चुकी है। उदाहरणार्थ, दौलत के स्थान पर दीन शब्द का प्रयोग करके, वे इस प्रकार प्रसिद्ध हुए, सलाहुद्दीन, असदुद्दीन, नूरुद्दीन इत्यादि। इधर उन्दुलुस में मुलूकुत्तवाएफ़ ने खिलाफ़त की उपाधियों को आपस में बाँट लिया, कारण कि उनका प्रभुत्व बहुत अधिक था और वे ख़िलाफ़त के ंश से सम्बन्धित थे। उन्होंने नासिर, मंसूर, मोतमिद, मुज़फ़्फ़र इत्यादि उपाधियाँ धारण कीं। इब्ने शरफ़ ने उनकी निन्दा करते हुए लिखा है—

पद्य

उन्दुलुस के भू-भाग में मोतसिम एवं मोतज़िद के नाम से मुझे लज्जित होने के लिए विवश होना पड़ता है।
अयोग्य लोगों ने शाही उपाधियाँ धारण कर ली हैं। उनका उदाहरण इस प्रकार है जैसे बिल्ली फूल कर सिंह का रूप धारण करना चाहती हो।

सिनहाजा के अमीर उन्हीं उपाधियों पर संतुष्ट रहे जो उन्हें उबैदीईन खलीफ़ाओं की ओर से मिला करती थीं। उदाहरणार्थ, नसीरुद्दौला, सैफ़ुद्दौला मुईज़्ज़ुद्दौला इत्यादि। ये उपाधियाँ उन्हें उस समय दी गयी थीं जब उन्होंने अब्बासियों के प्रचार के मुक़ाबले में उबैदीईन का प्रचार प्रारम्भ किया। फिर वे ख़िलाफ़त से बड़ी दूर हो गये और उस युग को भूल गये तो इन उपाधियों के शब्द भी उनके मस्तिष्क से निकल गये और सुल्तान शब्द ही उनके नाम को शोभा देने लगा। यही हाल मग़रिब में मग़रावह सुल्तानों का हुआ कि उन्होंने समस्त उपाधियाँ छोड़ कर सुल्तान की ही उपाधि को पसन्द किया, कारण कि उनकी "बदवियत" एवं सरलता यही चाहती थी।

जब मग़रिब में ख़िलाफ़त के चिह्न मिट गये तो लमतूना हाकिम यूसुफ़ बिन ताशफ़ीन मग़रिब के बरबर क़बीले में प्रकट हुआ और उसने समुद्र के दोनों ओर अधिकार जमा लिया। वह सदाचारी भी था और रूढ़िवादी भी। धर्म की आवश्यकताओं को पूरा करते हुए वह खलीफ़ाओं की आज्ञाकारिता स्वीकार करना चाहता था। इस उद्देश्य की दृष्टि से उसने अब्दुल्लाह बिन अरबी और उसके पुत्र क़ाज़ी अबू बक्र को जो अशबीलिया के मशायख़ में से थे, एक शिष्ट-मंडल के साथ मुसतज़हिर बिल्लाह अब्बासी के पास बैअत की प्रथा की पूर्ति के लिए भेजा[1] और यह प्रार्थना करायी कि बग़दाद का ख़लीफ़ा उसको मग़रिब का वाली नियुक्त कर दे। उक्त शिष्ट-मंडल यह सुखद समाचार ले कर लौटा कि यूसुफ़ ख़िलाफ़त की ओर से मग़रिब का नायब नियुक्त हो गया है और उसको अधिकार मिला है कि वह ख़िलाफ़त के विशेष चिह्न इत्यादि का प्रयोग करे। खलीफ़ा की ओर से जो फ़रमान भेजा गया उसमें उसे अमीरुल मोमिनीन की उपाधि प्रदान की गयी। अतः उसने अपनी यही उपाधि रख ली। यह भी कहा जाता है कि यूसुफ़ बिन ताशफ़ीन को इस घटना के पूर्व भी 'मराबेतीन[2] अमीरुल मोमिनीन' ही कहा करते थे, किन्तु इसके बावजूद अब्बासी खलीफ़ाओं

१. अबू बक्र तथा उसके पिता अब्दुल्लाह बिन मुहम्मद ४८५ हि० (१०९२ ई०) में हज के लिए रवाना हुए और दो बार बग़दाद गये। एक बार हज के पूर्व और एक बार हज के बाद। उन्होंने ४८९ हि० (१०९६ ई०) में हज किया। सम्भवतः इब्ने ताशफ़ीन ने १०९७–९८ ई० में खलीफ़ा अल मुसतज़हिर १०९४–१११८ ई०) के पास राजदूत भेजे होंगे। यात्रा से लौटने के उपरान्त ४९३ हि० (१०९९ ई०) में अब्दुल्लाह की मृत्यु हो गयी।

२. अलमोराविद्स।

का वह पूरा आदर सम्मान अपने हृदय में रखते थे, कारण कि यूसुफ स्वयं और उसकी क़ौमवाले अर्थात मराबेतीन भी अत्यन्त धर्मनिष्ठ थे, तथा सुन्नत का पालन करते थे।

इसके उपरान्त महदी[1] ने सत्य के प्रचार की पताका बुलन्द की और अशअरिया का समर्थक हो गया। उसने मग़रिबवालों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे इस्लाम के प्रारम्भिक युग के मुसलमानों के पद-चिह्नों पर चलें और शरीअत की ज़ाहिरी बाते, उदाहरणार्थ तजमीम की (लाक्षणिक) व्याख्या इत्यादि की समस्याओं को त्याग दें जैसा कि अशाएरा का प्रसिद्ध मत है। उसके अनुयायी मुवह्हेदीन[2] के नाम से प्रसिद्ध हैं। फिर महदी को यह भी ज्ञात था कि हज़रत अली के समर्थक दोषाक्षम[3] इमाम के सिद्धान्त को मानते हैं और उनका मत है कि प्रत्येक युग में उसका मौजूद होना आवश्यक है ताकि संसार की व्यवस्था भंग न हो। महदी भी इसी सिद्धान्त को मानने लगा और इमाम के नाम से प्रसिद्ध हुआ, कारण कि अभी उल्लेख हो चुका है कि शीआ अपने ख़लीफ़ाओं को इमाम की उपाधि द्वारा ही सम्बोधित करते हैं, फिर इमाम के साथ मासूम के नाम की भी वृद्धि हो गयी। इस प्रकार इस धार्मिक विश्वास का प्रचार किया गया कि इमाम को मासूम होना चाहिए। उसने अमीरुल मोमिनीन की उपाधि की उपेक्षा की, कारण कि सर्वप्रथम शीओं का प्राचीन धार्मिक विश्वास यही है कि वे अपने ख़लीफ़ाओं को इमाम के नाम से सम्बोधित करते हैं, दूसरे इसमें यह भी रहस्य था कि कहीं वे पूर्व के ख़लीफ़ाओं की संतान के समान न बनने लगें। जब अब्दुल मोमिन[4] उसका उत्तराधिकारी हुआ तो उसने अमीरुल मोमिनीन की उपाधि धारण कर ली और उसकी संतान भी इसी उपाधि से प्रसिद्ध हुई। इसी प्रकार उनके बाद आले अबी हफ़स ने इसी उपाधि को पसन्द किया। इस भावना के वशीभूत होकर कि वे इस उपाधि के अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक पात्र हैं क्यों कि उनका शेख़ुश शयूख महदी जो सल्तनत का अधिकारी था और उसके हाकिम जो स्वतन्त्र शासक थे, उनमें यही प्रचार किया करते थे। क़ुरैश की "असबियत" तो समाप्त हो चुकी थी, अतः उनमें उनके पूर्वजों की उत्पन्न की हुई ये ही भावनाएँ मौजूद थीं।

१. प्रथम फ़ातेमी ख़लीफ़ा (९०९ से ९३४ ई०) अल-महदी उबैदुल्लाह।
२. कट्टर एकेश्वरवादी।
३. मासूम, जो कोई अपराध कर ही न सके।
४. अब्दुल मोमिन बिन अली, मुवह्हिद वंश के राज्य का संस्थापक (जन्म १०९४ ई०, मृत्यु मई-जून ११६३ ई०)।

इसी प्रकार जब मग़रिब की सल्तनत का जोर टूटा और ज़नाता ने उसपर अधिकार जमाया तो ये भी प्रारम्भ में सरलता एवं "बदवियत" के आदी रहे और लम्तूना की भाँति अमीरुल मोमिनीन की उपाधि से पुकारे जाते रहे। किन्तु साथ ही साथ वे ख़िलाफ़त का सम्मान करते थे, कारण कि वे इसके आदी हो गये थे। पहले अब्दुल मोमिन के वंश के अधीन रहकर और फिर बनी हफ़्स के अधीन रहकर। इसके अतिरिक्त इनके पूर्वज भी इस उपाधि को पसन्द करते रहे यहाँ तक कि अब हमारे इस युग में भी सुल्तान लोग इसी उपाधि को पसन्द करते हैं और राज्य की उन्नति एवं हुकूमत की तरक्की का इसे एक चिह्न समझते हैं। "ईश्वर में अपने आदेशों का पालन कराने की शक्ति है।"

(३३) ईसाई धर्म में पापा एवं बतरक[1] शब्द और यहूदी धर्म में काहन[2] शब्द की व्याख्या[3]

(३४) बादशाहों एवं सुल्तानों की श्रेणियाँ तथा उनकी उपाधियाँ

समझ लीजिए कि जहाँ तक बादशाह का अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध है, वह बड़ा ही शक्तिहीन एवं कमज़ोर होता है। इस कमज़ोरी के बावजूद एक महत्त्वपूर्ण भार उसके कंधों पर डाल दिया जाता है। अतः जब तक उसकी क़ौमवाले उसकी ओर सहायता का हाथ न बढ़ायें तो वह इस भारी बोझ एवं महान् उत्तरदायित्व को किसी प्रकार उठा नहीं सकता। जब उसकी आवश्यकताओं का ही यह हाल है कि वह अपनी आर्थिक आवश्यकताओं के लिए अन्य लोगों पर निर्भर होता है तो फिर अपनी जातिवालों पर शासन करने में वह अन्य लोगों पर निर्भर क्यों न हो, जब कि इस सम्बन्ध में उसे महत्तर उत्तरदयित्व पूरा करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, प्रजा की पूरी-पूरी देख-भाल, उसके शत्रुओं से उसकी रक्षा, न्याय-युक्त आदेश जारी करना, एक को दूसरे पर अत्याचार करने से रोकना, एक की धन-सम्पत्ति की दूसरे से रक्षा करना, संक्षेप में सबको शान्ति पूर्वक जीवन व्यतीत करने योग्य बनाना, अथवा मानवीय जीवन से सम्वन्धि सभी आर्थिक समस्याओं की देख-भाल यानी सामानों के लेन-देन में नाप-तोल की जाँच ताकि कोई कम न तोलने पाये अथवा प्रचलित सिक्के की परख ताकि

१. Pope एवं Patriarch
२. Kohen
३. इस अंश का अनुवाद नहीं किया गया।

कोई खोटा अथवा जाली सिक्का न चला दे, दंड एवं सज़ाओं पर नियंत्रण ताकि सब लोग उसके आज्ञाकारी एवं उससे भयभीत रहें, सब उसकी इच्छा के दास हों और उसके आदेशों का पालन करते रहें इन सब बातों की देख-भाल उसे करनी पड़ती है। सम्मान एवं श्रेष्ठता का भी वही अकेला स्वामी होता है। संक्षेप में बादशाह को सबके हृदय पर अधिकार करने का जो भारी बोझ उठाना पड़ता है, उसका अनुमान करना कठिन है। इसी कारण कुछ दार्शनिकों ने कहा है कि, "पर्वतों को अपने स्थान से हटा देना सबके हृदय को अधिकार में कर लेने से सरल है।" फिर यदि एक कुल के सम्बन्धी अथवा प्राचीन आश्रित सहायता हेतु तैयार हो जायँ तो उनकी सहायता पूर्णतः प्राप्त होगी, कारण कि ऐसी दशा में बादशाह एवं सहायकों के चरित्र एक ही प्रकार के होंगे और पारस्परिक सहायता का उद्देश्य पूरा हो जायगा तथा उससे पूरा लाभ होगा। इस प्रकार क़ुरान में हज़रत मूसा के इन शब्दों का उल्लेख है, "हे अल्लाह! मेरे घर में मेरे भाई को मेरा वज़ीर बना। उससे मेरी नबूवत को दृढ़ कर और उसे मेरे कार्य में मेरा सहायक बना दे।"

बादशाह को सर्वदा एक ही प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। कभी वह तलवार की सहायता चाहता है, कभी कलम की, कभी परामर्श की, कभी हाजिबों एवं दरबानों को नियुक्त करके वह काम चलाता है ताकि लोग भीड़ न लगा लें और वह उनके मामलों पर ठंढे दिल से शान्तिपूर्वक सोच विचार कर सके। उसे ऐसे लोगों की भी आवश्यकता होती है जो समस्त राज्य की देख-भाल कर सकें और बादशाह का उन पर पूर्ण विश्वास भी हो। कभी ऐसा होता है कि एक ही मनुष्य कई प्रकार की सहायता हेतु पर्याप्त होता है। कभी विभिन्न लोगों द्वारा ये सहायताएँ प्राप्त होती हैं। फिर एक प्रकार की सहायता भी विभिन्न क़िस्मों में विभाजित हो जाती है। उदाहरणार्थ, "अहले क़लम[1]" के विभाग कई भागों में विभाजित होते हैं, उदाहरणार्थ पत्र-व्यवहार करनेवाले, फ़रमान एवं दस्तावेज़ लिखनेवाले, हिसाब-किताब करनेवाले अर्थात राजस्व वेतन के भुगतान तथा अन्य व्यय की देख-रेख करने वाले। "अहले सैफ़[2]" का विभाग भी विभिन्न भागों में विभाजित होता है। उदाहरणार्थ, सेनापति, शुर्ता का मुख्य अधिकारी, डाक का मुख्य अधिकारी एवं सीमांत की रक्षा करनेवालों का अधिकारी।

१. लिखने-पढ़नेवाले।
२. तलवार चलानेवाले, सैनिक।

फिर यह बात भी भली-भाँति समझ लेनी चाहिए कि इस्लाम में शाही पद एवं ओहदे ख़िलाफ़त के अधीन रहते हैं, कारण कि ख़िलाफ़त धार्मिक तथा सांसारिक दोनों हितों की देख-भाल की ज़िम्मेदार है। इसी कारण इस्लाम में ऐसे आदेश एवं अधिनियम भी मिलेंगे जो सल्तनत से सम्बन्ध रखते हैं, और वे भी जो ख़िलाफ़त के विषय में उपयोगी आदेश प्रदान करते हैं। संक्षेप में दोनों के विषय में सविस्तर उल्लेख एवं पथ-प्रदर्शन उनसे मिलता है। इसका कारण यह है कि शरीअत वास्तव में मानव-कर्म एवं आचरण का ऐसा पूर्ण विधान है जिससे मनुष्य के प्रत्येक सांसारिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों का पथ-प्रदर्शन होता है। इस प्रकार फ़क़ीह का यह पूर्ण उत्तर-दायित्व है कि राज्य एवं सुल्तान के सम्मान की देख-भाल करे और उन शर्तों की भी जाँच पड़ताल करे, जिनके अधीन वह राज्य सिंहासन पर आरूढ़ होकर सुल्तान कहलाये जाने का पात्र बनता है और वह शर्तें भी उसकी दृष्टि के समक्ष रहें, जिनकी पृष्ठ-भूमि में उसका सहायक, उसका नायब यानी जन-साधारण की भाषा में 'वज़ीर' बन सके।

संक्षेप में फ़क़ीह का यह कर्त्तव्य है कि वह समस्त दीवानी[1] एवं फ़ौजदारी के मामलों तथा अन्य राजनीतिक समस्याओं पर, चाहे उन पर कोई प्रतिबन्ध हो अथवा न हो, अपनी कड़ी दृष्टि रखे। नियुक्ति एवं पदच्युत करने के कारणों की भी देख-भाल रखे, अपितु राज्य एवं सल्तनत के किसी भी मामले को अपने नियंत्रण के बाहर न होने दे। इसी प्रकार सल्तनत के ये पद, उदाहरणार्थ विज़ारत एवं ख़राज तथा शासन-प्रबंध के अन्य विभागों की देख-भाल रखे और अपने मतानुसार उनका संचालन करे। इन सबका यह कारण है कि इस्लाम में शरई ख़िलाफ़त के समस्त आदेश मुल्क में प्रचलित होना परमावश्यक हैं। हमारी इस पुस्तक का यह उद्देश्य नहीं कि हम राज्य एवं सल्तनत सम्बन्धी शरई आदेशों का सविस्तर वर्णन करें और उनकी व्याख्या यहाँ करें। हमारा उद्देश्य केवल इतना ही है कि हम उस राज्य एवं सल्तनत के पदों का, जो मानवसमाज के लिए आवश्यक हैं और जिनकी मानव-आत्मा को ज़रूरत है, उल्लेख करें और यह बतायें कि उनको क्या सम्मान प्राप्त हैं। हमारा यह उद्देश्य नहीं कि हम उनसे सम्बन्धित शरई आदेशों का उल्लेख करें, कारण कि ये आदेश बड़े विस्तृत रूप से "एहकामे सुल्तानिया" के ग्रंथों, उदाहरणार्थ क़ाज़ी अबुल हसन अल मावर्दी के ग्रंथ अथवा अन्य बड़े-बड़े फ़क़ीहों की रचनाओं में लिखे

१. धन-संबंधी (राजस्व, वित्त) मामले।

है। यदि आप इन आदेशों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो उन ग्रंथों का अध्ययन करें। उनसे आपको इस प्रकार की पर्याप्त सूचना मिल जायगी ।

हमने खिलाफ़त के पदों का पृथक् उल्लेख इस कारण किया है कि सुल्तानी एवं खिलाफ़त के पदों का अन्तर पूर्ण रूप से स्पष्ट हो सके। इसका यह उद्देश्य नहीं कि साथ-साथ शरा सम्बन्धी आदेशों का उल्लेख एवं उनके विषय में शोध कार्य किया जाय, कारण कि ये बातें इस ग्रंथ के विषय से सम्बन्धित नहीं। हम तो सभ्यता की विशेषता एवं मानव-अस्तित्व की आवश्यकताओं को सामने रखकर राज्य एवं सल्तनत का उल्लेख करना चाहते हैं।

विज़ारत

यह पद समस्त सुल्तानी एवं बादशाही पदों की जड़ तथा आधार है। इसका नाम ही इसके महत्त्व को प्रदर्शित करता है, कारण कि विज़ारत शब्द या तो "मुआज़िरत" से निकला है जिसका अर्थ सहायता है, अथवा "विज़्र" से निकला है जिसका अर्थ भार है। मानो इस शब्द से यह संकेत होता है कि सल्तनत का वज़ीर वह महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी है जो सल्तनत का पूरा भार अपने कन्धों पर रखता है और सभी अधीनस्थ पदाधिकारियों को किसी न किसी प्रकार की सहायता प्रदान करता है। हम प्रथम खंड में इस तथ्य की ओर संकेत कर चुके हैं कि सल्तनत की स्थिति एवं राज्यव्यवस्था चार बातों में सीमित है। (१) या तो यह व्यवस्था उन समस्याओं से सम्बन्धित होगी जिनसे मानवसमाज की रक्षा की जा सकती है और उसके लिए साधन उपलब्ध हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, सैनिक व्यवस्था, अस्त्र-शस्त्र की देख-भाल, युद्ध की व्यवस्था एवं प्रबंध अथवा प्रतिरक्षा सम्बन्धी अन्य समस्याओं का समाधान। जो व्यक्ति इन सब बातों की देख-भाल के लिए बादशाह की ओर से नियुक्त हो, उसको पूर्व की प्राचीन सल्तनतों में साधारणतः वज़ीर कहा जाता था, अपितु मग़रिब में अब भी इस अधिकारी को वज़ीर ही कहते हैं।

(२) कभी-कभी ये प्रबंध पत्र-व्यवहार से सम्बन्धित होते हैं जो बाहर के शासकों एवं पदाधिकारियों के साथ किया जाता है और इसके विषय में लिखित आदेश दिये जाते हैं। इस प्रकार का कार्य करने का उत्तरदायित्व साधारणतः कातिब[1] पर होता था। 'कातिब' सल्तनत का दूसरा पदाधिकारी होता था। (३) तीसरे पद के

१. सचिव।

अधीन खराज की वसूली एवं व्यय की व्यवस्था की जाती है। इस पद का अधिकारी उसकी पूरी देख-भाल करता है। इस पद के अधिकारी को राजस्व का अधीक्षक 'साहिबुल माल' कहते हैं। पूर्व के देशों में वह वज़ीर कहलाता है।

(४) चौथे पदाधिकारी का कर्त्तव्य यह है कि प्रार्थियों द्वारा बादशाह के पास भीड़ लगाकर उसे घिरने न दे, ताकि वह शान्तिपूर्वक अपना कार्य कर सके। यह पदाधिकारी 'हाजिब' कहलाता है।

इस प्रकार राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी यही चार पद हैं जो अन्य पदों की अपेक्षा सर्वोच्च हैं। इन चार में भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वही पद है जिसके अधीन बादशाह के सभी पदाधिकारी हैं, कारण कि इस पद का सँभालनेवाला बादशाह का मित्र एवं विश्वासपात्र होता है। शासन-व्यवस्था सम्बन्धी समस्त बातों में वह बादशाह का साथ देता रहता है। फिर इन साधारण पदों के अधीन भी छोटे-छोटे विशेष पद होते हैं, जो विशेष लोगों से सम्बन्धित होते हैं अथवा विशेष शासन संबंधी समस्याएँ उनसे सम्बन्धित होती हैं। उदाहरणार्थ, किसी विशेष दिशा का मुख्य प्रबंधक, किसी विशेष खराज के आय-व्यय का मुख्य अधिकारी, खाने-पीने की व्यवस्था का मुख्य निरीक्षक, टकसाल एवं सिक्कों का निरीक्षक इत्यादि। अतः इन विशेष उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित अधिकारी उस बड़े पदाधिकारी के अधीन समझे जाते हैं जिसकी देख-रेख में ये सब छोटे पद होते हैं।

इस्लाम के पूर्व राज्यों में शासनप्रबंध का संचालन इसी प्रकार होता था। इस्लाम के अभ्युदय एवं खिलाफ़त के राज्य का स्थान ले लेने के कारण ये सब पद भी समाप्त हो गये। राज्य-व्यवस्था के चलाने के लिए विचार-विमर्श का प्रयोग होने लगा। यह बात स्वाभाविक एवं परमावश्यक थी। मुहम्मद साहब समस्त सहाबियों के साथ बैठकर राज्य की विशेष एवं साधारण समस्याओं पर विचार-विनिमय करते और सहाबा से परामर्श करते थे। इसके अतिरिक्त हज़रत अबू बक्र से कुछ विशेष समस्याओं पर भी परामर्श लेते थे। इस प्रकार वे अरब, जो किसरा, क़ैसर एवं नजाशी के राज्यों से परिचित थे, वे अबू बक्र को मुहम्मद साहब का वज़ीर कहा करते थे, यद्यपि इस्लाम की सरलता बादशाहत के वैभव एवं गौरव पर छा गयी थी और वज़ीर शब्द का मुसलमानों को कोई ज्ञान ही न रहा था। यही संबंध हज़रत उमर का हज़रत अबू बक्र के साथ, हज़रत अली का हज़रत अमर के साथ तथा हज़रत उस्मान का हज़रत अली के साथ था।

जहाँ तक खराज की प्राप्ति एवं व्यय अथवा हिसाब-किताब के कार्यालय का

संबंध है, ये नियमित एवं सुव्यवस्थित दशा में न थे; कारण कि अरब निरक्षर थे, लिखना-पढ़ना तथा हिसाब-किताब न जानते थे। इसी कारण वे हिसाबी मामलों पर लिखे-पढ़े व्यक्ति ही नियुक्त करते थे। ऐसा उत्तरदायित्व वे अजमी दासों को, जो उस समय थोड़ी संख्या में थे, सौंप देते थे। रहे सम्मानित अरब लोग, तो वे इन कार्यों से अत्यधिक दूर थे, कारण कि वे निरक्षर थे। पत्र-व्यवहार का भी उनके यहाँ कोई विशेष विभाग न था, न शाही फ़रमानों का कोई कार्यालय था। इसका भी यही कारण था कि वे लिखना-पढ़ना न जानते थे। वे ईमानदार थे और लोगों की गोपनीय बातों को गुप्त रखते थे। कारण कि ख़िलाफ़त राजनीति के वेष में न थी, अपितु धार्मिक रूप धारण किये हुए थी। बनावट को कोई महत्त्व न प्राप्त था, अतः ख़लीफ़ा को किसी व्यवस्था की आवश्यकता न थी। उनमें से अधिकांश लोग अपने विचारों को सुन्दर से सुन्दर वाक्यों में व्यक्त कर सकते थे। जब लिखने की आवश्यकता पड़ती तो ख़लीफ़ा जिसमें यह योग्यता देखता उसके ज़िम्मे यह उत्तरदायित्व सौंप देता था। जहाँ तक हाजिब के पद का संबंध है, इस्लामी शरीअत में लोगों पर इस प्रकार का प्रतिबंध लगाना निषिद्ध था, अतः यह पदाधिकारी होता ही क्यों ?

ख़िलाफ़त की स्थापना के समय यह रूपरेखा थी, किन्तु जब ख़िलाफ़त सल्तनत में परिवर्तित हुई और शाही उपाधियाँ एवं प्रथाएँ देश में प्रचलित हुईं, तब सर्वप्रथम हाजिब की समस्या पर विचार किया गया और लोगों के आने-जाने पर प्रतिबंध लगाया गया, कारण कि उस समय बादशाह विद्रोहियों से अत्यधिक आतंकित थे। उन्हें भय रहता था कि कोई अचानक उनकी हत्या न कर दे। हज़रत उमर, अली, मुआविया, अमर बिन आस एवं अन्य सहाबियों के उदाहरण उनके सामने थे। फिर वे क्यों न सावधानी से कार्य करते। इसके अतिरिक्त यह नीति भी थी कि यदि राजप्रासाद के द्वार प्रत्येक साधारण तथा विशेष व्यक्ति के लिए खुल जायँगे तो लोग बादशाह के पास भीड़ लगा लेंगे और हर समय भीड़ लगाये रखेंगे। बादशाह को राज्य-व्यवस्था की समस्याओं पर सोच-विचार करने का अवसर न देंगे। इन कठिनाइयों के कारण सुल्तानों ने राजप्रासाद के लिए हाजिब नियुक्त कर दिये। कहा जाता है कि अब्दुल मलिक ने जब अपना हाजिब नियुक्त किया तो तीन व्यक्तियों को छोड़कर उसे प्रत्येक ख़ास व आम को रोक लेने का अधिकार दिया। एक अज़ान देनेवाले को, कारण कि वह अल्लाह की ओर बुलाता है, दूसरे पत्रवाहक को, कारण कि डाक को भी बड़ा महत्त्व प्राप्त है, तीसरे भोजन लानेवाले को, कारण कि विलम्ब के कारण भोजन नष्ट हो जाता है।

फिर जब सल्तनत के गौरव में अधिक वृद्धि हुई तो ऐसे व्यक्ति की अत्यधिक आव-

श्यकता पड़ी, जिसकी सहायता एवं परामर्श से क़बीलों एवं "असबियतों" की समस्याओं का समाधान किया जाय तथा उन्हें प्रसन्न रखा जाय। इस प्रकार के व्यक्ति का नाम वज़ीर रखा गया। रहा लिखने-पढ़ने तथा हिसाब-किताब का कार्य, यह दासों एवं ज़िम्मियों[1] के हाथ में ही रहा। एक विशेष व्यक्ति ऐसा छाँटा गया जो आदेशों एवं आवश्यक काग़ज़ों की लिखाई-पढ़ाई करे और वह राज्य की उन गोपनीय बातों एवं रहस्यों की रक्षा करे जिनके खुल जाने से राजनीति अस्त-व्यस्त हो जाती है। उसकी श्रेणी वज़ीर से कम होती है,कारण कि लिपिक अथवा मुंशी की आवश्यकता पत्र-व्यवहार के लिए होती है, न कि विचार-विमर्श के लिए। प्रत्येक व्यक्ति वाक्पटु एवं वाग्मी होता था। इसी गुण के कारण वज़ीर का भी बड़ा आदर-सम्मान होता था। संक्षेप में उमय्या-राज्यकाल में विज़ारत का पद सबसे ऊँचा समझा जाता था। वज़ीर सब पर शासन करता था। वह राज्य की समस्त समस्याओं के समाधान में उचित उपाय सोचता था। प्रतिरक्षा, देखभाल एवं सर्वसाधारण को जो धन अदा करना होता था, उस पर ग़ौर करता था। सेना विभाग पर नियंत्रण रखता तथा दान-पुण्य एवं वृत्तियों के लिए उचित आदमियों का चुनाव करता था। अन्य बहुत-से उत्तरदायित्व भी वह सँभालता था।

जब अब्बासियों का राज्य प्रारम्भ हुआ और सल्तनत का गौरव एवं ऐश्वर्य बढ़ा तो वज़ीर के अधिकारों में भी वृद्धि हुई। उसका महत्त्व भी अधिक हो गया और राज्य-व्यवस्था में वह बादशाह के अधिकारों का नायब समझा जाने लगा। फिर तो हर छोटे-बड़े की गर्दन उसके समक्ष झुकने लगी और प्रत्येक व्यक्ति उस पर अवलम्बित एवं निर्भर हो गया। दीवानी विभाग सीधे उसकी देख-रेख में आ गया, कारण कि सेना को जो कुछ प्रदान किया जाता वह उसी के द्वारा दिया जाता था, अतः यह विभाग उसी के अधीन रहा। इसी प्रकार पत्र-व्यवहार एवं डाक विभाग भी वज़ीर के नियंत्रण में दे दिया गया। इसका उद्देश्य यह था कि राज्य के रहस्यों एवं अन्य गोपनीय बातों की लोगों को सूचना न होने पाये और रचना-शैली की सुन्दरता में भी कोई दोष न आने पाये, कारण कि उस समय सर्वसाधारण की भाषा बिगड़ने लगी थी। बादशाही फ़रमानों के लिए एक मुहर तैयार की गयी और वह भी वज़ीर को सौंप दी गयी ताकि कोई उसका

१. मुसलमान शासकों के अधीन अन्य धर्म के लोग, जिनकी रक्षा का उत्तरदायित्व जिज़िया अदा करने के कारण मुसलमान शासकों पर होता था। इस्लाम के प्रारम्भिक युग में यहूदी तथा ईसाई ही ज़िम्मी कहलाते थे।

दुरुपयोग न कर सके। संक्षेप में वज़ीर राज्य में तलवार एवं क़लम सम्बन्धी पदों का स्वामी हो गया और सभी विभाग उसके अधीन हो गये। यहाँ तक कि हारूनुर्रशीद के युग में लोग जाफ़र बिन यहया को उसके असीमित अधिकारों एवं सल्तनत पर पूर्ण प्रभुत्व के कारण सुल्तान कहा करते थे। शाही पदों में यदि कोई पद वज़ीर के अधिकारों के बाहर था तो वह हाजिबों का पद था। इसका यह कारण न था कि यह पद वज़ीर के अधीन न हो सका, अपितु वज़ीरों ने स्वयं ही इस पद को अपने लिए उचित न समझा और इसे अपनी शान से कम समझा।

इसके उपरान्त अब्बासी राज्य का वह युग प्रारम्भ हुआ जब बनी अब्बास वज़ीर लगभग स्वाधीन हो गये। कभी वे अपने बादशाहों पर अधिकार जमाकर राजसिंहासन पर आरूढ़ हो जाते और कभी उनके बादशाह उन्हें दबा लेते और राजसिंहासन पर अधिकार जमाये रहते। वज़ीर निरंकुश अधिकारों का स्वामी होने पर भी ख़लीफ़ा पर इस बात के लिए निर्भर रहता था कि ख़लीफ़ा उसे अपना नायब नियुक्त करे, ताकि उसके अधीन शरई आदेश प्रथानुसार चलते रहें। इस प्रकार उस समय विज़ारत दो प्रकार की थी। एक "विज़ारते तनफ़ीज़े[1] एहकाम", जब कि बादशाह के अधिकार उसके हाथ में रहते थे। दूसरी "विज़ारते तफ़वीज़"[2], जब कि वज़ीर बादशाह को अपने अधीन करके स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लेता था और बादशाह विवश हो जाता था। जिस प्रकार दो इमामों की नियुक्ति पर मतभेद है, उसी कारण इस बात पर भी मतभेद पाया जाता है कि दो वज़ीर भी नियुक्त किये जा सकते हैं अथवा नहीं। बादशाहों एवं वज़ीरों में यह संघर्ष चलता रहा, यहाँ तक कि अजम के बादशाहों ने राज्य पर अधिकार जमा लिया और ख़िलाफ़त के चिह्न मिट गये। अब इन अपहरणकर्ता अजमी बादशाहों ने ख़िलाफ़त की उपाधियों का प्रयोग भी अपने लिए उचित न समझा और वज़ीरों की उपाधियाँ ग्रहण करना भी अपने अनुकूल न पाया, अतः वे अमीर अथवा सुल्तान कहलाये जाने लगे। उनमें जो पूर्ण रूप से स्वाधीन होता वह या तो "अमीरुल उमरा" की उपाधि द्वारा अथवा "सुल्तान" के नाम से सुशोभित होता था। इसके साथ-साथ ख़लीफ़ा की ओर से भी जो उपाधि उसे प्रदान होती उसका भी वह प्रयोग करता था, इसका प्रमाण उनकी उपाधियों द्वारा मिल जाता है। वज़ीर का नाम उन्होंने शक्तिहीन ख़लीफ़ाओं के वज़ीरों के लिए सीमित

१. अधिशासी विज़ारत या मंत्रित्व।
२. प्रदत्त विज़ारत या मन्त्रित्व।

कर दिया था। शासन के अन्त तक उनकी यही दशा रही, किन्तु इस बीच में अरबी भाषा बिगड़ गयी और केवल एक कला रूप में ही सीमित हो गयी। इसके अभ्यास के लिए कुछ लोग विशिष्ट रूप से पृथक् हो गये। भाषा का सम्मान गिर गया। वज़ीरों ने भी उसे सीखना अपनी शान के अनुकूल न समझा। इसके अतिरिक्त वे अजमी थे। भाषा में अधिक योग्यता की आवश्यकता न रही। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग के लोग लिखने-पढ़ने एवं पत्र-व्यवहार के कार्य हेतु चुने जाने लगे। अरबी भाषा वज़ीरों की सेविका बन गयी।

उधर अमीर का नाम सेनापति के लिए सीमित हो गया। कहने को तो वह सेनापति होता, किन्तु उसका अधिकार सल्तनत के सभी पदों पर छाया रहता था और सब पर उसका फ़रमान चलता था, कभी नायब के रूप में और कभी स्वतंत्र रूप में। कुछ समय तक शासनप्रबंध इसी प्रकार चलता रहा। अन्त में जाकर मिस्र में तुर्क सिंहासनारूढ़ हुए। उन्होंने देखा कि वज़ीर एक साधारण एवं निम्न प्रकार का प्राणी है और अधिकार-हीन ख़लीफ़ाओं के कार्य को सँभालना ही उसकी विशेषता समझी जाती है। ऐसा वज़ीर अमीर का आज्ञाकारी होता है। इस कारण विज़ारत का महत्त्व उनकी दृष्टि से गिर गया। इसमें उन्हें आज्ञाकारिता एवं अधीनता के अवगुण दृष्टिगत हुए, अतः विजारत के काम को उन्होंने अपनी शान के विरुद्ध समझा और उससे असंतुष्ट रहने लगे। इस युग में वह व्यक्ति, जिसके आदेशों का सभी पालन करते हों और सेना भी जिसके अधीन रहती है, "नायब" के नाम से प्रसिद्ध होता है, न कि अमीर के या वज़ीर के नाम से। केवल हाजिब शब्द का प्रयोग अपने मूल-अर्थ के अनुसार होता रहा। वज़ीर का नाम केवल उस व्यक्ति के लिए सीमित रहा जिसके हाथ में ख़राज की व्यवस्था थी।

उन्दुलुस में बनी उमय्या अपनी सल्तनत के प्रारम्भ में ही वज़ीर के पद को उसके मूल अर्थ में समझते रहे, तदुपरान्त उन्होंने उस पद को कुछ भागों में विभाजित कर दिया। इनमें से प्रत्येक पदाधिकारी को वज़ीर कहते थे, उदाहरणार्थ वित्त विभाग का वज़ीर, पत्र-व्यवहार का वज़ीर, पीड़ितों की देख-भाल का वज़ीर एवं सीमांत की देख-भाल का वज़ीर। इन वज़ीरों के लिए एक विशेष कार्यालय तैयार कराया गया। वहाँ वे क़ालीनों पर बैठकर शाही आदेश निकाला करते और अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते रहते थे। फिर एक व्यक्ति ऐसा नियुक्त हुआ जो ख़लीफ़ा तथा वज़ीरों में मध्यस्थ का कार्य करता था। उसे समस्त वज़ीरों की अपेक्षा उच्च श्रेणी का समझा जाता था, कारण कि वह हर समय सुल्तान के साथ रहता था। अन्य वज़ीरों की अपेक्षा वह ऊँचे स्थान पर बैठता, उसे हाजिब की उपाधि द्वारा सम्बोधित किया

जाता था। बनी उमय्या के अन्तिम काल तक राज्य-व्यवस्था इसी प्रकार चलती रही। इस व्यवस्था के अनुसार हाजिब समस्त पदाधिकारियों की अपेक्षा उच्च श्रेणी का व्यक्ति होता था। उसके बाद जब मुलूकुत्तवाएफ़ का युग आया तो उन्होंने भी इस उपाधि को प्रशंसनीय दृष्टि से देखा और स्वयं भी यही उपाधि ग्रहण कर ली। इसी कारण मुलूकुत्तवाएफ़ हाजिब की उपाधि द्वारा ही प्रसिद्ध हुए।

बनी उमय्या की सल्तनत के उपरान्त शीई सल्तनत[1] ने इफ़रीक़िया एवं क़ैरवान में उसका स्थान लिया। यह शीआ सरलता एवं "बदवियत" के रंग में रंगे हुए थे, अतः उन्होंने प्रारम्भ में इन पदों का अन्तर समझने के विषय में उपेक्षा की और उनके नामों के चुनाव पर ध्यान न दिया। जब यह राज्य नगर की संस्कृति का आदी हुआ तो ये लोग भी उपाधियों के चुनने में (बनी उमय्या एवं बनी अब्बास का) अनुकरण करने लगे। इस बात का पता उनके इतिहास से चलता है। जब उनका राज्य-काल समाप्त हुआ और मुवह्हेदीन के राज्य का अभ्युदय हुआ, तब उन्होंने भी बदवियत के कारण पदों की छान-बीन तथा नामों के चुनाव पर ध्यान न दिया। कुछ समय पश्चात् उन्दुलुस के (उमय्या वंश) का राज्य-व्यवस्था की समस्त समस्याओं में अनुकरण होने लगा। वज़ीर की उपाधि का उसके मूल अर्थ में प्रयोग होने लगा। उन्होंने वज़ीर की उपाधि उस व्यक्ति के लिए रखी जो सुल्तान के दरबार में हाजिब का भी कार्य करे और शिष्ट-मंडलों एवं अन्य उपस्थित गणों को उचित स्थान पर बैठाकर अभिवादन एवं सम्बोधन के निर्धारित नियम बताये। इस प्रकार उन्होंने हिजाबत के पद को अत्यधिक महत्त्व दे दिया और उसके उत्तरदायित्व के क्षेत्र को बहुत बढ़ा चढ़ा दिया। अब भी उनकी सल्तनत में विज़ारत का शब्द इन्हीं अधिकारों को व्यक्त करता है।

पूर्व में तुर्क सुल्तानों के यहाँ ऐसे व्यक्ति को, जो लोगों को शाही दरबार में अभिवादन के नियम बतलाये और शिष्ट मंडलों को उचित स्थानों पर बैठाये, उसे "दवादार" कहते हैं। वह कातिबुस्सिर[2] तथा डाक विभाग के अधिकारियों की भी, जो बादशाह की निकट एवं दूर की आवश्यकताएँ पूरी करते हैं, देख-रेख करता है। इस प्रकार उनमें अब तक यही प्रथा चली आ रही है।

१. फ़ातिमी (उबैदीईन)।
२. वैयक्तिक सचिव।

हिजाबत

हम यह पहले बता चुके हैं कि उमय्या एवं अब्बासी राज्यकाल में इस उपाधि का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए होता था जो सुल्तान एवं सर्वसाधारण के मध्य में हिजाबत का काम करता था। वह आवश्यकतानुसार जिसके लिए जिस समय चाहता, राजप्रासाद के द्वार खुलवाता अथवा बन्द करवाता था। शाही दरबार में प्रवेश की अनुमति दे या न दे, किन्तु वह अन्य पदाधिकारियों के अधीन होता था। इस प्रकार वज़ीर ही जैसा उचित समझता हस्तक्षेप करता रहता था। बनी अब्बास के राज्यकाल में तो यही प्रथा प्रचलित रही। मिस्र में हाजिब का पद नायब के सर्वोच्च पद के अधीन है।

उन्दुलुस के बनी उमय्या के राज्यकाल में हाजिब की उपाधि उसे प्रदान की जाती थी जो सर्वसाधारण एवं विशेष व्यक्तियों को बादशाह से भेंट कराता था तथा बादशाह एवं वज़ीरों तथा अन्य अधिकारियों के बीच में भी मध्यस्थ बनता था। इस प्रकार उनके राज्यकाल में उसे बड़ा सम्मान प्राप्त था। इसका पता उनके इतिहास से चल जायगा। इब्ने हुदैर[1] इत्यादि उमय्या वंश के राज्य में हाजिब के पद पर ही आरूढ़ रहे।

फिर जब बनी उमय्या के राज्य का पतन हुआ तथा अन्य लोगों ने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिये तो वे भी हाजिब कहलाये, कारण कि उन्दुलुस में इस उपाधि को विशेष सम्मान प्राप्त था, फलतः मंसूर बिन अबी आमिर तथा उसकी संतान के लिए हाजिब की उपाधि विशेष सम्मान का कारण बनी। अन्त में जब उनका युग भी समाप्त हुआ और मुलूकुत्तवाएफ़ शक्तिशाली बने तो उन्होंने भी इस उपाधि को नहीं त्यागा और इसे वे अपने सम्मान एवं अपनी श्रेष्ठता का द्योतक समझते रहे। उन बादशाहों में जो व्यक्ति अपने ऐश्वर्य एवं गौरव की चरम सीमा पर पहुँच जाता था वह अन्य उपाधियों एवं शाही नामों के साथ "हाजिब" व "ज़ूल विज़ारतैन"[2] नामक उपाधियों का प्रयोग अपने सम्मान के लिए अवश्य करता था। हाजिब की उपाधि से उसके उस उत्तरदायित्व का संकेत होता था जो सुल्तान तथा विशेष एवं साधारण व्यक्तियों के मध्य रक्षक एवं राज्य के कर्त्तव्य को पूरा करता है

१. अबुल असबग़ बिन मुहम्मद (मृत्यु ३२० हि० । ९३२ ई०)।
२. दो विज़ारतों का स्वामी, अर्थात् क़लम एवं तलवार की विज़ारतों का।

और "ज़ुल विज़ारतैन" नामक उपाधि का यह उद्देश्य था कि वह तलवार तथा क़लम दोनों विभागों का स्वामी है।

इन बादशाहों के उपरान्त इफ़रीक़िया एवं मग़रिब की सल्तनतों में हाजिब की उपाधि त्याग दी गयी, कारण कि उनके स्वभाव में "बदवियत" पायी जाती थी। वे सीधे-सादे लोग थे। पदों एवं श्रेणियों के भेद-भाव तथा नामों एवं उपाधियों के आविष्कार में उन्हें कोई रुचि न थी।

मिस्र में उबैदीईन के राज्यकाल में हाजिब के पद का केवल कहीं-कहीं ही पता चलता है और वह भी बड़े कम समय के लिए। उबैदीईन के बाद मुवह्हेदीन के राज्यकाल में भी संस्कृति एवं नगर के जीवन को उन्नति न प्राप्त होने के कारण पदों के पारस्परिक भेद-भाव एवं उनके नाम रखने में अधिक नवीनता एवं आविष्कार का प्रदर्शन नहीं किया गया। उनके यहाँ केवल एक वज़ीर का पद था और कातिब[1] को ही वज़ीर के नाम से सम्बोधित करते थे। वह बादशाह को विशेष समस्याओं के सम्बंध में परामर्श दिया करता था। इब्ने अतीया एवं अब्दुस्सलाम कूमी को यही अधिकार प्राप्त थे। यही कातिब हिसाब एवं दीवानी विभाग की जाँच करता था। फिर इसके उपरान्त वज़ीर की उपाधि शाही वंश के लोगों के लिए विशेष रूप से प्रयोग में आने लगी, जैसे इब्ने जामे इत्यादि के लिए, किन्तु "हाजिब" की उपाधि का उनके राज्यकाल में प्रयोग न होता था।

इफ़रीक़िया में बनू अबी हफ़्स के राज्य के प्रारम्भिक समय में उच्चतम अधिकार एवं परामर्श का हक़ वज़ीर को प्राप्त था। उसे ये लोग मुवह्हेदीन का शेख़ कहते थे। नियुक्ति एवं पदच्युत करने के अधिकार उसी के हाथ में थे। सेना के लिए सेनापति चुनने का अधिकार तथा युद्ध की व्यवस्था उसी के सुपुर्द थी। हिसाब-किताब एवं दीवानी के विषयों के लिए एक पृथक् स्थायी पद था, जिसका सर्वोच्चाधिकारी "साहिब-अल-अशग़ाल"[2] कहलाता था। आय-व्यय का नियंत्रण, हिसाब-किताब की जाँच, शेष राजस्व की वसूली और लोगों के दुराचार पर दंड देना उसी के अधीन था, किन्तु उसके लिए मुवह्हेदीन के कुल से सम्बंधित होना आवश्यक था। किसी अन्य को यह पद नहीं प्राप्त होता था। क़लम के पद भी मुवह्हेदीन पृथक रखते थे। यह पद उसे प्रदान होता था जो रचना-शैली में दक्ष होता था और राज्य

१. सचिव।

२. वित्त संबंधी मामलों की देख-रेख करनेवाला।

के रहस्यों को गुप्त रखने एवं ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध होता था। कारण कि किताबत में मुवह्हेदीन को कोई विशेष योग्यता न प्राप्त थी और पत्र-व्यवहार भी उनकी भाषा में नहीं होते थे। इसी कारण उन्होंने इसमें से वंश की शर्त पृथक् कर दी। जब उनकी सल्तनत के प्रभुत्व का क्षेत्र बढ़ा और सल्तनत के पदाधिकारियों की संख्या में वृद्धि हुई तो बादशाह को ऐसे विशेष पदाधिकारियों की आवश्यकता होती थी जो खास तौर पर से उसके महल की देख-रेख कर सकें। राज-प्रासाद के प्रबंध को भली-भाँति चला सकें। खाने-पीने का प्रबंध, उपहारों का वितरण, वस्त्रों की देख-भाल उसके सुपुर्द हो। रसोई एवं अश्वशाला का पूरा प्रबन्ध उसके हाथ में हो। कोष की बहुमूल्य वस्तुओं का भी वही सर्वोच्च अधिकारी हो और इस बात की देख-भाल किया करे कि उसमें कौन-कौन-सी वस्तुएँ आती हैं और वे किस प्रकार व्यय होती हैं। संक्षेप में वह इन विभागों का सर्वोच्च अधिकारी हो। अतः उन्होंने इसके लिए एक हाकिम चुना और उसका नाम हाजिब रखा। कभी-कभी उस हाजिब को शाही फ़रमानों पर सुल्तान का तुग़रा लिखवाने का उत्तरदायित्व सौंप दिया जाता था, किन्तु यह उसी समय होता था जब हाजिब रचना-शैली में पूर्ण रूप से दक्ष हो। कभी इसके लिए पृथक् अधिकारी नियुक्त किया जाता था। कुछ समय तक शासन-व्यवस्था इसी प्रकार चलती रही। आगे चलकर बादशाहों ने लोगों से स्वतंत्र रूप से मिलना जुलना बन्द कर दिया तो फिर यही हाजिब बादशाह एवं अन्य अधिकारियों के संपर्क का बिचवइया बन गया। सल्तनत के उत्तरार्ध में हाजिब लोग तलवार एवं युद्ध सम्बन्धी सभी बातों के अध्यक्ष भी बन बैठे और उनके परामर्श का महत्त्व बढ़ गया। इस प्रकार जब इस पद का महत्त्व बहुत बढ़ गया तो हाजिब का पद सर्वोच्च समझा जाने लगा। अबी हफ़स की संतान में तो बारहवें सुल्तान के बाद हाजिब ने सुल्तान के समस्त अधिकार छीनकर उसे एक कोने में बैठा दिया और स्वयं समस्त अधिकारों के स्वामी बन बैठे। अन्त में सुल्तान अबुल अब्बास ने पुनः स्वाधीनता प्राप्त की। उसने हाजिब के पद को समाप्त किया और राज्य-व्यवस्था पर पूर्ण रूप से स्वाधिकार जमा लिया। इस प्रकार उन लोगों के राज्य में अब तक यही प्रथा चली आ रही है।

मग़रिब में ज़नाता की सल्तनत में और विशेष रूप से उनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण बनी मरीन के राज्य में हाजिब के पद का कोई पता नहीं चलता। सेना एवं युद्ध का प्रबन्ध वज़ीर के हाथ में है। हिसाब-किताब एवं पत्र-व्यवहार का विभाग उस व्यक्ति को सुपुर्द किया जाता है जो उसे भली-भाँति चला सकता हो। कभी-कभी

यह पद विशेष रूप से आश्रितों को प्रदान किया जाता है और इसके अधिकार उन्हीं तक सीमित रहते हैं, पर कभी-कभी इसका उत्तरदायित्व विभिन्न लोगों में विभाजित कर दिया जाता है। उनके यहाँ एक ऐसा पदाधिकारी भी होता है जो सर्वसाधारण को बादशाह के पास पहुँचने से रोकता है। उसे मिज़्वार[1] कहते हैं। उसको सुल्तान के महल के कर्मचारियों की अफ़सरी प्राप्त होती है। उसी के मतानुसार शाही आदेश एवं हुक्म निकाले जाते और दंड प्रदान किये जाते हैं। बन्दियों की देख-रेख की जाती है। संक्षेप में शाही द्वार की सभी बातें एवं मामले उसके सुपुर्द होते हैं। वह दरबारे आम में लोगों को उनके उचित स्थानों पर बैठाने का ज़िम्मेदार होता है। इस प्रकार मिज़्वार अपने अधिकारों के अनुसार एक प्रकार का छोटा वज़ीर होता है।

इसके विपरीत बनी अब्दुल वाद के यहाँ इन उपाधियों एवं पदों की कोई चर्चा ही नहीं, कारण कि उन पर अब तक बदवियत की छाप पड़ी हुई है और नगरों की प्रथाओं के सम्बंध में ये लोग अभी बहुत पीछे हैं। ये लोग कभी-कभी "हाजिब" उस अधिकारी को कह देते हैं जो सुल्तान के व्यक्तिगत तथा महल के प्रबंधों का ज़िम्मेदार हो, जैसा कि बनी हफ़स में प्रथा थी। कभी हिसाब-किताब के विभाग एवं सल्तनत के फ़रमानों के निर्गत कराने के कार्य भी उसी के सुपुर्द होते हैं। ये लोग बनी अबी हफ़स के राज्य का प्रारम्भ से ही अनुकरण करते हैं एवं उसके जानशीन होने का दावा करते हैं, अतः बहुत-सी बातों एवं प्रथाओं में वे उसी राज्य की नक़ल करते हैं।

उन्दुलुस के वर्त्तमान राज्य में हिसाब-किताब, शाही आदेशों के निकालने एवं माल सम्बंधी बातों के विभाग जिस व्यक्ति की देख-रेख में हैं, उसे वकील कहते हैं। वज़ीर के कर्त्तव्य वही हैं जो साधारणतः होते हैं, किन्तु पत्र-व्यवहार का विभाग भी उसके अधीन होता है। सल्तनत के फ़रमानों पर बादशाह स्वयं मुहर लगाता है। अन्य राज्यों की भाँति इसके लिए पृथक् प्रबंध नहीं।

मिस्र के तुर्कों के राज्यकाल में हाजिब के नाम से वह व्यक्ति प्रसिद्ध होता है जो हाकिम कहलाता है। नगर में राज्य के आदेशों को जारी कराना उसी के ज़िम्मे होता है। इस प्रसिद्ध पद के उत्तरदायित्व को कई लोग, जो आदेशों के निर्गत हेतु नियुक्त होते हैं, मिलकर पूरा करते हैं। तुर्कों में हाजिब का पद नायब से नीचे

१. बरबर शब्द, जिसका अर्थ प्रथम है।

होता है, कारण कि नायब ही सल्तनत में ऐसे उच्च अधिकार का, जिसके अन्य अधीनस्थ विभाग आज्ञाकारी होते हैं, स्वामी होता है। बहुत से पदाधिकारियों की नियुक्ति एवं उन्हें पदच्युत करने का अधिकार भी उसी को होता है। वृत्तियों एवं वेतनों में वह आवश्यकतानुसार कमी-बेशी कर सकता है। संक्षेप में जिस प्रकार वह बादशाह के आदेश जारी करता है, उसी प्रकार वह अपने व्यक्तिगत आदेश ज़िम्मेदारी से जारी कर सकता है, कारण कि बादशाह की ओर से वह समस्त बातों में नायब समझा जाता है।

तुर्कों में भी हाजिब के नाम से एक पदाधिकारी होता है। सर्वसाधारण अथवा कुछ लोगों के मामले जब उसके समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं तो वह उनका निर्णय करता है। उनके झगड़ों का निपटारा करता है। जो उसके आदेशों का पालन नहीं करते उन्हें इसके लिए विवश करता है। हाजिब भी नायब के ही अधीन होता है। तुर्कों के राज्य में वज़ीर का सम्बंध केवल राज्य की आय से होता है, चाहे वह आय ख़राज एवं चुंगी की हो चाहे जिज़िये इत्यादि की। शाही व्यय एवं अन्य निर्धारित मदों पर धन व्यय करने का उसे अधिकार होता है। राजस्व-विभाग के कर्मचारियों की नियुक्ति एवं उनको पदच्युत करने का भी उसे अधिकार होता है। संक्षेप में समय को देखकर जैसा आवश्यक एवं उचित होता है, वह करता है। तुर्कों में यह प्रथा चली आ रही है कि वज़ीर का पद क़िबतियों को प्राप्त होता है, जिनके अधीन ख़राज एवं माल-विभाग भी होता है।

दीवाने आमाल व ख़राज[1]

यह बात भली-भाँति ज्ञात होनी चाहिए कि इस पद की गणना राज्य के उन पदों में होती है जिनका अस्तित्व राज्य एवं सल्तनत के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ख़िराज[2] एवं राज्य की आय के सभी मामले इससे सम्बंधित होते हैं। राज्य के आय-व्यय की देख-रेख की जाती है। सैनिकों के नाम, उनकी वृत्तियों एवं वेतन की मात्रा इस विभाग में लिखी रहती है। उनके वेतनों का वितरण भी इसी विभाग में लिखा जाता है। ये सब कार्रवाइयाँ उन अधिनियमों के अनुसार होती हैं जिनको राज्य के उच्च पदाधिकारी एवं ख़राज-विभाग के अधिकारी एक पंजिका के रूप में

१. वित्त एवं राजस्व-विभाग।
२. राजस्व, भूमिकर, मालगुज़ारी।

सुरक्षित कर लेते हैं। इस पंजिका में राज्य के आय-व्यय की सविस्तर चर्चा होती है। इसका बहुत बड़ा भाग गणित के ज्ञान से गहरा सम्बन्ध रखता है। वही लोग वास्तव में इन अधिनियमों के अनुसार कार्य कर सकते हैं जो इस ज्ञान में दक्ष हैं। अधिनियमों की यह पंजिका "दीवान" के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार वे अधिकारी, जिनका इस विषय से सम्बंध होता है, जहाँ बैठकर अपना कार्य करते हैं, उसे भी "दीवान" ही कहते हैं।

इस नाम का कारण यह बताया जाता है कि एक दिन किस्रा नौशीरवाँ अपने दीवान के मुंशियों के पास पहुँच गया। वे सिर से सिर जोड़े हुए हिसाब-किताब में इस प्रकार व्यस्त थे कि मानो बड़-बड़ा रहे हों, तो उसके मुँह से निकल गया "देवानेह" अर्थात् ये पागल हैं। अधिक प्रयोग में आते-आते बैठने के स्थान का नाम "देवानेह" से दीवान हो गया।

फिर उस पंजिका का नाम दीवान पड़ा जिसमें राजस्वसम्बन्धी अधिनियम एवं हिसाब-किताब का वर्णन हो। कुछ लोगों का मत है कि फ़ारसी में दीवान शैतानों को कहते हैं। सचिवों को दीवान इस कारण कहते थे कि उनकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र होती थी और वे प्रत्येक कठिन से कठिन समस्या को तुरन्त समझ लेते थे। गोपनीय एवं स्पष्ट बातों को तत्काल ताड़ जाते थे और छिन्न-भिन्न एवं तितर-बितर मामलों में पलक झपकाने मात्र समय में उनसे सिद्धान्त एवं निष्कर्ष की बात निकाल लेते थे। फिर पंजिका के अर्थ में प्रयोग न होकर दीवान शब्द का प्रयोग उस कार्यालय के लिए प्रयुक्त हुआ, जहाँ राजस्व के कर्मचारी अपने हिसाब-किताब का कार्य सम्पन्न करते हैं और अब भी दीवान शब्द पंजिका एवं कार्यालय दोनों के लिए प्रयोग में आता है।

कभी-कभी इस संपूर्ण विभाग की देख-रेख एक ही अधिकारी के ज़िम्मे होती है। वह इस विभाग की विभिन्न शाखाओं की देख-भाल करता है। प्रत्येक विभाग के लिए पृथक् अधीक्षक भी नियुक्त किये जाते हैं। इस प्रकार कुछ सल्तनतों में सैनिक प्रबंध और उनकी जागीरों तथा इनामों का प्रबंध अलग-अलग लोगों को बाँट दिया जाता है। संक्षेप में समय के औचित्य की दृष्टि से एवं पिछले लोगों के आचरण को देखते हुए जो कुछ उचित होता है उस पर आचरण होता है। समझ लीजिए कि यह विभाग किसी सल्तनत में उस समय स्थापित होता है जब उसका प्रभुत्व दूर-दूर तक फैल जाता है और उसकी जड़ एवं नींव दृढ़ हो जाती है और जब इस बात की आवश्यकता होती है कि राजनीति की समस्याओं को विभिन्न भागों में बाँटकर सल्तनत का कार्य नियमानुसार चलाया जाय।

इस्लामी सल्तनत में दीवान को हज़रत उमर ने अपनी ख़िलाफ़त के समय प्रारम्भ किया। कहा जाता है कि जब हज़रत अबू हुरैरा[१] बहरैन से अपार धन-सम्पत्ति लाये और उसके विभाजन एवं उपहारों तथा इनामों इत्यादि की सुव्यवस्था में कठिनाई हुई तो खालिद बिन वलीद ने दीवान स्थापित करने का परामर्श दिया और कहा कि "मैंने शाम के राज्यों में यही प्रथा देखी है।" हज़रत उमर ने इस परामर्श को स्वीकार कर लिया और तदनुसार आचरण किया।

कुछ लोगों का मत है कि दीवान की स्थापना का परामर्श हरमुज़ान[२] ने दिया था। जब उसने देखा कि सेनाएँ राज्य की विभिन्न दिशाओं में भेजी जा रही हैं और किसी पंजिका में उनके विषय में कुछ नहीं लिखा जाता, तो बोला कि "इन सैनिकों में से कोई कहीं चला जाय तो उसके विषय में किस प्रकार कोई ज्ञान प्राप्त हो सकेगा और जो ग़ायब हो जायगा वह अवश्य ही अपने स्थान को छोड़कर व्यवस्था में विघ्न डाल जायगा। इसी कारण याद रखने के लिए एक पंजिका तैयार की जाती है और उसके हिसाब-किताब के लिए कुछ लोग नियुक्त किये जाते हैं, अतः आप भी इसके लिए एक स्थायी विभाग "दीवान" स्थापित कीजिए। हज़रत उमर ने दीवान का सविस्तर विवरण पूछा। हरमुज़ान ने उसकी व्याख्या की। इस प्रकार दीवान की स्थापना हुई। हज़रत उमर ने हज़रत अक़ील बिन अबी तालिब[३], मखरमा बिन नौफ़ल[४] तथा जुबैर बिन मुतइम[५] के ज़िम्मे दीवान का कार्य सौंपा। कारण कि क़ुरैश में यही लोग कातिब[६] समझे जाते थे। इन बुज़ुर्गों ने इस्लामी सेना

१. उनको यह नाम एक बिल्ली से अधिक रुचि के कारण हज़रत मुहम्मद ने स्वयं दिया था और यह इतना प्रसिद्ध हुआ कि लोगों को उनके असली नाम का कोई पता नहीं। इनके नाम से मुहम्मद साहब की हदीसें बहुत बड़ी संख्या में प्रसिद्ध हैं। वे हज़रत उस्मान के समय में मक्के के काज़ी थे। उनकी मृत्यु ६७९ ई० में हुई।

२. अहवज़ का बादशाह जो इराक़ की विजय के समय बन्दी बनाया गया था।

३. अक़ील बिन अबी तालिब हज़रत अली के बड़े भाई थे। इनकी मृत्यु ६८० ई० के लगभग हुई।

४. इनकी मृत्यु ५४ हि० (६७४ ई०) में हुई।

५. इनकी मृत्यु ५६ तथा ५९ हि० (६७५–७६ तथा ६७८-७९ ई०) के मध्य में हुई।

६. सचिव।

की एक पंजिका वंश के अनुसार तैयार करायी। नामों की सूची को मुहम्मद साहब के निकटतम सम्बंधियों से प्रारम्भ किया। फिर इसी क्रम से उनसे सम्बंध के अनुसार नाम लिखते गये। इस प्रकार सेना के दीवान का अभ्युदय हुआ। अज़्ज़ुहरी ने सईद बिन अल मुसय्यब के आधार पर लिखा है कि दीवान की प्रथा मुहर्रम २० हि० (दिसम्बर ६४०—जनवरी ६४१ ई०) से प्रारम्भ हुई।

अब जहाँ तक दीवाने महासिल[1] एवं ख़राज का सम्बन्ध, है तो यह इस्लाम के बाद भी अपनी पूर्व दशा में रहा अर्थात् इराक़ का दीवान फ़ारसी भाषा में और शाम का दीवान रूमी भाषा में। इसी प्रकार दीवान के कातिब भी रूमी अथवा फ़ारसी होते थे। जब अब्दुल मलिक बिन मरवान का समय आया और ख़िलाफ़त ने सल्तनत का रूप धारण किया तथा अरब ने बदवियत के वस्त्र को उतारकर नागरिक जीवन का वस्त्र धारण किया तथा निरक्षरता को त्यागकर किताबत में कुशलता प्राप्त की और स्वयं उनमें तथा उनके दासों में कुशल कातिब एवं हिसाब जानने वाले मिलने लगे, तो अब्दुल मलिक ने उरदन[2] के हाकिम सुलेमान बिन साद, के नाम फ़रमान भेजा कि शाम के दीवानों को अरबी भाषा में परिवर्तित कर दो। सुलेमान ने एक वर्ष के भीतर इस कार्य को सम्पन्न कर लिया। अब्दुल मलिक के कातिब सरहून ने इस कला में पर्याप्त योग्यता प्राप्त कर लेने के उपरान्त रूमी कातिबों से कह दिया कि "क्योंकि तुम लोगों से किताबत का काम लिया जा चुका, अतः अब तुम अपनी जीविका हेतु किसी अन्य व्यवसाय की खोज करो।"

उधर इराक़ का दीवान फ़ारसी भाषा में उसी प्रकार चला आता था। हज्जाज का कातिब, सालेह बिन अब्दुर्रहमान, अरबी एवं फ़ारसी दोनों भाषाओं में दीवान का कार्य जानता था। यह उसने हज्जाज के पहले कातिब ज़ादान फ़र्रूख़ से सीखा था। जब ज़ादान की अब्दुर्रहमान बिन अशअस के युद्ध में हत्या हो गयी[3] तो हज्जाज ने ज़ादान का कार्य सालेह को सौंप दिया और साथ-साथ आदेश दिया कि वह फ़ारसी दीवानों का अरबी भाषांतर करे। उसने ऐसा ही किया। फ़ारसी कातिबों को यह परिवर्तन बड़ा अरुचिकर लगा। अब्दुल हमीद बिन यहया कहा करता था कि, "अल्लाह सालेह का भला करे, उसने अरबी कातिबों का बड़ा उपकार किया।"

१. विभिन्न प्रकार के कर।
२. जार्डन।
३. ८५ हि० (७०४ ई०)।

उमय्या राज्य के उपरान्त जब अब्बासियों का राज्य प्रारम्भ हुआ तो दीवान का काम वज़ीर द्वारा सम्पन्न होने लगा, जो बड़े विस्तृत अधिकारों का स्वामी हुआ करता था। इस प्रकार बनी बरमक एवं बनू सहल बिन नव बख़्त इत्यादि वज़ीर दीवान का काम अपने हाथ में रखते थे।

दीवान से कुछ शरई आदेश भी सम्बन्धित हैं, उदाहरणार्थ सेना एवं बैतुल माल के आय-व्यय से सम्बन्धित आदेश, अथवा इसकी पहचान कि राज्य के कौन-से भाग सन्धि द्वारा विजित हुए हैं और कौन-से युद्ध द्वारा, या दीवान के कार्य को कौन सँभाल सकता है और कौन नहीं, अधीक्षक एवं कातिब से सम्बन्धित शर्तें अथवा हिसाब-किताब के सिद्धान्त। इन सब बातों का "एहकामे सुल्तानिया" के ग्रंथों में सविस्तर उल्लेख हुआ है। हमारे ग्रंथ से इस विषय का कोई सम्बन्ध नहीं, अतः हम इसे यहाँ नहीं लिखते। हमारा अभीष्ट तो केवल राज्य के अधिकारों की स्वाभाविक दशा का विवेचन करना मात्र है।

यह बात भली-भाँति ज्ञात होनी चाहिए कि दीवान का विभाग राज्य एवं सल्तनत की सुव्यवस्था और शासनप्रबंध के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है, अपितु इसको सल्तनत का तीसरा स्तम्भ समझना चाहिए। कारण कि प्रत्येक सल्तनत में सेना एवं धन की भी आवश्यकता होती है और सैनिक-नामावली की एक सुव्यवस्थित पंजिका की भी।

संक्षेप में दीवान का उच्च पदाधिकारी, राज्य के एक बड़े महत्त्वपूर्ण भाग का स्वामी होता है। उन्दुलुस में बनी उमय्या के राज्य-काल एवं मुलूकुत्तवाएफ़ के समय में दीवान को यही गौरव एवं सम्मान प्राप्त रहा। मुवह्हेदीन के राज्य-काल में दीवान का मुख्य अधिकारी मुवह्हेदीन के वंश का कोई ऐसा व्यक्ति होता था, जो धन एकत्र करने एवं उसके सुव्यवस्थित रखने पर नियंत्रण रखता, वालियों एवं आमिलों से हिसाब-किताब करता और समयानुसार निश्चित कर वसूल कराता था। उसको "साहेबुल अशग़ाल"[1] कहा करते थे। कभी ऐसा भी होता कि किसी ऐसे अन्य व्यक्ति को यह पद दे दिया जाता जो इसमें भली-भाँति दक्ष होता।

जब बनू अबी हफ़्स इफ़रीक़िया के बादशाह हुए तो वहाँ उन्दुलुस से योग्य एवं सम्मानित लोग आने लगे। उनमें से कुछ ऐसे थे जो उन्दुलुस में राजस्व विभाग का प्रबंध कर चुके थे, उदाहरणार्थ बनू सईद, क़िलआ के, जो ग़रनाता के समीप है, अधिकारी। वे बनू अबिल हसन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी कारण बनू अबी हफ़्स

१. वित्त-विषयक मुख्य अधिकारी।

ने राजस्व का प्रबंध उन्हीं के सुपुर्द किया और वे बड़ी योग्यता से राजस्व-विभाग चलाने लगे। वे उन्हें एवं मुवह्हेदीन को बारी-बारी से यह कार्य सौंपते रहे। फिर कातिब एवं हिसाब-किताब जाननेवाले मुवह्हेदीन से पृथक् होकर स्वाधीन हो गये।

इसके बाद जब हाजिब की उन्नति हुई और राज्य की सभी बातों में उसी का आदेश चलने लगा तो दीवान के अधिकारी का यश एवं गौरव भी समाप्त हो गया। वह हाजिब के अधीन समझा जाने लगा। उसके अधिकार बड़े सीमित हो गये। हमारे युग में बनी मरीन की सल्तनत में इनाम एवं ख़राज का हिसाब-किताब एक ही आदमी सँभालता है। समस्त हिसाबों की जाँच-पड़ताल उसी के सुपुर्द है और सब काग़ज़ सुल्तान एवं वज़ीर के पास प्रस्तुत होकर उसी के कार्यालय में आते हैं और वही उनका निरीक्षण करता है। जब वह किसी ख़राज अथवा इनाम के काग़ज़ पर हस्ताक्षर कर देता है तो उसके हस्ताक्षर सबके लिए मान्य हो जाते हैं। यह उन समस्त शाही पदों का सार है जिनके अधिकार राज्य में विस्तृत हैं और सुल्तान से सम्बन्धित हैं।

तुर्कों के राज्य में उपर्युक्त पद का विभाजन हो गया है। सैनिक वेतनों एवं वृत्तियों का हाकिम, नाज़िरुल जैश[1] एवं राजस्व-विभाग का अधिकारी वज़ीर कहलाता है। यह वज़ीर ही राज्य की आय एवं ख़राज का प्रबंध करता है और उसका पद राजस्व विभाग के उच्चतम पदों में गिना जाता है। तुर्कों की सल्तनत चूँकि बड़ी विस्तृत है और नाना प्रकार एवं विभिन्न नियमों के अनुसार कर एवं ख़राज की वसूली होती है, अतः अनेक पदाधिकारियों द्वारा राजस्व-विभाग का काम किया जाता है। एक अधिकारी पूरे विभाग का शासन-प्रबंध नहीं कर सकता, चाहे वह कितना ही अनुभवी क्यों न हो। वज़ीर उन सबकी सामान्य देख-भाल का कार्य करता है और सब पर नियंत्रण रखता है। यद्यपि वज़ीर के अधिकार बड़े विस्तृत होते हैं, किन्तु वह सुल्तान के किसी निकटतम सम्बंधी, सहिबुस् सैफ़[2] के अधीन होता है। वह उसी के संकेतों पर चलता है। तुर्क उसे उस्ताजुद्दार कहते हैं, कारण कि समस्त सैनिक पद उसी के अधीन होते हैं।

राजस्व एवं हिसाब-किताब से सम्बंधित और भी विशेष पदाधिकारी होते हैं

१. सेना-विभाग का निरीक्षक।

२. तलवार वाले।

जिनके अधिकार अपने-अपने क्षेत्र में सीमित होते हैं। उदाहरणार्थ नाज़िरुल ख़ास, जिसके सुपुर्द व्यक्तिगत शाही आय एवं ख़ालसे तथा अन्य करों का प्रबंध होता है। इनका साधारण मुसलमानों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह नाज़िर उस्ताजुद्दार के अधीन होता है। यदि सेना में से कोई विज़ारत के पद तक पहुँच जाय तो उस पर उस्ताजुद्दार का शासन नहीं चलता। फिर बादशाह का एक विशेष सेवक ख़ाज़िनदार[1] कहलाता है, जो बादशाह का दास होता है और बादशाह की व्यक्तिगत धन-सम्पत्ति की देख-भाल उसी के सुपुर्द होती है, मानो नाज़िर एवं ख़ाज़िन के पद विशेष रूप से बादशाह के व्यक्तिगत राजस्व से सम्बंधित हों। संक्षेप में पूर्वीय तुर्कों के शासन में इस विषय से सम्बंधित यही विषेष पद हैं।

दीवाने रसायल एवं मकातेबात[2]

यह राज्य का कोई अधिक आवश्यक विभाग नहीं है। जिन सल्तनतों पर बदवियत छायी हुई है उन्हें इसकी आवश्यकता ही नहीं, कारण कि न उनमें नगर की सभ्यता पायी जाती है और न कला-कौशल। इस्लामी सल्तनतों में दीवाने रसायल एवं किताबत की आवश्यकता का अनुभव अरबी भाषा की रक्षा के लिए हुआ, ताकि उसकी शैली की सुन्दरता सुरक्षित रहे। इस प्रकार प्रायः ऐसे चुने हुए लोग कातिब नियुक्त किये जाते थे जो अत्यधिक सुन्दर भाषा में अपने विचार व्यक्त कर सकते थे। कातिब, अमीर तथा सुल्तान के कुल से सम्बंधित तथा उनके क़बीले के प्रभावशाली व्यक्तियों में से होता था। पिछले ख़लीफ़ाओं एवं शाम तथा इराक़ के मुहम्मद साहब के सहाबी अमीरों में यही प्रथा रही। यह शर्त इस उद्देश्य से थी कि ऐसे ही निकटवर्ती सम्बंधियों द्वारा गोपनीय बातों एवं रहस्यों की रक्षा की आशा की जा सकती है। किताबत, बिना गोपनीय बातों एवं रहस्यों की रक्षा के नहीं चल सकती। जब भाषा का रूप बदला एवं अजम के मेल-जोल से उसमें दोष आने प्रारम्भ हो गये और किताबत एक विशेष कला एवं व्यवसाय हो गयी, तो किताबत के पद पर केवल उसी व्यक्ति को नियुक्त किया जाने लगा जिसे भाषा पर पूर्ण अधिकार होता था एवं जो रचना-कार्य में दक्ष होता था।

फिर बनी अब्बास ने तो अपने राज्यकाल में इस पद को और भी चार चाँद लगा

१. कोषाध्यक्ष।
२. शाही पत्र-व्यवहार का विभाग।

दिये। समस्त अधिकार कातिब के ही सुपुर्द किये, फ़रमानों पर कातिब स्वयं अपने हस्ताक्षर करता और फिर शाही मुहर लगाता। यह मुहर एक प्रकार की जल में घोली हुई लाल मिट्टी से तैयार की जाती थी और उस पर बादशाह का नाम तथा उपाधि खुदी होती थी। यह मिट्टी मुहर की मिट्टी के नाम से प्रसिद्ध थी। फ़रमान को मोड़कर चिपका दिया जाता था और उसके दोनों ओर मुहर लगा दी जाती थी। आगे चलकर यह प्रथा हो गयी कि फ़रमानों को शाही नाम से जारी किया जाता था। कातिब स्वयं फ़रमान के प्रारम्भ अथवा अन्त में, जैसा उचित होता, अपने हस्ताक्षर बनाता था।

इसके उपरान्त किताबत के पद का सम्मान और घट गया तथा सल्तनत के अन्य पदाधिकारी भी बादशाह के विश्वासपात्र बन गये। सल्तनत के वज़ीर ने स्वाधीन अधिकार प्राप्त कर लिये। ऐसी दशा में कातिब के हस्ताक्षर का कोई महत्त्व न रहा। केवल प्रतिभाशाली व्यक्ति के हस्ताक्षरों का ही विश्वास किया जाता था। इस प्रकार हफ़्सिया राज्य के अन्तिम काल में यही प्रथा थी। यह समय वह था जब हिजाबत के पद का सम्मान बहुत बढ़ गया और राज्य की समस्याएँ उसी के सुपुर्द हो गयीं। हाजिब राज्य के सियाह-सफ़ेद का मालिक-सा हो गया। पिछली प्रथा का पालन करते हुए कातिब हस्ताक्षर अवश्य करता था, किन्तु उसके हस्ताक्षर का कोई महत्त्व न होता था। फिर ऐसा होने लगा कि हाजिब द्वारा कातिब को आदेश दिया जाने लगा कि वह अपने निश्चित चिह्न के साथ अपने हस्ताक्षर फ़रमान पर कर दे।

तौक़ी लिखना भी कातिब के ही उत्तरदायित्व में से है। इसका संचालन इस प्रकार होता है कि कातिब बादशाह के समक्ष बैठ जाता है। जो अभियोग एवं अन्य समस्याएँ बादशाह के समक्ष प्रस्तुत की जाती हैं, उन पर वह शाही आदेश अत्यधिक सुन्दर भाषा में संक्षिप्त रूप से मिसिल अथवा मिसिल ख्वानी की पंजिका पर लिखता जाता है। इस कला के लिए कातिब में अत्यधिक योग्यता एवं विवेक आवश्यक है। प्रसिद्ध है कि जाफ़र बिन यहया हारूनुर्रशीद के सामने बैठकर शाही निर्णय लिखता और लिख-लिखकर मिसिल पढ़नेवाले के पास फेंकता जाता था। उसकी तौक़ियों को इतना सम्मान प्राप्त था कि देश के विद्वान् एवं रचनाशैली के दक्ष लोग बड़े उत्साह से उनकी खोज में रहते, कारण कि उनमें इतनी गूढ़ बातें पायी जाती थीं जो अन्य स्थानों पर नहीं प्राप्त होती थीं। यहाँ तक प्रसिद्ध है कि लोग एक-एक तौक़ी को एक-एक दीनार में ले लेते थे। फिर अन्य सल्तनतों में भी यही प्रथा प्रचलित रही।

यह बात भी भली-भाँति स्पष्ट होनी चाहिए कि कातिब के लिए यह भी आवश्यक है कि वह उच्च वंश का व्यक्ति हो, सहृदयता एवं गौरव का स्वामी हो। ज्ञान में भी अद्वितीय हो, रचनाशैली में भी दक्ष हो। कारण कि शाही दरबारों में जो आदेश जारी होते हैं, उनकी तह तक पहुँचने और उनके उद्देश्य को समझने के लिए ज्ञान की अत्यधिक आवश्यकता होती है। फिर बादशाह की गोष्ठी में रहने के लिए उच्चतम शिष्टाचार एवं सौजन्य भी ज़रूरी है। इसी प्रकार यदि फ़रमान लिखवाये जायँ तो वे साहित्यिक एवं विद्वत्तापूर्ण भी हों।

कुछ सल्तनतों में किताबत का उत्तरदायित्व किसी तलवार वाले[1] के सुपुर्द किया जाता है। इसका कारण यह होता है कि ये राज्य सीधे-सादे एवं ज्ञान से शून्य तथा "असबियत" के पोषक होते हैं। बादशाह अपनी असबियत वालों को ही सल्तनत के पदों के लिए छाँटता है। राजस्व एवं सेना विभाग तथा किताबत का पद सब इन्हीं को देने का प्रयत्न करता है। "तलवार वालों" को तो ज्ञान की कुछ अधिक आवश्यकता होती नहीं, अतः यह विभाग-बिना संकोच "असबियत" के स्वामियों को दे दिया जाता ह। किन्तु राजस्व विभाग एवं किताबत में गणित के ज्ञान तथा पांडित्य के बिना काम नहीं चलता, अतः इन विभागों के लिए विवश होकर अन्य योग्य लोगों को चुनना पड़ता है, किन्तु वह किसी "असबियत" के स्वामी के ही अधीन रहते हैं और लेश मात्र को उसके आदेशों की अवहेलना नहीं कर सकते। इस प्रकार आजकल पूर्व में तुर्कों के राज्य में यही प्रथा प्रचलित है। उनके यहाँ यद्यपि किताबत का कार्य किसी साहित्यिक के सुपुर्द होता है, किन्तु वह सुल्तान के किसी निकट-सम्बन्धी के, जिसे दावेदार कहते हैं, अधीन रहता है। उस पर बादशाह को पूर्ण विश्वास होता है। सब उसको बादशाह का विशेष विश्वासपात्र समझते हैं। फिर वह किसी में विद्वत्ता एवं उत्तम रचना-शैली देखकर अथवा उसे राज्य की गोपनीय बातों को गुप्त रखने के योग्य पाकर, कातिब नियुक्त कर देता है।

किताबत के लिए जिन शर्तों पर ध्यान देना आवश्यक एवं अनिवार्य है और बादशाह भी कातिब के चुनाव के समय जिन्हें आवश्यक समझता है, उन शर्तों की संख्या अधिक है। इनमें सबसे उत्तम वे शर्तें हैं जो अब्दुल[2] हमीद कातिब ने अपने उस पत्र में, जिसे उसने विभिन्न कातिबों के पास भेजा था, लिखी हैं। पत्र इस प्रकार है—

१. सैनिक।

२. अब्दुल हमीद बिन यहया की १३२ हि० (७५० ई०) में मृत्यु हो गयी। यह पत्र

"हे किताबत की कला के विद्वानो ! ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे और अपनी विशेष सहायता द्वारा तुम्हारा पथ-प्रदर्शन एवं उपकार करे। समझ लो कि नबियों, पैग़म्बरों तथा प्रतापी बादशाहों को छोड़कर ईश्वर ने मनुष्यों को विभिन्न क़िस्मों में विभाजित किया है। यद्यपि वास्तव में वे सब एक सरीखे हैं, किन्तु व्यवसाय, नाना प्रकार के आर्थिक धंधों एवं जीविकोपार्जन के विभिन्न तरीक़ों के कारण वे एक-दूसरे से पृथक् हैं। उदाहरणार्थ, ईश्वर ने तुम्हें अत्यधिक विद्वत्ता, योग्यता, मुरव्वत एवं सौजन्य दिया है। तुम्हारे ही कारण ख़िलाफ़त की व्यवस्था भली-भाँति सम्पन्न होती रहती है और उसके समस्त कार्यों की चूलें ठीक बैठती हैं। तुम्हारे ही परामर्श से मानव पर शासन होता है। बादशाह हर समय तुम पर निर्भर रहता है। उसके समस्त कार्य तुम्हारे द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। वास्तव में तुम ही बादशाह के कान हो जिनसे वह सुनता है, तुम ही उसकी आँख हो जिनसे वह देखता है, तुम ही उसकी जिह्वा हो जिससे वह बोलता है और तुम ही उसके हाथ हो जिनसे वह छूता है। ईश्वर तुमको अपनी योग्यता द्वारा अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के अवसर प्रदान करे और जो देन तुमको उसने प्रदान की है, उसे न छीने।

हे साहित्यकारो ! तुममें से प्रत्येक को कलाकार से अधिक उत्तम गुणों एवं आदतों की अधिक आवश्यकता है। यदि इस पत्र में लिखे हुए गुण तुममें पाये जाते हैं तो वास्तव में तुम अच्छे कातिब हो। तुम्हारा स्वामी भी इन्हीं गुणों को देखना चाहता है। सहनशीलता के समय सहनशीलता के गुणों द्वारा सुशोभित हो, निर्णय के समय कुशाग्र बुद्धि का प्रदर्शन करो, जब आगे बढ़ने की आवश्यकता हो तो सबसे आगे निकल जाओ। पीछे हटने के समय रुक जाओ, मर्यादा एवं न्याय के पुतले बनो, गोपनीय बातों को गुप्त रखो, कठिनाई का वीरतापूर्वक मुक़ाबला करते रहो, भविष्य में पेश आनेवाले ख़तरों का पहले से ही ज्ञान प्राप्त कर लो। अपनी दूरदर्शिता, अपने शिष्टाचार एवं अनुभव से भविष्य में घटनेवाली घटनाओं को समय के पूर्व पहचान लो और ताड़ लो। प्रत्येक समस्या के परिणाम को

जहशियारी के "वुज़रा", इब्ने हमदून के "तज़किरे" तथा क़लक़शन्दी के "सुबहुल आश" में भी दिया हुआ है।

प्रकट होने के पूर्व ही समझ जाया करो और हर एक के लिए पहले से ही तैयार रहो।

हे साहित्यकारो ! नाना प्रकार की योग्यताएँ प्राप्त करने में एक-दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयत्न करो और मुक़ाबला करो। दीन एवं धर्म का ज्ञान प्राप्त करो और सर्वप्रथम अल्लाह की किताब एवं धार्मिक कर्त्तव्यों से परिचय प्राप्त करो। फिर अरबी भाषा में कुशलता प्राप्त करो, कारण कि तुम्हारे लिए भाषा-ज्ञान परमावश्यक है। फिर सुलेख को भी न भूलो। सुलेख किताबत की कला की शोभा है। अरबी पद्यों को कंठस्थ करो और इनमें जो विद्वत्तापूर्ण बातें एवं रहस्य हों, उनके अर्थ भली-भाँति समझो। अरब एवं अजम के इतिहास तथा वहाँ वालों के चरित्र के विषय में भली-भाँति ज्ञान प्राप्त करो। कारण कि इससे तुमको अपने उस अध्यवसाय की ओर, जिसकी पूर्ति का तुमने संकल्प कर रखा है, अग्रसर होने का अवसर मिलेगा। इसके साथ गणित की कला की भी उपेक्षा मत करो, कारण कि ख़राज के कातिब इसी पर निर्भर होते हैं। लोभ एवं लिप्सा से बचते रहो; चाहे वे वस्तुएँ जिनके तुम लोभी हो, उच्च श्रेणी की हों अथवा निम्न श्रेणी की। लोभ एवं लिप्सा द्वारा मनुष्य अपमानित हो जाता है और उनके कारण "कातिब" के कार्यों में विशेष रूप से विघ्न पड़ता है। किताबत को कृपणता से बचाये रखो। चुग़ुलख़ोरी एवं पीठ-पीछे लगाने-बुझाने से घृणा करो। अज्ञान के समस्त कार्यों को त्याग दो। अभिमान, घमंड एवं डींग से बचते रहो,कारण कि ये बुरी आदतें अनावश्यक रूप से लोगों के साथ शत्रुता के द्वार खोलती हैं। अपने व्यवसायवालों के साथ केवल ईश्वर के लिए स्नेह एवं प्रेम करो। जो व्यक्ति अपने विद्वान्, न्यायकारी एवं पूज्य पूर्वजों का अनुकरण करने योग्य हो, उसको यह कला सिखाओ और बताओ। यदि कालचक्र से कोई किसी दुर्घटना में ग्रस्त हो जाय तो उसके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करो, यहाँ तक कि उसकी दशा पुनः ठीक हो जाय। उसकी दुर्दशा, समृद्धि में परिवर्तित हो जाय। यदि किसी का अभिमान तथा घमंड अपने भाइयों से भेंट करने में बाधक हो और वह लोगों से मिलने पर नाक-भौं चढ़ाये तो तुम स्वयं उसका आदर-सत्कार करो। उससे परामर्श करो। उसके अनुभव से लाभान्वित हो। यदि तुममें से कोई किसी से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता ले तो उसका अपनी संतान एवं भाई-बन्दों से

अधिक उपकार मानो। यदि कार्य में सफलता हो तो उसे सहायता करनेवाले की सहायता का फल समझो। यदि किसी बुराई का सामना करना पड़े तो इसे अपना दोष समझो। यदि स्थिति में परिवर्तन हो जाय तो दुस्साहस एवं शोक अपने हृदय में उत्पन्न मत होने दो।

हे साहित्यकारो ! तुम्हारी भूलें बड़ी तीव्र गति से हानि पैदा करती हैं। फिर यह भी जान लो कि यदि तुम में से कोई ऐसे व्यक्ति की संगत एवं संपर्क में आ जाय, जो परोपकार में अपनी जान खपा दे, तो उपकृत व्यक्ति का भी कर्त्तव्य है कि वह उपकार करनेवाले के प्रति निष्ठा, कृतज्ञता, शुभ भावनाएँ एवं उसकी गोपनीय बातों की रक्षा तथा सफलता की इच्छा अपने हृदय में रखे। यदि आवश्यकता पड़ जाय तो इन भावनाओं को कार्यरूप में परिणत करके भी दिखाए। अल्लाह तुम्हारी सहायता करे। किसी दशा में इस शिक्षा की उपेक्षा न करो, चाहे तुम सुखी हो और चाहे दुखी एवं परेशान, चाहे समृद्ध हो या कष्ट में। कातिब सरीखे सम्मानित व्यवसायवाले के लिए तो यह आदत बड़ी ही अच्छी है।

जब तुममें से कोई हाकिम की श्रेणी पर पहुँच जाय अथवा मनुष्योपयोगी कार्य बड़े पैमाने पर उसके हाथ में आ जायँ, तो ईश्वरपरायणता को वह कभी अपने हृदय से न निकाले। कभी उसकी आज्ञाकारिता से विमुख न हो। निर्बल के साथ नरमदिली का व्यवहार करे। पीड़ित के प्रति न्याय करे, कारण कि सभी मनुष्यों को ईश्वर ने उत्पन्न किया है। जो व्यक्ति उसकी संतान के साथ नरमी का व्यवहार करे, वह ईश्वर को बड़ा ही प्रिय होता है। निर्देश एवं निर्णय में न्याय की उपेक्षा न करो। सज्जनों को दान-पुण्य द्वारा सम्मानित करो। राज्य की आय में वृद्धि करो और नगरों को आबाद करो। प्रजा को प्रोत्साहन दो और उनको कष्ट न पहुँचाओ। सभा में सौजन्य एवं शिष्टाचार की मूर्ति बने रहो। खराज के पत्रों पर जब दृष्टि डालो अथवा राज्य के अधिकारों की प्राप्ति का जब प्रश्न आये, तो अत्यधिक कोमलहृदयी बन जाओ। जब किसी व्यक्ति का तुमसे सम्पर्क हो तो उसके स्वभाव को भली-भाँति परख लो। जब उसकी भली-बुरी आदतों का पता लग जाय तो उसकी भली बातों में उसकी सहायता करो और बुरी बातों से उसे उचित एवं सुन्दर ढंग पर बरजो।

तुम्हें भली-भाँति ज्ञात है कि चाबुक-सवार जब चाबुक-सवारी के

सिद्धांतों से भली-भाँति परिचित होता है तो वह अपने घोड़े की आदत एवं स्वभाव का पता लगा लेता है। यदि वह दुलत्ती चलाता है तो वह सवारी के समय उसे नहीं भड़काता, अपितु प्यार से एवं पुचकार कर काम लेता है। यदि वह सधा हुआ है तो सावधानी से बाग सँभाले रखता है। यदि मुँहज़ोर और उद्दंड है तो उसके मुँह एवं सिर को दृष्टि में रखता है। यदि बहुत मचलता है तो तसल्ली देकर वश में कर लेता है। यदि उसमें केवल एक ही ओर भागने की आदत है तो वह उसे भी ठीक करता है। चाबुक-सवारी के यही सिद्धान्त उस व्यक्ति का भी पथ-प्रदर्शन करते हैं जो लोगों पर शासन करता है। लोगों के प्रति उसे सद्-व्यवहार करना चाहिए। उनकी देख-भाल करना तथा उनसे मेल-जोल रखना चाहिए। सत्य तो यह है कि कातिब को चाबुक-सवार से अधिक नरमी एवं सुन्दर व्यवहार की आवश्यकता होती है, कारण कि उसकी शिष्टता बड़ी उच्च श्रेणी की होती है और उसकी कला सम्मानित। उसे ऐसे व्यक्तियों से वार्त्ता एवं विचार-विनिमय करना पड़ता है, जिनसे बात करने में उसे नरमी एवं शिष्टाचार की अधिक आवश्यकता होती है। चाबुक-सवार का संबंध तो एक पशु से होता है, जो न तो उत्तर दे सकता है और न अच्छे-बुरे को समझ सकता है। वह अपने सवार की केवल इतनी ही बात समझता है कि वह उसे जिस ओर मोड़ता है वह मुड़ जाय।

हे कातिबो ! ईश्वर तुम पर दया करे। तुम नरमी से व्यवहार करो और यथासम्भव समझ-बूझकर कार्य करो। यदि इस शिक्षा का पालन करोगे तो ईश्वरकृपा से जिसके साथ भी तुम रहोगे, उसके अत्याचार एवं ज़ुल्म से सुरक्षित रहोगे। तुम उसके साथ मेल एवं प्रेमपूर्वक व्यवहार करोगे तो वह तुम्हारे साथ भाइयों के समान प्रेमपूर्वक व्यवहार करेगा। स्मरण रहे कि तुममें से कोई भी अपने उठने-बैठने, वेश-भूषा, सवारी, खाने-पीने, रहन-सहन, सेवक एवं परिजनों के विषय में अथवा अन्य बातों में अपनी श्रेणी से आगे क़दम कभी न बढ़ाये, इसलिए कि यद्यपि ईश्वर ने तुमको इस कला द्वारा सम्मानित किया है, किन्तु फिर भी तुम सेवक हो। तुम्हारे लिए सेवा-कार्य की उपेक्षा करना किसी प्रकार उचित नहीं। तुम ज़िम्मेदार एवं रक्षक हो। अपव्ययिता तुम्हारे लिए किसी प्रकार उचित नहीं। सावधानी की दृष्टि से तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि तुम संयम से कार्य करो। अपव्ययिता एवं भोग-विलास के दुष्परिणाम से हर समय भयभीत रहो,

कारण कि इन आदतों से दरिद्रता तो बढ़ती ही है, साथ ही मनुष्य अपमानित अलग होता है। कातिब साहित्यकार भी होता है और सम्मानित व्यक्ति भी, इन बातों का अधिक ध्यान रखना चाहिए। वास्तव में संसार की घटनाओं से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, अतः तुम अपने पिछले एवं भूतकाल के अनुभव से अपने कर्म को सुधारो। ऐसे उपाय करो जो स्पष्ट हों, उनके उद्देश्य सच्चे और परिणाम उत्तम हों।

यह भी समझ लो कि यदि कोई योजना बनानेवाला, अपने ज्ञान एवं सूझ-बूझ का उपयोग न करे तो उसकी समस्त योजनाएँ नष्ट हो जाती हैं। अतः तुममें से प्रत्येक के लिए आवश्यक है कि जो कुछ भी जिह्वा से निकालो वह खूब सोच-समझकर और जाँच-तोलकर। प्रारम्भिक एवं उत्तरवर्ती वार्त्ता अथवा पत्र-व्यवहार में अधिक विस्तार में न पड़ो। बात के सब पहलुओं को सामने ले आओ, कारण कि कातिब के कार्य के लिए यह परमावश्यक है। इससे बात को अधिक बढ़ाने एवं लम्बे-चौड़े विवरण से भी बचा जा सकता है। ईश्वर से ही सहायता की इच्छा करते रहो और उससे भय करते रहो कि कहीं ऐसी भूल में न पड़ जाओ, जिससे तुम्हारे शरीर, बुद्धि एवं कला को हानि पहुँचे। यदि तुममें से किसी ने यह कल्पना की, अथवा यह कहा कि मेरी कला की सफलता एवं उन्नति, मेरे उपाय एवं परिश्रम का फल है, तो यह उसकी भूल होगी। ऐसा करके तुम ईश्वर को इस बात का अवसर देते हो कि वह तुम्हें तुम्हारे ऊपर छोड़ दे, जो तुम्हारे कार्यों के लिए क़दापि उचित न होगा। इसी प्रकार कोई यह भी न कहे कि वह अन्य लोगों की, जो यह व्यवसाय करते हैं, अपेक्षा अधिक योग्य, समझदार एवं ज्ञानी है, कारण कि यह अहंभाव का द्योतक है। बुद्धिमान् लोग दो व्यक्तियों में अधिक योग्य उसे मानते हैं जो अहंभाव को अपने निकट न आने दे, अपितु अपने साथियों को अपने मुक़ाबले में अधिक योग्य एवं कार्य-कुशल समझे। हर एक के लिए आवश्यक है कि वह ईश्वर की देन एवं उपकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। अपनी राय पर अभिमान न करे और न अपनी आत्मा की शुद्धता का गुण-गान करे। तुम अपने भाई, संबंधी, साथी और क़बीलेवालों को अधिक आगे मत बढ़ाओ-चढ़ाओ। ईश्वर की स्तुति प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। यह स्तुति उसी समय सम्भव है जब वह उसकी महानता के समक्ष झुके, उसके ऐश्वर्य के सामने अपने को क्षुद्र एवं हीन समझे, उसकी देनों के प्रति कृतज्ञ हो।

अब मैं अपने पत्र के अन्त में उपर्युक्त शिक्षा पर आचरण करने की प्रार्थना करता हूँ, कारण कि जब शिक्षा स्वीकृति-योग्य होती है तो उस पर आचरण भी परमावश्यक होता है। ईश्वर की स्तुति के उपरान्त मेरे पत्र का सारांश यही है, अतः इस बात का उल्लेख मैंने अपने पत्र के अन्त में किया और इसी पर उसे समाप्त किया है। हे विद्यार्थियो एवं कातिब लोगो! ईश्वर अपने सदाचारी एवं नेक दासों का साथ तथा आश्रय हमें और तुम्हें प्रदान करे और हमारे ऊपर दया करे।"

अश् शुर्ता

इस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी आजकल इफ़रीक़िया में "हाकिम", उन्दुलुस में "साहिबुल मदीना" तथा मिस्र के तुर्कों के राज्य में "वाली" कहलाता है। यह पद राज्य के तलवार के अधिकारी के अधीन होता है। वह अपने आदेशों का पालन उसी से कराता है। यह पद अब्बासियों के राज्यकाल में बनाया गया था और वास्तव में उस व्यक्ति के लिए बना था जो अपराधों की प्रारम्भिक पूछ-ताछ एवं जाँच करता था। जब जाँच पूरी हो जाती थी तो वह अपराधियों को दंड दिलाता था। कारण कि अपराधी पर जो अपराध लगाये जाते थे, उनमें शरीअत की ओर से इस कारण जाँच की जाती थी कि जाँच के उपरान्त उचित दंड दिया जा सके। अपराध के प्रमाण एकत्र हो जाने के उपरान्त हाकिम अपराधी से जन-हित की दृष्टि से अपराध स्वीकार कराता था। अतः वह अधिकारी, जो अपराधों की जाँच और अपराध का प्रमाण मिल जाने के उपरान्त, अपराधियों को दंड दिलाने का कार्य करता था, क़ाज़ी के निर्णय का पालन कराता था। ऐसे व्यक्ति को 'साहिबुश् शुर्ता' कहते थे।

कभी-कभी साहिबुश् शुर्ता दंड एवं क़सास जारी करने में क़ाज़ी के अधीन नहीं, अपितु स्वाधीन होता था। इस पद पर नगर के सम्मानित व्यक्तियों एवं उच्चश्रेणी वालों की नियुक्ति होती थी और अब भी होती है, किन्तु साहिबुश् शुर्ता के अधिकार हर ख़ास व आम को प्राप्त नहीं होते। उसके आदेश केवल दुराचारियों, व्यभिचारियों, धूर्तों, जालसाज़ों एवं निम्न वर्ग के लोगों पर चलते हैं।

उन्दुलुस के बनी उमय्या के राज्यकाल में यह पद दो विभागों में विभक्त हो गया। एक शुर्ता कुबरा[1] कहलाया और दूसरा शुर्ता सुग़रा[2]। जिसे शुर्ता कुबरा का

१. बड़ी पुलिस। २. छोटी पुलिस।

पद प्राप्त होता है वह विशेष सम्मानित व्यक्तियों, सुल्तान के सम्बन्धियों एवं उच्च वर्ग के लोगों के अत्याचारों, अपराधों एवं कुकृतियों का दंड देता है। शुर्ता सुग़रा का अधिकारी केवल नगर के साधारण लोगों से सम्बन्धित रहता है और ऐसे ही लोगों को दंड देता है। शुर्ता कुबरा का अधिकारी सुल्तान के द्वार पर आसन ग्रहण करता है। लोग उसके आदेशों का पालन करने के लिए उसके सामने बैठे रहते हैं। यह पद इतनी उच्च श्रेणी का होता था कि सल्तनत के महान् व्यक्तियों को ही दिया जाता था, यहाँ तक कि अधिकांश लोग इस पद से उन्नति करके वज़ीर अथवा हाजिब भी हो जाते थे।

मग़रिब के मुवह्हेदीन के यहाँ भी इस पदाधिकारी को बड़ा सम्मान प्राप्त था और वह पद प्रत्येक ख़ास व आम को नहीं दिया जाता था, अपितु बड़े-बड़े मुवह्हेदीन ही इसके पात्र समझे जाते थे। किन्तु सल्तनत के सम्मानित लोगों को यह पद न प्राप्त होता था। अब इस पद का महत्त्व इतना घट गया है कि मुवह्हेदीन के अतिरिक्त अन्य लोगों को भी यह पद प्राप्त होने लगा है और सल्तनत के आश्रित लोग भी इस पद पर नियुक्त होने लगे हैं। मग़रिब में मरीनी राज्यकाल में इस समय यह पद मरीनी दासों एवं आश्रितों को प्राप्त है।

पहले तुर्क सुल्तानों के अधीन तुर्क लोग इस पद पर नियुक्त होते थे, अथवा पिछले कुर्द सुल्तान की संतान इसकी पात्र समझी जाती थी। उनकी नियुक्ति इस दृष्टि-कोण से होती थी कि उनके स्वभाव में कठोरता की कितनी मात्रा है, क्योंकि वे आदेश देने में निर्भीक एवं निडर होते थे। ऐसे ही लोग उपद्रव के दमन हेतु उपयुक्त होते हैं और दुराचार एवं व्यभिचार की जड़ काट देते हैं। व्यभिचारियों के समूह को छिन्न-भिन्न कर देते हैं और शरा के अनुसार दंड जारी कराते हैं। यदि ऐसा न हो तो नगर की शान्ति की रक्षा असम्भव हो जाय।

क़्यादतुल असातील[1]

मग़रिब एवं इफ़रीक़िया में इस पद की गणना सल्तनत के बड़े पदों में होती है। यह अधिकारी भी "तलवार के अधिकारी" के अधीन रहता है और उसी के अधीन इसकी व्यवस्था होती है। ये लोग क़ायेदुल असातील को "अलमिलन्द" भी कहते हैं। यह शब्द फ़िरंग भाषा से लिया गया है।

१. जल-सेना विभाग का मुख्य अधिकारी।

इस पद की प्रथा केवल इफ़रीक़िया एवं मग़रिब में इस कारण है कि ये दोनों देश भूमध्य-सागर के दक्षिणीय तट पर स्थित हैं और दक्षिण में ही बरबरों का देश क्योटा से इस्कन्दरिया तथा शाम तक फैला हुआ है। उत्तरीय तट पर उन्दुलुस, फ़िरंग एवं सक़ालिया प्रदेश स्थित हैं। यह तट रूम[1] एवं शाम तक फैला हुआ है। इस समुद्र के तट पर बसनेवालों के कारण इसका नाम रूम-सागर पड़ गया है और शाम-सागर भी। इस तट के दोनों ओर तथा आस-पास के निवासी जहाज़ चलाने की कला में अन्य क़ौमों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। रूम, फ़िरंग तथा क़ोत[2] भूमध्य-सागर के उत्तरीय तट पर बसे हुए हैं। उनका अधिकांश युद्धकार्य एवं व्यापार समुद्र द्वारा ही होता है, इसी कारण वे जहाज़ चलाने एवं समुद्रीय युद्ध में बड़े दक्ष हैं। जब उन लोगों ने दक्षिणीय तट पर अधिकार जमाने का प्रयत्न किया, जिस प्रकार रूम वालों ने इफ़रीक़िया पर तथा क़ोत ने मग़रिब पर अधिकार जमा लिया था, तो वे अपने जहाज़ी बेड़े लेकर पहुँच गये और उन पर अधिकार जमा लिया। इस प्रकार वे बरबर पर छा गये और राज्य उनके हाथ से निकल गया। वहाँ उन्होंने बड़े-बड़े नगर, उदाहरणार्थ क़रताजना, सबीतला, जलूला, मुरनाक़, शरशाल एवं तनजा इत्यादि आबाद किये। क़रताजना का बादशाह तो इन विजयी लोगों के आने के पहले से ही रूम के बादशाह से युद्ध किया करता और सेना से भरे हुए जहाज़ी बेड़े रूम के विरुद्ध भेजा करता था। संक्षेप में समुद्रतट के निवासी आज से नहीं, अपितु प्राचीन काल से जहाज़ चलाने एवं समुद्रीय युद्ध में अत्यधिक दक्ष एवं निपुण होते चले आये हैं।

जब मुसलमानों ने मिस्र विजय कर लिया तो हज़रत उमर बिन ख़त्ताब ने अमर बिन आस को लिखा कि समुद्र के विषय में मुझे सूचना भेजो। उसने उत्तर में लिखा कि "समुद्र एक बड़ा संसार है, जिस पर शक्तिहीन मनुष्य को इस प्रकार फिरना पड़ता है, जिस प्रकार एक लकड़ी पर कीड़े को।" यह सुनकर हज़रत उमर ने मुसलमानों को समुद्रीय यात्रा से रोक दिया और फिर अरबों ने इसका साहस ही नहीं किया। जो लोग हज़रत उमर को सूचना दिये बिना समुद्रीय यात्रा हेतु गये उन्हें दंड भोगना पड़ा। उदाहरणार्थ, अरफ़जा बिन हरसमा अल अज़दी तथा बजीला का सरदार, जिसने उमान पर आक्रमण करने के लिए सेना भेजी, इनके नाम इस बारे में

१. बैज़न्टाइन।
२. गोथ।

लिये जा सकते हैं। हज़रत उमर को जब इसका पता चला तो आपने उसको बहुत फटकारा और उसकी निन्दा की। हज़रत मुआविया के राज्यकाल तक यही दशा रही, पर हज़रत उमर ने इसके बाद जहाज़ चलाने एवं समुद्रीय युद्ध की अनुमति प्रदान की। इस ऐतिहासिक घटना का कारण यह है कि प्रारम्भ में अरब वालों को बदवियत के कारण जहाज़ चलाने का ज्ञान न था। वे इस कला में कुशल न थे। इसके विपरीत रूमियों तथा फ़िरंगियों को समुद्र का सर्वदा सामना करना पड़ता था। उसकी यात्रा करते-करते वे जहाज़ चलाने में बड़े दक्ष हो गये थे।

जब अरबों का राज्य दृढ़ हो गया, सल्तनत का गौरव बढ़ा और अजमी क़ौमें उनकी दासता के बंधन में आयीं, तो बड़े-बड़े कुशल कारीगर उनके पास पहुँच गये। समुद्रीय यात्रा के लिए अरबों ने बाहरी लोगों की सेवाएँ प्राप्त कीं और फिर उनके साथ रहकर यह लोग जहाज़ चलाने में दक्ष हो गये। इन्होंने अच्छी योग्यता पैदा कर ली। तब इन्होंने भी समुद्र में ही जेहाद किये, नौकाएँ एवं जहाज़ स्वयं तैयार किये और सेना एवं अस्त्र-शस्त्रों से भर-भरकर जहाज़ी बेड़े समुद्र-पार काफ़िरों से युद्ध हेतु भेजे। इन्होंने विशेष रूप से उन देशों एवं राज्यों पर आक्रमण किये जो समुद्रीय तट पर स्थित थे, जैसे कि शाम, इफ़रीक़िया, मग़रिब एवं उन्दुलुस इत्यादि पर।

ख़लीफ़ा अब्दुल मलिक ने हस्सान बिन नोमान, इफ़रीक़िया के हाकिम को आदेश भेजा कि वह तूनिस में जहाज़ों एवं समुद्रीय यंत्रों का एक कारख़ाना खोले, कारण कि उसे जेहाद से बड़ी रुचि थी। उसकी इच्छा थी कि जेहाद की तैयारियाँ बहुत बड़े पैमाने पर की जायँ। इस प्रकार ज़ियादतुल्लाह प्रथम बिन इबराहीम बिन अल अग़लब के समय में, मुख्य मुफ़्ती असद बिन फ़ुरात[1] के नेतृत्व में सिसली विजय हुआ।[2] क़ूसरा[3] पर भी उसी के राज्यकाल में विजय प्राप्त हुई और असद बिन अल फ़ुरात ने उसे भी विजय किया। मुआविया बिन अबी सुफ़ियान के राज्यकाल में मुआविया बिन हुदैज ने भी सक़लिया (सिसली) पर आक्रमण किया, किन्तु उसे विजय न कर सका। यह सौभाग्य ईश्वर ने असद बिन अल फ़ुरात के भाग्य में लिखा था, जो उसे प्राप्त हुआ।

१. असद का जन्म १४२ हि० (७५८–६० ई०) में हुआ और मृत्यु २१३ हि० (८२८ ई०) में हुई।

२. ८२७ ई०।

३. Pantelleria

फिर उबैदीईन एवं (उन्दुलुस के) बनी उमय्या के राज्यकाल में इफ़रीक़िया एवं उन्दुलुस के बेड़े एक-दूसरे पर आक्रमण करते रहे और युद्ध एवं रक्तपात होता रहा। समुद्रीय तटवर्ती प्रदेश नष्ट हो गये। अब्दुर्रहमान नासिर के राज्यकाल में उन्दुलुस के जहाज़ों की संख्या २०० के लगभग तक पहुँच गयी थी। इफ़रीक़िया के जहाज़ भी लगभग इतने ही थे। उन्दुलुस का क़ायेदुल असातील[१] इब्ने रूमाहिस था। बजाया एवं मरिया उन्दुलुस के बेड़ों के बड़े-बड़े बन्दरगाह थे। प्रत्येक नगर से जहाज़ बनकर यहीं एकत्र होते थे। प्रत्येक बेड़े का पृथक् निरीक्षक एवं अधिकारी होता था जो जहाज़ चलाने की कला में दक्ष होता था। युद्ध एवं अस्त्र-शस्त्र की देख-भाल उसी के सुपुर्द होती थी। जहाज़ को वायु अथवा डाँडों द्वारा चलाने और बन्दरगाह पर उसके लंगर डालने का मामला जहाज़ के रईस से सम्बन्धित था।

जब जेहाद हेतु प्रस्थान अथवा किसी शाही उद्देश्य हेतु जहाज़ों के बेड़े प्रस्थान के लिए एक स्थान पर एकत्र होते तो बादशाह उनको अपनी सेना, दासों अथवा सेवकों से भरता और राज्य के किसी उच्च पदाधिकारी के अधीन उन्हें उनके निश्चित स्थान की ओर भेजता था। फिर सब इस बात की प्रतीक्षा किया करते कि ईश्वर उन्हें विजय, सफलता एवं लूट की धन-सम्पत्ति के साथ वापस लाये। मुसलमान अपने राज्य में समुद्र के चारों ओर छा गये थे और उनकी सल्तनत को विशेष ज़ोर एवं एक खास शान प्राप्त हो गयी थी। समुद्र की दूसरी ओर की ईसाई क़ौमों के भी बेड़े उनकी टक्कर के न थे। इस प्रकार वे समुद्रीय द्वीप एवं तटवर्ती स्थानों को एक-एक करके विजय करते रहे। इतिहास इन विजयों एवं लूट की धन-सम्पत्ति का द्योतक है।

इन लोगों ने उन बहुत-से द्वीपों पर भी अधिकार जमा लिया, जो समुद्रीय तट से दूर एक ओर सटे हुए स्थित थे। यानी मयूरक़ा[२], मनूरक़ा[३], याबसा[४], सरदीनिया[५], सक़लिया[६] क़ूसरा[७], मालता[८], अक़रीतिश[९], क़बरस[१०], रूम[११] एवं फ़िरंग के अन्य

१. जहाजी बेड़े का अध्यक्ष।
२. Mallorca
३. Minorca
४. Ibiza
५. Sardinia
६. Sicily
७. Pantelleria
८. Malta
९. Crete
१०. Cyprus
११. Byzantine

देश। अबुल क़ासिम शीई[1] और उसके उत्तराधिकारी अपने बेड़ों को महदिया से धर्म-युद्ध के लिए जेनोवा भेजते और वे विजय के सुखद समाचार तथा लूट की धन-सम्पत्ति लेकर लौटते। उन्दुलुस के मुलूकुत्तवाएफ़ में से दानिया के हाकिम मुजाहिद आमरी ने बेड़े भेजकर सरदीनिया द्वीप को ४०५ हि० (१०१४-१५ ई०) में विजय कर लिया, यद्यपि ईसाइयों ने इसे पुनः शीघ्र वापस ले लिया।

संक्षेप में इस काल में मुसलमानों ने समुद्री तट के अधिकांश भाग पर अधिकार जमा लिया था और हर समय उनके बेड़े समुद्र में आते-जाते दृष्टिगत होते थे। मुसलमान समुद्री बेड़ों के ज़रिये जल-मार्ग से महाद्वीप तक, जो रूम-सागर के उत्तरीय तट पर स्थित है, पहुँचने लगे और वहाँ फ़िरंग प्रदेश को छिन्न-भिन्न करने लगे, जैसा कि बनू अबिल हुसेन[2] सक़लिया के बादशाहों के राज्यकाल में, जो उबैदीईन के प्रचारक एवं समर्थक थे, हुआ। ईसाई अपने बेड़ों को भय के कारण उत्तर-पूर्वी ओर फ़िरंग के समुद्रीय तटों, सक़लिया एवं रूमानिया के द्वीपों तक हटा ले गये और मुसलमान उन पर सिंह की भाँति टूट पड़ने लगे। संक्षेप में समुद्रीय तट के अधिकांश भागों को मुसलमानों ने अपनी सेना एवं अपने अस्त्र-शस्त्रों द्वारा अपने अधीन कर लिया था। वे कभी संधि के उद्देश्य से और कभी युद्ध के उद्देश्य से समुद्र में घूमते फिरते थ, जब कि ईसाइयों के जहाज़ दिखाई तक न पड़ते थे।

जब उबैदीईन एवं (उन्दुलुस के) बनी उमय्या का राज्य शक्तिहीन हो गया तब ईसाइयों ने भूमध्य-सागर के पूर्वी द्वीपों की ओर हाथ बढ़ाया और सक़लिया (सिसली), अक़रीतिश (क्रीट) एवं मालता पर अधिकार जमा लिया। फिर वे लोग शाम के तट की ओर बढ़े और तराबलस[3], असक़लान[4], सूर[5] एवं अक्का[6] विजय कर लिये और वे शाम के तटों पर छागये। उन्होंने बैतुल मुक़द्दस पर भी अधिकार जमाया और वहाँ एक गिरजा

१. दूसरा फ़ातेमी बादशाह, जिसने ९३४ से ९४६ ई० तक राज्य किया। उसके अधिकांश आक्रमण ९३४-३५ ई० में हुए।
२. सिसली के बनी कलब का १०वीं शताब्दी ईसवी के अन्त तथा ११वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ का हाकिम।
३. Tripoli
४. Ascalon
५. Tyre
६. Acco

घर का निर्माण कराया, ताकि वे अपनी धार्मिक प्रथाओं एवं इबादतों को शान्ति-पूर्वक कर सकें।

इधर बनू खज़रून से उन्होंने तराबलस ले लिया और तदुपरान्त क़ाबिस एवं सफ़ाक़िस पर भी विजय प्राप्त करके उन पर जिज़िया लगा दिया। फिर उबैदीईन की खास राजधानी महदिया को भी बुलुग्गीन बिन ज़ेरी के उत्तराधिकारियों के हाथ से छीन लिया। संक्षेप में पाँचवीं शताब्दी[1] हि० में ईसाई पुनः भूमध्य-सागर पर छा गये। मिस्र एवं शाम के राज्यों में मुसलमानों की समुद्रीय शक्ति कमज़ोर पड़ गयी और अन्त में समाप्त हो गयी। अब तक मुसलमानों का इस ओर कोई ध्यान नहीं है, यद्यपि उबैदीईन के राज्यकाल में इन्हीं मुसलमानों ने, जैसा कि उनके इतिहास से पता लगता है, समुद्रीय शक्ति को उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचाया था।

जब जहाज़ी बेड़ों की चर्चा ही समाप्त हो गयी तो समुद्रीय बेड़े के अधिकारी का पद भी न रहा। अब केवल इफ़रीक़िया तथा मग़रिब में ही यह पद मिलता है, किन्तु भूमध्य-सागर का पश्चिमी भाग अब भी शक्तिशाली युद्ध-पोतों से भरा हुआ और शत्रुओं के उत्पात से सुरक्षित है।

लम्तूना के राज्यकाल में बेड़े के अधिकारी का पद क़ादस[2] प्रायद्वीप के सरदार बनू मैमून अपने अधिकार में किये हुए थे। जब लम्तूना ने अब्दुल मोमिन की अधीनता स्वीकार की तो युद्ध का बेड़ा अब्दुल मोमिन के हाथ में आया और उसी के समय में जहाज़ों की कुल संख्या १०० तक पहुँच गयी।

तदुपरान्त छठी शताब्दी[3] हि० में मुवह्हेदीन को उन्नति प्राप्त हुई और उन्होंने समुद्र के दोनों तटों पर अधिकार जमा लिया। उन्होंने अपने समुद्री बेड़ों की बहुत बड़े पैमाने पर उन्नति की। मुवह्हेदीन के समुद्री बेड़े का अधिकारी अहमद सिक़िल्ली था। उसके पूर्वज सदग़ियान के निवासी थे, जो सदवीकिश की एक शाखा हैं, वे जरबा द्वीप में आकर बस गये थे। ईसाई लोग उसे बन्दी बना ले गये थे और उसका पालन-पोषण उन्हीं के पास हुआ। फिर सक़लिया के हाकिम[4] ने उसको बन्दी-गृह से छुड़ाकर अपने आश्रय में ले लिया। जब सक़लिया के हाकिम की मृत्यु हो गयी तो उसका पुत्र उसका उत्तराधिकारी हुआ। कुछ कारणों से वह अहमद से रुष्ट हो गया, अहमद प्राण के भय से सक़लिया से भागकर तूनुस पहुँचा और बनू अब्दुल

१. ११वीं शताब्दी ईसवी। २. Cadiz.
३. १२वीं शताब्दी ईसवी। ४. रोज़र द्वितीय।

मोमिन के हाकिम के यहाँ अतिथि हुआ। उसके बाद यहाँ से भी प्रस्थान करके मराकश पहुँचा। वहाँ खलीफ़ा यूसुफ़ बिन अब्दुल मोमिन[1] ने उसका भली-भाँति स्वागत किया और अत्यधिक इनाम एवं दान के उपरान्त बेड़े के सरदार का पद उसे प्रदान कर दिया। जब अहमद को यह पद प्राप्त हुआ तो उसने ईसाइयों से बहुत-से युद्ध किये। मुवह्हेदीन के राज्यकाल के इतिहास से उसके विषय में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार का उदाहरण न तो पिछले इतिहासों में मिलता है और न बाद के।

जब मिस्र एवं शाम के सुल्तान सलाहुद्दीन युसुफ़ बिन अय्यूब[2] ने अपने राज्यकाल में शाम के सीमान्त प्रदेशों को ईसाइयों के हाथ से फिर वापस लेना चाहा और बैतुल मुक़द्दस से भी उन्हें हटाना निश्चय किया, तो बैतुल मुक़द्दस के आस-पास से, जो ईसाइयों के अधीन था, समुद्री बेड़े उनकी सहायतार्थ पहुँच गये और अपनी संख्या एवं शक्ति से ऐसी सहायता पहुँचायी कि इस्कन्दरिया के जहाज़ उनका मुकाबला न कर सके थे। कारण कि भूमध्य-सागर के पूर्वी तट के आस-पास ईसाई बहुत समय से अधिकार जमाये हुए थे और उनके बेड़े वहाँ बहुत बड़ी संख्या में पड़े थे। उनके विपरीत मुसलमान अपनी समुद्रीय शक्ति, जैसा कि हम उल्लेख कर चुके हैं, बहुत पहले से खो चुके थे। इस कारण सलाहुद्दीन ने मग़रिब के सुल्तान याक़ूब अल-मंसूर के पास, जो उस समय मुवह्हेदीन का बादशाह था, अब्दुल करीम बिन मुनक़िज़ को भेजा। यह अब्दुल करीम शैज़र के बनू मनक़िज़ के उस वंश से था, जो सलाहुद्दीन के राज्यकाल तक शासन करता चला आया था। सलाहुद्दीन ने अब्दुल करीम द्वारा मग़रिब के सुल्तान से युद्ध के बेड़े माँगे, ताकि ईसाइयों की कुमक को रोका जा सके और शाम की सीमा पर मुसलमानों की सहायता हो सके। सलाहुद्दीन ने अब्दुल करीम के हाथ मंसूर के नाम एक पत्र भी भेजा जो फ़ाज़िल बेसानी[3] का लिखा हुआ था। इस पत्र को एमाद अल इसफ़हानी[4] ने

१. शासनकाल ११६३–११८४ ई०।

२. मलिक अन्नासिर सलाहुद्दीन यूसुफ़ प्रथम बिन अमीर नज्मुद्दीन अय्यूब, सलीबी युद्धों (क्रूसेड) का प्रसिद्ध योद्धा (जन्म तकरीत ११३८ ई०—मृत्यु ११९३ ई०)। यूरोप के साहित्य में वह सलाडिन के नाम से प्रसिद्ध है।

३. अब्दुर्रहमान बिन अली अल-क़ाज़ी अल-फ़ाज़िल बेसानी, जन्म ५२९ हि० (११३५ ई०), मृत्यु ५९६ हि० (१२०० ई०)।

४. मुहम्मद बिन मुहम्मदएमादअल-इसफ़हानी, जन्म ५१९ हि० (११२५ ई०), मृत्यु ५९७ हि० (१२०१ ई०)।

"फ़तहुल क़ुदसी" में उद्धृत किया है। यह पत्र इन शब्दों से प्रारम्भ किया गया था—"अल्लाह हमारे सरदार के लिए सफलताओं एवं आशीर्वाद के द्वार खोल दे।" इस पत्र में मंसूर को "अमीरुल मोमिनीन" की उपाधि द्वारा सम्बोधित न किया गया था, अतः मंसूर को बड़ा बुरा लगा, किन्तु उसने अपनी भावनाओं को छिपाये रखा और राजदूत को बड़े स्नेह एवं कृपा-भाव से ठहराया, किन्तु फिर उसे असफल विदा कर दिया गया। इस ऐतिहासिक घटना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि केवल मग़रिब के सुल्तान के पास उस समय बड़े अच्छे युद्ध के बेड़े थे, और यह भी ज्ञात हुआ कि ईसाइयों ने भूमध्य-सागर की पूर्वी दिशा में अपना पूर्ण अधिकार जमा रखा था और मिस्र एवं शाम के राज्यों का कोई ध्यान समुद्रीय शक्ति की ओर न था और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें मग़रिब की ओर हाथ फैलाना पड़ता था।

जब याक़ब अल-मंसूर की मृत्यु हो गयी और मुवह्हेदीन का राज्य संकट में पड़ गया तो जलालक़ा[1] ने उन्दुलुस के बड़े भाग पर अधिकार जमा लिया। मुसलमान विवश होकर समुद्र तट की ओर खिसक आये और उन्होंने भूमध्य-सागर की पश्चिमी दिशा के द्वीपों पर अधिकार जमा लिया। समुद्र पर मुसलमानों की शक्ति पुनः बढ़ गयी। उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में युद्ध के बेड़े एकत्र कर लिये। संक्षेप में मुसलमानों ने अपनी खोयी हुई शक्ति पर पुनः अधिकार जमा लिया। अब वे ईसाइयों से बराबर का मुक़ाबला करने लगे। इस प्रकार सुल्तान अबुल हसन[2] जनाता के बादशाह के राज्य-काल में ऐसा ही हुआ कि जब उसने जेहाद का संकल्प किया और उसके युद्ध के जहाज़ों का अनुमान लगाया गया तो संख्या एवं शक्ति में वे ईसाई जहाज़ों से कुछ कम न थे।

इसके उपरान्त मुसलमानों की समुद्रीय शक्ति का पुनः पतन होने लगा। मग़रिब में बदवी आदतों का ज़ोर बढ़ जाने और साथ-ही-साथ उन्दुलुस की प्रथाओं से अनभिज्ञ होने के कारण वे जहाज़ चलाने की कला को भूल गये। इसके विपरीत ईसाइयों ने जहाज़ चलाने की कला में खूब योग्यता पैदा कर ली और अपना अभ्यास पहले से अधिक बढ़ा लिया। उन्होंने उन सब कलाओं को सीख लिया जो समुद्रीय युद्ध में प्रभुत्व के लिए आवश्यक हैं। मुसलमानों में यदि किसी को जहाज़ चलाने की

१. Galician.
२. अबुल हसन ने १३३१ ई० से १३५१ ई० तक राज्य किया।

कला में दक्षता प्राप्त हुई, तो वे थोड़े-से मुसलमान थे जो तटवर्ती नगरों में बसे थे, किन्तु इन बेचारों को सहायता एवं किसी राज्य के आश्रय की, जो उनको सैनिक संगठन सिखाये तथा नियमित रूप से उस दिशा में उनकी सेवाएँ प्राप्त करे, अधिक आवश्यकता थी।

मग़रिब की सल्तनत में अब भी समुद्रीय बेड़े के अधिकारी का पद वर्त्तमान है। जहाज़ बनाने एवं चलाने की प्रथा जारी है। जब कोई संकट आ जाता है और समुद्रीय युद्ध छिड़ जाता है, तो उस समय के लिए युद्ध के बेड़े तैयार रहते हैं। मग़रिब-वालों के मस्तिष्क एवं हृदय में यह विचार आरूढ़ है कि मुसलमानों का समुद्र पार बसनेवाले ईसाइयों पर आक्रमण करके उनके राज्य को विजय करना आवश्यक एवं अनुपेक्ष्य है। इन्हीं विचारों के कारण वहाँ के मुसलमान काफ़िरों पर आक्रमण करने के लिए हर समय उद्यत रहते हैं और युद्ध के बेड़ों को तैयार रखते हैं, कारण कि समुद्रीय युद्ध जंगी जहाज़ों के बिना किसी प्रकार नहीं लड़ा जा सकता। "ईश्वर ही धर्म-निष्ठ मुसलमानों का मित्र है।"[1]

(३५) सल्तनतों में तलवारवालों एवं क़लमवालों के पदों का पारस्परिक महत्त्व

समझ लीजिए कि सल्तनत का शासक राज्यव्यवस्था के संचालन में तलवार एवं क़लम दोनों पर निर्भर होता है, किन्तु जिस समय सल्तनतवाले राज्य की नींव डाल रहे हों, उस समय क़लम की अपेक्षा तलवार की अधिक आवश्यकता पड़ती है। कारण कि उस समय क़लम राज्य का एक सेवक मात्र होती है, जिसकी योग्यता इतने पर ही समाप्त हो जाती है कि वह शाही आदेशों को राज्य में जारी करती है। किन्तु तलवार तो सल्तनत की स्थापना में सल्तनतवालों का बराबर का हाथ बटाती है और बराबर की सहयोगी होती है। यही सम्बन्ध तलवार का क़लम से उस समय भी स्थिर रहता है जब "असबियत" शक्तिहीन होकर अपने जीवन के अन्तिम दिन गिन रही होती है। उस समय भी सल्तनत अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए तलवारवालों पर ही अवलम्बित होती है, ताकि वे उसको जीवित रखें और उसकी ओर से प्रत्येक कष्ट एवं संकट दूर करें। इस प्रकार तलवार को क़लम पर सल्तनत

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

के प्रारम्भ एवं अंत दोनों ही कालों में प्राथमिकता प्राप्त होती है। यही कारण है कि प्रारम्भ में तलवारवाले उच्च पदों पर आरूढ़ हो जाते हैं और समृद्ध एवं बड़े-बड़े जागीरदार बन बैठते हैं।

सल्तनत के मध्य युग में सुल्तान एक प्रकार से तलवारवालों की उपेक्षा कर सकता है। सल्तनत की नींव दृढ़ हो चुकती है और उस समय उसका पूरा ध्यान सल्तनत से लाभान्वित होने की ओर आकृष्ट रहता है, उदाहरणार्थ ख़राज इत्यादि वसूल करना एवं उसे सुव्यवस्थित करना, सल्तनत के ऐश्वर्य को बढ़ाना और प्रत्येक दिशा में उसके आदेश जारी करना। यह सब उद्देश्य क़लम द्वारा ही प्राप्त होते हैं और वही उनकी सहायक होती है। तलवार मियान में विश्राम करती है। यदि राज्य में कोई अकस्मात् दुर्घटना हो जाय अथवा देश में अशान्ति फैल जाय तो तलवार पुनः अपना कार्य प्रारम्भ कर देती है। इन अवसरों के अतिरिक्त तलवार की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः राज्य के मध्य-युग में क़लमवाले उच्च पदों पर आरूढ़ एवं समृद्ध होते हैं। वे बादशाह के विश्वासपात्र होते हैं और एकान्त में उसके पास आते-जाते हैं। इसका यह कारण है कि क़लम राज्य के लाभों के उपभोग का साधन बनती है। राज्य की विभिन्न दिशाओं को सुव्यवस्थित करती है और सल्तनत के ऐश्वर्य में वृद्धि करती है। इस प्रकार जो वज़ीर क़लम के धनी होते हैं, वे बादशाह के मुँह-लगे हो जाते हैं। इसके विपरीत उस उमय "अहले सैफ़" की बादशाहों को कोई आवश्यकता नहीं रहती। वे बादशाह के हृदय से दूर, अपितु उसके आतंक से हर समय भयभीत रहते हैं।

अबू मुस्लिम के इस वाक्य में इसी तथ्य की ओर संकेत है। यह वाक्य उसने उस समय कहा था जब मंसूर ने उसको अपने पास बुलवाया था। उसने कहा था—"हमने फ़ारस के दार्शनिकों की यह शिक्षा याद कर रखी है कि जब सल्तनत दृढ़ता एवं शान्ति के मैदान में प्रविष्ट हो जाय तो सल्तनत के वज़ीर से बहुत भय करना चाहिए, कारण कि ऐसे समय राज्य में उसी को उच्च अधिकार प्राप्त होते हैं।"

(३६) सल्तनत एवं सुल्तान के विशेष चिह्न

ज्ञात होना चाहिए कि बादशाह के कुछ विशेष चिह्न होते हैं, जिनकी आवश्यकता उसके शाहाना ठाट-बाट को होती है और जिनके कारण वह अपनी प्रजा, मित्रों एवं राज्य के पदाधिकारियों से पृथक् पहचाना जाता है। उनमें से जो चिह्न

अधिक प्रसिद्ध हैं, उन्हें हम अपनी सूचना के अनुसार लिपिबद्ध करते हैं। "और उसे सभी विद्वानों से अधिक ज्ञान प्राप्त है।"[1]

आलह[2]

राज्य का चिह्न आलह है, अर्थात् पताका उड़ाना, तबल, तम्बूर, बिगुल एवं शंख बजवाना। अरस्तू ने "किताबे सियासत" में लिखा है कि इन वस्तुओं का उद्देश्य शत्रुओं को युद्ध में डराना एवं आतंकित करना होता है, कारण कि भयंकर स्वर आत्मा को भयभीत कर देते हैं। सच पूछिए तो रण-क्षेत्र के ये सब उपकरण उत्तेजनाप्रद गिने जाते हैं, प्रत्येक व्यक्ति इनसे स्फूर्ति अनुभव करता एवं साहस प्राप्त करता है। अरस्तू का यह दृष्टिकोण यद्यपि कुछ सत्य-सा और एक सीमा तक विश्वसनीय भी है, किन्तु वास्तविक रहस्य कुछ और है। वह रहस्य यह है कि आत्मा संगीत एवं सुखद स्वर सुनने पर एक विशेष प्रसन्नता एवं हर्ष का अनुभव करती है और इतनी अचेत हो जाती है कि उसे कठिन से कठिन कार्य भी सरल ज्ञात होने लगते हैं। ऐसी अचेत दशा में कभी-कभी मनुष्य अपने प्राण पर भी खेल जाता है। यह उत्तेजना केवल मनुष्य तक ही सीमित नहीं, मूक पशुओं तक में वर्त्तमान है, उदाहरणार्थ ऊँट हुदी[3] से मस्त हो जाता है और घोड़ा सीटी से झूमने लगता है। जब ध्वनि संगीत के विशेष सिद्धांतों के अनुसार निकलती है तो वह शरीर में आग लगा देती है, उदाहरणार्थ उत्तम स्वरवाले संगीतज्ञों का संगीत सुननेवालों को लोट-पोट कर देता है। अजम के बादशाह इसी कारण संगीत के यंत्र भी अपने साथ रखते थे और संगीतज्ञ शाही सेना के चारों ओर गाते-बजाते और वीरों को ऐसा गरमा देते थे कि वे प्राण त्यागने पर उद्यत हो जाते थे। हमने स्वयं देखा है कि अरब के युद्धों में सेना के समक्ष गायक पद्य एवं कविताएँ पढ़ते और गाते-बजाते चलते हैं और वीरों को ऐसा उभार देते हैं कि फिर उन्हें अपने प्राणों की सुध-बुध नहीं रहती और वे तत्काल रण-क्षेत्र में कूद पड़ते हैं और शत्रु से भिड़ जाते हैं। इसी प्रकार मग़रिब में जनाता क़ौम में यह प्रथा है कि कवि सेना की पंक्तियों के समक्ष चलते हैं और गाते जाते हैं। वे ऐसे स्वर में गाते हैं कि द्वार एवं दीवारों को हिला डालते हैं और कायर को भी वीर बना

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
२. बादशाही के कुछ प्रमुख चिह्न।
३. अरब के ऊँटवालों का विशेष गाना, जिसे वे ऊँट चलाते समय गाते हैं।

देते हैं। वे अपनी भाषा में उस सैनिक गीत को "ताज़ूगायेत" कहते हैं। इन घटनाओं एवं तथ्यों का रहस्य यही है कि इन उपायों से आत्मा को उत्तेजना एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है और वीरता की भावनाएँ जागृत होती हैं।

विभिन्न रंग की पताकाओं, उनकी अधिकता एवं लम्बाई का उद्देश्य भी शत्रु को भयभीत एवं आतंकित करना है, किन्तु कभी-कभी भय एवं आतंक अग्रसर होने की शक्ति को बढ़ा देते हैं एवं मनुष्य को निर्भय बना देते हैं, कारण कि मनुष्य की मनोवृत्ति एवं भावनाएँ बड़ी विचित्र हैं। मनुष्य की बुद्धि उन्हें समझ नहीं सकती। फिर सुल्तान एवं सल्तनतें उपर्युक्त विशेषताओं का प्रयोग करने में विभिन्न प्रकार से कार्य करती हैं। कुछ में इनकी अधिकता एवं बहुतायत होती है और कुछ में कमी तथा न्यूनता। इनका आधार सल्तनत के छोटे-बड़े होने पर है। इनमें झंडों की प्रथा का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह युद्धों में आज से नहीं, अपितु सृष्टि की रचना के समय से है। क़ौमों ने युद्ध में झंडों के प्रयोग को अपना सैनिक नियम बना रखा है। इस प्रकार स्वयं मुहम्मद साहब के शुभ राज्यकाल में सेना में पताकाओं का प्रयोग हुआ और इसी प्रकार खलीफ़ाओं के काल में भी।

रहा नक़्क़ारा इत्यादि, तो मुसलमान अपने प्रारम्भिक राज्यकाल में इसका प्रयोग न करते थे, कारण कि वे सल्तनत की शान व शौकत एवं अनावश्यक दिखावे को मिथ्या एवं व्यर्थ समझते थे। इनको वे कोई महत्त्व न देते थे। अतः जब सल्तनत ने खिलाफ़त का स्थान लिया, सांसारिक भोग-विलास एवं समृद्धि में मुसलमानों की रुचि बढ़ी और फ़ारस एवं रूम की प्राचीन क़ौमें, जो प्राचीन काल से राज्य करती चली आ रही थीं, उनके साथ घुली-मिलीं और उनको शाही ऐश्वर्य एवं गौरव की योजनाएँ समझायीं, तो मुसलमानों ने अन्य चीजों के साथ तबला इत्यादि बजाना भी पसन्द किया। बादशाहों ने स्वयं भी इस प्रथा का पालन किया और अपने आमिलों को भी यही आदेश भेजे, ताकि इस प्रकार राज्य एवं राज्यवालों के ऐश्वर्य तथा गौरव का प्रदर्शन हो। कभी-कभी अब्बासी अथवा उबैदीईन खलीफ़ा सीमान्त के किसी हाकिम अथवा सेनापति के लिए झंडे तैयार कराते और उसको उसके कार्य अथवा अभियान पर अपने महल या उस व्यक्ति के घर से उन पताकाओं सहित रवाना करते, फलतः उसका प्रस्थान इस शान से होता कि अत्यधिक सेना तथा पताकाएँ उठानेवाले उसकी सवारी के साथ-साथ होते। वादन-यंत्र भी साथ-साथ रहते और इस प्रकार उसके ऐश्वर्य एवं गौरव में वृद्धि कर दी जाती थी। खलीफ़ा तथा आमिल के सैनिक दस्तों में केवल पताकाओं की संख्या एवं रंग के आधार पर भेद-भाव किया जा सकता था।

उदाहरणार्थ अब्बासियों की पताकाएँ काले रंग की होती थीं। इस प्रकार वे इस रंग से अपने वंश के शहीदों का शोक मनाते थे और इसे बनी उमय्या की हत्या एवं उनके विनाश की स्मृति का चिह्न समझते थे, अतः अब्बासियों को "मुसव्वेदह"[1] कहा जाता था।

उसके बाद जब अब्बासी राज्य छिन्न-भिन्न हुआ और अलवियों ने प्रत्येक दिशा से उन पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया, तो अलवियों ने शत्रुता प्रदर्शित करने के लिए अपनी पताकाएँ सफ़ेद रंग की बना लीं, अतः वे "मुबय्येज़ह"[2] कहलाये। उबैदीईन के पूरे राज्यकाल में अलवियों में से जिन लोगों ने पूर्व पर आक्रमण किये, उदाहरणार्थ तबरिस्तान, सादा तथा क़रामेता आदि प्रचारक, वे "मुबय्येज़ह" कहलाते थे।

मामून ने अपने राज्यकाल में पताकाओं का काला रंग त्यागकर हरा रंग ग्रहण किया और हरी पताकाएँ बनवा लीं। रही पताकाओं की संख्या की बात, तो उसके लिए कोई सीमा निर्धारित न थी। उबैदीईन के शासनकाल में जब अज़ीज़ निज़ार[3] ने शाम की विजय का संकल्प किया तो उसके साथ ५०० बड़ी पताकाएँ एवं दुन्दुभियाँ थीं। मग़रिब में सिनहाजा के बरबर बादशाहों के यहाँ पताकाओं का कोई विशेष रंग निश्चित न था, अपितु वे शुद्ध रंगीन रेशम की होती थीं और उन पर सुनहरा काम रहता था। उनकी ओर से आमिलों को भी पताकाएँ रखने की अनुमति थी। फिर जब मुवह्हेदीन का राज्यकाल प्रारम्भ हुआ, अथवा उनके बाद ज़नाता ने शासन की बागडोर सँभाली, तो नक़्क़ारों एवं पताकाओं का प्रयोग सुल्तान तक ही सीमित हो गया। अन्य अधिकारियों को उनके रखने का अधिकार न रहा। नक़्क़ारे एवं पताकाएँ ले जाने के लिए एक पृथक् सैनिक दस्ता होता था जो बादशाह के पीछे-पीछे चलता था। उसको साक़ह कहते थे। इन पताकाओं की संख्या प्रत्येक सल्तनत की प्रथानुसार घटती-बढ़ती रहती थी। कुछ सल्तनतों में ७ की संख्या रही, कारण कि ७ संख्या शुभ समझी जाती थी। इस प्रकार मुवह्हेदीन के राज्यकाल में ७ पताकाएँ ही रहा करती थीं। बनू अल-अहमर ने भी उन्दुलुस में इसी प्रथा का पालन किया। कुछ सल्तनतों में यह संख्या १० या २० तक पहुँची, उदाहरणार्थ ज़नाता के राज्यकाल में। सुल्तान अबुल हसन के राज्यकाल में छोटे-बड़े नक़्क़ारों

१. काले।
२. श्वेत।
३. ३६७ हि० (९७७ ई०)।

एवं पताकाओं को मिलाकर कुल संख्या १००–१५० तक पहुँची। पताकाएँ रंगीन रेशमी कपड़े की होती थीं और उन पर सोने के तारों का काम रहता था।

वालियों, आमिलों तथा सेनापतियों को सफ़ेद मलमल की बनी हुई एक छोटी-सी पताका एवं एक छोटा-सा नक़्क़ारा रखने की अनुमति थी और वह भी युद्ध के समय। इससे अधिक वे कुछ नहीं रख सकते थे। पूर्व में तुर्कों के राज्यकाल में यह प्रथा है कि वहाँ केवल एक बड़ी पताका रखी जाती है, जिसके सिरे पर बालों का एक बहुत बड़ा गुच्छा लगा होता है। इसको ये लोग "शालिश" अथवा चत्र कहते हैं। इस बड़े झंडे का प्रयोग केवल बादशाह कर सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य पताकाएँ भी होती हैं जिनको ये लोग "सनजक़" कहते हैं। यह अरबी भाषा का "राया" है। नक़्क़ारों की इनके यहाँ कोई सीमा नहीं। इनको ये "कूस" कहते हैं। प्रत्येक अमीर तथा सेनापति अपने इच्छानुसार जितने नक़्क़ारे चाहे रख सकता है, किन्तु चत्र नहीं रख सकता। यह विशेष शाही चिह्न है।

आधुनिक काल में उन्दुलुस में जलालक़ा के फ़िरंग के जो बादशाह शासन कर रहे हैं, उनके यहाँ पताकाएँ थोड़ी होती हैं, किन्तु वे लम्बी होती हैं। उनके साथ आक्रमण के समय साज़ एवं तम्बूर बजने की भी प्रथा है और राग भी गाये जाते हैं। अजम के अन्य बादशाहों के यहाँ भी यही प्रथा है।

सरीर

सरीर, मिम्बर, सिंहासन, कुर्सी अथवा अरीका बादशाह के बैठने के लिए लकड़ी से तैयार किये जाते हैं, ताकि बादशाह अन्य दरबारवालों की अपेक्षा ऊँचे स्थान पर आसीन हो और उनके बराबर न बैठे। इस्लाम के पूर्व बादशाह लोग दरबारों में सिंहासन पर आसीन होते थे। अजमी सल्तनतों में यही प्रथा चलती रही, अपितु अजमवालों ने तो सोने के सिंहासन बनवाये। हज़रत सुलेमान एवं हज़रत दाऊद की कुर्सी तथा सिंहासन दोनों हाथीदाँत एवं स्वर्ण से तैयार किये गये थे। किन्तु यह सब उस युग का वर्णन है जब कि हुकूमतों पर शान व शौकत एवं आडम्बर तथा भोग-विलास का रंग चढ़ गया था। जब तक हुकूमतें "बदवियत" के युग से गुज़रती रहीं, इस प्रकार ठाठ-बाट एवं भेद-भाव की इच्छा ही उत्पन्न न हुई थी।

इस्लामी राज्यकाल में सर्वप्रथम अमीर मुआविया ने अपने लिए राज-सिंहासन का निर्माण कराया और लोगों को यह कारण बताया कि क्योंकि मैं भारी हो गया हूँ, अतः सिंहासन के बिना मेरा काम नहीं चल सकता। लोगों ने कोई आपत्ति न की।

बाद में आनेवाले अन्य इस्लामी बादशाहों ने भी इसी प्रथा का पालन किया। राज-सिंहासन सल्तनत की शान का एक चिह्न बन गया। अमर बिन आस जब मिस्र में अपने राज-प्रासाद की गोष्ठियों में सर्व-साधारण के साथ भूमि पर बैठते और मिस्र का बादशाह मुक़ौक़स उनके पास उपस्थित होता तो उसके बैठने के लिए लोग सोने का सिंहासन उठाये हुए आते और वह बादशाहों की भाँति अमर बिन आस के समक्ष सिंहासन पर आसीन होता। मुक़ौक़स ज़िम्मी था। ज़िम्मियों से प्रतिज्ञा की जाती है और प्रतिज्ञा का पालन भी इस्लाम में आवश्यक है, अतः उसके इस व्यवहार पर कोई मुसलमान आपत्ति प्रकट न करता था। इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि उस समय तक मुसलमान ज़ाहिरी ऐश्वर्य एवं वैभव तथा शान व शौकत को कोई महत्त्व न देते थे। इसके उपरान्त अब्बासियों, उबैदीईन तथा अन्य इस्लामी सुल्तानों ने पूर्व तथा पश्चिम में ऐसे-ऐसे राज-सिंहासन, मिम्बर एवं कुर्सियाँ बनवायीं कि उनके समक्ष क़ैसर एवं किसरा के भी राज-सिंहासन एवं मिम्बरों का कोई मूल्य न रहा।

टकसाल

एक लोहे का ठप्पा होता है, जिस पर चित्र अथवा कुछ वाक्य उलटे खुदे होते हैं। जब उसे प्रयोग में आनेवाले दिरहम तथा दीनार पर रखकर हथौड़े से चोट मारी जाती है तो उसके उलटे वाक्य दिरहम तथा दीनार पर सीधे उभर आते हैं। किन्तु ठप्पा लगाने के पूर्व दिरहम तथा दीनार को कसौटी पर कसकर देख लिया जाता है कि वह खरा है अथवा खोटा। उसके ठीक वज़न की भी जाँच कर ली जाती है कि वह कम है अथवा अधिक, अथवा बराबर। इस प्रकार दिरहम एवं दीनार जब टकसाल से निकलते हैं तो लोग गिन-गिनकर उन्हें अपने प्रयोग में लाते हैं। यदि उनके वज़न की परख नहीं हो सकती तो फिर तोलकर उनसे कारोबार चलता है।

सिक्का शब्द वास्तव में लोहे के ठप्पे के लिए बना था। फिर उन चिह्नों को कहने लगे जो दिरहमों एवं दीनारों पर दृष्टिगत होते हैं। फिर इससे भी हटकर उस पद को सिक्का कहने लगे जिसके अधीन दिरहम एवं दीनार के समस्त प्रबंध सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार अब इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में होता है। यह सल्तनत का परमावश्यक पद है, कारण कि इसी के द्वारा खरा अथवा खालिस सिक्का चलता है और लोग खोटे सिक्के से बचते हैं। अजम के बादशाहों के सिक्कों पर समकालीन बादशाह, किसी क़िले अथवा पशु का चित्र होता था। अजमी सल्तनत के अन्तिम

काल तक यही प्रथा रही। जब इस्लामी राज्य प्रारम्भ हुआ तो मुसलमानों ने कुछ इस्लामी सरलता से प्रभावित होकर और कुछ अरबी "बदवियत" के कारण सिक्के के प्रबंध की ओर से उपेक्षा की। ये लोग सोने और चाँदी को तोलकर आपस के लेन-देन में काम में लाते थे। फ़ारस के दिरहम एवं दीनार भी इनके यहाँ प्रचलित थे और ये उन्हें तोलकर लेते और अपना काम चलाते, किन्तु शासन की उपेक्षा के कारण जाली एवं खोटे सिक्के प्रचलित हो गये। विवश होकर अब्दुल मलिक ने हज्जाज को आदेश दिया कि टकसाल स्थापित की जाय, जैसा कि सईद बिन अल मुसय्यब एवं अबूज़् ज़िनादे के कथन से पता चलता है। यह ७४ हि० (६९३–९४ ई०) अथवा मदाएनी[२] के अनुसार ७५ हि० (६९४–९५ ई०) की घटना है। फिर ७६ हि० (६९५–९६ ई०) में यह फ़रमान जारी किया गया कि इसी टकसाल के दिरहमों एवं दीनारों का प्रयोग किया जाय। इस सिक्के पर "अल्लाहो अहदुन, अल्लाहो समदुन"[३] खुदा हुआ था। फिर यज़ीद बिन अब्दुल मलिक के राज्यकाल में जब इब्ने हुबैरा इराक़ का वाली हुआ तो उसने सिक्के में अन्य सुधार किये। फिर ख़ालिद अल क़सरी एवं यूसुफ़ बिन उमर ने अपने-अपने समय में और भी सुधार किये।

कहा जाता है कि इस्लामी शासन में सर्वप्रथम मुसाब बिन ज़ुबैर के आदेशानुसार इराक़ में दिरहम एवं दीनारों पर ७० हि० (६८९–९० ई०) में ठप्पा लगाया गया। यह कार्य उनके भाई अब्दुल्लाह के, जो उस समय हिजाज़ के वाली थे, आदेशानुसार हुआ। इस सिक्के के एक ओर "बरकतुल्लाह"[४] और दूसरी ओर अल्लाह का नाम खुदा था। फिर एक वर्ष उपरान्त हज्जाज ने इस सिक्के को बदल डाला और उस पर "अल्लाह के नाम से—हज्जाज" खुदवाया और सिक्के का वही वज़न निर्धारित किया जो हज़रत उमर फ़ारूक़ के काल में निश्चित हो चुका था।

वज़नों का प्रामाणिक विवरण इस प्रकार है—इस्लाम के प्रारम्भ में दिरहम का वज़न ६ दाँग था। एक मिस्क़ाल का वज़न $१\frac{३}{७}$ दिरहम, अतः १० दिरहम का वज़न ७ मिस्क़ाल होता था। फ़ारस के दिरहमों का वज़न इससे भिन्न था। कोई मिस्क़ाल

१. अब्दुल्लाह बिन जकवान, मृत्यु १३० हि० तथा १३२ हि० (७४७–४८ ई० तथा ७४९–५० ई०) के मध्य में।
२. इस्लाम के प्रारम्भिक काल का प्रसिद्ध इतिहासकार।
३. अल्लाह एक है और अल्लाह समद (श्रेष्ठ, पूज्य) है।
४. अल्लाह का आशीर्वाद।

वज़न पर २० क़ीरात[1] का था और कोई १२ या १० का। ज़कात अदा करने के समय जब मुसलमानों को दिरहम का वज़न निश्चित करना पड़ा, तो उन्होंने बीच के वज़न का दिरहम निश्चित किया, जो १४ क़ीरात का होता था। मिस्क़ाल का वज़न वही १$\frac{3}{७}$ दिरहम रहा। यह भी कहा जाता है कि बग़ली दिरहम का वज़न ८ दाँग, तबरी का ४ दाँग, मग़रिबी का ३ दाँग और यमनी का १ दाँग था। हज़रत उमर ने आदेश दिया कि अधिक प्रचलित दिरहम का पता लगाया जाय। इस प्रकार उपर्युक्त हिसाब से बग़ली तथा तबरी दिरहम दोनों मिलकर १२ दाँग के बराबर होते थे। फिर अरबी औसत निकालकर ६ दाँग का वज़न निश्चित किया गया, जिसमें $\frac{3}{७}$ दिरहम यदि और बढ़ाया जाता तो मिस्क़ाल बन जाता था। यदि मिस्क़ाल में से ३।१० कम कर दिया जाता तो दिरहम रह जाता था।

अब्दुल मलिक ने जब इस आशय से सिक्का बनाने का विचार किया कि सोना व चाँदी के सिक्के, जो मुसलमानों के लेन-देन के प्रयोग में आ रहे थे, खोट से बचाये जा सकें, तो उनका वज़न वही निश्चित किया जो हज़रत उमर के राज्यकाल में निर्धारित हो चुका था। फ़िर सिक्के पर केवल वाक्य लिखवाये, चित्र नहीं, क्योंकि अरब स्वाभाविक रूप से वाक्यों में रुचि रखते थे, चित्रों में नहीं। इसके अतिरिक्त इस्लामी शरीअत में चित्रकारी निषिद्ध थी, अतः दोनों कारणों से चित्रों की उपेक्षा की गयी। अब्दुल मलिक का यह कार्य इस्लामी सल्तनत में एक उदाहरण बन गया और सब लोगों ने इसी नियम का पालन किया।

दिरहम एवं दीनार गोल टिकियों के रूप में बनाये गये और उन पर समानान्तर वृत्तों में लिखाई की गयी। एक ओर ईश्वर की प्रशंसा एवं दरूद के वाक्य और दूसरी ओर ठप्पे की तिथि एवं समकालीन ख़लीफ़ा का नाम खोदा गया। अब्बासी, उबैदीईन एवं (उन्दुलुस के) उमय्या राज्यकाल में इसी प्रकार के सिक्के चलते रहे। सिनहाजा ने अपना सिक्का अपने राज्यकाल के अन्त में चलाया। इब्ने हम्माद[2] के इतिहास से पता चलता है कि बजाया के अधिकारी मंसूर ने सर्वप्रथम अपना सिक्का चलाया।

जब मुवह्हेदीन का राज्यकाल प्रारम्भ हुआ तो महदी ने दिरहम के सिक्के को गोलाकार के स्थान पर चौकोर आकार में परिवर्तित कर दिया। गोल दीनार में

१. Carats

२. **मुहम्मद बिन अली इब्ने हम्माद ने अपने इतिहास की रचना ६१७ हि० (१२२० ई०) के लगभग की।**

चौकोर खुदाई करवायी। उसके एक ओर ईश्वर के प्रशंसा सम्बन्धी वाक्य लिखवाये और दूसरी ओर अपना तथा अपने वली अहद का नाम लिखवाया। इस प्रकार मुवह्-हेदीन के राज्यकाल में यही प्रथा चलती रही। अब तक उनके यहाँ के सिक्के इसी रूप के होते हैं। कहा जाता है कि महदी का प्रभुत्व प्रारम्भ होने के पूर्व ही भविष्य-वाणी करनेवाले महदी की चर्चा "साहिबुद्दिरहमुल मुरब्बा"[1] की उपाधि द्वारा करते थे। आजकल पूर्वी सल्तनत में उनके सिक्के का कोई निश्चित रूप नहीं। वे दिरहम एवं दीनार को तोलकर अपने लेन-देन में काम में लाते हैं। वे अपने सिक्के पर मग़रिब-वालों की भाँति ईश्वर की प्रशंसा एवं दरूद के वाक्य तथा ख़लीफ़ा इत्यादि के नाम खुदवाते[2] हैं।

सिक्के का वर्णन समाप्त करने के पूर्व हम शरई दिरहम एवं दीनार की वास्तविकता और उसके वज़न को भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं। संसार भर के विभिन्न देशों, प्रान्तों तथा नगरों में विभिन्न तोल के सिक्के प्रचलित हैं। इस्लामी शरीअत में भी इनका उल्लेख है और अनेक विषयों यानी ज़कात निकाह एवं हुदूद[3] इत्यादि के शरई आदेशों का उनसे सम्बन्ध है। इस स्थिति में शरीअत के लिए आवश्यक हुआ कि शरई दिरहम एवं दीनार की वास्तविकता स्पष्ट की जाय और उनका वह वज़न निश्चित किया जाय, जो शरई आदेशों के अनुसार इन दिरहमों एवं दीनारों का होना चाहिए, उनसे कम न अधिक।

यह बात स्पष्ट रहनी चाहिए कि इस्लाम के प्रारम्भ, सहाबा एवं ताबेईन के समय से इस पर इजमा हो चुका है कि शरई दिरहम वह है कि जिसके १० दिरहमों का वज़न ७ मिस्क़ाल सोने के बराबर हो। एक ओक़िया[4] सोने में ४० दिरहम बनते हैं जब कि एक शरई दिरहम ७।१० दीनार का माना जाता है। एक मिस्क़ाल का वज़न ७२ औसत दरजे के गेहूँ के दाने के बराबर होता है। इसलिए एक दिरहम का वज़न जो ७।१० मिस्क़ाल के बराबर होता है, ५५ जौ दाने के बराबर हुआ। ये वज़न सबके सब इजमा से प्रमाणित हैं।

जाहिलियत के युग में दिरहम कई प्रकार के होते थे। इनमें सबसे खरा तबरी था जो ८ दाँग का होता था। बगली भी खरा माना जाता था, जो ४ दाँग का होता

१. चौकोर दीनार का अधिकारी।
२. कुछ पोथियों के अनुसार नहीं खुदवाते।
३. शरई दंड। ४. लगभग १ औंस।

था। शरई दिरहम दोनों के मध्य का निश्चित हुआ, अर्थात् ६ दाँग का। इस प्रकार १०० दिरहम बग़ली और तबरी पर ५ दिरहम शरई ज़कात के निश्चित हुए। अब इसमें लोगों का मतभेद है कि शरई दिरहम का उपर्युक्त वज़न अब्दुल मलिक ने निश्चित किया अथवा इसके उपरान्त लोगों ने इस पर इजमा किया है। ख़त्ताबी[1] ने "किताब मआलिमुस् सुनन" एवं मावर्दी ने "एहकाम अस्सुल्तानिया" में इस विषय की चर्चा की है। आधुनिक काल के विद्वानों ने इसे इस आधार पर रद्द कर दिया है कि इससे यह प्रमाणित होता है कि हज़रत मुहम्मद, सहाबा एवं बाद के राज्यकाल में दिरहम एवं दीनार की शरई स्थिति एवं वज़न अज्ञात रहा होगा, यद्यपि ज़कात, निकाह एवं हुदूद इत्यादि में बहुत से शरई आदेश इनसे सम्बन्धित हैं। यदि इनका वज़न निश्चित न होता तो आदेश कैसे निर्गत होते। विवश होकर स्वीकार करना पड़ता है और यह सत्य भी है कि हज़रत मुहम्मद एवं सहाबा के राज्यकाल में दिरहम एवं दीनार का वज़न ज्ञात था और इसी वज़न के अनुसार हक़ सम्बन्धी शरई आदेश उन पर निर्भर होते थे। इनका मुसलमानों को भली-भाँति ज्ञान था।

जब इस्लामी सल्तनत ऐश्वर्य एवं वैभव के क्षेत्र में प्रविष्ट हुई तो नवीन स्थिति के आवश्यकतानुसार शरा के आधार पर दिरहम एवं दीनार का ख़ास वज़न निश्चित करना इस कारण ज़रूरी हो गया कि लोग अनुमान एवं अटकल की कठिनाई से बच जायँ। इस प्रकार वज़न निश्चित हुआ। इस युग में अब्दुल मलिक राज्य कर रहा था। उसी ने वज़न निश्चित कराये। जो शरई वज़न लोगों को ज्ञात था, उसका ध्यान रखा गया, अर्थात् उससे घटने-बढ़ने नहीं दिया गया। उसने सिक्के पर ईश्वर के नाम एवं दुरूद के उपरान्त अपना नाम तथा तिथि भी खुदवायी। जाहिलियत के सिक्कों का प्रयोग बन्द करा दिया। जो उस समय के सिक्के प्रचलित थे उनको वर्त्तमान सिक्कों के रूप में ढाल लिया गया। इस ऐतिहासिक तथ्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। फिर इसके बाद सल्तनतों में शरई तोल से कम अथवा अधिक वज़न के सिक्के चलने लगे। प्रत्येक देश एवं सल्तनत ने अपना अलग-अलग सिक्का बना लिया। जब यह दशा हुई तो लोगों ने उनके उस शरई वज़न का ध्यान रखा जो इस्लाम के प्रारम्भ में प्रचलित था और फिर हर एक अपने-अपने राज्य के विशेष सिक्के से दिरहम एवं दीनार के शरई वज़न को मिलाकर देखता और उसकी कमी-बेशी को समझकर जितना अन्तर होता उसके अनुसार शरई हक़ अदा करता।

१. हम्द (अहमद) बिन मुहम्मद, ३१९ हि० (९३१) से ३८६ हि० अथवा ३८८ हि० (९९६ ई० अथवा ९९८ ई०)।

दीनार के वज़न के विषय में विद्वान् लोग पूर्णरूप से सहमत हैं कि वह औसत दर्जे के ७२ गेहूँ के दाने के बराबर होता है, केवल इब्ने हज़्म ने इससे मतभेद किया है। उसके अनुसार एक दीनार ८४ दाने के बराबर होता है। क़ाज़ी अब्दुल हक़[१] ने भी उसका यही कथन उद्धृत किया है, किन्तु शोधकों ने इब्ने हज़्म के मत का खंडन किया है और उसको ग़लत बताया है। वास्तव में शोधकों का मत ही ठीक है। यही ऊक़िया के विषय में कहा जा सकता है। उसका वज़न भी विभिन्न देशों में अलग-अलग है। उसका शरई वज़न जो हम बता चुके हैं, सबको ज्ञात है। किसी का इसमें मत-भेद नहीं।

मुहर

यह भी शाही विशेषता एवं राज्य के चिह्नों में से एक है। इस्लाम के पूर्व एवं बाद में फ़रमानों पर मुहर लगाने की प्रथा प्रचलित रही। सहीहैन[२] में उल्लेख है कि जब मुहम्मद साहब ने क़ैसर[३] को पत्र लिखना निश्चित किया तो लोगों ने निवेदन किया कि अजमवाले उस पत्र को, जिस पर मुहर नहीं लगी होती,कोई महत्त्व नहीं देते। आपने चाँदी की अँगूठी तैयार करायी और उसमें "मुहम्मदुर्रसूलल्लाह"[४] खुदवाया। इमाम बुखारी का कथन है कि आपकी मुहर पर मुहम्मद, रसूल तथा अल्लाह के तीन शब्द अलग-अलग तीन पंक्तियों में खुदे थे, अतः आपने पत्र पर मुहर लगायी और साथ-साथ आदेश दे दिया कि कोई अन्य इस प्रकार की मुहर न बनवाये। इमाम बुखारी का यह भी कथन है कि हज़रत अबू बक्र, हज़रत उमर तथा हज़रत उस्मान ने अपनी-अपनी खिलाफ़त के युग में इसी मुहर का प्रयोग किया। फिर हज़रत उस्मान के हाथ से वह अरीस नामक कुएँ में गिर पड़ी। मुहर गिरने के समय यद्यपि कुएँ में जल कम था, किन्तु मुहर गिरने के बाद जल की थाह न मिल सकी। हज़रत उस्मान को अँगूठी खो जाने का बड़ा शोक हुआ और आपने इस घटना को अपने राज्य हेतु एक अपशकुन समझा। फिर आपने उसी प्रकार की एक अन्य अँगठी बनवा ली।

१. सम्भवतः अब्दुल हक़ बिन अब्दुर्रहमान अल-इशबीली, (५१०–५८१ हि०, १११६—११८५ ई०)।
२. सहीह मुस्लिम तथा सहीह बुखारी।
३. बैज़ण्टाइन शाहंशाह।
४. हज़रत मुहम्मद, ईश्वर के दूत।

मुहर की खुदाई तथा मुहर लगाने के कई नियम प्रचलित हैं। वास्तव में ख़ातम[१] उस वस्तु को कहते हैं जो अँगुली में पहनी जाती है। उससे भी मुहर लगायी जाती है। किसी वस्तु के उद्देश्य तथा अन्त को भी ख़ातम कहते हैं। इस प्रकार जब किसी कार्य को अन्त तक पहुँचा दिया जाय तो कहा जाता है "ख़तम्तुल अम्र"[२], "ख़तम्तुल क़ुरान"[३] भी इसी से है। "ख़ातमुन् नबीईन"[४] एवं "ख़ातमुल अम्र"[५] का प्रयोग भी इसी अर्थ में होता है। बरतनों एवं मटकों के ढक्कन के लिए भी इसी शब्द का प्रयोग होता है, किंतु उन्हें ख़िताम बोलते हैं। जिस प्रकार क़ुरान शरीफ़ में है—"ख़िताम़ुहू मिस्कुन"[६]; इसकी टीका में लोगों का मत है कि "ख़िताम का अर्थ अंत एवं समाप्ति है और भाव यह है कि स्वर्गीय मदिरा के अन्त में कस्तूरी की सुगंधि मिलेगी" किन्तु यह मत ठीक नहीं, कारण कि यहाँ "ख़िताम" का अर्थ ढक्कन है। प्रथा यह है कि मदिरा को मटके में भरकर मिट्टी इत्यादि से उसे बन्द कर दिया जाता है, ताकि उसमें सुगंधि उत्पन्न हो जाय और वह स्वादिष्ठ भी हो जाय। इसी कारण ईश्वर ने स्वर्ग की मदिरा की प्रशंसा की है और फ़रमाया है कि इसका ढक्कन भी कस्तूरी का बना होगा, न कि मिट्टी इत्यादि का। इस प्रकार जब "ख़ातम" का प्रयोग उपर्युक्त अर्थानुसार ठीक है तो नक़्शे ख़ातम में भी ख़ातम का वही अर्थ होगा। इसका रूप यह होता है कि मुहर में वाक्य अथवा चिह्न खुदे होते हैं। जब उसको मिट्टी अथवा मसी से भिगाकर काग़ज के पृष्ठ पर रख दिया जाता है तो उसका चिह्न काग़ज के पृष्ठ पर उभर आता है। इसी प्रकार यदि उसको किसी भी नरम वस्तु, उदाहरणार्थ मोम इत्यादि पर रखकर दबाया जाता है तो उसके खुदे हुए अक्षर नरम वस्तु पर उभर आते हैं।

मुहर के वाक्य जिस प्रकार खोदे जाते हैं उसके उलटे उभरते तथा पढ़े जाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि वे मुहर पर दायें से बायें सीधे लिखे गये हैं तो इसके विपरीत बायें से दायें पढ़े जायँगे। यदि वे मुहर पर उलटे खोदे गये हैं तो सीधे पढ़े जायँगे। इस प्रकार खुदे हुए अक्षर काग़ज़ पर उतरने के उपरान्त अपनी मूल दशा के प्रतिकूल

१. मुहर।
२. मैंने कार्य को पूरा कर दिया।
३. मैंने पूरा कुरान पढ़ डाला।
४. नबियों में अन्तिम नबी।
५. मामले का अन्त।
६. कस्तूरी का ढक्कन अथवा डाट।

हो जाते हैं। यह भी सम्भव है कि काग़ज़ के पृष्ठ पर उभरे हुए चिह्नों के लिए ख़ातम शब्द का प्रयोग "अन्तिम" के अर्थ में होता हो, कारण कि पत्र इसी चिह्न से प्रामाणिक माना जाता और स्वीकृत होता है। इस प्रकार इस चिह्न के बिना पत्र अधूरा एवं स्वीकार न करने योग्य होता है।

कभी यह मुहर वाक्य के रूप में होती है, जो पत्र के प्रारम्भ अथवा अन्त में ईश्वर की स्तुति के रूप में उद्धृत किया जाता है। अथवा उसमें बादशाह, अमीर या कातिब का नाम लिखा होता है, अथवा उसके कुछ गुणों का भी उल्लेख होता है। यह लेख भी पत्र को प्रामाणिक एवं स्वीकार करने योग्य बनाता है। इसको साधारण अर्थ में चिह्न कहते हैं और "ख़तम" भी एवं "ख़ातम आसिफ़ी," आसिफ़ी चिह्न के अनुरूप होने के कारण। "ख़ातम क़ाज़ी" का भी यही अर्थ है, जिसे वह वादी-प्रतिवादी के पास भेजता है। वह उसका चिह्न समझा जाता है अथवा वह लेख जिससे उसके आदेश जारी होने के योग्य होते हैं। "ख़ातम सुल्तान" तथा "ख़ातमे ख़लीफ़ा" का भी यही अर्थ है। इस प्रकार यह उनके आदेशों के पहचानने का एक चिह्न होता है।

जब हारूनुर्रशीद ने फ़ज़ल के स्थान पर उसके भाई जाफ़र को अपना वज़ीर बनाना चाहा तो वह उसके पिता से कहने लगा—"पिताजी ! मैं चाहता हूँ कि अपनी अँगूठी को सीधे हाथ से उलटे हाथ में बदल लूँ।" यहाँ उसने अँगूठी अथवा मुहर से विज़ारत की ओर संकेत किया है, कारण कि पत्रों अथवा फ़रमानों पर हस्ताक्षर करना वज़ीर का ही कर्त्तव्य था। उस युग में यही प्रथा थी। इस तथ्य का प्रमाण उस ऐतिहासिक घटना से भी मिलता है जिसको तबरी ने उद्धृत किया है कि मुआविया ने हज़रत हसन को संधि हेतु राज़ी कर लेने के उपरान्त सादे काग़ज़ के अन्त पर मुहर लगाकर भेज दिया और यह लिख दिया कि "आप मेरे इस मुहर के पत्र पर जो शर्त चाहें लिख भेजें, वह स्वीकार की जायगी।" यहाँ मुहर लगाने का तात्पर्य पत्र के लेख के अन्त पर हस्ताक्षर कर देना है।

यह भी संभव है कि किसी नरम वस्तु पर मुहर लगायी जाती हो और वह जब उस पर उभर आती हो तो पत्र को लपेटकर सुरक्षित स्थान में रख दिया जाता हो। ख़त्म का प्रयोग यहाँ ढक्कन अथवा डाट के अर्थ में किया जाता है। दोनों दशाओं में तात्पर्य मुहर से ही है।

पत्रों पर मुहर लगाने की प्रथा सर्वप्रथम मुआविया ने निकाली, कारण कि जब उन्होंने ज़ियाद के नाम जो, उस समय कूफ़े में था, आदेश भेजा कि अमर बिन अज़्

ज़ुबैर को एक लाख दिरहम दे दिये जायँ, तो बीच में पत्र को खोलकर एक लाख के दो लाख बना दिये गये। जब ज़ियाद की ओर से हिसाब प्रस्तुत किया गया, तब मुआविया के समक्ष दो लाख की धन-राशि आयी। मुआविया ने उसे स्वीकार न किया और अमर से शेष एक लाख की रक़म माँगी और उसको बन्दी बना दिया। अन्त में उसके भाई अब्दुल्लाह ने इस माँग को पूरा किया। इस घटना के उपरान्त मुआविया ने मुहर का दीवान स्थापित किया। यह कहानी तबरी ने उद्धृत की है और लिखा है कि पत्र को डोरी से बाँधकर उस पर मुहर लगाने की प्रथा उसी समय से चली। इससे पूर्व पत्र बाँधे नहीं जाते थे।

मुहर के दीवान कुछ सचिव होते हैं, जिनके ज़िम्मे शाही पत्रों का जारी करना और उन पर मुहर लगाना है, चाहे उनको लपेटकर उन पर मुहर लगायी जाय चाहे अन्य प्रकार से। कभी-कभी सचिवों के बैठने के स्थान अथवा कार्यालय को भी दीवान कहते हैं। इसका उल्लेख हमने दीवाने आमाल के सम्बन्ध में किया है।

फिर पत्रों को बन्द करने के भी दो नियम हैं। कभी पत्रों में छेद करके तागे से बाँध दिया जाता है, जैसी कि मग़रिब में प्रथा है, और कभी पत्र के अन्तिम भाग को लपेटकर उसे चिपका देते हैं। पूर्ववालों के यहाँ यही प्रथा है। बाँधने अथवा चिपकाने के स्थान पर हस्ताक्षर बना देते हैं, जिससे पत्र को खोलकर पढ़ लेने का भय जाता रहता है। मग़रिबवाले बाँधने के स्थान पर थोड़ा-सा चपड़ा लगाकर उस पर मुहर लगा देते हैं। पूर्व में भी सर्वदा से यही प्रथा है कि पत्र की अंतिम लपेट पर पत्र को चिपकाने के उपरान्त उस पर मुहर लगा दी जाती है। मुहर एक प्रकार की लाल मिट्टी पर लगायी जाती है जिसका प्रयोग विशेष रूप से इसी कार्य के लिए होता है। अब्बासियों के राज्यकाल में इसे मुहर के काम में आनेवाली मिट्टी कहते थे। यह सीराफ़[1] से लायी जाती थी। पता चलता है कि यह मिट्टी वहीं मिला करती थी। संक्षेप में मुहर का उत्तरदायित्व चाहे पत्र के चिह्न से सम्बंधित हो और चाहे चिह्न बनाये हुए ढक्कन अथवा लिफ़ाफ़े में बन्द पत्र से, वह दीवानुर्रसाएल के अधीन है। अब्बासियों के राज्यकाल में यह कार्य वज़ीर की देखरेख में होता था। फिर जब इस प्रथा में परिवर्तन हुआ तो यह कार्य प्रत्येक उस व्यक्ति को मिलने लगा, जिसकी देखरेख में पत्र-व्यवहार का विभाग एवं दीवाने किताबत[2] होता था।

१. दक्षिणी मेसोपोटामिया से कर में मुहर की मिट्टी भी ली जाती थी।
२. सचिवों का विभाग।

इसके उपरान्त मग़रिब में मुहर बादशाह का विशेष चिह्न समझी जाने लगी, जिसे बादशाह अपनी अँगुली में पहनता था। यह सोने की होती थी और इस पर याक़ूत अथवा फ़ीरोज़ा या ज़मर्रुद इत्यादि का नग जड़ा होता था। बादशाह इसको अपना विशेष चिह्न समझकर पहनता था। इसे सुल्तान के विशेष चिह्नों में उसी प्रकार समझा जाता था जिस प्रकार अब्बासियों के राज्यकाल में मुहम्मद साहब की क़बा एवं लाठी और उबैदीईन के राज्यकाल में छत्र को।

तिराज़

इसे भी शाही ऐश्वर्य एवं गौरव का विशेष द्योतक समझा जाता है। इसके विषय में सल्तनतों की यह प्रथा चलती रही है कि या तो सुल्तानों के नाम इस पर बिनावट में काढ़े जाते हैं, अथवा कोई अन्य चिह्न, जो केवल सुल्तान तक सीमित होता है, उस पर बनाया जाता है। यह शुद्ध रेशम अथवा अन्य प्रकार के रेशमों का होता है। इसके ताने-बाने में ही कलाबत्तू से लिखाई की जाती है। यदि कलाबत्तू से कार्य नहीं लिया जाता तो किसी अन्य रंगीन धागे का प्रयोग किया जाता है, जो वस्त्र के रंग से भिन्न रंग का होता है। संक्षेप में कारीगर बिनावट की दृष्टि से जो उपाय उचित समझते हैं, उसी का प्रयोग करते हैं। इस शानदार कढ़ाई से वस्त्र इस योग्य बनता है कि शाही पोशाक बनकर सुल्तान के ऐश्वर्य एवं वैभव तथा गौरव में वृद्धि करे। कभी यह कपड़ा उस व्यक्ति के सम्मान को चार चाँद लगा देता है, जिसको बादशाह विशेष ख़िलअत द्वारा सम्मानित करता है, अथवा जिसको किसी विशेष उच्च पद द्वारा सम्मानित करके शाहाना पोशाक प्रदान करता है।

इस्लाम के पूर्व अजम की सल्तनतों में यह प्रथा थी कि इस वस्त्र पर बादशाहों के चित्र अथवा अन्य चित्र, जो राज्य की ओर से निश्चित होते थे, काढ़े अथवा बुने जाते थे। जब इस्लाम आया तो इस्लामी सुल्तानों ने चित्रों का प्रयोग बन्द कर दिया और वस्त्रों पर अपने नाम तथा अन्य वाक्य, जिनको वे अपने लिए शुभ समझते थे, तुग़रा लिपि में लिखवाने लगे। इस प्रकार बनी उमय्या तथा अब्बासियों के राज्य-काल में इसे बड़े गर्व का विषय समझा जाता था। इस प्रकार के वस्त्र के बुनने के लिए शाही राजप्रासाद में एक कारखाना स्थापित होता था जिसको वे "दारुत्तराज़" अथवा कपड़ा बुनने का कारखाना कहते थे। इसके लिए एक अधिकारी नियुक्त होता था जिसे वे "साहिबुत्तराज़" कहते थे। उसका कर्त्तव्य रँगाई तथा बुनाई के कारीगरों की देखभाल होता था। वह उनके वेतन एवं मज़दूरी का वितरण करता, यंत्रों को उपलब्ध करने तथा कार्यों को सुगमतापूर्वक चलाने में सुविधा पैदा करता

था। कारख़ाने के अधिकारी का पद राज्य के किसी बहुत बड़े सम्मानित व्यक्ति को दिया जाता, अथवा किसी विशेष शाही दास को प्रदान होता था। उन्दुलुस में बनी उमय्या की सल्तनत एवं उसके उपरान्त मुलूकुत्तवाएफ़ में यही प्रथा रही। मिस्र में उबैदीईन के राज्यकाल अथवा उनके समकालीन पूर्वी अजम के बादशाहों के यहाँ यही प्रथा रही, किन्तु जब बड़ी-बड़ी सल्तनतों की शक्ति टुकड़े-टुकड़े हो गयी और वे विभिन्न भागों में विभाजित होकर बनावट एवं आडम्बर को भूल गयीं तो सल्तनतों में न तो ये कारख़ाने ही शेष रहे और न इनके अधिकारी।

इसके उपरान्त मुवह्हेदीन ने मग़रिब में बनी उमय्या के स्थान पर शासन की बागडोर सँभाली तब छठी शताब्दी हि०[1] का प्रारम्भ ही था। उन्होंने भी प्रारम्भ में ऐसे कारख़ानों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, कारण कि वे उस समय सरल एवं धार्मिक जीवन के आदी थे, जिसको उन्होंने अपने इमाम मुहम्मद तूमर्त-अल-महदी से उत्तराधिकार में पाया था। अतः वे लोग रेशम के एवं सुनहरे वस्त्र धारण करने से बचते रहते और उनके यहाँ तिराज़ नामक पद का अस्तित्व ही न था। उनके बाद की आनेवाली संतानों ने ऐसे कारख़ानों की ओर कुछ ध्यान दिया, किन्तु प्राचीन सल्तनतों के स्तर तक वह भी न पहुँच सकीं और हमारे इस युग में मरीनियों के राज्य ने अपनी युवावस्था को प्राप्त होकर तिराज़ के कारख़ानों को धूम-धाम से प्रारम्भ किया है। इसमें उन्होंने अपने समकालीन राज्य इब्ने-अल-अहमर का, जो उन्दुलुस में स्थापित है, अनुकरण किया। उन्दुलुस के मुलूकुत्तवाएफ़ ने भी उन्हीं का अनुगमन किया।

समकालीन मिस्र एवं शाम के तुर्कों के राज्य में प्रत्येक राज्य अपने महत्त्व के अनुसार तिराज़ की उन्नति करता है, किन्तु उनके यहाँ तिराज़ का कारख़ाना राजप्रासाद में नहीं स्थापित होता और न उसके अधिकारी का पद सल्तनत के पदों में सम्मिलित है, अपितु जब कभी सल्तनत को "तिराज़" की आवश्यकता पड़ती है तो रेशम अथवा कलाबत्तू का काम करनेवाले कारीगरों को बुलवाकर उनसे काम ले लिया जाता है। इसका नाम उनके यहाँ "ज़रकश" है, जो कि फ़ारसी भाषा का शब्द है। कारीगर बड़ी कुशलता एवं सुन्दरता से सुल्तान एवं अमीर का नाम काढ़ अथवा बुन देते हैं।

ख़ेमागाह एवं ख़रगाह

रेशमी, ऊनी तथा सूती ख़ेमे एवं ख़रगाह[2] भी सल्तनत के ऐसे विशेष चिह्न हैं जो उसकी समृद्धि के द्योतक हैं। बादशाह उनको यात्राओं में अपने साथ रखते

१. १२वीं शताब्दी ईसवी। २. बड़े ख़ेमे।

हैं और उनमें नये आविष्कारों का समावेश कराते रहते हैं। ये रंग-बिरंगे भी होते हैं और छोटे-बड़े भी। संक्षेप में सल्तनत की समृद्धि एवं पतन से इनका गहरा सम्बन्ध होता है। सल्तनत जब प्रारम्भ में अपने क़दम जमाती है तो प्रभुत्ववाली क़ौमें शुरू में वैसे ही ख़ेमों में रहती-बसती हैं, जिनमें वे पहले से रहती आयी हैं। इस प्रकार अरब ख़लीफ़ा, बनी उमय्या के प्रारम्भिक राज्यकाल तक अपने प्राचीन ऊनी ख़ेमों में निवास करते रहे, अपितु इस समय तक भी रेगिस्तानों में निवास करनेवाले अरब कुछ लोगों को छोड़कर ऊनी ख़ेमों में ही जीवन व्यतीत करते थे, जिस प्रकार आज भी अरबों में यह प्रथा है। प्राचीन काल में भी अरब जब युद्धों के लिए कूच करते तो अपने परिवार एवं कुटुम्ब तथा क़बीले सबको साथ लेकर निकलते। इसीलिए वे जब कहीं पड़ाव करते तो दूर-दूर तक फैल जाते थे। एक-दूसरे से काफ़ी दूर होकर उतरते, यहाँ तक कि कभी-कभी एक क़बीले का पड़ाव दूसरे क़बीले की दृष्टि से ओझल हो जाता था। अब्दुल मलिक के प्रारम्भिक राज्यकाल में भी पड़ाव की यही प्रथा अरब में प्रचलित थी। फिर जब रौह बिन ज़िम्बा[1] के ख़ेमे व डेरे जल जाने की दुर्घटना घटी तो उसी के परामर्श से साक़ा[2] की नियुक्ति हुई। साक़ा वह सैनिक दस्ता होता था जो सबको एकत्र करके बादशाह के सामने कर देता और बादशाह के प्रस्थान की सबको सूचना देता रहता था। अब्दुल मलिक ने साक़ा की सरदारी के लिए हज्जाज को नियुक्त किया।

ख़ेमे जल जाने की दुर्घटना इस प्रकार घटी कि अब्दुल मलिक ने यात्रा में एक स्थान पर पड़ाव किया। क़बीले प्रथानुसार ऐसे बिखरकर ठहरे कि एक-दूसरे की दृष्टि से ओझल हो गये। प्रातःकाल अब्दुल मलिक ने कूच किया, किन्तु रौह बिन ज़िम्बा को दूरी के कारण अब्दुल मलिक के प्रस्थान का पता न लग सका और वह अपने क़बीले के साथ शान्तिपूर्वक ठहरा रहा। दुष्टों ने अवसर पाकर आक्रमण कर दिया और रौह बिन ज़िम्बा के शिविर जला डाले। इस दुर्घटना के उपरान्त रौह ने अब्दुल मलिक को परामर्श दिया कि जब तक साक़ा न नियुक्त होगा, इस प्रकार की कठिनाइयाँ नित्य-प्रति सहन करनी पड़ेंगी। अब्दुल मलिक ने परामर्श को पसन्द किया और साक़ा नियुक्त करके हज्जाज को उसका अफ़सर बनाया।

१. रौह अब्दुल मलिक का मुख्य परामर्शदाता बताया जाता है। उसकी मृत्यु ८४ हि० (७०३ ई०) में हुई।

२. सेना के पीछे के भाग के रक्षक।

इस घटना से इस बात का भी पता चलता है कि हज्जाज को अरबों में कितना अधिक सम्मान प्राप्त था, कारण कि अरबों को यात्रा के लिए तैयार करना प्रतिभाशाली व्यक्ति का काम है और उसका, जिसको "असबियत" की शक्ति प्राप्त होती हो, ताकि क़बीले के दुष्ट लोग आज्ञा के जारी करने में कोई रोक-टोक न कर सकें। हज्जाज "असबियत" की शक्ति का स्वामी होने के कारण एक विशेष सम्मान का पात्र था। इसलिए अब्दुल मलिक ने उसका इस पद के लिए चुनाव किया।

जब अरब सल्तनत पर भी सभ्यता एवं संस्कृति का रंग चढ़ा और नगर-जीवन से वे अधिक प्रभावित हो गये तो उन्होंने जंगलों एवं मैदानों को त्याग दिया और नगरों एवं क़सबों को अपना निवासस्थान बनाया। वे ख़ेमों में रहना-बसना त्यागने लगे और राजप्रासादों में निवास करने के आदी हुए, ऊँटों की सवारी छोड़ी और घोड़ों के शहसवार बने। इस प्रकार के परिवर्तन के कारण उनकी यात्रा के ढंग में भी परिवर्तन होने लगा। अब वे लोग ऊन इत्यादि के ख़ेमों के स्थान पर रेशमी ख़ेमे यात्रा में रखने लगे। वे उनसे विभिन्न प्रकार के घर तैयार कर लेते थे। ख़ेमे गोल भी होते थे और लम्बे अथवा चौकोर भी। उन्हीं ख़ेमों में वे शानदार एवं आश्चर्यचकित कर देनेवाली सभाएँ करते थे। अमीर तथा सेनापति का ख़ेमा सज्जा में अद्वितीय होता था। इन ख़ेमों को मग़रिब के बरबर अपनी भाषा में अफ़राग[१] कहते थे। मग़रिब में अफ़राग केवल बादशाहों तक ही सीमित होते थे, और किसी को उन्हें रखने का अधिकार न था। पूर्व में निःसन्देह प्रत्येक अमीर अफ़राग रख सकता है, चाहे वह बादशाह से कितना ही कम क्यों न हो।

नगर के जीवन के प्रभुत्व के कारण अरबों में जब आरामपसन्दी की भावनाएँ उत्पन्न हुईं तो युद्ध हेतु प्रस्थान करते समय स्त्रियों एवं बालकों को महलों एवं राजप्रासादों में छोड़ने की प्रथा निकली। इससे वे यात्रा में हलके-फुलके भी हो गये और पड़ाव में एक-दूसरे के निकट ठहरने लगे, कारण कि अब परदे की कठिनाई का अन्त हो गया। बादशाह एवं सेना एक ही स्थान पर पड़ाव करती और रंग-बिरंगे ख़ेमों के एक स्थान पर एकत्र होने के कारण एक अत्यन्त हृदयग्राही एवं सुन्दर दृश्य दिखाई देता। फिर आगे चलकर सल्तनत जितनी ही उन्नत होती गयी उतने ही ख़ेमों में सज्जा एवं दिखावे के नये-नये उपाय निकाले जाने लगे। मुवह्हेदीन की भी यही दशा रही। वे अपने प्रारम्भिक राज्यकाल में उन्हीं ख़ेमों को लेकर यात्रा

१. ऐसे ख़ेमे जो गोलाई में लगते हों।

किया करते थे, जिनमें वे राज्य की प्राप्ति के पूर्व रहा करते थे। जब वे समृद्धि एवं भोग-विलास के जीवन में प्रविष्ट हुए एवं महलों तथा राज-प्रासादों की हवा खायी तो उन्होंने भी प्रदर्शन को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। जिसकी वे कल्पना भी न कर सकते थे, उसे भी उन्होंने कर डाला। रण-क्षेत्र में सेना एक ही स्थान पर एकत्र होकर ठहरती है, ताकि एक ही आवाज़ में सब जाग जायँ। इसका यह भी कारण है कि इन्हें अपने परिवार की भी कोई चिन्ता नहीं होती। यदि परिवार भी साथ हो तो सेनावालों का प्राण त्यागना तो कठिन हो ही जाय, उसकी रक्षा हेतु उचित प्रबंध की अलग आवश्यकता हो।

नमाज़ के लिए मक़सूरह एवं ख़ुत्बे

यह दोनों चीज़ें ख़िलाफ़त एवं इस्लामी सल्तनत की विशेषताएँ हैं। ग़ैर इस्लामी सल्तनतों में इनका अस्तित्व नहीं मिलता। नमाज़ के मक़सूरे का विवरण इस प्रकार है कि मेहराब पर एक ओट अथवा रोक स्थापित की जाती है जो बाज़ू के स्थान को घेर लेती है और एक कोठरी-सी बन जाती है। मुआविया[1] पर जब ख़ारजी ने आक्रमण किया और उसका वार चूक गया, तब उन्होंने इसका आविष्कार किया। कुछ लोगों का कथन है कि जब एक यमन-निवासी ने मरवान बिन हकम पर तलवार का वार किया, तब से उसने मक़सूरह का आविष्कार किया।[2] संक्षेप में इन दोनों के उपरान्त इस्लामी ख़लीफ़ाओं ने इस प्रथा को प्रचलित रखा। इस प्रकार बादशाह अन्य लोगों की अपेक्षा श्रेष्ठ बनकर खड़ा होता है।

यह सब शाहाना ठाट-बाट की बातें सल्तनतों में साधारणतः उसी समय से प्रचलित होती हैं, जब सुल्तान लोग अपना प्रभुत्व बढ़ाने के उपरान्त ऐश्वर्य एवं गौरव की अभिलाषा करने लगते हैं। उन्हें ज़ाहिरी आन-बान की इच्छा होने लगती है। फिर समस्त इस्लामी सल्तनतों में मक़सूरह का यही रूप रहा। उदाहरणार्थ, अब्बासियों के राज्यकाल में जब वे छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गये तब मक़सूरह की यही प्रथा जारी रही। तदुपरान्त उबैदीईन ने और फिर उन आमिलों ने जो उबैदीईन

१. ख़ारजियों ने हज़रत अली, अमर बिन आस एवं मुआविया की ४० हि० (६६१ ई०) में एक साथ हत्या कर देने का षड्यन्त्र रचा था, जिसमें केवल हज़रत अली की हत्या हो सकी।

२. मरवान पर यमन-निवासी ने ४४ हि० (६६४–६५ ई०) में आक्रमण किया था।

की ओर से मग़रिब पर आमिल हुए, अर्थात् सिनहाजा में से बनू बादीस ने क़ैरवान में और बनू हम्माद ने क़लआ में मक़सूरे का यही रूप रखा। इसके बाद जब मुवह्हेदीन समस्त मग़रिब एवं उन्दुलुस पर छा गये तो उन्होंने "बदवी" स्वभाव के कारण इस बनावट की प्रथा को समाप्त कर दिया। जब वे भी बनावट के आदी हो गये और उनका तीसरा बादशाह अबू याक़ूब मंसूर सिंहासनारूढ़ हुआ तो उसने पुनः मक़सूहा का निर्माण कराया। फिर मग़रिब एवं उन्दुलुस के बादशाहों के यहाँ भी यही प्रथा चल निकली और अन्य इस्लामी सल्तनतों ने भी इसी को प्रचलित रखा।

मिम्बर[१] से ख़ुत्बे[२] की प्रार्थना

इसका ऐतिहासिक तथ्य यह है कि इस्लाम के प्रारम्भ में ख़लीफ़ा लोग स्वयं नमाज़ की इमामत किया करते थे। इन बुज़ुर्गों की यह प्रथा रही कि नमाज़ के उपरान्त मुहम्मद साहब पर दूरूद भेजते और सहाबा के लिए ईश्वर की संतुष्टि की प्रार्थना किया करते। अमर बिन आस ने ही सर्वप्रथम मिस्र में जामा मस्जिद का निर्माण कराया और उसमें मिम्बर बनवाया। हज़रत इब्ने अब्बास वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने ख़लीफ़ा के लिए मिम्बर पर प्रार्थना की। वे जब बसरे में आमिल के पद पर नियुक्त थे तो उन्होंने अपने ख़ुत्बे में हज़रत अली के विषय में इस प्रकार प्रार्थना की—"हे ईश्वर! सत्य के सम्बन्ध में हज़रत अली की सहायता कर।" फिर यही प्रथा चल पड़ी।

हज़रत उमर को जब समाचार प्राप्त हुए कि अमर बिन आस ने मिम्बर का निर्माण कराया है तो आपने उनको लिखा कि "मुझको पता लगा है कि तुमने एक मिम्बर बना लिया है और इस प्रकार तुम अपनी गरदन मुसलमानों की गरदनों से ऊँची उठाते हो। क्या तुम्हारे लिए यह पर्याप्त न था कि तुम ख़ुत्बे के समय खड़े रहते और मुसलमान तुम्हारे चरणों में बैठे होते। मैं तुमको शपथ दिलाता हूँ, किन्तु तुम फिर भी मिम्बर को न तोड़ोगे।"

१. मस्जिद का मंच।
२. जुमा की नमाज एवं दोनों ईदों की नमाज के समय पढ़ा जानेवाला प्रवचन, जिसमें ईश्वर की वन्दना, मुहम्मद साहब, उनके घरवालों एवं सहायकों की आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना के साथ समकालीन बादशाह की भी चर्चा होती है।

बाद में इस्लामी सल्तनत में बनावट अधिक बढ़ गयी और ख़लीफ़ा लोगों ने कुछ रुकावटों के कारण नमाज़ एवं ख़ुत्बे में सम्मिलित होना बन्द कर दिया। उन्होंने दोनों कामों के लिए अपने-अपने सहायक नियुक्त किये। ख़तीब[1], ख़ुत्बे में समकालीन ख़लीफ़ा का नाम आदरपूर्वक लेते और उसके लिए शुभकामनाएँ करते, कारण कि ईश्वर ने लोकहित का अधिकार उन्हीं को प्रदान कर रखा है, और फिर प्रार्थना की स्वीकृति की ऐसे अवसर पर अधिक सम्भावना होती है। प्राचीन काल की प्रथाओं से यह भी सिद्ध होता है कि जो कोई शुभ कामना करे वह समकालीन सुल्तान के लिए ही करे। इस प्रकार ख़लीफ़ा ही अकेला शुभकामनाओं का पात्र समझा गया है। इसके उपरान्त जब बादशाहों के अधिकार छिन गये और अपहरण-कर्त्ताओं ने अधिकार का अपहरण कर लिया, तब ख़लीफ़ा के बाद उनके नाम भी जोड़े जाने लगे और उन्हें भी शुभकामनाओं की प्रार्थना में सम्मिलित किया जाने लगा। जब ख़िलाफ़त पूर्णतः समाप्त हो गयी तो फिर मिम्बरों पर केवल सुल्तानों के लिए ही प्रार्थना की जाने लगी और किसी अन्य का नाम लेना उचित न समझा गया।

जब तक सल्तनत सरलता एवं बदवियत के युग से गुज़रती हैं और दिखावट एवं आडम्बर की ओर से उपेक्षा होती रहती है, तो देशवाले सूक्ष्म रूप से बिना नाम अथवा बिना किसी व्यक्ति की चर्चा के मुसलमानों के वाली के लिए ख़ुत्बों में शुभ कामनाएँ करते हैं और उसको अब्बासिया ख़ुत्बा कहा जाता है। कारण कि पहले सूक्ष्म शुभकामना अब्बासी ख़लीफ़ाओं के विषय में ही की जाती थी और नाम लिए अथवा नाम निर्धारित किये बिना ख़ुत्बों में उन्हीं की प्रशंसा एवं उन्हीं के लिए शुभ कामनाएँ की जाती थीं। कहा जाता है कि जब अबू ज़करिया यहया बिन अबी हफ़्स ने अब्दुल वाद वंश के संस्थापक यग़मरासिन बिन ज़य्यान से तलमसान का राज्य छीन लिया, तो उसने चाहा कि यग़मरासिन को तलमसान का राज्य पुनः सौंपे, तो उसने कुछ शर्तें लगायीं। उनमें से एक शर्त यह थी कि उसके राज्य में ख़ुत्बे में अबू ज़करिया का नाम लिया जाय। यग़मरासिन ने उत्तर दिया कि हमारे यहाँ मिम्बर लकड़ी के ऐसे टुकड़े समझे जाते हैं जिन पर जिसका नाम चाहते हैं, ले लेते हैं। इस पर कोई प्रतिबंध नहीं।

इसी प्रकार बनी मरीन राज्य के संस्थापक याक़ूब बिन अब्दुल हक़ के पास जब तूनुस (टयूनिस) से ख़लीफ़ा मुस्तंसिर का, जो बनी अबी हफ़्स का तीसरा ख़लीफ़ा हुआ है,

१. ख़ुत्बा पढ़नेवाला।

राजदूत आया तो अपने निवास-काल में एक बार जुमे की नमाज़ में देर से सम्मिलित हुआ। याक़ूब तक यह सूचना पहुँचायी गयी कि यतः राजदूत के खलीफ़ा का नाम खुत्बे में नहीं पढ़ा जाता, इसलिए वह जुमे की नमाज़ में सम्मिलित नहीं हुआ। याक़ूब ने आदेश दिया कि खुत्बे में खलीफ़ा मुस्तंसिर के लिए शुभकामना की जाय। इस प्रकार उस समय से बनी मरीन मुस्तंसिर के प्रचारक बने।

संक्षेप में सल्तनतें जब तक सरलता एवं "बदवियत" का वस्त्र धारण किये रहती हैं, दिखावे की बातों को भूली रहती हैं और जब देश की राजनीति पर नयी-नयी बातें अपना प्रभाव डालने लगती हैं, तो देशवासी देश की उन्नति एवं समृद्धि पर ग़ौर करते हैं और उसकी सभ्यता, संस्कृति तथा गौरव को उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा देते हैं। ऐसी बातों को देश में प्रचलित करते हैं जिनसे भेद-भाव बढ़ाया जा सके। इनसे आविष्कार एवं ईजाद का काम लेते हैं और फिर उनको उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा देते हैं। यदि राज्य में यह बातें न हों तो इनके अभाव के कारण व्याकुल एवं दुखी रहते हैं एवं उनके प्रचलन का अनथक प्रयत्न करते हैं।

(३७) युद्ध एवं विभिन्न क़ौमों के युद्ध के ढंग, पंक्तियों की सुव्यवस्था के नियम

सृष्टि की रचना से लेकर आज तक मनुष्यों में युद्ध, संग्राम एवं रक्तपात होता रहा है। इसमें प्रतिकार की भावनाओं का हाथ होता है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से बदला लेना चाहता है। हर "असबियत" वाला अपनी "असबियत" के प्रति पक्षपात प्रदर्शित करता है। जब दोनों शक्तियाँ एक-दूसरे के मुक़ाबले में आती हैं तो एक बदले की भावना लेकर उठती है और दूसरी प्रतिरक्षा की भावना लेकर युद्ध के लिए आती है। इस प्रकार लड़ाई ठन जाती है। संक्षेप में युद्ध मनुष्य के लिए एक स्वाभाविक बात है, जिससे कोई क़ौम अथवा क़बीला बच नहीं सकता। वास्तव में प्रतिकार की भावनाओं के, जो युद्ध की जड़ हैं, अधिकांश चार कारण होते हैं; मर्यादा एवं अहंभाव, शत्रुता, ईश्वर के लिए और धर्म की रक्षा हेतु उत्साह एवं क्रोध का प्रदर्शन, राजनीतिक उद्देश्यों एवं सल्तनत की प्राप्ति के सम्बन्ध में क्रोध की भावनाओं का भड़क जाना। प्रथम बात पास-पास के क़बीलों तथा वंशों में युद्ध का कारण बनती है। दूसरी बात उन वहशी क़ौमों में युद्ध एवं रक्तपात का कारण बनती है जो जंगलों एवं बियाबानों में मारी-मारी फिरा करती हैं। उदाहरणार्थ, अरब, तुर्क, तुर्कमान कुर्द अथवा उन सरीखी अन्य क़ौमें, कारण कि ये भाले की नोक

से अपनी जीविका प्राप्त करती हैं। अन्य लोगों के हाथों में जो कुछ ह उसे ये अपनी जीविका का साधन समझती हैं। जो अपनी सम्पत्ति को इनके हाथ से बचाते हैं उनसे युद्ध करने पर उद्यत रहती हैं। इन विचारों के अतिरिक्त इनका कोई अन्य लक्ष्य नहीं होता। इन्हें किसी राज्य पर अधिकार जमाने की इच्छा नहीं होती। इनका पूरा ध्यान इसी ओर आकृष्ट रहता है और इनका दृष्टिकोण सर्वदा यही होता है कि किसी प्रकार अन्य लोगों के हाथ से धन-सम्पत्ति छीनी अथवा ऐंठी जाय। तीसरी बात को हम जेहाद कहते हैं। चौथी बात उन युद्धों का कारण है जो विद्रोहियों एवं उपद्रवियों के साथ किया जाता है। इस प्रकार ये युद्ध की चार क़िस्में हुईं। इनमें से प्रथम दो विद्रोह एवं उपद्रव के युद्ध कहे जाते हैं और बाद के दो युद्धों को जेहाद एवं न्याय के युद्ध कहते हैं।

सृष्टि की रचना के पूर्व से मनुष्यों में युद्ध के दो नियम प्रचलित हैं। एक वह युद्ध जिसमें नियमित रूप से पंक्तियाँ सुव्यवस्थित करके शत्रु पर आक्रमण अथवा चढ़ाई हो। दूसरी वह जिसमें वीरों की टोलियाँ एक-एक करके शत्रुओं पर छापे मारें और फिर अपनी सेना में वापस लौट जायँ। अजम प्रथम प्रकार के युद्ध के आदी हैं और दूसरे प्रकार का युद्ध अरब अथवा बरबर लड़ा करते हैं। पंक्तियाँ सुव्यवस्थित करके जो युद्ध किया जाय वह अधिक भरोसे का युद्ध माना जाता है और शत्रु के लिए उस युद्ध की अपेक्षा, जिसमें बारी-बारी से अचानक छापे मारे जायँ, अधिक विनाश-कारक होता है। कारण कि इसमें नमाज़ की पंक्तियों के समान पंक्तियाँ सुव्यवस्थित की जाती हैं और फिर पंक्तियाँ सुव्यवस्थित करके ही पूरी सेना आगे बढ़ती है। इस प्रकार प्रत्येक को वीरता के साथ युद्ध करना पड़ता है और प्रत्येक अपनी वीरता को भली-भाँति प्रदर्शित कर सकता है। पूरी सेना क़दम जमाकर युद्ध करती है, जी भरकर युद्ध एवं रक्तपात होता है और यह शत्रु के लिए भी अधिक ख़ौफ़नाक सिद्ध होती है। सेना एक लम्बी दीवार है अथवा एक दृढ़ क़िले के समान अपने पाँव जमाये खड़ी रहती है, जिसे शत्रु अपने स्थान से नहीं हिला सकता। इस प्रकार क़ुरान शरीफ़ में लिखा है कि "ईश्वर उन्हें निःसन्देह प्रिय समझता है जो उसके मार्ग में पंक्ति बाँधकर युद्ध करते हैं, मानो सीसा पिलायी हुई दीवार हो।"[1] हदीस में लिखा है—"एक मोमिन दूसरे मोमिन के लिए एक दीवार के समान दृढ़ता का साधन होता है, जिस प्रकार दीवार का एक भाग दूसरे भाग को दृढ़ बनाता है, इसी प्रकार एक मोमिन

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

दूसरे मोमिन को अपने अस्तित्व से दृढ़ रखता है।" इसी तथ्य पर शरीअत का यह आदेश आधारित है कि "रण-क्षेत्र में दृढ़ता अनिवार्य है और पीठ दिखाकर भागना हराम है।" कारण कि पंक्तियों का उद्देश्य एक सुव्यवस्था स्थापित रखना है जो सैनिकों के स्थान को छोड़ देने पर अस्तव्यस्त हो जाती है। अब जिस सैनिक ने शत्रु को पीठ दिखायी तो उसने मानो पंक्तियों की व्यवस्था में विघ्न डाला और बड़ी गड़बड़ी पैदा की। यदि पराजय हो गयी तो यह पाप भी उसने अपने सिर पर लिया, अपितु कहा जा सकता है कि मानो उसने शत्रु को मुसलमानों के विरुद्ध साहस दिलाया, शत्रु की उन पर शक्ति बढ़ायी और ऐसे उत्पात का कारण बना, जिसने धर्म को छिन्न-भिन्न कर दिया। इन्हीं कारणों से इस कुकर्म को बहुत बड़ा पाप माना गया है और इसकी गणना गुनाहे कबीरा[1] में होती है। इस वर्णन से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि पंक्ति बाँधकर युद्ध करना शरीअत की दृष्टि से शत्रु के लिए विनाश का साधन एवं घातक है।

जहाँ तक दूसरे प्रकार के युद्ध अर्थात् टोलियों के रूप में शत्रु पर छापे मारना और फिर अपनों में पहुँचकर शरण लेने का सम्बन्ध है, वहाँ तक इसमें न शत्रु के लिए अधिक हानि है और न अपनी पराजय का भय। इसके विपरीत पहले प्रकार के युद्ध में दोनों भय होते हैं। यद्यपि इसमें भी कुछ सेना पंक्तियाँ सुव्यवस्थित किये तैयार खड़ी रहती है कि छापा मारनेवाले खतरे की दशा में उसकी ओर शरण के लिए पहुँच जाते हैं। यह पंक्ति उनके लिए युद्ध के क़िले का काम देती है। इसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे।

प्राचीन बड़ी-बड़ी सल्तनतों में, जिनके पास सेना भी अधिक संख्या में होती थी और जिनका राज्य भी विस्तृत होता था, यह प्रथा प्रचलित थी कि रण-क्षेत्र में वे अपनी सेना का कुछ भागों में विभाजन कर देती थीं। इसका कारण यह था कि सल्तनत में सेना की संख्या जब बहुत बढ़ जाती थी और सेनाएँ दूर-दूर की दिशाओं से सिमटकर अगणित हो जाती थीं, तो इस बात का बड़ा भय रहता था कि रण-क्षेत्र में एक स्थान पर एकत्र होकर आपस में सब इस प्रकार न मिल-जुल जायँ कि एक-दूसरे को पहचान भी न सकें और शत्रु के स्थान पर अपने साथियों की ही धोखे में हत्या कर डालें। अतः इसी भय से बचने के उद्देश्य से सेना को कई भागों में विभाजित कर दिया जाता था और ऐसी व्यवस्था की जाती थी कि उसका प्रत्येक दस्ता अपने साथी दस्ते

१. घोर पाप।

को पहचानता रहे। चार दिशाओं के अनुसार सेना को चार बड़े-बड़े भागों में विभाजित कर दिया जाता था और सेना का सरदार, सुल्तान अथवा सेनापति सेना के मध्य में स्थान ग्रहण करता था। इस व्यवस्था को वे "ताबेआ" व्यवस्था कहते थे। फ़ारस, रूम, इस्लाम के प्रारम्भिक काल एवं बनी उमय्या तथा बनी अब्बास की सल्तनतों में यही प्रथा प्रचलित थी। सेना का स्थायी भाग अलग कर दिया जाता था, जो बादशाह के समक्ष पंक्तियाँ जमाकर खड़ा होता था। इसका एक सरदार होता था और एक पताका। इसमें अन्य विशेषताएँ भी पायी जाती थीं। सेना के इस भाग को मुक़द्दमा[1] कहा जाता था। फिर बादशाह की दायीं एवं बायीं ओर भी सेना के दस्ते होते थे जिनको मैमना[2] तथा मैसरा[3] कहते थे। बादशाह के पीछे भी सेना का एक भाग होता था जिसको साक़ा[4] कहते थे। बादशाह तथा उसके साथी सेना के उपर्युक्त चारों भागों के मध्य में अपना स्थान ग्रहण करते थे और उनके स्थान को क़ल्ब[5] कहा जाता था।

जब दोनों ओर से यह व्यवस्था पूर्ण हो जाती और जहाँ तक दृष्टि जाती, सेना जमी खड़ी होती, अथवा इतनी दूर तक सेना को जमाना पड़ता कि दोनों सेनाओं के मध्य में एक अथवा दो दिन चलने तक की दूरी होती, तो सेना की संख्या की कमी अथवा अधिकता को देखते हुए युद्ध प्रारम्भ किया जाता। यह सब बातें इस्लामी विजयों के विवरणों में वर्णित मिलेंगी, अथवा बनी उमय्या एवं बनी अब्बास की सल्तनतों के इतिहास में इनका पता चलेगा। उनसे यह भी पता चल जायगा कि अब्दुल मलिक के समय में "ताबेआ" व्यवस्था के दूर-दूर तक फैले होने के कारण सेना के कुछ भाग बादशाह की कूच से अनभिज्ञ रहकर पीछे ही रह जाते थे, अतः साक़ा के नाम से सेना का एक पीछे का भाग नियुक्त किया गया, जो पूरी सेना को बादशाह की कूच की सूचना देकर उसको बादशाह के साथ रवाना करता था। उसका सरदार सर्वप्रथम हज्जाज बिन यूसुफ़ को, जैसा कि उल्लेख हो चुका, नियुक्त किया गया। उन्दुलुस के बनी उमय्या के राज्यकाल में भी यही प्रथा थी, किन्तु इनका कोई सविस्तर उल्लेख हमारे पास नहीं, कारण कि हमने तो उन्हीं सल्तनतों का युग देखा है जिनकी सेनाएँ इतनी

१. अग्र भाग।
२. सेना का दायाँ भाग।
३. सेना का बायाँ भाग।
४. सेना का पीछे का भाग।
५. सेना का मध्य भाग।

कम होती हैं कि उनमें एक दूसरे को न पहचानने का भय ही नहीं उत्पन्न होता। अपितु हम देखते हैं कि दोनों सेनाएँ एक स्थान तथा एक नगर में उतर जाती हैं और प्रत्येक अपने सामनेवाले को जानता-पहचानता रहता है और उसके नाम एवं उपाधि से रण-क्षेत्र में उसको पुकार लेता है, तो इस दशा में "ताबेआ" व्यवस्था की आवश्यकता क्यों पड़ने लगी।

छापेवाले युद्ध में सेना के पीछे कोई दृढ़ रोक एवं पशुओं की एक पंक्ति रखी जाती है और उसको आक्रमणकारियों के आगे बढ़ने अथवा पीछे हटने के समय शरण का साधन बनाया जाता है। इस उपाय से युद्ध अधिक देर तक चलाया जा सकता है और शत्रु पर प्रभुत्व प्राप्त करने की भी उसमें अधिक सम्भावना होती है। जो लोग पंक्तियाँ सुव्यवस्थित करके युद्ध करते हैं, वे भी कभी-कभी दृढ़ता एवं एक स्थान पर जमे रहने की दृष्टि से इसी उपाय का पालन करते हैं और सेना के पीछे पशुओं की एक पंक्ति खड़ी कर लेते हैं। फ़ारस वालों के विषय में कहा जाता है कि यद्यपि वे पंक्तियाँ सुव्यवस्थित करके युद्ध करते थे, किन्तु फिर भी अपने साथ हाथियों की पंक्ति रखते थे, इन हाथियों पर लकड़ी के हौदे होते थे। प्रत्येक हौदे में वीर सवार रहते थे और हथियार तथा साज़ व सामान उन पर लदा होता था। सेना की पताकाएँ भी इन्हीं पर होती थीं। फिर इन हाथियों को पंक्ति के रूप में सेना के पीछे जमाकर उनको अपनी रक्षा हेतु एक सुरक्षित क़िला समझा जाता था। इस उपाय से उनके दिलों को पर्याप्त ढाँढस रहता था और उनका साहस बढ़ जाता था।

क़ादिसिया के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलेगा कि युद्ध के तीसरे दिन जब ईरानी, मुसलमानों पर टूट पड़े और उधर से मुसलमान वीर भी उन पर झपटे और एक-दूसरे के साथ पूर्ण-रूप से गुँथ गये तो मुसलमानों ने तलवार से हाथियों की सूँड़ें काटनी प्रारम्भ कर दीं। हाथी भड़ककर उलटे पाँव भागने लगे और सीधे मदाएन की ओर चल दिये। ईरानी सेना के छक्के छूट गये और अन्त में चौथे दिन वह बुरी तरह्‌ पराजित हो गयी।

उन्दुलुस के क़ौत एवं रूम के सुल्तान तथा अधिकांश अजमी क़ौमें सिंहासनों से यह काम लेती हैं। बादशाह का सिंहासन रणक्षेत्र में बिछाया जाता है। उसके सेवक, परिजन एवं उस पर प्राण त्यागनेवालों के दस्ते उसके राज-सिंहासन को चारों ओर से घेर लेते हैं। सिंहासन के आस-पास पताकाएँ लगायी जाती हैं। फिर उसके इधर-उधर धनुर्धारियों की एक पंक्ति तथा पैदल सेना खड़ी की जाती है। इस प्रकार राज-सिंहासन सुरक्षित भी रहता है और वीरों के लिए रक्षा का एक उत्तम स्थान बन जाता

है। क़ादिसिया के युद्ध में भी फ़ारसवालों ने ऐसा ही किया था। रुस्तम को एक राज-सिंहासन पर आरूढ़ किया गया था। जब उनकी सेना में भगदड़ मची और अरब उनकी सेना के मध्य में घुसकर उसके सिंहासन तक पहुँच गये तो रुस्तम फ़ुरात की ओर भाग निकला, किन्तु मार्ग में ही मौत के घाट उतार दिया गया।

अरब तथा अन्य "बदवी" क़ौमें, जो दूसरे प्रकार के युद्ध की आदी हैं, अपनी सेना के पीछे ऊँटों की पंक्तियाँ खड़ी करती हैं, जिनके कजावों[1] में उनके परिवारवाले होते हैं। यह पंक्ति उनके लिए रक्षा का काम देती है और वे इसको "मजबूदह" कहते हैं। संक्षेप में प्रत्येक क़ौम युद्ध में इसी उपाय का पालन करती है और इसे युद्ध के दाव-घात के लिए एक भरोसे की चीज़ समझती है और पराजय से रक्षा हेतु शान्ति का चिह्न जानती है। फिर यह कोई काल्पनिक चीज नहीं, अपितु रात-दिन की प्रयोग में आयी हुई और देखी-भाली चीज़ है। हमारे युग की सल्तनतें इस ओर से उपेक्षा कर रही हैं। वे लद्दू जानवर और ख़ेमों से सेना का साक़ा तैयार करती हैं जो हाथी एवं ऊँट के साक़ा का कदापि काम नहीं दे सकते। इसी कारण सेनाएँ पराजित हो जाती हैं और रण-क्षेत्र से भाग खड़ी होती हैं। इस्लाम के प्रारम्भ में पंक्तियाँ सुव्यवस्थित करके युद्ध होता था, यद्यपि अरब छापामार युद्ध के ही आदी थे। केवल दो कारणों से अरबों नें अपना नियम एवं ढंग बदल दिया था। एक तो इसलिए कि उनके शत्रु भी इसी प्रकार के युद्ध के आदी थे, अतः विवश होकर वे भी इसी प्रकार युद्ध करने लगे। दूसरा कारण यह था कि उनके धार्मिक विश्वास एवं धैर्य ने उनको सचाई सिखायी थी, जो इसी प्रकार के युद्ध में प्राप्त हो सकती थी।

सर्वप्रथम पंक्तियों को सुव्यवस्थित करके युद्ध करना त्यागकर ताबेआ का युद्ध मरवान बिन हकम ने प्रारम्भ किया। उसने जह्हाक ख़ारजी तथा ख़ैबरी से इस विधि से युद्ध किया था। तबरी लिखता है कि जब खबरी की पराजय के समाचार प्रसिद्ध हुए और ख़ारजियों ने शैबान बिन अब्दुल अज़ीज़ अल यशकूरी को, जिसकी उपाधि अबुद् दलफ़ा थी, अपना सेनापति बनाया और मरवान ने ख़ारजियों के मुक़ाबले में पाँव जमाये, तो उसी दिन से उसने पंक्तियों के युद्ध को त्यागकर "ताबेआ" की व्यवस्था प्रारम्भ करायी। फिर जब इस्लामी सल्तनतें समृद्ध एवं सुखी हो गयीं तो सेना के पीछे रक्षा के दस्ते रखने की प्रथा भी समाप्त हो गयी। जब तक सल्तनत पर "बदवियत" का रंग चढ़ा रहा और लोग ख़ेमों में जीवन व्यतीत करते रहे, तब उनके

१. ऊँट का हौदा।

पास ऊँट बड़ी अधिक संख्या में होते थे और यात्राओं में वे अपने ऊँटों पर अपने परिवार को साथ रखने के आदी थे। जब "बदवियत" का युग समाप्त हुआ और लोग शहरी जीवन एवं राजप्रासादों तथा महलों के निवास के आदी हुए तो यात्राओं में अकेले निकलने लगे। स्त्रियों एवं परिवार वालों को घर पर ही छोड़ने लगे। समृद्धि ने उनको सुन्दर ख़ेमे-डेरे रखने का आदी बना दिया। वे युद्ध में जाते तो केवल बोझ ढोने के पशुओं को अपने साथ ले जाते, जो उनके ख़ेमे-डेरे इत्यादि भी उठाते थे एवं अन्य सामान भी। किन्तु युद्ध का यह नवीन ढंग युद्ध के प्राचीन ढंग की अपेक्षा कुछ अधिक लाभदायक सिद्ध न हुआ, कारण कि इस प्रकार सेनावाले जान तोड़कर युद्ध नहीं करते एवं वीरता तथा पौरुष प्रदर्शित करते हुए शत्रु के मुक़ाबले में न जमते थे। साधारण-सी बात में उनके पाँव उखड़ जाते थे और उनकी पंक्तियाँ टूट जाती थीं।

इस बात को ध्यान में रखते हुए छापा-मार युद्ध करनेवाले अपने पीछे प्रतिरक्षा के दस्ते खड़े करते हैं। मग़रिब के बादशाह जो छापा-मार युद्ध लड़ने के आदी हैं, फ़िरंगियों का एक रक्षक दल अवश्य अपनी सेना के पीछे रखते हैं, ताकि सामने की लड़ाई लड़नेवालों के लिए वे रक्षक बन सकें। उन्होंने फ़िरंगियों को पीछे के दस्ते के लिए इस आशय से छाँटा कि वे लोग पंक्तियाँ सुव्यवस्थित करके युद्ध करते हैं। इस उद्देश्य हेतु ऐसी ही क़ौम के लोग चुने जाते थे जिनके कारण आगे की सेना की पीठ दृढ़ रहे। यदि कहीं ऐसी क़ौम के लोग इसमें भरती कर लिये जायँ जो छापा मार युद्ध के आदी हैं, तो अपनी आदत के अनुसार ज़रा-से दबाव में पीछे के दस्ते के लोग भी अपना स्थान छोड़ भागेंगे और फिर आगेवाली सेना के भी पाँव उखड़ जायँगे। यद्यपि इस प्रकार से काफ़िरों से सहायता लेनी पड़ती है, किन्तु बादशाहों ने इस बात को कोई महत्त्व नहीं दिया, कारण कि यदि किसी अन्य क़ौम से सहायता ली जाय, जो छापा-मार युद्ध की आदी हो, तो बादशाहों को उनकी ओर से अपना स्थान छोड़कर हट जाने का भय होता है। यह भय फ़िरंगियों के विषय में नहीं पैदा होता, कारण कि वे तो सर्वदा जमकर और एक स्थान पर डटकर युद्ध करने के आदी हैं। वे लोग अपना स्थान कभी नहीं छोड़ते, अतः उनसे अधिक इस उद्देश्य के लिए कौन उपयुक्त हो सकता है। फिर यह भी है कि मग़रिब के बादशाह फ़िरंगियों से इस प्रकार की सहायता जेहाद के अतिरिक्त अन्य लड़ाइयों में, जो कि उनसे तथा अरब एवं बरबर से ठनती हैं, लिया करते हैं। किन्तु जेहाद में उनसे इस भय से सहायता नहीं लेते कि वे कहीं मुसलमानों पर न पलट पड़ें। मग़रिब में आजकल ऐसा ही हो रहा है और उसके कारण वही हैं जिनका हमने उल्लेख किया।

तुर्क इस समय बाणों से युद्ध करते हैं एवं सेना की व्यवस्था पंक्तियों द्वारा करते हैं। सेना के आगे-पीछे तीन पंक्तियाँ बनाते हैं। युद्ध के समय घोड़ों से उतरकर पैदल हो जाते हैं और सामने की दिशा में बाणों की वर्षा करते हैं। हर पिछली पंक्ति अगली पंक्ति की रक्षा करती है और शत्रु से उसे बचाती है। वे अन्त तक इसी प्रकार युद्ध करते हैं, जब तक कि किसी एक पक्ष की विजय न हो जाय। इनके युद्ध का ढंग वास्तव में बड़ा विचित्र है।

प्राचीन काल के लोगों का युद्ध-नियम यह था कि वे रण-क्षेत्र के निकट सेना के चारों ओर इस भय से खाई खोद लेते थे कि शत्रु रात्रि के समय छापा न मारे। अँधेरी रात्रि एक तो पहले ही भयानक होती है, फिर रात्रि के छापे का कष्ट झेलना और भी दुःखदायी होता है। ये दोनों ही कष्ट सेना को भागने पर विवश करते हैं और रात्रि के अँधेरे में सेनावाले लज्जावश इधर-उधर कहीं सुरक्षित हो जाते हैं। ऐसी घबराहट एवं बेचैनी में यदि पंक्तियाँ ठीक करने का प्रयत्न किया जाय तो भी सैनिकों के पाँव नहीं जमते और वे भागते दीख पड़ते हैं। इससे बड़ी भारी पराजय का सामना करना पड़ता है। इन्हीं ख़तरों से बचने के लिए पिछले समय के लोग पड़ाव के वक़्त अपनी सेना के आस-पास खाई खोद लिया करते थे कि यदि शत्रु छापे मारने का प्रयत्न करे तो वह स्वयं ही उसमें गिरकर समाप्त हो जाय। पिछले ज़माने में इस योजना के अनुसार सुगमतापूर्वक कार्य हो सकता था। वे प्रत्येक पड़ाव पर बहुत बड़ी संख्या में मज़दूर एकत्र कर लेते थे। देशों की जनसंख्या भी अधिक थी और सल्तनतों के प्रभुत्व का क्षेत्र भी विस्तृत था। इस समय जब कि राज्यों की जनसंख्या कम हुई, सल्तनतें कमज़ोर पड़ीं, सेनाओं की संख्या घटी और मज़दूर अप्राप्य हो गये, तब खाई खोदने की प्रथा भी ऐसी मिटी कि मानो थी ही नहीं।

सिफ़्फ़ीन के संग्राम के समय[1] हज़रत अली ने अपने साथियों को उभारने के लिए जो बहुमूल्य परामर्श दिये, उनसे युद्ध के अनेक बहुमूल्य सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। हज़रत अली से बढ़कर युद्ध में कुशल कौन था? उन्होंने कहा है—"एक सीसा पिलायी हुई दीवार के समान पंक्ति बनाकर खड़े हो जाओ। ज़िरह पहननेवाले आगे रहें और जिनके पास ज़िरह न हो वे पीछे रहें। दाँतों को किटकिटाकर बन्द कर लो, ताकि यदि सिर पर तलवार पड़े तो उचट जाय। भालों पर झुक जाओ, ताकि वे टूटने से सुरक्षित रहें। आँखें नीचे रखो, ताकि हृदय मज़बूत रहे और हृदय में घबराहट का

१. ३७ हि० (६५७–५८ ई०)। **यह युद्ध हज़रत अली एवं मुआविया में हुआ।**

स्थान न रहे। मंद स्वर में बोलो, ताकि शक्तिहीनता तुम तक न पहुँच सके और तुम्हारा सम्मान हाथ से न जाय। पताकाओं को सीधा रखो और उन्हीं के हाथ में दो जो वीरता में अद्वितीय हों। सत्यता एवं धैर्य को कभी मत त्यागो, कारण कि ईश्वर की सहायता धैर्य से ही प्राप्त होती है।..................

निम्नांकित पद्य भी युद्ध की नीति पर प्रकाश डालता है।

पद्य

मैं तुम्हारे समक्ष युद्धकला की कुछ गूढ़ समस्याएँ प्रस्तुत करता हूँ, कारण कि तुमसे पूर्व फ़ारस के बादशाह इनका पर्याप्त पालन कर चुके हैं। यह इसलिए नहीं कि मैं इनको अधिक जानता हूँ, अपितु इनकी स्मृति मोमिनों के लिए बड़ी लाभप्रद होगी और उनको उभारेगी।

रण-क्षेत्र में दोहरी जिरह, जो तलवार के कारीगरों का एक कारनामा है, पहनो। तेज़ धारवाली हिन्दी तलवार बाँधो, कारण कि वह जिरह की लड़ियों को तेज़ी से काट देती है।

सामान से लदे आगे बढ़नेवाले घोड़ों पर सवार हो, जो उस सुरक्षित क़िले की भाँति हों जिससे कोई निकल न सके।

सेना के पड़ाव के चारों ओर खाई खोद लो, चाहे तुम विजयी होकर शत्रु का पीछा कर रहे हो, अथवा वह तुम्हारा पीछा कर रहा हो।

और नदी को पार न करो अपितु उसके उस पार उतरो ताकि वह तुम्हारी सेना एवं शत्रु के बीच में रोक एवं दीवार बन सके।

यथासम्भव शत्रु से रात्रि में मुक़ाबला करो और सेना के पिछले भाग में सच्चे वीरों को नियुक्त करो। इस उपाय से ख़तरे से बचाव अधिक हो सकता है।

संग्राम के समय जब सकरे रणक्षेत्र में सेनाएँ न समा सकें तो भालों की नोक उनको चौड़ा कर सकती है।

शत्रु पर प्रथम बार ही टूट पड़ो, उसे सँभलने न दो, क्योंकि ज़रा सी कायरता एवं झिझक मनुष्य को नष्ट कर देती है।

सेना के अगले भाग में महान् योद्धाओं को रखो, जिनके स्वभाव में विश्वासघात न करनेवाली सचाई पायी जाती हो।

जब झूठे लोग परेशान करनेवाले समाचार फैलायें तो उन पर कान न धरो, कारण कि झूठे लोगों के कर्म एवं वचन का कोई विश्वास नहीं।

यह कथन कि "अचानक शत्रु पर टूट पड़ना चाहिए, सोच-विचार एवं झिझक उचित नहीं," लोगों के साधारण दृष्टिकोण के विरुद्ध है। हज़रत उमर ने जब अबू उबैद बिन अल मसऊद सक़फ़ी को फ़ारस एवं इराक़ का सेनापति बनाया तो उनसे कहा कि "देखो ! मुहम्मद साहब के सहाबियों की बात को ध्यान से सुनो और उसको कार्यान्वित कराओ। उनसे अपने कार्यों में सहायता लिया करो और उन पर विचार करते रहो। जब तक अवसर को भली-भाँति न जाँच लो और ऊँच-नीच को समझ न लो, तब तक शत्रु से मत भिड़ पड़ो, कारण कि यह युद्ध है। इसमें धैर्य धारण करनेवाला मनुष्य उपयुक्त रहता है, जो अवसर पाकर अग्रसर होने अथवा रुके रहने के महत्त्व को भली-भाँति जानता हो।" फिर कहा कि "यदि सलीत में जल्दबाज़ी न होती तो मैं उसी को सेनापति बनाता, किन्तु युद्ध में जल्दबाज़ी करने में हानि के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं। युद्ध के लिए वही मनुष्य उपयुक्त है जो धैर्य धारण कर सके और सोच-विचार की प्रवृत्ति रखता हो।" हज़रत उमर का यह कथन इस बात को स्पष्ट करता है कि युद्ध में तेज़ी की अपेक्षा धैर्य रखना अच्छा है। धर्य तेज़ी से उत्तम है ताकि युद्ध का उचित रंग-ढंग स्पष्ट हो जाय। अतः यह कथन सैरफ़ी के दृष्टिकोण का खंडन करता है। यदि सैरफ़ी के कथन की इस प्रकार व्याख्या की जाय कि एकाएकी आक्रमण सम्बन्धी परामर्श उस समय के लिए है, जब कि सोच-विचार एवं ग़ौर के उपरान्त यह पूर्ण रूप से उचित ज्ञात हो जाय कि इस समय क्षण भर का विलम्ब उचित नहीं। ऐसी अवस्था में तो उसका कथन अपने स्थान पर निःसन्देह ठीक है।

युद्ध में सफलता एवं विजय साज़ व सामान की बहुतायत एवं सैनिकों की संख्या पर अवलम्बित नहीं, अपितु उसका आधार भाग्य एवं संयोग पर है। कभी-कभी विजय के बाह्य कारण एक-एक करके ज़्यादा से ज़्यादा आ उपस्थित होते हैं। कभी सेना की संख्या अधिक होती है, हथियार पूरे और नये ढंग के उपलब्ध होते हैं, वीरों की अधिकता होती है, सेना एवं पंक्तियों को बड़े अच्छे ढंग से सुव्यवस्थित किया जाता है, संक्षेप में युद्ध के समस्त सिद्धांतों की पूरी-पूरी व्यवस्था होती है, किन्तु सफलता दूसरे पक्ष को ही प्राप्त होती है। विजय एवं सफलता के रहस्य दो प्रकार के होते हैं। एक वे, जिनमें मनुष्य के कर्म-भोग का हाथ होता है, उदाहरणार्थ धूर्तता, जालसाज़ी, युद्ध की युक्तियाँ, निराधार समाचार उड़ाकर शत्रु को अपमानित करना, शत्रु से ऊँचे स्थान पर ठहरकर इस प्रकार युद्ध करना कि शत्रु नीचे की ओर होने के कारण शीघ्र पराजित हो जाय। झाड़ियों, घाटियों एवं छिपने के स्थानों में बैठकर शत्रु को एकदम घेर लेना कि शत्रु को बुरी तरह घिरकर भागते ही बने, अथवा इसी प्रकार के अन्य उपाय काम में लाना।

दूसरे गुप्त रहस्य वे हैं, जो मनुष्य की शक्ति के बाहर हैं और जिनमें केवल ईश्वर का हाथ होता है। उदाहरणार्थ, एक पक्षवाले के हृदय में ऐसा आतंक एवं रोब छा जाना कि एका-एकी उसके पाँव उखड़ जायँ और उसे पराजित होना पड़े। इन गुप्त कारणों का विजय तथा पराजय में बड़ा हाथ होता है, अतः प्रत्येक पक्षवाला विजय के लोभ में यह सब खेल खेलता है और उनका स्पष्ट प्रभाव देखता है। इसी कारण मुहम्मद साहब ने कहा है—"युद्ध धूर्तता का नाम है।" अरब में यह प्रसिद्ध है कि "कभी-कभी क़बीले की अपेक्षा युक्ति से अधिक काम निकल आता है।" हमारे इस वर्णन से यह बात स्पष्ट हो गयी कि विजय एवं सफलता में गुप्त कारणों का बहुत बड़ा हाथ होता है, ज़ाहिरी कारणों का स्थान गौण। इन्हीं गुप्त कारणों को दूसरे शब्दों में भाग्य तथा संयोग कहते हैं।

ऐसे गुप्त कारणों के, जिनका संबंध केवल ईश्वर की लीला से है, प्रभाव का प्रमाण भी हमें मुहम्मद साहब की शुभ वाणी द्वारा मिलता है। उनका कथन है कि "मैं अपने शत्रु से एक मास की दूरी पर रहता हूँ, ताकि उसके हृदय पर मेरा आतंक व्यापक हो जाय। अन्त में यही मेरी सफलता का कारण बनता है।" मुहम्मद साहब अथवा उनके बाद के युग में भी इसी का प्रमाण मिलता है कि इन दैवी कारणों ने कभी-कभी आश्चर्यजनक प्रभाव प्रदर्शित किये हैं और विजय प्रदान की है।······

प्रत्यक्ष कारणों को महत्त्व देते हुए तुरतूशी लिखता है कि युद्ध में यदि एक ओर प्रसिद्ध वीरों एवं नामी शहसवारों की दूसरे पक्ष की अपेक्षा कुछ अधिकता है तो उसको सफलता प्राप्त होगी। उदाहरणार्थ, एक पक्ष में १० अथवा २० वीर हैं और दूसरे में ८ या १६, तो अधिक संख्यावाले पक्ष को अवश्य विजय प्राप्त होगी। किंतु उनका यह दृष्टिकोण ठीक नहीं। ज़ाहिरी कारणों में जिस चीज़ का वास्तव में बहुत बड़ा प्रभाव होता है, वह है "असबियत"। जिस पक्ष में सब "असबियतें" एक ही "असबियत" में लीन हो गयी हों, वह उस पक्ष पर, जिसमें "असबियतें" विभिन्न एवं अधिक संख्या में हों, विजय प्राप्त करेगा। क्योंकि "असबियत" के अधिक संख्या में होने की वजह से प्रत्येक क़बीला अपनी-अपनी डफ़ली अलग बजाता है और अपनी मनमानी चलाता है तथा अवसर पड़ने पर साथ छोड़ देता है। इसके विपरीत यदि समस्त "असबियतें" मिलकर एक हो गयी हों तो भिन्न-भिन्न शरीरों के बावजूद सब योद्धा एक-जान हो जाते हैं। हर एक दूसरे पर प्राण न्योछावर करता है। इस प्रकार "असबियत" को ही हम ज़ाहिरी कारणों में विजय के लिए कुछ महत्त्व दे सकते हैं, न कि संख्या को, जिसकी ओर तुरतूशी झुक गया है। इस भ्रम का कारण

वास्तव में यह है कि अल्लामा को "असबियत" के प्रभाव का ज्ञान न था। उनकी दृष्टि केवल विभिन्न लोगों अथवा समूहों पर थी। उनकी दृष्टि में "असबियत" एवं कुल का कोई महत्त्व न था। इसका सविस्तर उल्लेख इससे पूर्व किया जा चुका है। तुरतूशी ने जो कारण बताया है उसे हम केवल ज़ाहिरी कारणों में गिन सकते हैं। अन्य ज़ाहिरी कारण हैं सेना का साज़ व सामान, अस्त्र-शस्त्रों की अधिकता, वीरों की संख्या का आधिक्य इत्यादि। हम यह बता ही चुके हैं कि प्रभुत्व एवं विजय में इनका कोई हाथ नहीं। वह तो पूर्ण रूप से गुप्त कारणों--धूर्तता, धोखे, एवं दैवी बातों पर निर्भर होती हैं। यदि आप भौतिक संसार के इस रहस्य को ध्यानपूर्वक देखें और समझेंगे तो आपको इस रहस्य का पता चल जायगा।

युद्ध में प्रभुत्व एवं विजय की प्राप्ति प्रसिद्धि-प्राप्ति की साधना से पूर्णतः मिलती-जुलती है। उसके भी कुछ गुप्त कारण होते हैं जो दृष्टि से ओझल रहते हैं। बहुत-से बादशाह, आलिम, पवित्र लोग एवं सिद्ध पुरुष ऐसे हैं, जो वास्तव में प्रसिद्धि के पात्र हैं किन्तु देश में उनकी प्रसिद्धि नहीं होती, और यदि होती भी है तो संयोग से निन्दा मिश्रित ही। वास्तव में उनके लिए यह कदापि ठीक नहीं। बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो बिलकुल अप्रसिद्धि की भेंट हो जाते हैं, यद्यपि वे प्रसिद्धि के सबसे अधिक पात्र होते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि प्रसिद्धि भी होती है और प्रसिद्ध व्यक्ति वास्तव में इसका पात्र भी होता है। इस पूरे गोरखधंधे का रहस्य है कि प्रसिद्धि एवं नामवरी प्रचार द्वारा प्राप्त होती है और प्रचारित समाचारों में प्रायः न्याय्य उद्देश्यों की उपेक्षा की जाती है और उनमें पक्षपात का पुट दिया रहता है। उनसे भ्रम एवं संदेह भी उत्पन्न हो जाता है। समाचारों के वर्णन को वास्तविकता से मिलाने की चेष्टा बहुत कम की जाती है और झूठ एवं बनावट का आवरण उन पर चढ़ा दिया जाता है। कभी-कभी वर्णन देनेवाले की अज्ञानता इसका कारण होती है। अधिकांश ऐसा होता है कि लोग सांसारिक सम्मान प्राप्त लोगों एवं उच्च पदवालों का गुण गान करने लगते हैं और उनको प्रसिद्धि देते हैं, ताकि उनकी आड़ में वे सांसारिक यश प्राप्त कर सकें। इस प्रकार अधिकांश लोग यश एवं समृद्धि पर मरने लगते हैं और उसी को मूल उद्देश्य समझते हैं। वास्तविक योग्यता एवं निपुणता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। दूसरी ओर उच्च पदवाले अनुचित प्रशंसा के प्रति असंतोष प्रकट नहीं करते, अपितु प्रसन्न होते हैं और फूले नहीं समाते।

अब आप स्वयं ग़ौर करें कि जब ऐसी अनुचित बातें प्रसिद्धि के कारण स्वीकार की जाने लगें तो वास्तविक प्रसिद्धि कितनी अप्राप्य होगी। अतः इन्हीं गुप्त कारणों

से सच्ची प्रशंसा दुष्प्राप्य हो जाती है और तथ्य अन्य ही रूप धारण कर लेता है, अपितु यह कह सकते हैं कि सत्य झूठ का जामा पहन लेता है। जब प्रसिद्धि भी गुप्त कारणों से होने लगी तो मानो सौभाग्य एवं संयोग ही उसके आधार हुए। इससे पूर्व ही यह कथन किया जा चुका है कि गुप्त कारणों को सौभाग्य एवं संयोग कहा जाता है।

(३८) ख़राज एवं उसकी कमी-बेशी के कारण

सल्तनत के प्रारम्भ में खराज की मात्रा कम एवं वसूली का योग अधिक होता है। सल्तनत के अन्तिम काल में इसका उलटा होता है। ख़राज की मात्रा बढ़ जाती है और वसूली का योग कम हो जाता है। इस तथ्य का कारण यह है कि यदि हुकूमत इस्लामी सिद्धांतों पर स्थापित है तो सदक़ों, ख़राज एवं जिज़िये इत्यादि की समस्त वसूली शरा के अनुसार निर्धारित मात्रा में होती रहती है और वह सब कम मात्रा में होते हैं। यदि धन की ज़कात होगी तो वह भी कम और यदि अनाज एवं पशुओं की ज़कात होगी तो वह भी कम। यही हाल जिज़िये एवं ख़राज का है कि वह भी कुछ अधिक न होंगे। संक्षेप में इन सब शरई करों की सीमाएँ निर्धारित हैं जिनमें वृद्धि की सम्भावना नहीं। जब सल्तनत प्रभुत्व एवं "असबियत" पर आधारित होगी तो उसका प्रारम्भ भी "बदवियत" से ही होगा, जिसका प्रमाण हम पहले अध्यायों में दे चुके हैं। "बदवियत" कृपा, नम्रता, शुभचिन्ता, सद्व्यवहार, असंग्रह और अपरिग्रह एवं प्रजा से उचित सीमा तक कर की वसूली की अपेक्षा रखती है। इसी कारण "बदवियत" की छाया में प्रजा को जो कुछ कर एवं ख़राज अदा करना पड़ता है, वह कम होता है। जब देशवासियों पर लगानों का भार कम होता है तो वे प्रसन्नतापूर्वक कार्यों में तल्लीन रहते हैं और मुल्क की आबादी दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ने लगती है। कारण कि लगान की मात्रा कम होने के कारण लोग दूर-दूर से आकर वहाँ बस जाते हैं। राज्य की जन-संख्या में वृद्धि होने के कारण हर प्रकार की वसूलियाँ बढ़ जाती हैं और ख़राज में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है।

जब राज्य इसी प्रकार दीर्घ काल तक चलता रहता है और बादशाह निरंतर राज्य प्राप्त करते रहते हैं, तो उनमें धन एकत्र करने की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और बदवियत की सरलता, सौजन्य एवं रवादारी की भावनाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। अब इस प्रकार अत्याचार पर आधारित राज्य एवं नगर का जीवन प्रारम्भ होता है, जिसमें बादशाहों में धन एकत्र करने एवं धन की माँग की भावनाएँ उन्नति पर होती

हैं। उनके चरित्र बिगड़ते हैं और उनकी आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं। इस अवस्था को प्राप्त होकर वे भोग-विलास एवं नाज़-नखरों के शौकीन बनते हैं, जिसके फलस्वरूप उनकी आवश्यकताएँ भी साथ-साथ अधिक हो जाती हैं। इस परिस्थिति से घिरकर उनको अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने का केवल एक यही साधन दृष्टिगत होता है कि व्यापारी, कृषक एवं अन्य प्रजा पर कर की मात्रा दुगुनी, चौगुनी अथवा उससे भी अधिक बढ़ा दें। व्यापारिक माल के आयात एवं निर्यात पर चुंगी लगायें और इस प्रकार अपने राज्य की आय बढ़ाकर अपने हर प्रकार के उचित एवं अनुचित व्यय पूरे करें। फिर जैसे-जैसे बादशाहों के भोग-विलास की आदत बढ़ती है, वैसे-वैसे उनके व्यय में भी अपार वृद्धि होती है। राज्य के कर भी इसी प्रकार बढ़ते जाते हैं, यहाँ तक कि लगानों एवं विभिन्न करों का भार बेचारी प्रजा की कमर तोड़ देता है, किन्तु यह भार शनैः-शनैः बढ़ता है, इसलिए प्रजा इसकी आदी हो जाती है और फिर उसको यह भी ज्ञान नहीं रहता कि प्रारम्भ में किसने करों में वृद्धि की थी और वह किस प्रकार इस सीमा तक पहुँचा, किन्तु प्रजा की जनसंख्या पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। लोग जब अपने लाभ एवं करों की तुलना करते हैं और अपनी सारी दौड़-धूप की प्राप्ति पर दृष्टि डालते हैं तो उनकी लाभ कमाने की भावनाएँ ठंडी पड़ जाती हैं। उनका साहस टूट जाता है। उनका उत्साह मन्द पड़ जाता है। वे काम-काज से हाथ खींचने लगते हैं। भूमि का उपयोग कम हो जाता है। जब यह दशा हो जाती है तो ख़राज की मात्रा बहुत ही घट जाती है। सल्तनतवाले राज्य की आय को घटता देखकर लगानों एवं करों इत्यादि की मात्रा में और वृद्धि करते हैं ताकि कमी की पूर्ती करें, यहाँ तक कि इस शनैः-शनैः की वृद्धि से कर एवं ख़राज इस सीमा तक पहुँच जाते हैं कि कारोबारी लोगों एवं कृषकों का लाभ उसमें लुप्त हो जाता है। सभ्यता एवं संस्कृति के कार्यों पर अत्यधिक व्यय करना पड़ता है और साथ-साथ ख़राज एवं लगान भी भारी-भारी मात्रा में लगाने पड़ते हैं, किन्तु उन्हें उससे कोई व्यक्तिगत या सार्वजनिक लाभ नहीं दृष्टिगत होता। प्रत्येक व्यक्ति अपने लाभ के पीछे अपनी जान खपाता है, अतः जब लोगों को लाभ दृष्टिगत नहीं होता तो वे देश छोड़ने लगते हैं। सभ्यता एवं संस्कृति का पतन होने लगता है और इसका दंड राज्य को स्वयं ही भोगना पड़ता है।

संक्षेप में किसी देश की सभ्यता इस बात पर निर्भर है कि देशवालों पर नाना प्रकार के करों का भार यथासम्भव हलका रखा जाय, ताकि वे प्रसन्नतापूर्वक अपने कार्यों में अपने प्राण खपायें और अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करें।

(३९) सल्तनत के अन्तिम युग में चुंगी एवं मार्गीय करों की प्रथा प्रारम्भ होती है

पहले ही बताया जा चुका है कि प्रारम्भ में सल्तनत पर "बदवियत" का रंग चढ़ा होता है। राज्यवाले भोग-विलास से अनभिज्ञ एवं वासनाओं की तृप्ति से दूर होते हैं। इसी कारण उनकी आवश्यकताएँ कम होती हैं। वे कम कमाते तथा कम व्यय करते हैं। राज्य से जो कुछ ख़राज एवं लगान प्राप्त होता है वह उनकी आवश्यकताओं के लिए न केवल पर्याप्त होता है, अपितु उसमें से कुछ बच भी रहता है। फिर शनैः-शनैः सल्तनत "बदवियत" से निकलकर नगर के जीवन एवं संस्कृति की ओर अग्रसर होती है और अन्य सभ्य सल्तनतों के मार्ग पर चलने लगती है। संस्कृति अपने साथ अधिक से अधिक व्यय लाती है। बादशाह के व्यक्तिगत व्यय एवं दान-पुण्य इतने अधिक हो जाते हैं कि राज्य की आय से यह व्यय पूरा नहीं हो पाता। सल्तनत को इस बात की आवश्यकता होती है कि कर एवं ख़राज में वृद्धि की जाय ताकि राज्य की बढ़ती हुई सेना सम्बन्धी आवश्यकताओं की भी उनसे पूर्ति हो और बादशाह का खर्च भी चल सके। राज्य के करों में वृद्धि का यह पहला क़दम होता है। फिर जब सल्तनत वाले भोग-विलास की ओर अधिक आगे बढ़ते हैं और इस सम्बन्ध में उनके व्यय में वृद्धि होती है तथा सेना के व्यय बढ़ जाते हैं, तो राज्यकर भी अधिक बढ़ाना पड़ता है, यहाँ तक कि सल्तनत अपने जीवनकाल की अन्तिम साँसें लेने लगती है। "असबियत" में शक्ति नहीं रहती कि राज्य के विभिन्न भागों से कर प्राप्त कर सके। फलतः राज्य की आय गिर जाती है।

इधर सांस्कृतिक आवश्यकताएँ बराबर बढ़ती रहती हैं और सैनिक व्यय भी साथ-साथ अधिक होता जाता है, अतः शासक को इस समस्या के समाधान का एक यही मार्ग दृष्टिगत होता है कि वह व्यापारिक माल पर नाना प्रकार के कर लगाये। बाज़ारों में जो कुछ भी बिके और नगर में व्यापारिक माल से जो कुछ आय हो उसमें से राज्य का कर भी वसूल किया जाय। किन्तु इस अनुचित आचरण से भी बादशाह की भूख नहीं मिटती और वह हर प्रकार की वसूली के लिए चिंतित एवं व्याकुल रहता है। देशवाले भोग-विलास के कारण अपना व्यय बढ़ा लेते हैं। इस प्रकार वे सल्तनत से अधिक-से-अधिक इनाम की आशा करते हैं, ताकि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करें। फिर ऐसी दशा में सेना की संख्या में भी वृद्धि हो जाती है। उसके वेतन एवं उसकी वृत्ति का बोझ भी सल्तनत पर बढ़ जाता है। सल्तनत के अन्तिम युग में तो करों की इतनी अधिकता हो जाती है कि व्यापार की ओर से लोगों की

आशाएँ टूट जाती हैं और राज्य के बाज़ार एवं मंडियाँ फीकी पड़ जाती हैं। देश की जनसंख्या घटने लगती है और इसकी हानि भी सल्तनत को ही भुगतनी पड़ती है। उसके आर्थिक ताने-बाने कमज़ोर पड़ जाते हैं।

इतिहास से पता चलता है कि पूर्व में अब्बासी एवं उबैदीई सल्तनतों के अन्तिम युग में ऐसा ही हुआ कि देशवालों पर नाना प्रकार के भारी-भारी कर लगाये गये, यहाँ तक कि हाजी को भी हज के दिनों में भारी-भारी कर अदा करने पड़ते थे। अन्त में सलाहुद्दीन इब्ने अय्यूब ने इन कुप्रथाओं को मिटाया और इनके स्थान पर परोपकार एवं भलाई की प्रथाएँ चलायीं। इसी प्रकार उन्दुलुस में विभिन्न समूहों के समय भी यही प्रथा रही। फिर मुराबेतीन के अमीर यूसुफ़ बिन ताशफ़ीन शासकों ने इन कुप्रथाओं का अन्त किया। हमारे इसी युग में इफ़रीक़िया में जरीद के नगरों पर जब से वहाँ के हाकिमों ने अधिकार प्राप्त किया है, नाना प्रकार के कर लगा दिये हैं। "ईश्वर अपने सेवकों पर कृपा करता है।"[१]

(४०) सल्तनत का व्यापार प्रजा को हानि पहुँचाता है और देश के राजस्व को नष्ट कर देता है

यह बात भली-भाँति जाननी चाहिए कि देश में भोग-विलास के बढ़ जाने और नाना प्रकार के प्रदर्शनों की प्रथाओं के प्रचलित हो जाने से जब देश के व्यय में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है और राज्य का कर उन हानियों एवं कमियों की पूर्ति नहीं कर पाता तथा राज्य देश की कर-व्यवस्था में वृद्धि करके राज्य की आय बढ़ाने पर तुल जाता है, तो चीज़ों के आयात-निर्यात पर चुंगी लगायी जाती है और बाज़ारी व्यापारिक माल की आय पर कर लगाया जाता है। यदि चुंगी की प्रथा पूर्व से चल रही हो तो उसकी संख्या में वृद्धि कर दी जाती है। कभी आमिलों एवं ख़राज वसूल करनेवालों को इस सम्भावना के कारण निचोड़ा एवं चूसा जाता है कि वे लोग ख़राज का अत्यधिक माल खा गये होंगे, जो जाँच में नहीं आया है।

इस प्रकार ख़राज की आड़ में सल्तनत व्यापार एवं कृषि का कारोबार प्रारम्भ करती है। सल्तनतवालों के मस्तिष्क में यह बात समा जाती है कि चूँकि व्यापारी एवं कृषक थोड़ी-सी पूँजी से अत्यधिक लाभ एवं अनाज प्राप्त करते हैं तो सल्तनत इसमें क्यों पीछे रहे, जब कि उसके पास पूँजी भी अधिक है। अतः उसे अधिक से

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

अधिक लाभ की आशा होती है, कारण कि कारोबार में लाभ की कमी अथवा ज़ियादती पूँजी की कमी एवं ज़ियादती पर निर्भर होती है। अतः सरकार मवेशी तथा अनाज सस्ते से सस्ते मूल्य पर क्रय करती है और बाज़ारों में लाकर भारी मूल्य पर बेचती है और समझती है कि इस प्रकार खराज बढ़ेगा और खूब लाभ होगा, हालाँकि यह उसका भ्रम होता है। इस प्रकार कई तरह से प्रजा का विनाश हो जाता है।

सर्वप्रथम हानि यह होती है कि व्यापारी एवं कृषक पशुओं एवं अन्य व्यापारिक सामग्री के क्रय-विक्रय में झिझकने लगते हैं, कारण कि प्रजा तो धन-सम्पत्ति में एक-दूसरे के बराबर अथवा एक-दूसरे के निकट होती है। एक व्यापारी अथवा कृषक दूसरे के मुक़ाबले में आ सकता है, किन्तु यदि सुल्तान स्वयं व्यापार एवं कृषि में हाथ डाल दे तो चूँकि उसके पास पूँजी अधिक होती है, अतः प्रजा में से कोई भी उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता। सुल्तान के मुक़ाबले में प्रत्येक व्यक्ति अपनी असफलता एवं अपने काम में घाटा देखता है। इसी दुःख में उसके पाँव आगे बढ़ने के स्थान पर पीछे हटते हैं। फिर बादशाह की खरीदारी की यह स्थिति होती है कि कभी वह डरा-धमकाकर धन-सम्पत्ति छीन लेता है और कभी कम से कम मूल्य पर प्राप्त करता है। कारण कि कोई अन्य व्यक्ति तो उसका मुक़ाबला कर नहीं सकता और न मूल्य बढ़ने की सम्भावना होती है, फलतः व्यापारी को बहुत कम लाभ प्राप्त होता है। परेशान व्यापारी जब अनाज, रेशम, मधु, शक्कर तथा अन्य खाने-पीने की वस्तु प्राप्त करते हैं अथवा नाना प्रकार का व्यापारिक माल लाते हैं, तो उनको बाज़ारों में ले जाने अथवा बाज़ार के भावों को देखने की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, अपितु जिस मूल्य पर सौदा पट जाता है, वे माल को निकाल देते हैं, कारण कि माल को रोके रखने पर अथवा उसको बाज़ार में ले जाने पर उन्हें सल्तनत का भय होता है। यदि इच्छानुसार लाभ प्राप्त करने के लोभ में वे माल रोके रखते हैं तो उनका सारा माल पत्थर की भाँति बिना किसी लाभ के पड़ा रहता है और वह हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं। तब उनके जीविकोपार्जन का कोई साधन नहीं रहता, क्योंकि व्यापारियों की रोज़ी तो माल के लेन-देन एवं उलट-फेर पर ही निर्भर है। यदि उनको नक़द धन की आवश्यकता पड़ जाती है तो वे बाज़ारभाव से गिराकर सस्ते मूल्य पर भी माल निकाल देते हैं। जब इस प्रकार की हानियाँ व्यापारियों एवं कृषकों को बार-बार उठानी पड़ती हैं, तो उनकी पूँजी शीघ्र ही समाप्त हो जाती है और इस प्रकार वे अपने व्यापार से हाथ धो बैठते हैं। संक्षेप में इस प्रकार व्यापारियों

के निरन्तर हानि उठाने से और लाभ नष्ट होने से उनके उत्साह में कमी हो जाती है। वे अपने व्यापार से हाथ खींच लेते हैं। फलतः ख़राज में बड़ी शोचनीय दशा तक कमी हो जाती है, कारण कि देश का ख़राज अधिकांश व्यापारियों एवं कृषकों द्वारा ही प्राप्त होता है। यह दुर्दशा तब और भी महत्त्वपूर्ण होती है जब चुंगी की प्रथा भी चला दी जाय और उससे ख़राज की वसूली में वृद्धि की आशा की जाय। जब कृषक खेती से और व्यापारी व्यापार से अलग हो जाते हैं तो ख़राज या तो पूर्णतः समाप्त हो जाता है, या बड़ी ख़तरनाक सीमा तक उसमें कमी हो जाती है। बादशाह जब ख़राज की आय तथा अपने व्यापार की आय की तुलना करने बैठता है तो उसकी आँखें खुल जाती हैं, क्योंकि दोनों आयों में बहुत बड़ा अन्तर है।

मान लिया जाय कि व्यापार बादशाह के लिए लाभदायक है, किन्तु इसमें भी तो सन्देह नहीं कि क्रय-विक्रय में कठिनाइयाँ अलग उठानी पड़ती हैं और खर्च अलग बरदाश्त करना पड़ता है। इधर राज्य की आय का बहुत कुछ भाग उसके हाथ से निकल जाता है। कर, जिसकी धन-राशि व्यापार से कहीं अधिक होती है, हाथ से जाता रहता है। यदि व्यापार दूसरे के पास हो तो कर की धन-राशि बिना किसी कठिनाई, परिश्रम एवं दौड़-धूप के प्राप्त होती रहती है और वह भी व्यापार के लाभ से अधिक होती है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि बादशाह के व्यापार में हाथ डाल देने से राज्यवाले नष्ट एवं दुर्दशा को प्राप्त हो जाते हैं और अन्त में सल्तनत भी विनाश से नहीं बच सकती, कारण कि जब लोगों को कृषि एवं व्यापार से कोई लाभ नहीं प्राप्त होता तो उनकी आर्थिक दशा बुरी तरह गिर जाती है। तब खर्च ही खर्च रह जाता है, आय नहीं होती। इस प्रकार जनता बरबाद हो जाती है। जब देशवासी नष्ट हुए तो सल्तनत का पता कहाँ मिल सकता है।

फ़ारसवालों का तरीक़ा यह था कि वे उसी व्यक्ति को बादशाह बनाते थे जो शाही वंश से सम्बन्धित होता था और धर्मनिष्ठता, दान-पुण्य, वीरता, पौरुष सरीखे उत्तम गुणों से सुशोभित होता था। न्याय के गुण को दृष्टि में रखकर वे उसके साथ यह भी शर्त लगाते थे कि वह किसी ऐसी कला में हाथ न डालेगा जो उसके पड़ोसियों को हानि पहुँचाये तथा ऐसा व्यापार न प्रारम्भ करेगा जिससे मूल्य बढ़ने की आशंका हो। न वह दासों से सेवा लेगा, कारण कि उनसे भलाई एवं हित सम्बन्धी परामर्श की कोई आशा नहीं होती।

यह बात भली-भाँति ज्ञात होनी चाहिए कि बादशाह के धन की वृद्धि और उसके प्राणों का सुख ख़राज की ही वसूली पर निर्भर है। ख़राज की वसूली इस बात

पर निर्भर है कि बादशाह अपने अधीनस्थ धनी लोगों के साथ न्यायपूर्वक व्यवहार करे। उन पर दया एवं कृपा की दृष्टि रखे। इससे उनकी आशाएँ बढ़ेंगी, उत्साह में वृद्धि होगी और फिर लोग खुले दिल से पूंजी को कार-बार में लगाकर उससे लाभ प्राप्त करेंगे और उन्हें बढ़ायेंगे। इस प्रकार शाही आय में वृद्धि होगी। इसके विपरीत आय-वृद्धि के साधन के रूप में राज्य का व्यापार में हाथ डालना अथवा कृषि कराना देश एवं देशवासियों के लिए लाभजनक होने के स्थान पर हानि का कारण होता है। उससे प्रजा नष्ट हो जाती है। खराज की वसूली कम हो जाती है और देश उजड़ने लगता है।

कभी व्यापार एवं कृषि करनेवाले अमीर लोग एवं अपहरणकर्ता ऐसा करने लगते हैं कि वे बाहरी व्यापारियों एवं कृषकों से व्यापारिक माल अथवा अनाज जिस भाव पर चाहते हैं क्रय कर लेते हैं, और उसे फिर अपनी अधीन प्रजा को जिस भाव पर चाहते हैं, बेच देते हैं। व्यापार का यह प्रकार पहले प्रकार से भी अधिक हानिकारक है और प्रजा को शीघ्रातिशीघ्र विनाश के घाट उतार देता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक कुशल व्यापारी, जो आजीवन व्यापार ही करता रहा है या एक पेशेवर किसान, जो बाल्यावस्था से खेती ही करता चला आ रहा है, बादशाह को चक्कर में डाल देता है और उसको समझाता है कि साझे में व्यापार किया जाय और उसमें एक भाग उसका भी हो। इससे उसका उद्देश्य बादशाह की आड़ में लाभ कमाना होता है। इस प्रकार चुंगी एवं अन्य करों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यही बातें व्यापार की कमर तोड़ दिया करती हैं। इस प्रकार धोखा देकर लोग अपना खेल खेलते हैं, किन्तु यह नहीं समझते कि इस प्रकार बादशाह का खराज कितना घट जायगा और उसे लाभ के स्थान पर कितनी हानि होगी। अतः बादशाह को ऐसे स्वार्थी चापलूसों से बचना चाहिए एवं अपने खराज की आय को इस प्रकार के दुराचार से ठेस न लगानी चाहिए।

(४१) बादशाह एवं उसके विश्वासपात्रों की धन-सम्पत्ति सल्तनत के मध्य युग में बढ़ती है

सल्तनत के प्रारम्भिक युग में खराज इत्यादि की रक़म बादशाह के क़बीले एवं "असबियत" वाले आपस में बाँट लेते हैं। इसका कारण यह है कि वही राज्य के संस्थापक होते हैं और राज्य की नींव वही डालते हैं, अतः वे उसका लाभ भी क्यों न उठायें। प्रारम्भ में तो उन्हें कदापि नहीं भुलाया जा सकता। बादशाह का पूरा

ध्यान खराज इत्यादि से हटकर अपनी निरंकुशता एवं शक्ति को दृढ़ बनाने की ओर होता है। "असबियत" वालों से ही उसे सम्मान प्राप्त होता है और उन्हीं पर वह अपने आप को निर्भर समझता है। बादशाह की इस अपेक्षा के कारण खराज एवं कर का उतना ही भाग उसे प्राप्त होता है जितना उसकी आवश्यकताओं को बड़ी कठिनाई से पूरा करने के लिए पर्याप्त होता है। जब बादशाह की यह दशा हुई तो उसके विश्वासपात्र और वे, जो उससे सम्बंधित हैं, उदाहरणार्थ वज़ीर, कातिब, दास इत्यादि, प्रायः खाली हाथ ही रहते हैं और उनका जीवननिर्वाह अधिकतर चापलूसी एवं चाटुकारी द्वारा होता है। उनका सम्मान एवं पद निम्न कोटि का और अनिश्चित-सा होता है, कारण कि उनका स्वामी स्वयं "असबियत" वालों के प्रभाव में ग्रस्त तथा उनसे दबा रहता है। उसके अधिकार भी सीमित होते हैं, अतः उसे इन लोगों के उभारने का अवसर कहाँ और किस प्रकार मिल सकता है। इस स्थिति की समाप्ति के उपरान्त जब सल्तनत की नीव दृढ़ होती हैं और सुल्तान को अपनी क़ौम पर स्वतंत्र अधिकार प्राप्त होते हैं तो वह वसूली की अधिक रक़म "असबियत" वालों के हाथ नहीं लगने देता। उनको उतना ही देता है जितना अन्य लोगों को मिलता है। इस प्रकार उनकी आय घट जाती है और सल्तनत के नौकर-चाकर एवं आश्रित सल्तनत को दृढ़ रखने तथा शासन चलाने में उनके बराबरके साझीदार समझे जाते हैं। इस वातावरण के उत्पन्न हो जाने पर बादशाह समस्त खराज अथवा उसका अधिकांश भाग स्वयं दबा लेता है। सल्तनत की धन-सम्पत्ति को अपने अधिकार में रखता है और विशेष अवसरों के लिए वह धन एकत्र किये रहता है। इस प्रकार उसकी धन-सम्पत्ति बढ़ जाती है। खज़ाना माला-माल हो जाता है। उसके अधिकार बहुत बढ़ जाते हैं। संक्षेप में पूरी क़ौम में वही आदर एवं सम्मान का स्वामी दृष्टिगत होता है।

जब बादशाह यह रूप धारण कर लेता है तो उसके विश्वासपात्र, सहायक, वज़ीर, हाजिब, कातिब, दास, अधिकारी एवं सेनावाले भी अपना रंग पलटते हैं। उनको महत्त्व प्राप्त होता है। उनके अधिकार बढ़ते हैं। वे धन एकत्र करने की चिन्ता में लगते हैं। सल्तनत का यह मध्य युग भी जब विनाश की ओर अग्रसर होता है और शासन की युवावस्था समाप्त होकर वृद्धावस्था के चिह्न दृष्टिगत होते हैं तो "असबियत" समाप्त हो चुकती है और सल्तनत के संस्थापकों का अन्त हो चुका होता है। इस समय सल्तनत विरोधियों एवं विद्रोहियों के जाल में फँसती है और राज्य का बुरा चाहनेवाले प्रत्येक दिशा से उस पर टूट पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में

बादशाह को विवश होकर नये सहायक तैयार करने पड़ते हैं और सल्तनत के गिरते हुए सम्मान को बचाना पड़ता है, अतः वह अब खराज का उपयोग अपने सहायकों के हित के लिए प्रारम्भ कर देता है और उन्हें खिलाता-पिलाता है। ये सहायक "तलवारवालों" एवं उनकी "असबियत" से सम्बंधित होते हैं, जिन पर वह अपने खजाने लुटाता एवं धन-सम्पत्ति न्योछावर करता है, किन्तु इस दशा में दान-पुण्य एवं व्यय भी उसे अधिक करना पड़ता है। खराज में, जैसा कि हम बता चुके हैं, कमी होने लगती है। खराज की कमी से बादशाह की धन-सम्बन्धी आवश्यकता और बढ़ती है। वह इसी चिन्ता में ग्रस्त रहता है कि राज्य की आय किस प्रकार बढ़ायी जाय, जिससे राज्य का व्यय पूरा हो सके। बादशाह की चिन्ता के कारण उससे सम्बंधित लोग, उदाहरणार्थ हाजिब, कातिब इत्यादि भी समृद्ध एवं धन-धान्यसम्पन्न नहीं रह पाते। उनका सम्मान कम हो जाता है।

फिर सल्तनत के अन्तिम युग में कुछ ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि इधर तो बादशाह के विश्वास-पात्र एवं इष्ट-मित्र अपने पूर्वजों की संचित धन-सम्पत्ति का अपव्यय प्रारम्भ कर देते हैं और उधर बादशाह "और भी अधिक" व्यय करने की इच्छा करने लगता है। वह सोचता है कि इस धन का, जिसे मेरे विश्वास-पात्र निःसंकोच व्यय कर रहे हैं, वास्तविक उचित पात्र मैं ही हूँ, कारण कि मेरे ही पूर्वजों की कृपा एवं उन्हीं के प्रयत्नों से इनके पूर्वजों ने यह धन-सम्पत्ति एकत्र की है। इसी विचार से बादशाह उनमें से एक-एक को शनैः-शनैः निचोड़ने लगता है और शासन उनका विरोधी हो जाता है। जब बादशाह के विश्वास-पात्र नष्ट होने लगते हैं और समृद्ध एवं धनी लोग समाप्त हो जाते हैं, तो इसका परिणाम भी बादशाह को ही भोगना पड़ता है। इस प्रकार वह भव्य भवन, जिसका निर्माण बादशाह के पूर्वजों द्वारा हुआ था, एकाएक भूमि पर आ रहता है। इस तथ्य के प्रमाण में इतिहास से अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं, उदाहरणार्थ अब्बासियों के राज्यकाल में बनू क़हतबा, बनी बरमक, बनू सहल और बनू ताहिर सरीखे वज़ीरों के साथ इसी प्रकार का व्यवहार हुआ। इसी प्रकार उन्दुलुस में बनी उमय्या के अन्तिम राज्यकाल में मुलूकुत्तवाएफ़ के बनू शुहैद, बनू अबी अबदह, बनू हुदैर, तथा बनू बुर्द इत्यादि के साथ ऐसा ही व्यवहार किया गया, अपितु हमारे युग में भी यही सब कुछ हो रहा है।

इन्हीं घटनाओं एवं तथ्यों के कारण बहुत से अधिकारी एवं सल्तनत के ओहदे-दार, जब धन-सम्पत्ति एकत्र कर लेते हैं तो अपने पदों एवं ओहदों को त्याग-कर अन्य

देशों को चले जाने के विषय में सोचने लगते हैं और बादशाह के हाथों से बचने का प्रयत्न करते हैं। वे सोचते हैं कि अन्य देशों में पहुँचकर अपनी संचित धन-सम्पत्ति को शान्ति से इच्छानुसार व्यय करें एवं लाभान्वित हों, यद्यपि यह बड़ा अनुचित क़दम एवं झूँठा विचार है जो उनकी सांसारिक दशा पर बड़ा बुरा प्रभाव डालता है। समझ लीजिए कि इन पदों में उलझने के उपरान्त फिर उनसे मुक्ति कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। यदि बादशाह स्वयं भी देश से निकल भागना चाहे तो न प्रजा ही उसको निकलने के लिए क्षण भर का अवसर देगी, न उसकी "असबियत" वाले अनुमति देंगे, अपितु उसे घेरे रहेंगे और उसके बहुत-से विचारों में बाधा डालते रहेंगे। यदि बादशाह के इस संकल्प का पता चल जाय तो राज्य का तो उसके हाथ से निकल जाना आवश्यक ही है, किन्तु उसके प्राण भी खतरे में पड़ते हैं। समय की गति-विधि कुछ इस प्रकार की है कि राज्य का फंदा एक बार गले में पड़ने के उपरान्त फिर निकाले नहीं निकलता, विशेष रूप से जब सल्तनत उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गयी हो। उसमें अराजकता बुरी तरह फैल गयी हो और देश में दुराचार एवं व्यभिचार ने सौजन्य, सहृदयता एवं सच्चरित्रता का स्थान ले लिया हो। ऐसी दशा में यदि बादशाह के विशेष सेवकों, विश्वास-पात्रों एवं राज्य के सम्मानित लोगों में से कोई निकल भागने की योजना बनाये तो उसको भी नहीं छोड़ा जाता। इसके कई कारण हैं।

(१) बादशाह यह जानते हैं कि उनके सहायक एवं अधीन अपितु उनकी समस्त प्रजा, उनके वे दास एवं ममलूक हैं जो उनके गुप्त भेदों से परिचित हैं। इस भय से कि कहीं वे उसके रहस्य एवं गुप्त भेद अन्य लोगों को न बता दें, उन्हें दासता की बेड़ियों से छूटने नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त उनकी मर्यादा भी उन्हें इस बात की अनुमति नहीं देती कि अब तक जो उनकी सेवा एवं दासता में रहे हों वे किसी अन्य स्थान पर पहुँचकर दूसरों के सेवक एवं दास कहलायें और अन्य लोगों की दासता में प्रविष्ट हों।

इस प्रकार उन्दुलुस में बनी उमय्या अपने अधिकारियों को हज तक के लिए इस भय से जाने की अनुमति न देते थे कि कहीं वे बनी अब्बास के चंगुल में न फँस जायँ। इसी कारण बनी उमय्या के राज्यकाल में उनके पदाधिकारी हज तक न कर सके और बनी उमय्या के राज्यकाल के अन्त में मुलूकुत्तवाएफ़ के राज्यकाल में उन्हें मुक्ति प्राप्त हो सकी और वे हज कर सके।

दूसरा कारण यह है कि यदि बादशाह अपने विश्वासपात्रों को अपनी दासता

से किसी न किसी प्रकार मुक्त भी करना चाहें तो वे इस बात को किसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते कि वे उनके राज्य से कमायी हुई धन-सम्पत्ति भी ले जायँ। इस कारण बादशाह उनकी धन-सम्पत्ति को छीन लेते हैं और उन्हें खाली हाथ निकालते हैं। यह मान लिया जाय कि यदि वे किसी प्रकार छिप-छिपाकर एवं नज़र बचाकर धन-सम्पत्ति ले भागे, तो यह होता भी बहुत कम है, और दूसरे देश के बादशाह उनको नहीं छोड़ते, अपितु उन्हें अपने लाभ का साधन समझकर डरा-धमकाकर किसी आड़ में या खुल्लम-खुल्ला उनकी लायी हुई धन-सम्पत्ति छीन लेते हैं और उनको बुरी तरह चूस लेते हैं। उनका दृष्टिकोण यह होता है कि जो धन-सम्पत्ति उन लोगों के पास है, वह खराज का धन है जो सर्व-साधारण के हित पर व्यय होना चाहिए, किसी एक अथवा दो व्यक्तियों को अपने इच्छानुसार उसे व्यय करने का अधिकार नहीं है। वास्तव में बादशाहों के दूरदर्शी नेत्रों से कोई धन-सम्पत्ति किस प्रकार बच सकती है ? ये लोग जब लोगों के गाढ़े पसीने की कमायी हुई धन-सम्पत्ति को नहीं छोड़ते तो खराज एवं सल्तनत के इस्तेमाल में क्यों चूकेंगे, जहाँ शरा एवं प्रथा दोनों के ही अनुसार उन्हें हस्तक्षेप का अधिकार है।·······[१]

संक्षेप में धन-धान्यसम्पन्न लोगों का बादशाह के पंजे से निकल भागने का विचार केवल मिथ्या है। वे अधिक से अधिक अपने प्राण ही बचा सकते हैं, किन्तु धन-सम्पत्ति ले भागना और किसी अन्य देश में पहुँचकर उससे लाभ उठाने का प्रयत्न करना उनकी बहुत बड़ी भूल है। जीविकोपार्जन एवं रोज़ी के लिए उनको प्राचीन शाही सेवाएँ पर्याप्त हैं जो उन्हें शाही वृत्ति का पात्र बनाती हैं और उनके आदर-सम्मान को भी सुरक्षित रखती हैं। यदि वे व्यापार एवं कृषि में हाथ डालें तो उनमें भी उन्हें सफलता प्राप्त हो सकती है, किन्तु इसके लिए उन्हें संतोष एवं धैर्य की आवश्यकता है।

(४२) बादशाह के दान-पुण्य में कमी खराज की कमी की द्योतक है

इसका कारण यह है कि सल्तनत, संसार के लिए एक बड़े बाज़ार के समान है और आबादी एवं संस्कृति इसी पर अवलम्बित है। यदि बादशाह धन एवं खराज को रोक ले और आवश्यक मदों पर व्यय न करे अथवा उसके पास धन तथा खराज

१. यहाँ मग़रिब के इतिहास के कुछ उदाहरण दिये गये हैं, जिनका अनुवाद नहीं किया गया।

हो ही नहीं, तो ऐसी दशा में बादशाह के सहायक एवं उसकी सेनावाले धन से रहित हो जाते हैं। फिर उनसे उनके सम्बंधियों एवं सेवकों को जो कुछ आय होती है वह भी बन्द हो जाती है, कारण कि जब उनके व्यय में कमी हुई तो उनसे सम्बंधित सभी खर्चों में कमी हो जाना परमावश्यक है। जब देश का समृद्ध वर्ग, जो शालीनता की जान होता है और जिस पर बाजारों की समृद्धि वास्तव में निर्भर होती है, दान-पुण्य से वंचित होने लगता है तो दरिद्रता का युग प्रारम्भ हो जाता है। व्यापारियों के लाभ में कमी होने लगती है और फिर खराज में भी कमी आ जाती है। खराज एवं कर की वसूली के लिए यह आवश्यक है कि देश में लेन-देन एवं कारोबार का ज़ोर हो। उद्योग-धंधे तेज़ी से चल रहे हों। बाज़ारों में रौनक़ एवं चहल-पहल हो। लोग लाभ के लोभ में अधिक से अधिक पूंजी लगा रहे हों। यदि इस समृद्धि एवं सुख-सम्पन्नता में कमी होती है तो समस्त हानि राज्य को सहन करनी पड़ती है। सल्तनत की आय शोचनीय दशा तक घट जाती है, कारण कि ख़राज की वसूली कम हो जाने पर सल्तनत की आय कम हो ही जानी चाहिए।

हम कह चुके हैं कि राज्य, संसार के लिए एक बड़े बाज़ार के समान है। वह बाज़ारों की जड़ एवं नींव है और स्वयं अपने आय-व्यय पर जीवित रहता है। यदि वह कंगाल हो जाय और उसके व्यय घट जायँ तो बाज़ार इत्यादि, जो उसी पर निर्भर हैं, ठंडे पड़ जायँगे। वास्तव में प्रजा एवं बादशाह के बीच में धन-सम्पत्ति का उलट-फेर होता रहता है। धन-सम्पत्ति बादशाह से प्रजा तक पहुँचती है और फिर प्रजा द्वारा बादशाह तक आती है। यदि बादशाह कुछ व्यय न करे तो प्रजा अवश्य ही दरिद्र हो जायगी।

(४३) अत्याचार सभ्यता के विनाश का द्योतक है

लोगों की धन-सम्पत्ति का अपहरण उनकी आशाओं का अन्त कर देता है। उनकी धन-सम्पत्ति एकत्र करने की समस्त अभिलाषाएँ समाप्त हो जाती हैं। कारण कि वे समझ लेते हैं कि इधर माल हाथ लगा और उधर लुटा, मानो धन की प्राप्ति का फल निराशा हो। इसी प्रकार जब उनकी आशाएँ समाप्त हो जाती हैं एवं अभिलाषाएँ ठंडी पड़ जाती हैं तो वे धन कमाने से हाथ खींच लेते हैं। परिश्रम एवं प्रयत्न से पीछे हटते हैं। अत्याचार एवं शोषण यदि बड़े विस्तृत क्षेत्र में हो रहा हो तो उसका प्रभाव भी विस्तृत होगा। लोग जीविकोपार्जन के समस्त साधनों की ओर से निराश

होकर बैठ रहेंगे। इसके विपरीत यदि अत्याचार कम होगा तो उसका कुप्रभाव भी उसी के अनुसार कम तथा हलका होगा।

इधर यह भी सत्य है कि सभ्यता की उन्नति धन की अधिकता, बाज़ार एवं मंडियों की चहल-पहल, लोगों का उद्योग-धंधों में व्यस्त होकर जीविकोपार्जन करने का प्रयत्न, परिश्रम एवं दौड़-धूप पर निर्भर है। जब लोग जीविकोपार्जन की ओर से निराश एवं बद-दिल होकर, थककर बैठ जायँ और धन-सम्पत्ति पैदा करने की ओर से हाथ खींच लें तो बाज़ार ठंडे पड़ जाते हैं और देश की दशा शोचनीय हो जाती है। लोग जीविकोपार्जन एवं रोजी कमाने के लिए अन्य देशों को निकल जाते हैं। फलतः देश उजड़ने लगता है। नगर एवं क़सबे बसनेवालों से खाली हो जाते हैं। जब देश की दुर्दशा हो जाती है तो सल्तनत भी विनाश से बच नहीं सकती, कारण कि उसका अस्तित्व सभ्यता की उन्नति पर निर्भर है। यदि देश में उपद्रव होता है और ख़राबी पैदा होती है तो इससे देश की सभ्यता शीघ्र एवं अवश्य ही प्रभावित होती है।

इस प्रसंग में मसऊदी की वह कहानी शिक्षाप्रद है, जो उसने फ़ारसवालों के विषय में लिखी है। इसमें मोबेज़ान (फ़ारस वालों का मुख्य धार्मिक नेता) दार्शनिक बहराम बिन बहराम को उल्लू की एक कहानी सुनाकर अत्याचार से रोकता है तथा असावधानी से चेताता है। वह लिखता है कि एक दिन बहराम ने एक उल्लू की आवाज़ सुनकर मोबेज़ान से पूछा कि "तुम समझते हो कि यह क्या कह रहा है?" उसने उत्तर दिया कि "जी हाँ! एक नर उल्लू किसी मादा उल्लू से विवाह करना चाहता है। वह अपने महर में २० उजड़े हुए ग्रामों की माँग करती है। नर उल्लू इस शर्त को स्वीकार करते हुए कहता है कि यदि बहराम बादशाह का राज्य कुछ दिन और रह गया तो तू जो २० वीरान ग्राम ही चाहती है, मैं तुझे सहस्रों वीरान गाँव दे दूँगा।" यह सुनकर बहराम एक दम चौंक पड़ा और मोबेज़ान से एकान्त में पूछने लगा कि "बताओ, तुम्हारा इससे क्या तात्पर्य है?" उसने उत्तर दिया— "बादशाह! याद रखो कि देश की उन्नति, आदर-सम्मान एवं उसका अस्तित्व धर्म के नियमों के पालन पर निर्भर है। इसका सम्बन्ध ईश्वर की आज्ञाकारिता पर कटिबद्ध होने और उसके आदेशों के अनुसार जीवन निर्वाह करने पर निर्भर है। धर्म के नियमों का अस्तित्व बादशाह के कारण है। बादशाह की इज़्ज़त प्रजा पर निर्भर है। प्रजा का जीवन, धन-सम्पत्ति से है और धन-सम्पत्ति देश की आबादी एवं रौनक़ से प्राप्त होती है। आबादी न्याय एवं इंसाफ़ के सिद्धान्तों पर ज़िन्दा

रहती है। न्याय एवं इंसाफ़ एक तराज़ू का नाम है जिसको ईश्वर ने प्राणियों के लिए सिरजा है और उसकी नाप-तोल के लिए बादशाह को नियुक्त किया है। अब हे बादशाह ! तुम ज़रा सोचो कि तुमने भूमि के स्वामियों को उनकी उन भूमियों से, जो उनको आबाद रखती थीं और जो ख़राज अदा करके देश की आय में वृद्धि किया करती थी, वंचित कर दिया है। तुमने उनकी भूमि को उनसे छीनकर अपने सेवकों, दासों एवं विश्वास-पात्रों को दे दिया है। उन लोगों ने भूमि को नष्ट किया और उजाड़ दिया। तुमने इसके दुष्परिणाम की ओर से उपेक्षा की और भूमि के सुधार की ओर कोई ध्यान न दिया। फिर उनसे इस कारण कि वे बादशाह के दरबारी एवं विश्वास-पात्र थे, ख़राज की वसूली में भी उपेक्षा की। खेद है कि जो लोग ख़राज अदा करते तथा भूमि को आबाद करते थे, वे बेचारे अपनी भूमियों से वंचित होकर देश छोड़-कर भाग गये और उन्होंने वीरानों में स्थान ग्रहण किया और वहीं जाकर बस गये। इस कारण देश की जनसंख्या कम हुई। ज़मीनें परती पड़ी रह गयीं और उजड़ती गयीं। देश की आय घट गयी। सेना एवं प्रजा नष्ट हो गयी। अन्त में फ़ारस के आस-पास के राजाओं ने फ़ारस पर लालच की दृष्टि डालनी प्रारम्भ कर दी है, कारण कि वे समझ गये हैं कि फ़ारस के राज्य की नींव खोखली हो गयी है।"

बहराम ने जब यह करुणामय घटनाएँ सुनीं तो वह अपने देश की दशा पर ग़ौर करने लगा। उसने अपने विश्वासपात्रों को प्रदान की हुई ज़मीनें छीनकर उनके प्राचीन स्वामियों को दे दीं और प्राचीन प्रथाओं का पुनरुद्धार किया। जब भूमि के प्राचीन स्वामियों को उनकी भूमि मिल गयी तो वे उसे पुनः समृद्ध करने में लग गये। उनमें से जो भूमि छिन जाने के कारण दरिद्र हो गये थे, वे संपन्न एवं धनी बन गये। भूमि आबाद हो गयी। देश हरा-भरा एवं उन्नत हो गया। ख़राज वसूल करनेवालों के पास धन-सम्पत्ति के ढेर लग गये। सेना एवं लश्कर के वैभव में उन्नति हो गयी। शत्रु हताश हो गये। सीमांतों पर सेनाओं के पहरे लग गये। बादशाह शान्तिपूर्वक अपने कार्यों में व्यस्त हो गया। इस प्रकार बादशाह की भी दशा सुधरी और उसका राज्य सुव्यवस्थित हो गया, अतः इस कहानी से स्पष्ट रूप में यह निष्कर्ष निकलता है कि अत्याचार सभ्यता की जड़ काटता है, परिणामतः विनाश की विपत्ति सल्तनत पर टूट पड़ती है और वह नष्ट हो जाता है।

चूँकि कभी-कभी बड़े-बड़े नगरों पर राज्य की ओर से घोर अत्याचार होने पर भी वे नष्ट नहीं होते, अतः इससे कोई भ्रम न हो जाना चाहिए। इसका कारण इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि अत्याचार एवं पीड़ित बस्तियों में विशेष सम्बन्ध होता

है। यदि नगर बहुत बड़ा और जनसंख्या अधिक होती है और उसका प्रभाव दूर-दूर तक फैला होता है, तो उस पर हुए अत्याचारों का प्रभाव कम दृष्टिगत होता है। सभ्यता में कमी तो प्रारम्भ हो ही जाती है, किन्तु शनैः-शनैः, क्योंकि नगर के मामले बहुत विस्तृत होते हैं और उसके कारोबार की संस्थाएँ देश के बहुत बड़े क्षेत्र तक पहुँची होती हैं, अतः देश की वीरानी के स्पष्ट चिह्न अधिक समय उपरान्त ही वहाँ दृष्टिगत होते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि नगर में विनाश के चिह्न गुप्त रूप से प्रारम्भ हो जाते हैं, किन्तु इससे पूर्व कि अत्याचारी सल्तनत के हाथों नगर पूरी तरह नष्ट हो, स्वयं सल्तनत नष्ट हो जाती है और दूसरी सल्तनत उसका स्थान ले लेती है। यह दूसरी सल्तनत आबादी में नयी जान डालती है और वह उन दोषों एवं ख़राबियों को, जो दृष्टि से ओझल होकर नगर की जड़ें काट रही थीं, दूर करती हैं। इस प्रकार विनाश के गुप्त चिह्नों पर आवरण ही पड़ा रह जाता है और नगर देखते-देखते अपनी खोयी हुई शोभा पुनः प्राप्त कर लेता है। लोग समझते हैं कि नगर अपनी पहली दशा में ही चल रहा है। संक्षेप में अत्याचार का प्रभाव सभ्यता पर अवश्य पड़ा करता है और फिर उसकी विनाशक लपटें राज्य को भी छू लेती हैं।

साथ-साथ यह भी याद रखना चाहिए कि अत्याचार किसी की धन-सम्पत्ति छीन लेने और किसी की भूमि पर अकारण अधिकार जमाकर उसे भूमि से वंचित कर देने तक ही सीमित नहीं होता, अपितु उसका क्षेत्र बड़ा विस्तृत होता है। किसी का दूसरे की सल्तनत एवं हुकूमत को छीन लेना, अपहरण, अनुचित माँग, किसी को वह उत्तरदायित्व सौंप देना जिसकी अनुमति शरीअत द्वारा नहीं प्राप्त है, यह सब अत्याचार के विभिन्न रूप हैं। जिसने यह सब कुछ किया उसने अत्याचार किया। इसी प्रकार जिसने अकारण किसी पर कर लगाया, अथवा इस सम्बंध में अनुचित रूप से कठोरता प्रदर्शित की, उसने अत्याचार किया। जिसने किसी का माल लूटा-खसोटा, उसने अत्याचार किया, जिसने किसी के न्याय की प्राप्ति में विघ्न डाला, उसने भी अत्याचार किया। साधारणतः लोगों की धन-सम्पत्ति का अपहरण करनेवाला अपहरणकर्त्ता ही है। इन सबके सभी दुष्कर्मों का दुष्परिणाम राज्य को भोगना पड़ता है, कारण कि उनसे सभ्यता मिटती है, लोगों की आशाओं एवं अभिलाषाओं पर पानी फिर जाता है, तथा लोगों के जोश एवं उत्साह ठंडे पड़ जाते हैं। जब सभ्यता मिटती है तो सल्तनत भी, जिसकी शोभा एवं अस्तित्व उसी पर आधारित हैं, नष्ट हो जाती है।

शरीअत ने जो अत्याचार को हराम कर दिया है, तो उसमें भी यही रहस्य है कि यदि अत्याचार संसार में प्रचलित होता है तो संसार की सभ्यता मिटती है, वीरानी फैलती है और मानव जाति की वे जड़ें, जिनकी रक्षा का शरीअत ने प्रत्येक प्रकार सेध्यान रखा है, कटती हैं। विशेष रूप से पाँच आवश्यक उद्देश्यों, अर्थात् धर्म, आत्मा, जीवन, बुद्धि, संतान एवं धन की रक्षा से भी इस सिद्धांत का विशेष सम्बन्ध है। जब ज्ञात हो गया कि अत्याचार संसार की सभ्यता को मिटाकर मानव-जाति के विनाश का कारण बनता है, तो उसे बड़ा ही ख़तरनाक समझना चाहिए। इसी प्रकार उसका दंड भी बहुत बड़ा होता है। क़ुरान शरीफ़ एवं हदीस दोनों उसकी बुराइयों एवं तत्सम्बन्धी दंड से परिपूर्ण हैं। अत्याचार एवं अन्य पापों में अन्तर है, अतः उसके सम्बन्ध में शरीअत के आदेश भी पृथक् हैं। इसी प्रकार परस्त्री-गमन, हत्या एवं मदिरापान के अपराध के लिए अलग-अलग दंड निश्चित किये गये हैं, कारण कि इन अपराधों पर प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार प्राप्त है और अत्याचार तो वही कर सकता है जिसमें कुछ शक्ति भी हो। शक्तिहीन किसी पर क्या अत्याचार करेगा। वह उस अत्याचार का, जो उस पर हो रहा हो, निराकरण नहीं कर सकता। इसी दृष्टिकोण से अत्याचार की घोर निंदा की गयी है और उसके लिए कठोर दंड निश्चित किये गये हैं, ताकि प्रत्येक व्यक्ति, जिसमें शक्ति हो, अत्याचार की ओर क़दम बढ़ाते हुए काँपे।

हमने जो इस तथ्य का उल्लेख किया तो इस पर यह सन्देह न किया जाय कि शरीअत ने युद्ध एवं हत्याकांड के लिए कठोर दंड निश्चित किये हैं, हालाँ कि युद्ध एवं हत्याकांड शक्तिशाली लोगों के अत्याचार हैं। इस सन्देह का उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है। एक यह कि शरीअत की ओर से केवल उस आचरण पर दंड दिया जाता है जिससे किसी व्यक्ति अथवा किसी के धन का विनाश हो। इस्लाम के अधिकांश आलिमों का यही मत है और यह स्थिति उस समय हो सकती है जब कि अपराध हो चुका हो। युद्ध में यह बात नहीं होती, अतः इसके लिए दंड किस प्रकार निश्चित हो सकता है। दूसरी तरह से उत्तर यह है कि युद्ध करनेवाले को अधिकार-सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। अधिकार-सम्पन्न अत्याचारी तो वह है जो बिना किसी रोक-टोक के किसी पर पूरा अधिकार रखता हो और यही अधिकार वास्तव में सभ्यता के उजड़ने का कारण बनता है। युद्ध करनेवाले में यह शक्ति नहीं होती। वह तो केवल डरा-धमकाकर धन ऐंठना चाहता है और शरा के अनुसार उससे रक्षा की प्रत्येक को शक्ति प्राप्त है, अतः उसकी शक्ति सभ्यता के विनाश का कारण नहीं बन सकती।

सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए सबसे बड़ा अत्याचार प्रजा से बेगार में काम लेना है। रोज़ी के अध्याय में हम इस बात को स्पष्ट करेंगे कि लोगों के काम-काज तथा व्यापारिक कारोबार उनके लिए धन-सम्पत्ति एवं जीविकोपार्जन के आवश्यक साधन हैं। इसे इस प्रकार समझ लीजिए कि लोगों को जो कुछ भी रोज़ी मिलती है वह उनके काम-काज एवं कारोबार का मूल्य है। बस्तियों में लोग परिश्रम एवं मज़दूरी करके ही जीविकोपार्जन करते हैं। जब उनकी मेहनत एवं मज़दूरी का उनको कोई बदला अथवा पारिश्रमिक न मिले तो उनके जीविकोपार्जन के द्वार बन्द हो जाते हैं और उनके प्रयत्न एवं परिश्रम व्यर्थ हो जाते हैं। जीविकोपार्जन एवं रोज़ी से उनके हाथ ख़ाली हो जाते हैं। उनकी समस्त धन-सम्पत्ति छिन जाती है और वे बरबाद हो जाते हैं। यदि इसी प्रकार का व्यवहार उनसे बार-बार किया जाय तो उनकी आशाएँ एवं अभिलाषाएँ समाप्त हो जाती हैं।

इससे भी बड़े अत्याचार का उदाहरण, जो सभ्यता को भी नष्ट करे और सल्तनत को भी तबाह करे, यह है कि सल्तनत लोगों की धन-सम्पत्ति को राज्य के दबाव द्वारा सस्ते मूल्य पर क्रय करे और फिर ज़बरदस्ती अधिक से अधिक मूल्य पर उनको दे डाले। कभी ऐसा होता है कि सस्ते मूल्य पर चीज़ें क्रय करके देश में चारों ओर बाँट दी जाती हैं और एक निश्चित अवधि पर उनका मूल्य लोगों को अदा करना पड़ता है। जब लोग राज्य द्वारा अधिक मूल्य पर क्रय किये हुए माल को बाज़ार में लाते हैं तो वह बाज़ार के भाव पर कम मूल्य में बिकता है। इस प्रकार राज्य के अत्याचार के कारण व्यापारी हर प्रकार से हानि उठाते हैं, अर्थात् मँहगा लेते हैं और सस्ता बेचते हैं। इस तरह उनकी मूल पूँजी भी समाप्त होने लगती है। कभी-कभी यह कष्ट बहुत व्यापक होता है। प्रत्येक स्थानीय व्यापारी, चाहे वह दूकानदार हो चाहे बाहर का ख़रीदार, मेवा बेचनेवाला हो चाहे अनाज-बेचनेवाला, शिल्पकार हो अथवा कोई अन्य व्यवसायवाला, इस अत्याचार से नहीं बचता। इस प्रकार निरन्तर कष्ट में फँसे रहने के कारण बेचारे व्यापारियों की मूल पूँजी की ही हानि होने लगती है। अब उनके लिए व्यापार बन्द कर देने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं रहता। उनकी आशाओं का सहारा उनकी मूल पूँजी थी। जब तक वह बाक़ी रही, लाभ की आशा में वे उसे बार-बार कारोबार में लगाते रहे और हानि उठाते रहे, किन्तु जब पूँजी ही समाप्त हो गयी, तो विवश होकर कारोबार से हाथ उठा लेना पड़ता है। उधर बाहरी व्यापारी भी लेन-देन में हानि उठाकर उस ओर मुख नहीं करते। फलतः देश में निराशा फैल जाती है।

प्रजा का रोज़गार नष्ट हो जाता है, कारण कि प्रजा की जीविका का साधन क्रय-विक्रय एवं व्यापारिक लेन-देन है। जब बाज़ार एवं कारोबार में हानि होने लगती है तो सल्तनत का खराज भी कम हो जाता है और धीरे-धीरे वह पूर्णतः समाप्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि सल्तनत के मध्य-युग अथवा उसके बाद के युग में खराज का अधिकांश भाग चुंगी अथवा करों द्वारा प्राप्त होता है। जब खराज को भी ठेस लगती है तो सल्तनत के ताने-बाने ढीले पड़ जाते हैं और वह नष्ट हो जाती है। उधर सभ्यता नष्ट-भ्रष्ट होती है। फिर ये सारे विघ्न एवं हानियाँ शनैः-शनैः परदे के पीछे अपना कार्य करती रहती हैं और हुकूमत एवं सभ्यता की जड़ें खोखली करती रहती हैं, और किसी को इनका ज्ञान तक नहीं होता। यह विनाश उस समय होता है जब सल्तनत कमाने के साधन एकत्र करके प्रजा की धन-सम्पत्ति लूटने-खसोटने लगती है और उनको नंगा एवं कंगाल कर देती है। यदि वह अकारण अत्याचार एवं ज़ुल्म द्वारा लोगों की धन-सम्पत्ति छीनने-झपटने पर तुल जाय, उनके अन्तःपुर का अपमान करे, उनके प्राणों को नष्ट करे, उनकी मर्यादा को ठेस पहुँचाये, तो सल्तनत में क्षण भर में विघ्न पड़ जाता है और देखते-देखते राज्य का तख़्ता उलट जाता है। देश में ऐसी अशान्ति फैल जाती है जो रोके नहीं रुकती। इस प्रकार इन्हीं विनाशकारक खतरों को दृष्टि में रखते हुए शरीअत ने उपर्युक्त अत्याचारों का निराकरण किया है और उन्हें हराम बताया है। क्रय-विक्रय में लोगों की धन-सम्पत्ति पर अनुचित रूप से अधिकार जमाने का निषेध किया है, ताकि उन खतरों की रोक-थाम हो सके जो सभ्यता को नष्ट करते हैं एवं अर्थव्यवस्था की जड़ काटते हैं।

अब रही यह बात कि बादशाह लोगों की धन-सम्पत्ति को अकारण क्यों ऐंठने एवं उन्हें चूसने लगता है, तो इसका कारण यह है कि बादशाहों की धन-सम्पत्ति एकत्र करने की लिप्सा बढ़ जाती है। वे धन के भूखे हो जाते हैं। उनका भोग-विलास उनके व्यय को दुगुना-चौगुना कर देता है, जिसे चलाने के लिए उन्हें अधिक से अधिक खराज की आवश्यकता होती है। उनकी सीमित आय से उनका जीवन-निर्वाह नहीं होता। विवश होकर वे ऐसे उपाय सोचते एवं ऐसे मार्ग टटोलते हैं जिनसे उनकी आय उनके बढ़ते हुए व्यय को पूरा कर सके, किन्तु उनकी विलासप्रियता किसी एक केन्द्र एवं सीमा पर नहीं ठहरती, अपितु नित्य-प्रति बढ़ती रहती है। इसी के साथ-साथ वे खराज में भी वृद्धि करते रहते हैं और अधिक से अधिक धन की इच्छा किया करते हैं। वे जितना प्रजा को धन की वसूली के लिए निचोड़ते हैं,

उतना ही राज्य में विघ्न बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि राज्य एक दिन समाप्त हो जाता है और कोई शत्रु उसको हड़प कर लेता है।

(४४) सल्तनतों में बादशाह के पास पहुँचने पर किस कारण प्रतिबन्ध लगता है और सल्तनत के पतन की ओर अग्रसर होने पर यह प्रथा किस प्रकार ज़ोर पकड़ती है

ज्ञात होना चाहिए कि सल्तनत प्रारम्भ में अधिक आडम्बरों एवं बनावट से दूर तथा अछूती रहती है, कारण कि सल्तनत को शुरू में अपने पाँव जमाने एवं अपना सम्मान तथा प्रभुत्व फैलाने के लिए "असबियत" की अत्यधिक आवश्यकता होती है तथा "असबियत" "बदवियत" चाहती है और "बदवियत" आडम्बरों एवं सांस्कृतिक दिखावटी कार्यों से दूर ही रहती है। यदि सल्तनत धार्मिक सिद्धान्तों पर पूर्णतः स्थापित है तो धार्मिक आवश्यकताओं के कारण, वह देश के सांस्कृतिक अधिनियमों से बचती ही रहती है। यदि सल्तनत केवल अपहरण एवं अन्य देशों को विजय करने के सिद्धान्तों पर खड़ी है, तो उस समय "बदवियत" ही बाधक होती है और उसको टेढ़े विधानों एवं नियमों में नहीं उलझने देती, अतः जब तक सल्तनत, "बदवियत" के युग से गुज़रती है, सुल्तान् सीधा-सादा बदवी रहता है। लोगों से बिना किसी दिखावे के मिलता-जुलता है। बादशाह के पास लोगों के आने-जाने की आम इजाज़त होती है। इसके बाद जब बादशाह कुछ आदर-सम्मान प्राप्त कर लेता है तो साधारण लोगों से पृथक् रहने लगता है और केवल अपने विश्वास-पात्रों तथा दरबारियों से ही खुलकर मिलता-जुलता है। वह साधारण लोगों के साथ मिलने की ओर से उपेक्षा करने लगता है और जहाँ तक होता है, उनसे बचने का प्रयत्न किया करता है। द्वार पर पहरे बैठाता है और एक द्वारपाल रखता है, जिसका कर्तव्य यह होता है कि ऐसे लोगों को द्वार में न घुसने दे जिन पर बादशाह को विश्वास न हो, चाहे वे उसके मित्र हों अथवा उच्च पदाधिकारी।

जब सल्तनत उन्नति करती हुई आगे बढ़ती है तो अपने लिए शासन-विधान एवं राज्य के सिद्धान्त बनाती है। बादशाह भी अपना रंग बदलता है। बड़े-बड़े सुल्तानों के समान आदतें पैदा कर लेता है। शाहाना आन-बान एवं विशेष नियमों तथा आदतों से घिर जाता है। शाही दरबार के शिष्टाचार के नियम निश्चित होते हैं। शाहाना अभिवादन एवं वार्तालाप के नियमों एवं सिद्धांतों का आविष्कार किया जाता है और फिर उन पर बड़ी कठोरता से आचरण होता है। उनका बाल-बराबर भी विरोध

नहीं किया जाता। यदि किसी ने भूलकर भी तत्सम्बन्धी नियमों एवं आदेशों की अवहेलना की, तो बादशाह के हृदय में अत्यधिक क्रोध उत्पन्न हो जाता है और कभी-कभी वह बदला लेने तथा कष्ट पहुँचाने तक के लिए उद्यत हो जाता है। अतः बादशाह के विशेष मित्र ही इन नियमों से भली-भाँति परिचित होते हैं और उनकी भूल-चूक की सम्भावना नहीं रहती। इस कारण अन्य लोगों को बादशाह के पास उपस्थित होने से रोका जाता है कि कहीं कोई बादशाह के पास पहुँचकर असभ्य रूप से व्यवहार न कर बैठे और फिर बादशाह के कोप एवं रोष का पात्र न बने। अतः इस भेद-भाव के लिए भी एक हाजिब नियुक्त होता है जो पहले प्रकार के हाजिब से पृथक् होता है और उसका विशेष उत्तरदायित्व रहता है।

प्रथम हाजिब बादशाहों एवं सुल्तानों के पास उनके विश्वास-पात्रों को भीतर प्रविष्ट होने की अनुमति देता है और अन्य लोगों को द्वार पर ही रोक लेता है। दूसरा हाजिब उस स्थान पर खड़ा रहता है जहाँ राज्य के उच्च पदाधिकारी आसीन होते हैं। वह इस दरबार में उनके अतिरिक्त किसी साधारण व्यक्ति को प्रविष्ट नहीं होने देता। प्रथम प्रकार का हाजिब सल्तनत के प्रारम्भिक युग में होता है, जब कि वह आडम्बरपूर्ण तथा बनावटी रूप नहीं धारण करती।

मुआविया, अब्दुल मलिक एवं बनी उमय्या के खलीफ़ाओं के युग में इसी प्रथम हाजिब का पता चलता है और शब्दकोश एवं शब्दोत्पत्ति के अनुसार इसी को वास्तव में हाजिब कह सकते हैं। इसके उपरान्त जब बनी अब्बास को प्रमुख प्रभुत्व प्राप्त हुआ और उन्होंने शाहाना ऐश्वर्य एवं गौरव तथा ठाट-बाट का प्रयोग शुरू किया, तो खली-फ़ाओं में बादशाहों सरीखी आदतें पैदा हुईं और दूसरा हाजिब भी रखा गया। फिर अब्बासी राज्यकाल में दरबार के लिए दो भवन निश्चित हुए। एक विशेष व्यक्तियों के लिए और दूसरा सर्वसाधारण के लिए।

फिर सल्तनतों में एक तीसरा हाजिब भी नियुक्त हुआ, जिसका कर्त्तव्य उपर्युक्त हाजिबों से पृथक् था। यह प्रथा उस समय प्रारम्भ हुई जब बादशाह के अधिकार छीनकर उसे एक कोने में बैठा देना निश्चित कर लिया गया और जब बादशाह के विश्वासपात्र एवं उच्च पदाधिकारी उसके किसी वंशज को नाम के लिए सिंहासनारूढ़ करके उस पर पूरा-पूरा अधिकार रखना चाहते थे। वे सर्वप्रथम उसकी संतान, मित्रों एवं विश्वासपात्रों को बादशाह के पास जाने से रोक देते हैं और उनके प्रवेश पर कठोर प्रतिबंध लगा देते हैं। वे बादशाह को यह समझा देते हैं कि यदि आप इन लोगों से स्वतंत्रतापूर्वक मेल-जोल रखेंगे तो आपका सम्मान एवं आपका आतंक

लोगों के हृदय से समाप्त हो जायगा और अनुशासन सम्बन्धी नियमों में बड़ा विघ्न पड़ेगा। इस युक्ति का उद्देश्य यह होता है कि बादशाह अन्य लोगों से भेंट न कर सके और उसे एकान्तवास की ऐसी आदत पड़ जाय कि उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन न हो सके।

इस प्रकार उन्हें अपने उद्देश्यों में सफलता मिल जाती है और वे सब पर स्वतंत्र रूप से अधिकार प्राप्त कर लेते हैं।

तीसरी हिजाबत प्रभुत्व एवं स्वतंत्र अधिकार प्राप्त करने का साधन होती है। अधिकांश सल्तनतों का जब अन्तिम काल प्रारम्भ होता है, तो यह प्रथा भी प्रारम्भ होती है। यह प्रथा इस बात का खुला चिह्न है कि राज्य अब अपनी वृद्धावस्था में प्रविष्ट हो गया है और समाप्त होनेवाला है। बादशाह को स्वयं ऐसी दशा में अपने प्राण का भय होता है, कारण कि जब सल्तनत कमज़ोर पड़ती है और बादशाह की संतान का प्रभुत्व समाप्त हो जाता है तो राज्य के उच्च पदाधिकारी एवं विश्वासपात्र राज्य की बागडोर सँभाल लेते हैं और पूर्ण रूप से स्वाधीनता का दावा करने लगते हैं। स्वाधीनता की आदत स्वाभाविक रूप से सभी को होती है। वे इससे किसी प्रकार नहीं बच सकते, और फिर ऐसी दशा में, जब कि प्रभुत्व एवं स्वतंत्र अधिकार प्राप्त करने के सभी साधन एकत्र हों।

(४५) एक सल्तनत का दो सल्तनतों में विभाजित हो जाना

यह बात ज्ञात रहनी चाहिए कि सल्तनत का दो भागों में विभाजित हो जाना उसकी कमज़ोरी के चिह्नों की प्रथम कड़ी है। जब सल्तनत की अत्यधिक उन्नति हो जाती है और भोग-विलास एवं समृद्धि अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है तो बादशाह समस्त गौरव एवं श्रेष्ठता तथा माहात्म्य की मूर्ति बन जाता है और किसी को अपना साझीदार नहीं समझता। किसी अन्य का लेश मात्र भी सहायक बनना उसे रुचिकर नहीं होता। वह उन साधनों की जड़ काटने लगता है जो किसी समय बराबरी का दावा कर बैठते हैं। उधर उन्हीं लोगों में से कोई व्यक्ति ऐसी प्रतिकूल दशा देखकर बादशाह के पास से भाग निकलता है और देश के किसी दूरस्थ भाग में पहुँचकर उन लोगों से मिल जाता है जो उसी की श्रेणी में सम्मिलित होते हैं, अर्थात् बादशाह उनकी ओर से भयभीत होता है और वे बादशाह की ओर से। ये सब एक भावनाओं एवं एक ही विचार के लोग राज्य के दूरस्थ भागों में अपना प्रभाव एवं प्रभुत्व जमाने लगते हैं और केन्द्रीय राज्य का क्षेत्र संकीर्ण होने लग जाता है। फलतः बादशाह का

यह निकल भागनेवाला निकटवर्ती सम्बन्धी अपना एक स्थायी राज्य स्थापित कर लेता है और अपने प्रभुत्व को बढ़ाते-बढ़ाते बादशाह के राज्य के टुकड़े कर डालता है और कुछ भागों पर स्वयं अधिकार जमा लेता है।

देख लीजिए कि एक समय अरबी-इस्लामी सल्तनत की पूरी शक्ति बनी हुई थी। उसकी हुकूमत दूर-दूर तक फैली हुई थी। अब्द मनाफ़ की "असबियत" समस्त मुज़र क़बीलों पर अपने अधिकार जमाये हुए थी। उस समय किसी को खिलाफ़त के विरुद्ध साँस लेने की शक्ति न हो सकी। केवल ख़ारजियों ने कुछ सिर उठाया था और वह भी देश एवं राज्य की अच्छाई में नहीं, किन्तु उनकी भी दाल नहीं गली, कारण कि उनके मार्ग में ऐसी "असबियत" बाधक थी जिसका वे मुक़ाबला न कर सकते थे। उसने इनका दमन कर दिया। इसके बाद जब बनी उमय्या के हाथ से राज्य निकलकर बनी अब्बास के हाथ में पहुँचा, तो वे दीर्घ काल तक बड़े ऐश्वर्य एवं गौरव से राज्य करते रहे। अन्त में उन्होंने शाही आडम्बर एवं प्रदर्शन को उनकी चरम सीमा पर पहुँचा दिया, उनकी सल्तनत सीमान्त से केन्द्र की ओर सिमटने एवं सिकुड़ने लगी और नित्य-प्रति उनके प्रभुत्व का क्षेत्र कम होता गया। अब्दुर्रहमान प्रथम अद्दाखिल ने उन्दुलुस पर अधिकार जमा लिया और एक स्थायी राज्य की नींव डाली। फिर बढ़ते-बढ़ते उसने पूरी सल्तनत के आधे भाग पर अधिकार जमा लिया और एक इस्लामी राज्य के स्थान पर दो राज्य स्थापित हो गये। मग़रिब में इदरीस ने अपना अधिकार जमाया और राज्य की नींव डाली। उसके उपरान्त उसके पुत्र ने अवरबह, मग़ीलह एवं ज़नाता बरबरों पर अधिकार जमाकर दोनों मग़रिबों[1] को अपने अधीन कर लिया। फिर अब्बासी राज्य का क्षेत्र और भी सीमित हुआ और इफ़रीक़िया में अग़ालेबा ने स्वाधीनता प्राप्त कर ली। उसके बाद शीआ[2] उठ खड़े हुए और कुतामा एवं सिनहाजा ने उनकी सहायता की और सब मिलकर इफ़रीक़िया, मग़रिब, फिर मिस्र, शाम तथा हिजाज़ पर छा गये और इदरीसियों पर भी अधिकार जमा लिया। इस प्रकार उन्होंने सल्तनत के तीन भाग कर डाले।

अब्बासियों की सल्तनत तो अरब के केन्द्रीय स्थान एवं उनके मूल स्थान पर स्थापित रही, किन्तु उधर बनी उमय्या ने उन्दुलुस में अपने प्राचीन राज्य के नमूने पर नये राज्य की रूपरेखा तैयार की। उबैदीईन ने इफ़रीक़िया, मिस्र, शाम एवं हिजाज़

१. मोराको तथा अलजीरिया।
२. फ़ातेमी (उबैदीईन)।

पर अपना अधिकार जमाया। ये तीनों सल्तनतें कुछ दिन तो इसी प्रकार स्थापित रहीं, फिर अन्त में एक साथ अथवा कुछ आगे-पीछे समाप्त हो गयीं।

इसी प्रकार अब्बासियों के राज्य के अन्य टुकड़े हुए। हमदानियों ने अपना पृथक् राज्य स्थापित किया। बनू उक़ैल जज़ीरे तथा मोसल में उनके उत्तराधिकारी बने। मिस्र एवं शाम में तूलूनी तथा उनके उत्तराधिकारी बनू तुग़श (इख़शीदी) हुए, सुदूर पूर्व में मावरउन्नहर तथा ख़ुरासान में सामानी हुए, अलवी[1] दैलम तथा तबरिस्तान में हुए। अन्त में दैलम ने फ़ारस, दोनों इराक़ों, यहाँ तक कि बग़दाद तथा ख़लीफ़ा तक पर अधिकार जमा लिया। फिर सलजूक़ आये। उन्होंने उस पूरे भू-भाग पर अधिकार जमा लिया। बाद में उन्नति के शिखर पर पहुँचकर, जैसा कि इतिहास से पता चलता है, उनकी सल्तनत के भी टुकड़े-टुकड़े हो गये।

मग़रिब एवं इफ़रीक़िया के सिनहाजा राज्य की भी यही दशा हुई। जब बादीस बिन मंसूर के समय में यह चरम सीमा को पहुँच गयी तो बादीस के चाचा हम्माद ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और मग़रिब को अवरास पर्वत, तलेमसान तथा मालवीया नदी से पृथक् करते हुए अपना राज्य अलग स्थापित कर लिया। उसने कुतामह् पर्वत में मसीलह् के समीप क़लआ बसाया और वहाँ निवास करना प्रारम्भ कर दिया। साथ ही तित्तेरी पर्वत के अशीर पर भी अधिकार जमा लिया। इस प्रकार बादीस से अलग होकर उसका राज्य चला। बादीस का वंश क़ैरवान तथा उसके आस-पास राज्य करता रहा, यहाँ तक कि दोनों की शक्ति नष्ट हो गयी।

मुवह्हेदीन के राज्य की भी यही दशा रही, वह भी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचने के उपरान्त जब सिकुड़ने लगा तो इफ़रीक़िया में बनू अबी हफ़्स ने विद्रोह करके अपना स्थायी राज्य स्थापित कर लिया और भावी संतानों के लिए उसके आस-पास अपना प्रभाव बढ़ाया। जब उनका गौरव चरम सीमा पर पहुँच गया तो दूर-दूर तक उन्हीं का डंका बजने लगा। उन्हीं की संतान में से, अबू ज़करिया यहया बिन अस्सुल्तान अबी इसहाक़ इबराहीम, उनके चौथे ख़लीफ़ा ने पश्चिमी प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया और बजाया कान्सटैन्टाइन एवं आस-पास के स्थान मिलाकर अपना राज्य अलग स्थापित कर लिया। इस प्रकार राज्य दो भागों में विभाजित हो गया। फिर बजाया के हाकिमों ने तूनुस को भी अपने प्रभुत्व के अधीन कर लिया। इसके उपरान्त राज्य उसकी संतान में विभाजित हो गया।

१. ज़ैदिया।

कभी-कभी सल्तनत दो-तीन से भी अधिक भागों में बँट जाती है। जिस प्रकार उन्दुलुस में मुलूकुत्तवाएफ़ के प्रभुत्व के समय राज्य के कई भाग हो गये, वही दुर्दशा पूर्व में अजम के बादशाहों एवं इफ़रीक़िया में सिनहाजा की सल्तनतों की हुई। सिनहाजा के राज्य की तो इतनी दुर्दशा हो गयी कि अन्त में इफ़रीक़िया के प्रत्येक क़िले में एक स्वतंत्र शासक होने लगा। यही दुर्दशा इफ़रीक़िया में जरीद एवं ज़ाब की हुई जिसका अध्ययन आप आगे के पृष्ठों में करेंगे।

संक्षेप में प्रत्येक सल्तनत उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचकर कमज़ोरी एवं पतन के गर्त की ओर बढ़ती है और अपना दामन केन्द्र की ओर समेटने लगती है। राज्य के निवासियों में से कोई न कोई व्यक्ति उठ खड़ा होता है और उसके कुछ भागों पर अधिकार जमाकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालता है।

(४६) सल्तनतों में कमज़ोरी पैदा होने के उपरान्त अटल हो जाती है

हम पहले के पृष्ठों में उन समस्त कारणों का एक-एक करके उल्लेख कर चुके हैं जो सल्तनत के पतन एवं उसकी अन्तिम नाजुक दशा के सूचक होते हैं। साथ ही साथ यह भी लिखा जा चुका है कि ये कारण सल्तनत म स्वतः एवं स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सल्तनत में शक्तिहीनता उत्पन्न होना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि प्राणियों के लिए वृद्धावस्था। यह ऐसा रोग है जिसका उपचार असम्भव है, कारण कि यह स्वाभाविक बात है और स्वाभाविक बात अटल है और उसका उपचार सम्भव नहीं। कुछ बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ अपने विवेक से ताड़ जाते हैं कि सल्तनत में शक्तिहीनता उत्पन्न होने लगी है और वह युवावस्था से निकलकर वृद्धावस्था में प्रविष्ट हो रही है। वे इस बात को समझकर कि इस कमज़ोरी का अन्त किया जा सकता है, उसके दूर करने एवं सुधार करने का प्रयत्न करने लगते हैं। उन्हें यह भ्रम रहता है कि सल्तनत की शोचनीय दशा पूर्वगामी सुल्तानों की अपेक्षा असावधानी का परिणाम है हालाँ कि उनके इस विचार में कोई तथ्य नहीं होता और इस ओर सुधार के प्रयत्न करने से भी कोई लाभ नहीं होता, कारण कि सल्तनत की कमज़ोरी एवं पतन स्वाभाविक होता है। इस कार्य में किसी का कोई हाथ नहीं होता और उसे रोकने में वे आदतें बाधक होती हैं जो पूर्ण रूप से राज्य या व्यक्ति की प्रकृति का अंश बन जाती हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति अपने पिता एवं पितामह को रेशम एवं दीबा धारण करते हुए पाता है और सुनहरे अस्त्र-शस्त्र, जड़ाऊ ज़ीन का प्रयोग करते हुए देखता है, तो वह उन बातों से कैसे बच सकता है और अपने पूर्वजों के चलन

के विरुद्ध किस प्रकार कोई कार्य कर सकता है। वह लोगों से मेल-मिलाप का व्यवहार एवं मोटे तथा साधारण वस्त्रों का प्रयोग किस प्रकार कर सकता है। यदि वह प्रचलित प्रथाओं का विरोध करते हुए साधारण वस्त्र धारण करे, लोगों से मेल-मिलाप रखे, तो उसके मार्ग में उसके वंश की परम्पराएँ बाधक होंगी और इन अस्वाभाविक कार्यों के कारण लोग उसे पागल समझने लगेंगे। उसकी सल्तनत पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। नबी एवं पैग़म्बर लोगों की प्राचीन आदतों एवं प्रथाओं को उस समय तक किसी प्रकार न बदल सकते थे, जब तक कि दैवी सहायता उनके साथ न होती।

कभी-कभी शाही "असबियत" अपना ज़ोर खो चुकती है और उसके साथ बादशाह का ऐश्वर्य एवं गौरव भी लोगों के हृदय से मिट जाता है। ऐसी अवस्था में प्रजा सुल्तान के प्रति धृष्टता प्रदर्शित करने लगती है और विरोध पर तुल जाती है। सल्तनत अपने गौरव की रक्षा का यद्यपि अत्यधिक प्रयत्न करती है, किन्तु वह मिट जाती है। कभी-कभी पतन के समय उसमें कल्पनातीत अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे भ्रम होता है कि उसकी कमज़ोरी समाप्त हो गयी और शोचनीय दशा का अन्त हो गया, किन्तु तथ्य कुछ और ही होता है। उसकी असामयिक शक्ति-वृद्धि उसके अन्त की द्योतक होती है। इस प्रकार सल्तनत एकाएक शक्ति एवं प्रभुत्व दिखाकर सर्वदा के लिए समाप्त हो जाती है। इसकी तुलना उस दीपक से की जा सकती है जो बुझने के समय एकाएक चमक उठता है। भ्रम होता है कि वह तेज़ी से जल उठा, किन्तु वास्तव में बुझ रहा होता है। इस प्रकार उसकी यह चमक उसके बुझने का चिह्न होती है।

(४७) सल्तनत के विभाजित होने के कारण

सल्तनत का स्थायित्व दो कारणों पर निर्भर होता है। प्रथम, उस ऐश्वर्य एवं "असबियत" पर, जिसे सेना के नाम से सम्बोधित किया जाता है, द्वितीय, धन पर जो सेना के अस्तित्व का आधार है। बादशाह अपने जीवन की उन्नति भी इसी से करता है और इससे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में भी सहायता प्राप्त करता है। जब सल्तनत का अन्त होनेवाला होता है तो ये दोनों ही आधार खोखले हो जाते हैं।

जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है, सल्तनत की नींव "असबियत" के आधार पर पड़ती है और उसी के द्वारा वह अपने पाँव जमाती है। यह "असबियत" भी वह मुख्य "असबियत" होती है जिसमें सब "असबियतें" आकर लीन हो जाती हैं। सब छोटी-छोटी "असबियतों" का संगम यही बड़ी तथा व्यापक "असबियत" होती है।

इस व्यापक 'असबियत' को हम शाही वंश की "असबियत" कह सकते हैं। जब सल्तनत सरलता के क्षेत्र से निकलकर बनावट एवं समृद्धि के क्षेत्र में प्रविष्ट होती है और बादशाह को अपने स्थायित्व की चिन्ता होने लगती है, तो वह सर्वप्रथम अपने वंश-वालों, निकटवर्तियों एवं सम्बंधियों पर हाथ डालता है, जो उसके साथ बराबरी का दावा करते हैं और अपने आपको उसका साझीदार समझते हैं। वह सल्तनत में उनके पद छीनता है, उनका सम्मान घटाता है और उनकी शक्ति को तोड़ता है। इस प्रकार बादशाह के वंश के लोग दो घातक रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। सर्वप्रथम वे भोग-विलास एवं आराम की इच्छा करने लगते हैं, फिर वे बादशाह के क्रोध की दृष्टि का लक्ष्य बन जाते हैं। अन्त में बादशाह ज़रा-ज़रा-से बहाने पर उनकी हत्या कराने लगता है। इसका कारण यह है कि प्रारम्भ में बादशाह के सम्बन्धी राज्य के बड़े-बड़े पदों पर अधिकार जमा लेते हैं और प्रमुख अधिकारी बन जाते हैं। उनके हृदय में यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि उनके समान कोई अन्य व्यक्ति नहीं है। उन्हें अपने ऊपर अभिमान हो जाता है। बादशाह उनका यह रंग-ढंग देखकर खटक जाता है और भय करने लगता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि एक दिन वे राजसिंहासन पर भी हाथ डालने लगें, अतः वह उनके विनाश का प्रयत्न करने लगता है। उनका अपमान भी प्रारम्भ कर देता है। उनसे उनकी धन-सम्पत्ति भी छीनता है और भोग-विलास से, जिसके वे दीर्घ काल से आदी हो चुके होते हैं, वंचित करता है, फलतः शाही वंश के बहुत-से लोग नष्ट हो जाते हैं और उनकी संख्या पर्याप्त रूप से घट जाती है। शाही "अस-बियत" का भी पतन होने लगता है। यही वह "असबियत" थी जो किसी समय समस्त "असबियतों" को अपने में लीन कर लेती थी, वे सब उसी के अधीन एवं वशवर्ती थीं। अब उसका ताना-बाना ढीला पड़ जाता है तो उसकी शक्ति एवं उसका बल छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाता है। फिर बादशाह अपने इष्ट मित्रों एवं आश्रितों तथा उपकृत लोगों से पृथक् एक नयी "असबियत" स्थापित करता है, किन्तु उसमें पहली "असबियत" के समान शक्ति नहीं होती, कारण कि न ये लोग खून के रिश्ते से वंचित एवं अज़ीज़दारी के सम्बन्ध से दूर होते हैं।

हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि "असबियत" का पूरा ऐश्वर्य एवं गौरव अज़ीज़-दारी एवं खूनी रिश्ते से उत्पन्न होता है। ईश्वर ने इस सम्बन्ध को वह शक्ति प्रदान की है जो किसी अन्य सम्बन्ध को नहीं, अतः बादशाह अपने वंश से पृथक् होकर प्राकृतिक सहायकों एवं मित्रों से वंचित हो जाता है। जब अन्य "असबियत" वाले वंशों को इसका पता चलता है तो वे धृष्ट हो जाते हैं और बादशाह के विश्वासपात्रों एवं सहचरों

को दबाने लगते हैं। बादशाह के समक्ष इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं रह जाता कि एक-एक करके वह उनकी भी हत्या करा दे और उनके पद अन्य पदाधिकारियों को प्रदान कर दे। उस समय वे लोग भी दो ओर से बड़ी गम्भीर परिस्थितियों में घिर जाते हैं। सर्वप्रथम उनके भोग-विलास का जीवन ही उनको कुछ कम नष्ट नहीं देता, फिर बादशाह का निष्ठुर हाथ उनको विनाश के घाट उतारता है, यहाँ तक कि उनकी "असबियत" की शक्ति एवं उनका सम्मान दोनों ही समाप्त हो जाते हैं और वे दीन एवं विवश हो जाते हैं। उनकी संख्या अलग घट जाती है, फलतः राज्य की विभिन्न दिशाओं एवं सीमान्तों में प्रतिरक्षा के साधन कमज़ोर पड़ जाते हैं। फिर उनकी रक्षा का उचित प्रबंध नहीं हो सकता। प्रजा यह देखकर किसी-न-किसी सल्तनत का दावा करनेवाले के नेतृत्व में विद्रोह की पताका बुलन्द करती है और विद्रोही सल्तनत की विभिन्न दिशाओं को अपने उपद्रवों के केन्द्र बना लेते हैं, कारण कि वे यह समझ लेते हैं कि उन दिशाओं में राज्य की प्रतिरक्षा के साधन कम हैं और केन्द्र से अधिक सेना पहुँचने की संभावना नहीं, और न इसकी कि उसकी एक आवाज़ पर सब लोग दौड़ पड़ेंगे और सब उसकी पताका के नीचे आ जायँगे।

इस प्रकार राज्य के दूरस्थ भाग विद्रोहियों के अधिकार में आते जाते हैं और केन्द्रीय राज्य का क्षेत्र सीमित होता जाता है। यहाँ तक कि कभी-कभी विद्रोही केन्द्र के समीप पहुँच जाते हैं। इस प्रकार सल्तनत अपने विस्तार एवं ऐश्वर्य के अनुसार कभी दो सल्तनतों में और कभी तीन अथवा इससे भी अधिक टुकड़ों में बँट जाती है। बादशाही "असबियत" के अतिरिक्त कोई अन्य "असबियत" राज्य की बागडोर सँभाल लेती है तथा अपनी वीरता का लोहा सबसे मनवाकर उन्हें पराजित कर देती है।

एक समय जब इस्लामी राज्य की शक्ति बढ़ी तो उसकी सीमाएँ उन्दुलुस एवं हिन्द तथा चीन तक पहुँच गयी थीं। उधर बनी उमय्या के नाम का डंका पूरे अरब में बजता था। बनी अब्द मनाफ़ की "असबियत" बड़ी ही व्यापक थी। उनका आदेश अरब के प्रत्येक भाग पर चलता था, यहाँ तक कि एक बार सुलेमान बिन अब्दुल मलिक ने दमिश्क़ से आदेश निकाला कि क़रतबा[1] में अब्दुल अज़ीज़ बिन मूसा इब्ने नुसैर का वध कर दिया जाय, तो किसी को भी उसकी आज्ञाओं के उल्लंघन का साहस न हुआ। जब बनी उमय्या भोग-विलास में ग्रस्त रहने लगे और उनकी "असबियत" कमज़ोर हुई तो सल्तनत एवं प्रभुत्व ने उनका साथ छोड़ा और बनी अब्बास ने उनका स्थान ले

१. कारडोवा।

लिया। उन्होंने बनी हाशिम की संख्या को कम करना प्रारम्भ किया और सैयिदों एवं अलवियों की हत्या शुरू कर दी, यहाँ तक कि अब्द मनाफ़ की "असबियत" का किसी को पता भी न रहा। अरबों ने उन पर आक्रमण कर दिया और राज्य के दूरस्थ भागों में बहुत-से अन्य दावा करनेवाले लोग राज्य के अधिकांश प्रदेश दबा बैठे। बनी अग़लब नें इफ़रीक़िया में अपने पाँव जमा लिये और उन्दुलुस में बनी उमय्या स्वाधीन हो गये। इस प्रकार सल्तनत के कई टुकड़े हो गये। बनू इदरीस ने मग़रिब पर छापा मारा और बरबर उनकी सहायतार्थ उठ खड़े हुए, कारण कि उन्हें उनकी "असबियत" पर पूरा भरोसा था। उन्हें ज्ञात था कि केन्द्र से उन पर आक्रमण सम्भव ही नहीं। संक्षेप में "असबियत" की कमज़ोरी पर राज्य के दूरस्थ भागों में राज्य के विभिन्न प्रतिस्पर्धी खड़े हो जाते हैं और वे सल्तनत के सीमान्तों पर अधिकार जमा लेते हैं। उनका प्रभुत्व वहाँ जम जाता है। इस प्रकार सल्तनत विभिन्न भागों में विभाजित हो जाती है। एक शक्ति कई शक्तियों में बँट जाती है। कभी-कभी सल्तनत के बहुत अधिक टुकड़े हो जाते हैं और मूल सल्तनत राजधानी तक ही सीमित होकर रह जाती है। इधर सल्तनत के विश्वासपात्र समृद्धि एवं भोग-विलास में डूबे हुए तथा अमीरी के नशे में चूर, विनाश के गर्त में पड़े रहते हैं। सल्तनत टुकड़े-टुकड़े होकर जीवन की अन्तिम साँस लेती रहती है।

कभी ऐसा होता है कि शक्तिहीनता के बावजूद सल्तनत का जीवनकाल बढ़ जाता है और उसको अपने अस्तित्व के लिए "असबियत" की कोई आवश्यकता नहीं होती, कारण कि अमीरों एवं वालियों के हृदय में उसके ऐश्वर्य एवं गौरव का सिक्का बैठ जाता है। सैकड़ों वर्षों की अधीनता में वे बादशाहों की आज्ञाकारिता के आदी हो चुकते हैं। उनमें किसी को यहाँ तक पता नहीं होता कि उनकी अधीनता कब से प्रारम्भ हुई। वे होश सँभालते ही अपनी ग्रीवा को बादशाह के सामने झुकते देखते हैं। ऐसी दशा में बादशाह को "असबियत" की कोई आवश्यकता नहीं होती। वह राज्य-व्यवस्था एवं शासनप्रबंध के संचालन में अनुशासित एवं अव्यवस्थित, दोनों प्रकार की सेनाओं का प्रयोग कर लेता है। आज्ञाकारिता की जो भावनाएँ प्रजा के स्वभाव में प्रविष्ट हो जाती हैं उनसे उसे बड़ी सहायता मिलती है। किसी को आज्ञाओं के उल्लंघन का साहस नहीं होता और विद्रोह के लिए कोई सिर नहीं उठा सकता। यदि कोई अल्पदर्शी ऐसा कर भी बैठे तो सब लोग उसके विरोध पर उद्यत हो जाते हैं और बादशाह से पहले ही वे उसे दबा देते हैं। ऐसी अवस्था में कोई ऐसी कल्पना ही नहीं करता और यदि कोई ऐसा विचार करे तो उसका साहस उसका साथ नहीं देता।

संक्षेप में अधीनता एवं आज्ञाकारिता का कुछ ऐसा वातावरण फैल जाता है कि सल्तनत विद्रोह एवं राजनीतिक झगड़ों से सुरक्षित होकर अमन व चैन की वंशी बजाती रहती है। किसी के हृदय में उसके विरोध की कल्पना तक नहीं होती, अतः जिस प्रकार "असबियत" एवं खानदानी ज़ोर व शक्ति से सल्तनत शान्ति एवं चैन का जीवन व्यतीत करती है, उसी प्रकार इस समय भी उपद्रव, विद्रोह एवं राजनीतिक अशान्ति से सुरक्षित होकर चलती चली जाती है। किन्तु इसकी भी सीमा होती है। आखिर हर चीज़ का जीवन-काल निश्चित होता है। एक समय ऐसा आता है कि यह सल्तनत पतन की अवस्था में ही चलते-चलते समाप्त हो जाती है और किसी बाहरी शक्ति को इसे समाप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को भोजन न मिले तो उसकी प्राकृतिक गरमी समाप्त होती जायगी और उसकी मृत्यु हो जायगी, उसी प्रकार सल्तनत की व्यक्तिगत कमज़ोरी अन्त में उसे एक दिन नष्ट कर देती है और मृत्यु को पहुँचा देती है।

अब रही यह बात कि सल्तनत की आर्थिक दशा क्यों गिर जाती है, तो इसका यह उत्तर है कि प्रारम्भ में सल्तनत पर "बदवियत" का रंग चढ़ा होता है। प्रजा के साथ नरमी का व्यवहार किया जाता है। व्यय के सम्बन्ध में संयम से काम लिया जाता है। लोगों की धन-सम्पत्ति के अपहरण के विषय में सावधानी का बरताव किया जाता है। खराज एवं कर की वृद्धि की चिन्ता नहीं की जाती। धन-सम्पत्ति एकत्र करने के लिए सोच-विचार नहीं करना पड़ता। वालियों एवं आमिलों से हिसाब लेने में बाल की खाल नहीं निकाली जाती। अपव्यय से दूर रहा जाता है। इस दशा में सल्तनत को अधिक धन की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु जब "बदवियत" का युग समाप्त होता है और उसके साथ उसके प्रभाव का अन्त हो जाता है और सल्तनत को ऐश्वर्य एवं गौरव हासिल हो जाता है, तो आडम्बर एवं भोग-विलास भी देश में प्रचलित हो जाते हैं। बादशाह एवं प्रजा के व्यय में भी वृद्धि होने लगती है। धन पानी के समान बहाया जाने लगता है। ऐसी अवस्था में इस बात की आवश्यकता होती है कि सेना तथा राज्य के पदाधिकारियों के वेतनों एवं वृत्ति में पर्याप्त वृद्धि की जाय। क्योंकि आडम्बरों की कोई सीमा नहीं होती और वे बढ़ते ही रहते हैं, अतः साथ-साथ लोगों का व्यय भी बढ़ता है। बादशाह एवं राज्य के पदाधिकारी तो सर्वप्रथम इस क्षेत्र में प्रविष्ट होते ही हैं, किन्तु प्रजा भी अपव्ययिता से नहीं बच सकती, कारण कि प्रजा अपने शासकों का अनुकरण करती है। इस कारण बादशाह बाज़ार की चीज़ों पर कर लगाता है, ताकि आर्थिक कमी की पूर्ति कर सके। एक ओर तो उसको राज्य के बढ़ते हुए व्यय

एवं सेना के बढ़े हुए वेतन को पूरा करने की चिंता होती है और दूसरी ओर वह अपनी प्रजा को विलास-प्रिय पाकर समृद्ध समझने लगता है। फिर वह उनसे किस कारण हाथ खींचे ? आडम्बरों एवं भोग-विलास की और भी वृद्धि हो जाती है। तब करों एवं चुंगियों की आय भी अपर्याप्त मानी जाती है। यह समय वह होता है जब सल्तनत दूर-दूर तक फैली हुई होती है। उसका गौरव अपनी चरम सीमा पर होता है। इसी कारण प्रजा किसी बात का विरोध नहीं कर सकती, अतः बादशाह नाना प्रकार से प्रजा की धन-सम्पत्ति लूटने लगता है—व्यापारिक करों से भी और अन्य अच्छे-बुरे साधनों से भी। साधारण से साधारण सन्देह पर वह बड़ी-बड़ी रक़में वसूल कर लेता है। सेना सल्तनत को "असबियत" में कमज़ोर पाकर उद्दंड हो जाती है। बादशाह विवश होकर अत्यधिक दान एवं धन-सम्पत्ति प्रदान करके उसको दबाये रखता है कि वह सिर न उठाये। उधर दीवानी के पदाधिकारियों एवं कर तथा ख़राज वसूल करनेवालों की धन-सम्पत्ति उनके पास से भागती जाती है, कारण कि ख़राज बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त होता है और वह सब उन्हीं के हाथों में पहुँचता है। उनका सम्मान बढ़ा हुआ होता है, अतः सुल्तान उन पर भी अपने दाँत तेज़ करता है और उनको निचोड़ने की चिन्ता में लगता है। वे ईर्ष्यावश एक-दूसरे की चुग़ली खाते हैं और इस प्रकार एक-एक करके लुटते एवं नष्ट होते जाते हैं। जब वे दीन एवं दरिद्र हो जाते हैं तो सल्तनत की रौनक़ भी समाप्त हो जाती है। सल्तनत जब उनको चूस चुकती है तो अन्य धनी लोगों पर लालच की दृष्टि डालती है और उन्हें चूसने लगती है।

उस समय सल्तनत शक्तिहीन हो जाती है और उसके ऐश्वर्य एवं गौरव में पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है, अतः उनके सुधार हेतु बादशाह अधिक से अधिक धन व्यय करता है। वह समझ लेता है कि सल्तनत की शोचनीय दशा में 'तलवार वाले' ही सल्तनत की अधिक से अधिक सहायता कर सकते हैं, अतः वह अपने सैनिकों पर विशेष दृष्टि डालता है। सेना के इनाम, वृत्ति एवं वेतन हेतु उसे धन की हर समय लिप्सा रहती है। वह उसको प्रसन्न रखना तथा उससे काम लेना चाहता है, किन्तु उसकी यह राजनीति व्यर्थ सिद्ध होती है और उसके उद्देश्य की पूर्ति में उसकी सहायक नहीं होती। सल्तनत उसी प्रकार शक्तिहीन होती जाती है। सल्तनत के दूरस्थ भागों के लोग उपद्रव एवं विद्रोह प्रारम्भ कर देते हैं और सल्तनत से बात-बात पर झगड़ा करने लगते हैं। उधर सल्तनत की हर चाल असफल और हर युक्ति व्यर्थ सिद्ध होती है। नित्य-प्रति उसकी बात बिगड़ती जाती है, यहाँ तक कि वह विनाश के गर्त में पहुँच जाती है। यदि कोई सल्तनत का प्रतिस्पर्धी खड़ा हो जाता है तो उसको वह सुगमतापूर्वक छीन लेता है, अन्यथा इसी

प्रकार घुलते-घुलते वह समाप्त हो जाती है, जिस प्रकार दीपक की बत्ती तेल समाप्त होने के उपरान्त स्वतः ठंडी हो जाती है। उसे किसी बुझानेवाले की आवश्यकता नहीं होती।[1]

(४८) नयी सल्तनतों की स्थापना

एक प्राचीन जमी-जमायी सल्तनत जब कमज़ोरी की साँस लेकर समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर दूसरी नयी सल्तनत स्थापित होती है, तो उसकी स्थापना अधिकांश दो प्रकार से होती है। एक तो इस प्रकार कि जब सल्तनत कमज़ोर पड़ने लगती है तो उसके दूर के स्थानों के आमिल एवं वाली अपने-अपने स्थान पर स्वतंत्र शासक बन जाते हैं और प्रत्येक अपने प्राप्त किये हुए छोटे-से राज्य को अपनी क़ौम, संतान और अपने सहायकों में चलाता है। फिर उनके राज्य के भाग शनैः-शनैः बढ़ते जाते हैं और उनके शासन को शक्ति प्राप्त हो जाती है। कभी ऐसा होता है कि यह सब आमिल एवं वाली एक-दूसरे पर आक्रमण करते हैं। अब इनमें जो अधिक शक्तिशाली होता है वही बाज़ी ले जाता है और दूसरे के राज्य पर अधिकार जमा लेता है। इस प्रकार जब बनी अब्बास की सल्तनत कमज़ोर पड़ी और राज्य के दूर के भागों पर उसका प्रभाव कम होता गया, तो बनू सामान ने मावराउन् नहर में, बनू हमदान ने मोसल एवं शाम में और बनू तूलून ने मिस्र में स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिये। इसी प्रकार उन्दुलुस में जब बनी उमय्या का राज्य छिन्न-भिन्न हुआ तो विभिन्न समूहों के राज्य स्थापित हो गये। वालियों एवं आमिलों ने स्वाधीनता प्राप्त करके राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। फिर उनके राज्य उनकी संतान एवं सम्बंधियों में एक के बाद दूसरे में पहुँचते रहे।

इस दशा में प्राचीन हुकूमतों और नयी हुकूमतों में संघर्ष नहीं होता। युद्ध एवं रक्तपात का द्वार नहीं खुलता, अपितु हर आमिल एवं वाली अपने-अपने स्थान पर दासता त्यागकर स्वाधीनता के वस्त्र धारण कर लेता है। उसके हृदय में कभी यह लोभ

१. कुछ पोथियों में इसके बाद एक अन्य अध्याय है जो संभवतः बाद में जोड़ा गया है। उसका शीर्षक है—"एक सल्तनत का अधिकार सर्वप्रथम अपनी अन्तिम सीमा तक फैल जाता है और फिर शनैः-शनैः सिकुड़ने लगता है, यहाँ तक कि सल्तनत घुलकर समाप्त हो जाती है।" इस नये अध्याय में पिछले अध्यायों की पुनरावृत्ति की गयी है, अतः इसका अनुवाद नहीं किया गया।

नहीं पैदा होता कि आक्रमण करके असली राज्य को अपने अधीन बना ले और समस्त देश पर प्रभुत्व प्राप्त कर ले। ये आमिल केवल केंद्रीय शासन की कमज़ोरी से लाभ उठाते हैं। जब दूर के स्थान केंद्र के प्रभाव से निकल जाते हैं और वहाँ तक सैनिक-शक्ति नहीं पहुँच सकती, तो आमिल केवल अपने-अपने स्थान पर स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए इसको सुनहरा अवसर समझते हैं।

नये राज्य के स्थापित होने का दूसरा रूप यह है कि सल्तनत के आस-पास की क़ौमें अथवा क़बीले कोई धार्मिक भावना लिये हुए और मज़हबी प्रचार के बल-बूते पर अथवा प्रभुत्व एवं "असबियत" की अपार शक्ति अपने साथ लिये हुए वर्त्तमान राज्य के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं और देश को अपने अधीन करना चाहते हैं। उधर तो उनकी व्यक्तिगत शक्ति एवं प्रभुत्व की भावनाएँ उनके हृदय में समायी रहती हैं, इधर सल्तनत की शोचनीय दशा उनकी दृष्टि के सामने होती है। संक्षेप में ये दोनों बातें उनके आक्रमण का कारण बनती हैं। अन्त में वे एक दिन सल्तनत के स्वामी बन जाते हैं।

(४९) सतत प्रयत्न द्वारा, न कि अचानक छापा मारकर, नयी सल्तनतें प्राचीन जमी-जमायी सल्तनत पर अधिकार प्राप्त किया करती हैं

अभी-अभी उल्लेख हुआ था कि नया राज्य दो प्रकार से स्थापित होता है। एक यह कि देश के दूरवर्ती स्थान छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो जाते हैं। वाली एवं आमिल अपने-अपने स्थान पर हाकिम बन बैठते हैं। उनका उद्देश्य यह नहीं होता कि वे पूरी सल्तनत पर अधिकार जमा लें, अपितु वे उस प्रदेश को, जो उनके अधीन होता है, स्वतंत्र रूप से अधिकार में कर लेना ही पर्याप्त समझते हैं और उसी से संतुष्ट होकर बैठ रहते हैं। दूसरा रूप सल्तनत का दावा करना एवं विद्रोह करना होता है। इसमें आक्रमणकारी खुल्लमखुल्ला हुकूमत का दावा करके उठते हैं। उनकी सहायता हेतु प्रभुत्व एवं "असबियत" की अपार शक्ति होती है, जो उन्हें युद्ध के लिए प्रेरित करती है। उसी के बल-बूते पर वे डटकर युद्ध करते हैं। विजय एवं पराजय की तराज़ू के पलड़े डगमगाते रहते हैं। यहाँ तक कि उन्हें विजय प्राप्त हो जाती है। वैसे यदि वे जान तोड़कर अचानक आक्रमण कर दें तो उन्हें कभी भी विजय प्राप्त नहीं हो सकती, पराजय निश्चत रहती है।

जैसा कि हम उल्लेख कर चुके हैं, इसका कारण यह है कि युद्ध में सफलता आकस्मिक घटनाओं पर निर्भर होती है। सेना की संख्या, अस्त्र-शस्त्र एवं युद्ध की कुशलता कितनी ही संतोषजनक क्यों न हो, वे सब विजय हेतु हुई आकस्मिक घटनाओं का

मुक़ाबला नहीं कर सकतीं। इसी कारण युद्ध के लिए धूर्तता एवं विश्वासघात बड़े लाभदायक होते हैं। हदीस में उल्लेख हुआ है—"युद्ध चालबाज़ी एवं धूर्तता का नाम है।" यह बात बार-बार स्पष्ट की जा चुकी है कि समस्त प्रजा प्राचीन सल्तनत की आज्ञाकारिता एवं अधीनता की आदी हो जाती है। यह बात नये राज्य की स्थापना में बाधक होती है,कारण कि उसके समर्थकों के विचार भिन्न होते हैं। नये राज्य के विश्वास-पात्र उसकी आज्ञाकारिता को परम कर्त्तव्य समझते हैं। किन्तु सर्वसाधारण की तुलना में उनकी संख्या ही कितनी होती है कि उनकी आज्ञाकारिता से कोई अच्छा निष्कर्ष निकल सके। अधिकांश संख्या ऐसे लोगों की होती है जिनका मत एकनिष्ठ एवं संगठित होता है, कारण कि वे दीर्घकाल से प्राचीन सल्तनत के आज्ञाकारी रह चुके होते हैं, अतः उनके विरुद्ध उनका पाँव तेज़ी एवं वीरता से नहीं उठता। इसी कारण नये राज्य की स्थापना करनेवाला शत्रु पर एक बारगी आक्रमण नहीं करता, अपितु धैर्य से कार्य लेता है और उस समय तक आक्रमण को टालता रहता है जब तक कि शनैः-शनैः प्राचीन सल्तनत कमज़ोर एवं सुस्त न पड़ जाय। जब बादशाह की क़ौम तथा क़बीलेवालों का विश्वास अपनी सल्तनत से उठ जाता है और नयी दावेदार हुकूमत के साथ उनकी सहानुभूति स्थापित हो जाती है, तब निःसन्देह नये राज्य की विजय एवं सफलता का मार्ग खुलता है और उसको पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त नये राज्य के संस्थापक को एकाएक सफलता न प्राप्त होने का एक कारण यह भी है कि प्राचीन सल्तनत धन-सम्पत्ति एवं खाद्य सामग्री से मालामाल रहती है। क्योंकि राज्य दीर्घकाल से चला आता है, उसे समृद्धि एवं भोग-विलास का जीवन प्राप्त होता है, कर एवं ख़राज अधिक-से-अधिक हासिल होते हैं, जो अन्य सल्तनतों को प्राप्त नहीं होते। अतः अच्छे-से-अच्छे घोड़ों से उनकी अश्वशाला भरी रहती है, उत्तम प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से शस्त्रागार परिपूर्ण होते हैं, देश एवं राज्य का ऐश्वर्य तथा गौरव चरम सीमा पर होता है, बादशाह की ओर से कभी प्रसन्नतापूर्वक और कभी अप्रसन्न होकर निरन्तर दान-पुण्य होता रहता है। इन सब बातों से शत्रु उस सल्तनत से आतंकित एवं भयभीत रहता है और एकाएक उस पर हाथ डालने से डरता है। उधर नये राज्य के संस्थापकों का हाल सुनिए। वे इन उपर्युक्त समृद्धि एवं संस्कृति सम्बन्धी विषयों से अपरिचित एवं अनभिज्ञ होते हैं। वे दरिद्रता, फ़ाक़े एवं सरलता के आदी होते हैं, अतः जब प्राचीन सल्तनत की आन-बान एवं गौरव देखते अथवा सुनते हैं, तो एकदम हतोत्साह हो जाते हैं और खुलकर युद्ध एवं संग्राम से जान चुराने लगते हैं। अतः शनैः-शनैः सल्तनत को वे छोटी-छोटी झड़पों से सताने लगते हैं, यहाँ तक कि

प्राचीन सल्तनत का दीपक स्वतः बुझने लगता है। वह एक वृद्ध की भाँति अपने जीवन की घड़ियाँ गिनने लगती है और "असबियत" के ज़ोर एवं खराज की वसूली में अत्यधिक कमी आ जाती है। फिर इस सुनहरे अवसर को नया राज्य हाथ से नहीं जाने देता और अधिक प्रतीक्षा के उपरान्त तत्काल ही प्राचीन सल्तनत पर अधिकार जमा लेता है।

नये राज्य के तुरन्त सफल न होने का एक कारण यह है कि दोनों सल्तनतों के अनुयायियों के वंश एवं परिवार के चरित्र एवं स्वभाव में ज़मीन-आसमान का अन्तर होता है। नये राज्य के पदाधिकारियों को अपने उद्देश्यों में जो सफलता प्राप्त होती है अथवा उसकी आशा होती है तो उस पर वे बड़ा गर्व करते हैं और फूले नहीं समाते। इस प्रकार दोनों पक्षों में बाह्य एवं आंतरिक रूप से बड़ी दूरी एवं वैमनस्य रहता है। इसी कारण से चढ़ाई करनेवालों को प्राचीन राज्य की गुप्त तैयारियों एवं प्रयत्नों का पता नहीं चल पाता और उन्हें एकदम कोई निर्णय करने का साहस नहीं होता, अतः वे शनैः-शनैः सल्तनत की जड़ें खोदते रहते हैं और उसके ज़ोर को धीरे-धीरे तोड़ते रहते हैं, यहाँ तक कि सल्तनत के पतन के आदेश ईश्वर की ओर से आ जाते हैं और उसकी प्राकृतिक दशा समाप्त हो जाती है। हर दिशा से उसमें कमज़ोरी एवं विघ्न दृष्टिगत होने लगते हैं। अब नये राज्य के सहायकों को प्राचीन सल्तनत की कमज़ोरी का पता चलता है और उनमें साहस पैदा होता है। फिर वे सल्तनत के विभिन्न इलाक़े एवं भाग दबाकर अपनी शक्ति और बढ़ा लेते हैं। तदुपरान्त उनका साहस इतना अधिक बढ़ जाता है कि वे अन्तिम युद्ध के लिए भी तैयार हो जाते हैं और साधारण छेड़-छाड़ को समाप्त कर देते हैं, कारण कि अब शत्रु की शक्ति के निराधार विचार उनके संकल्प को कमज़ोर नहीं करते। अन्त में वे तत्काल पूरी सल्तनत पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार बनी अब्बास के इतिहास में आप पढ़ेंगे कि कब से उनसे सहानुभूति रखनेवालों एवं उनके सहायकों ने खुरासान में खिलाफ़त का प्रचार प्रारम्भ कर रखा था और अपनी माँगों का नारा लगा रहे थे, किन्तु अन्त में १० वर्ष अथवा उससे भी अधिक समय के उपरान्त उन्हें सफलता प्राप्त हुई और वे उमय्या राज्य पर छा गये। अलवियों[1] को देखिए कि उन्होंने तबरिस्तान में दैलमियों को अपना पक्षपाती बनाकर बनी अब्बास के विरुद्ध कब से खिलाफ़त का दावा कर रखा था, किन्तु काफ़ी अधिक समय के उपरान्त इनको वहाँ आस-पास में सफलता प्राप्त हुई। इसी प्रकार जब ये समाप्त हुए और दैलम

१. ज़ैदियों।

फ़ारस एवं दोनों इराक़ों की ओर अग्रसर हुए तो वर्षों प्रयत्न के उपरान्त इसफ़हान एवं फ़ारस पर अधिकार जमा लेने में सफल हुए और फिर बाद में ख़लीफ़ा को भी दबा लिया।

यही दशा उबैदीईन की हुई कि कुतामा बरबरों में अब्दुल्लाह शीई ने उनका प्रचार दस वर्ष पूर्व प्रारम्भ किया था। इस अवधि में इफ़रीक़िया में बनी अग़लब का प्रभाव बढ़ता रहा, यहाँ तक कि उबैदीईन अन्त में पूरे मग़रिब को दबा बैठे, फिर मिस्र की ओर बढ़े और लगभग ३० वर्ष तक उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करते रहे। बार-बार उन पर आक्रमण होते और बग़दाद एवं शाम से उनकी प्रतिरक्षा हेतु जल तथा स्थल मार्ग से सेनाएँ पहुँचतीं। फिर कहीं उन्होंने इस्कन्दरिया, फ़ुय्यूम तथा मिस्र के ऊपरी भाग पर अधिकार जमाया। तदुपरान्त उनका प्रचार हिजाज़ तक पहुँचा और मक्के-मदीने में भी उनके दूत कार्य करने लगे। इसके उपरान्त उनके सरदार जौहर कातिब ने अपार सेना लेकर मिस्र पर आक्रमण किया और उस पर भी अधिकार जमाया तथा बनू तुग़श की सल्तनत की भी नींव खोद डाली एवं क़ाहेरा की स्थापना की। तत्पश्चात् उनका ख़लीफ़ा मुइज़्ज़-ले-दीनिल्लाह सिंहासनारूढ़ हुआ और वह इस्कन्दरिया पर अधिकार के ६० वर्ष बाद तक राज्य करता रहा।

इसी प्रकार सल्जूक़ मावराउन् नह्र पहुँचकर सामानियों पर एकाएक अधिकार न जमा सके, अपितु ३० वर्ष तक निरन्तर सुबुक्तिगीन[1] के वंश से ख़ुरासान में युद्ध करते रहे और फिर कहीं जाकर उन पर अधिकार जमा सके। उन्होंने वहाँ से बग़दाद की ओर अपनी बागें फेरीं और बहुकालिक संघर्ष के उपरान्त बग़दाद विजय किया।

तातारियों को भी इसी स्थिति का सामना करना पड़ा। ६१७ हि० (१२२०–२१ ई०) में उत्तरी जंगलों से उनका तूफ़ान उठा और ४० वर्ष के दीर्घकाल के संघर्ष के उपरान्त वे बग़दाद की सल्तनत को विजय कर सके।

मग़रिब के लम्तूना ने भी मुराबेतीन के साथ मिलकर दीर्घकाल के उपरान्त मग़रावा के बादशाहों को अपने अधीन किया। फिर मुवह्हेदीन लम्तूना के विरुद्ध उठ खड़े हुए और लगभग ३० वर्ष के घोर युद्ध के उपरान्त उनकी राजधानी मराकश पर मुवह्हेदीन ने अपना झंडा गाड़ा। तत्पश्चात् ज़नाता में से बनी मरीन मुवह्हेदीन

१. नासिरुद्दीन सुबुक्तिगीन ९७७ ई० में ग़ज़नी का बादशाह हुआ। उसने हिन्दुस्तान पर भी आक्रमण किया। इस प्रकार पंजाब के पश्चिमी भाग से ख़ुरासान तक के भाग उसके राज्य में सम्मिलित हो गये। उसकी मृत्यु ९९७ ई० में हुई।

के विरुद्ध उठ खड़े हुए और ३० वर्ष अथवा उससे कुछ कम या अधिक अवधि में फ़ास पर अधिकार जमाकर उनको राज्य से पृथक् कर सके। फिर युद्ध में ३० वर्ष और व्यतीत किये, तब कहीं जाकर वे मुवह्हेदीन की राजधानी मराकश पर अधिकार जमा सके। इन सब बातों का वर्णन उन सुल्तानों के इतिहास में लिखा हुआ है।

संक्षेप में किसी नये राज्य की स्थापना एवं पुराने राज्य के उखाड़ने तथा नष्ट करने में बहुत अधिक समय लगता है। इस अवधि में आक्रान्त लोग पूर्ण प्रयत्न कर चुकते हैं तब कहीं जाकर देश में उनके पाँव जमते हैं। किन्तु इस्लामी विजयों का उदाहरण प्रस्तुत करके जिस तथ्य का हमने प्रतिपादन किया है, उसका खंडन न किया जाय। यह सत्य है कि मुहम्मद साहब की मृत्यु के तीन-चार वर्ष उपरान्त ही मुसलमानों ने फ़ारस एवं रूम[1] का विनाश कर डाला और उनके विस्तृत राज्य का समूल उच्छेदन कर दिया, किन्तु यह सब मुहम्मद साहब का चमत्कार था कि इधर तो मुसलमान अपने धर्म की सत्यता पर संतुष्ट होने के कारण इतने उत्तेजित हो गये कि जेहाद में प्राण त्यागने को एक साधारण बात समझने लगे और दूसरी ओर मुसलमानों के शत्रुओं के हृदय में आतंक एवं साहसहीनता उत्पन्न हो गयी। अतः इन्हीं कारणों से यह अस्वाभाविक एवं असाधारण घटना घट सकी और देखते-देखते मुसलमानों ने दृढ़ राज्यों को धूल में मिला दिया तथा साधारण प्रथानुसार उन्हें अपने पाँव जमाने में अधिक समय नहीं लगा। जब यह अचानक विजय असाधारण प्रकार से प्राप्त हुई तो इसे चमत्कार ही कहा जायगा और मुहम्मद साहब का मोजज़ा। स्वाभाविक विधियों की तुलना चमत्कारों से नहीं की जा सकती और न उन्हें सामने रखकर चमत्कारों की आलोचना ही की जा सकती है।

(५०) सल्तनत के अन्तिम काल में देश की जनसंख्या बहुत बढ़ जाती है, संक्रामक रोग फैलते हैं और अकाल पड़ते हैं

यह बात स्पष्ट हो गयी कि सल्तनत अपने आदिम काल में राज्य में नरमी से काम लेती है और सबके साथ बड़ा ही उत्तम व्यवहार करती है। यदि सल्तनत धार्मिक दृष्टिकोण पर स्थापित है, तो धार्मिक आवश्यकताओं के वशीभूत होती है, किन्तु "बदवियत" सल्तनत के लिए प्राकृतिक रूप से बड़ी सहायक रहती है। वह उसे सद्-व्यवहार एवं सदाचरण पर स्थापित रखती है। जब सल्तनत का व्यवहार प्रजा के प्रति प्रशंसनीय होता है तो प्रजा के हृदय में आशाएँ बढ़ जाती हैं और वह प्रसन्नतापूर्वक देश भर

१. बैज़न्टाइन।

में फैल जाती है। देश की जनसंख्या घनी हो जाती है। संतान की संख्या बढ़ जाती है, किन्तु यह सब कुछ शनैः-शनैः होता है। एक अथवा दो शताब्दियों में जनसंख्या बहुत अधिक हो जाती है। जब दो शताब्दियाँ व्यतीत हो जाती हैं तो सल्तनत की स्वाभाविक स्थिति अन्तिम सीमा को प्राप्त हो जाती है। देश की जनसंख्या बहुत ही अधिक हो जाती है और नित्यप्रति उसमें वृद्धि होती रहती है।

हमने इससे पूर्व जो वर्णन किया, उसे सामने रखते हुए यह सन्देह न कीजिए कि जब राज्य के अन्तिम दिनों में सल्तनत की ओर से प्रजा पर अत्याचार बढ़ता है और कठोरता प्रारम्भ होती है, तो जनसंख्या किस प्रकार बढ़ेगी। पिछला वर्णन निःसन्देह ठीक है और दोनों में कोई विरोध नहीं। वास्तव में जब राज्य की ओर से देश की जनसंख्या पर अत्याचार होने लगते हैं और फिर खराज में कमी होना प्रारम्भ होता है तो जनसंख्या निःसन्देह कम होने लगती है। किन्तु इस कमी के चिह्न अधिक समय बाद दृष्टिगत होते हैं, क्योंकि कमी शनैः-शनैः होती है, एकदम नहीं कि उसका पता चल जाय। इसका यह कारण है कि प्राकृतिक घटनाओं का आगम धीरे-धीरे ही होना परमावश्यक है।

सल्तनत के अन्तिम काल में अकाल इतने बढ़ जाते हैं कि लोग कृषि करना छोड़ देते हैं, अधिकांश तो इस कारण कि राज्य के करों एवं खराज की वसूली में अत्याचार प्रारम्भ हो जाते हैं, और कुछ इस वजह से कि सल्तनत की शक्तिहीनता के कारण विद्रोह प्रारम्भ हो जाते हैं, प्रजा नष्ट-भ्रष्ट एवं शोचनीय दशा को प्राप्त हो जाती है और जनसंख्या घटने लगती है। अनाज के भंडार भी कम हो जाते हैं। वास्तव में कृषि एवं फसल तो सम दशा में रहती ही नहीं। उसकी अच्छाई-बुराई एवं कमी और ज़्यादती का संबंध वर्षा की कमी एवं अधिकता पर है। वर्षा कभी कम होती है, कभी अधिक, कभी हलकी, कभी तेज़। संक्षेप में, वह एक दशा पर नहीं रहती। इसी प्रकार कृषि एवं फसल भी अपनी दशा बदलती रहती हैं। कभी उनकी उत्पत्ति कम होती है, कभी अधिक, कभी हलकी, कभी तेज़। ज़्यादातर लोग अनाज-भंडारों पर निर्भर रहते हैं और उन्हीं पर दृष्टि रखकर जीवित रहते हैं। जब अनाज का भंडार कम हो जाता है तो लोगों को अकाल का भय हो जाता है। अनाज का मूल्य बाज़ार में अधिक हो जाता है। दीन एवं दरिद्र भूखों मरने लगते हैं और किन्हीं वर्षों में तो भंडार पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं। फिर धनी-दरिद्र, समृद्ध एवं दीन सभी मौत के शिकार हो जाते हैं।

संक्रामक रोगों के अधिक होने एवं हत्याकांड अथवा लूट-मार की अधिकता के विभिन्न कारण हैं। एक कारण तो उपर्युक्त अकाल ही है। लोग अनाज की कमी

अथवा अभाव के कारण नष्ट हो जाते हैं, दूसरा कारण है सल्तनत की शोचनीय दशा, जिसके फलस्वरूप देश में विद्रोह एवं उपद्रव अधिक संख्या में होने लगते हैं और हत्या-कांड, मार-काट बहुत होती है। देश में लाशों के ढेर लग जाते हैं और क़ब्रस्तान पट जाते हैं। तीसरा कारण संक्रामक रोग होते हैं। इन रोगों के फैलने का कारण प्रायः जनसंख्या की वृद्धि से दूषित वायुमंडल है। जब वायुमंडल दूषित होता है तो प्राणियों की प्राकृतिक दशा में भी दोष आ जाता है। यदि वायु अधिक दूषित हो जाय तो महा-मारी फैल जाती है। कभी-कभी व्यापक प्रकार का ज्वर फैल जाता है और लोग मरने लगते हैं। इन सब बातों का कारण जनसंख्या की अधिकता है जो सल्तनत के अन्तिम युग में होती है।

स्वास्थ्यविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार यह परमावश्यक है कि आबादी के बीच-बीच में जंगल एवं खुले मैदान छोड़े जायँ, ताकि लोगों की घनी आबादियों के कारण वायुमंडल दूषित न हो सके। खुली हवा इसका निराकरण करती है और स्वच्छ एवं स्वास्थ्य प्रद हवा प्रविष्ट होती है। यही कारण है कि जो नगर बड़े घने हैं, उदाहरणार्थ पूर्व में मिस्र और मग़रिब में फ़ास, इनमें संक्रामक एवं घातक रोग बहुत बड़ी संख्या में फैलते हैं और वे बड़े ही विनाशकारी सिद्ध होते हैं। जो आबादियाँ खुली-खुली बसी हैं, उदाहरणार्थ ग्राम अथवा छोटे क़सबे, उनमें ऐसे रोग बहुत ही कम सुनने में आते हैं।

(५१) मानव-सभ्यता के लिए राजनीतिक नेतृत्व परमावश्यक है, ताकि उसके अधीन मानवजाति का कार्यकलाप सुव्यवस्थित हो सके

यह तथ्य बार-बार स्पष्ट किया जा चुका है कि मनुष्य के लिए सामाजिक जीवन अनुपेक्ष्य है। इसे हम "सभ्यता" कहते हैं। समाज के लिए एक न्यायकारी शासक की आवश्यकता होती है, ताकि लोग अपने झगड़े उसकी सेवा में प्रस्तुत कर सकें और उसी से न्याय की याचना करें। उस शासक के निर्णय का आधार कभी तो दैवी शरीअत होती है, जिसका पालन करके मनुष्य पुण्य एवं उपकार का भाजन होता है और उसका उल्लंघन करने पर उसे दंड भोगना पड़ता है। कभी शासक के निर्णयों का आधार राजनीति एवं मानव द्वारा तैयार किये हुए वे विधान होते हैं जिनके पालन में मनुष्यों को सांसारिक लाभ दृष्टिगत होता है। इसी लाभ की दृष्टि से अधिनियम बनाये जाते हैं। शरई नियम इस लोक तथा परलोक दोनों के ही हित से संबंधित होते हैं, क्योंकि इस्लाम की शरा बनानेवाले परलोक के हित से भली-भाँति परिचित होते हैं और

अपने विधान में परलोक के सौभाग्य का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। इसके विपरीत बुद्धि पर आधारित राजनीति से केवल इस लोक के लाभ पर ही दृष्टि रखी जाती है।

जिस चीज़ को "सियासये मदनीयह"[1] कहते हैं, वह इससे संबंधित नहीं है। उसका सम्बन्ध तो दार्शनिकों के अनुसार उस राजनीति से है जिसके अधीन मानव समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा एवं अपने चरित्र का इस प्रकार सुधार करता है कि शासकों की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसको दार्शनिक लोग "आदर्श राज-नीति"[2] कहते हैं। जिन अधिनियमों का इस मानव-संगठन में ध्यान रखा जाता है उनका नाम "सियासये मदनीयह" रखा गया है। वे नियम जो सर्वसाधारण के हित को दृष्टि में रखकर संगठन हेतु बनाये जाते हैं और जिनका परिचय हमने बुद्धि पर आधारित राजनीति के नाम से कराया है, उनको विद्वान् लोग "सियासये मदनीयह" नहीं कहते। फिर "मदीनये फ़ाजेला" का अस्तित्व भी असम्भव है, अपितु इस सम्बन्ध में उनका पूरा वाद-विवाद काल्पनिक एवं आकस्मिक है।

बुद्धि पर आधारित राजनीति दो प्रकार की होती है, एक वह जिसमें साधारण मनुष्यों के हित का ध्यान रखा जाय और बादशाह के विशेष हितों का भी। यानी इस बात का कि उसका राज्य ठीक आधार पर किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। यह राजनीति दर्शन-शास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित होती है और फ़ारसवाले इसी राजनीति का पालन करते हैं। किन्तु ईश्वर ने हमें इस्लामी शरीअत से सम्मा-नित कर दिया है एवं खिलाफ़त हमारी पथप्रदर्शक है, अतः हमें फ़ारस की राजनीति की आवश्यकता नहीं रही। कारण कि शरई आदेशों में लोक-परलोक के सभी विशेष हितों का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है और समस्त राजनीतिक आदेश उसमें सम्मिलित हैं, फिर हमको पृथक् विधान बनाने की आवश्यकता ही क्या है।

बुद्धि पर आधारित राजनीति की दूसरी क़िस्म सुल्तान के विशेष हितों से संबंधित होती है। उसमें इस बात का ध्यान रखा जाता है कि सल्तनत आतंक द्वारा किस प्रकार स्थापित रह सकती है। लोक-हित के संबंध में इसमें भी विवेचन किया जाता है, किन्तु केवल साधारण रूप से, न कि मौलिक रूप से। आजकल भी बिना धार्मिक भेद-भाव के समस्त बादशाह इसी दूसरे प्रकार की राजनीति से काम लेते हैं, किन्तु मुसलमान बादशाह यथासम्भव इस्लामी शरीअत की आवश्यकताओं को नहीं भूलते। प्रत्येक

१. राजनीतिक स्वर्ग (यूटोपिया)।
२. आदर्श नगर, "मदीनयेफ़ाज़ेला।"

नियम में उनका ध्यान अवश्य रखते हैं। इसी कारण उनके शासनविधान में शरई आदेश भी मिलते हैं और नैतिक अनुशासन भी और वे नियम भी, जिनकी मानवसमाज को आवश्यकता होती है। इनके अधिनियमों में प्रभुत्व एवं "असबियत" की आवश्यकताओं का भी विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है। इनमें शरीअत का पालन परम कर्त्तव्य माना जाता है। उसके बाद दार्शनिकों के अधिनियमों का स्थान है और तदुपरान्त पिछले बादशाहों के चरित्र एवं परम्पराओं के अनुसरण का।

इस विषय में सर्वोत्कृष्ट जो लेख हमें उपलब्ध है वह ताहिर बिन हुसेन का पत्र है, जिसमें उसने अपने पुत्र[1] अब्दुल्लाह बिन ताहिर को, जब वह मामून द्वारा रक्का, मिस्र एवं उनके मध्यवर्त्ती भाग का वाली नियुक्त किया गया था, सम्बोधित किया है। इस पत्र में ताहिर ने अपने पुत्र को ऐसी वह प्रत्येक शिक्षा दी है जिसकी उसे अपने शासन-काल में आवश्यकता पड़ने की सम्भावना थी, अर्थात् धार्मिक, नैतिक, शरई एवं राजनीति संबंधी अधिनियम। इसमें उसने उत्कृष्ट आचरण एवं नैतिकता तथा सच्चरित्रता की ओर उसे विशेष रूप से प्रेरित किया है, क्योंकि इनकी एक बड़े से बड़े बादशाह को भी आवश्यकता हो सकती है और इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक साधारण मनुष्य को भी इनकी आवश्यकता होती है। पत्र जो तबरी के इतिहास से उद्धृत है, इस प्रकार है—

> **"देखो, उस ईश्वर का भय करो जो अकेला है और कोई उसका साथी नहीं। उसके क्रोध एवं कोप से काँपते रहो। रात-दिन अपनी प्रजा की देख-भाल एवं चिन्ता रखो। स्वास्थ्य एवं समृद्धि की दशा में परलोक को कभी न भूलो। उस समय का स्मरण रखो जो तुम पर आनेवाला है। उन बातों को ध्यान में लाओ, जिनके कारण तुम से पूछ-ताछ की जायगी। केवल उनका ध्यान ही न रखो, अपितु उन पर आचरण भी करो। समस्त पुण्य कर्तव्यों का पालन करो। ईश्वर (इस प्रकार) तुम्हें अपनी रक्षा में रखेगा और परलोक में अपने क्रोध एवं दारुण वेदना से सुरक्षित रखेगा। जान लो कि ईश्वर ने तुम्हारा बड़ा**

१. इसकी रचना २०५–६ हि० (८२१ ई०) में हुई होगी। यह ९वीं शताब्दी ईसवी के ताहिर तैफ़ूर के बग़दाद के इतिहास में भी दिया हुआ है। सम्भवतः इब्ने ख़लदून को इस ग्रंथ का पता न था। अन्य इतिहासों में भी यह पत्र उद्धृत हुआ है, किन्तु सभी में तथा इब्ने ख़लदून के ग्रंथ की विभिन्न हस्तलिखित पोथियों में थोड़ा-बहुत अन्तर है।

कल्याण किया है और तुम पर बड़ी कृपा की है कि अपने दासों की देखभाल तुम्हारे हाथ में रखी है। तुम्हारे लिए यह परमावश्यक है कि तुम न्यायपूर्वक व्यवहार करो और ईश्वर के बताये हुए मार्ग पर अग्रसर रहो। लोगों के कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो। उनके सम्मान, मर्यादा, पदों, प्राणों एवं वंशों की पूरी-पूरी रक्षा करो। संक्षेप में उनके आराम के जिम्मेदार बन जाओ। तुम्हें स्मरण रहे कि ईश्वर तुमसे उन नियमों के विषय में पूछ-ताछ करेगा, जिनका पालन तुम्हारा कर्त्तव्य है और फिर बाद में उनके विषय में तुम्हें पुरस्कृत करेगा। अतः उपर्युक्त बातों का पालन करने के लिए तुम अपनी बुद्धि, समझ एवं विवेक को पूर्ण रूप से खपा दो। तुम्हारा किसी भी कार्य में व्यस्त होना इसमें बाधक न हो सके। समझ लो कि यह तुम्हारा चोटी का कार्य है। यह कार्य तुम्हारे जीवन को सुधारनेवाला है। सर्वप्रथम तुमसे इसी विषय में प्रश्न किया जायगा। तुमको चाहिए कि सर्वप्रथम अपने आपको पाँचों समय की नमाज़ का आदी बनाओ। जमाअत की नमाज़ें पढ़ते रहो। सुन्नतें[1] भी मत छोड़ो, उदाहरणार्थ वज़ू भली-भाँति करो। वज़ू में धोया जानेवाला कोई अंग सूखा न रखो। उसको अल्लाह के नाम से प्रारम्भ करो। क़ुरान ठहर-ठहरकर पढ़ो। रुकू[2], सिज्दा[3] एवं तशह्हुद[4] में जल्दी मत करो, अपितु शरीर को स्थिर करो और नमाज़ में अपना हृदय लगा दो। जो तुम्हारे सहचर अथवा तुम्हारे अधीन हों उन्हें भी इसी सदाचरण का आदी बनाओ, कारण कि इसी से प्रत्येक बुराई एवं अनुचित आचरण से बचाव होता है।

इस अनिवार्य आचरण पर अमल करने के उपरान्त मुहम्मद साहब की सुन्नतों का पालन किया करो। उनके-जैसा चरित्र अपना भी बना लो। फिर हज़रत के बाद जो पवित्र व्यक्ति हुए हैं उनके पद-चिह्नों पर चलो। जब तुम्हें

१. वे बातें जो अनिवार्य नहीं हैं, किन्तु इस कारण कि हज़रत मुहम्मद उनका ध्यान रखते थे, वे बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।
२. नमाज़ में घुटने के बल झुकना।
३. नमाज़ में भूमि पर मत्था रखना।
४. ईश्वर के एक होने एवं मुहम्मद साहब के उनके रसूल होने से सम्बन्धित वाक्य का पाठ।

किसी कठिनाई का सामना करना पड़े तो इस्तिख़ारा[1] करो। पवित्र जीवन व्यतीत करो। क़ुरान शरीफ़ में जो आदेश दिये गये हैं और जिन कार्यों के करने से रोका गया है, तदनुसार आचरण करने से बाल-बराबर भी विचलित न हो। फिर मुहम्मद साहब की हदीस को भी कभी न भुलाओ। जो क़दम उठाओ वह ईश्वर की प्रसन्नता के लिए हो। जो बातें पसन्द करो अथवा रद्द करो उनमें न्याय को हाथ से न जाने दो। इसमें किसी के प्रति पक्षपात मत करो। फ़िक़्ह सीखो एवं फ़िक़्ह-वेत्ताओं का आदर-सम्मान करो। धर्म की शिक्षा ग्रहण करो और धार्मिक लोगों का आदर-सम्मान करो। अल्लाह की किताब का अध्ययन करो, उसे समझो और उसका ज्ञान रखनेवालों का हृदय से आदर करो। जान लो कि मनुष्य को सबसे अधिक सम्मानित करनेवाला गुण यही है कि वह फ़िक़्ह के ज्ञान को सीखे-सिखाये, पढ़े-पढ़ाये एवं उसके अध्ययन में लगा रहे। वह प्रत्येक ऐसी बात में लगा रहे जो उसको अल्लाह के निकट पहुँचा दे। यही चीज़ उसके उपकार का चिह्न है और भलाई की ओर उसे ले जाती एवं उसका पथ-प्रदर्शन करती है। यही उसे पाप तथा विनाश से बचाती है। यदि ईश्वर की सहायता मनुष्य के साथ हो तो उसके ज्ञान के द्वार मनुष्य के लिए खुल जाते हैं। उसका गौरव हृदय में समा जाता है। वह परलोक में उच्च श्रेणी पाने का अधिकारी बनता है, अपितु इस लोक में भी जब तुम्हारी सच्चरित्रता प्रकट होगी तो संसार तुम्हारे आदेशों को सिर-आँखों पर रखेगा और तुम्हारे क्रोध से डरेगा। लोग तुमसे स्नेह बनाये रखेंगे। तुम्हारे न्याय पर उनको पूरा-पूरा भरोसा होगा। संयम से कार्य करो, कारण कि यह अधिक लाभदायक, शान्ति एवं रक्षा का ज़िम्मेदार और गौरव तथा श्रेष्ठता का चिह्न है। संयम ही मनुष्य को भलाई एवं श्रेष्ठता की ओर ले जाता है। उपकार दैवी सहायता का चिह्न है। दीन एवं मुहम्मद साहब की सुन्नत का आधार यह संयम ही है। संसार का उपकार भी इसी पर निर्भर है। अपना परलोक का जीवन सुधारने में लेश मात्र भी उपेक्षा न करो। पुण्य को हाथ से न जाने दो। सदाचार, सद्व्यवहार, सच्चरित्रता, शुभाकांक्षा एवं दूसरों की सहायता,सहानुभूति और अधिक-से-अधिक

१. किसी कार्य के करने के पूर्व अल्लाह की इच्छा ज्ञात करने की विधि। इसके विभिन्न नियम हैं।

भलाई के लिए यत्न करने की आदत डालो। अपने प्रत्येक व्यवहार में ईश्वर की प्रसन्नता एवं उसकी इच्छा का ध्यान रखो। क्या तुमको इतना ज्ञान नहीं कि सांसारिक बातों में संयम करने से सम्मान प्राप्त होता है, पापों से रक्षा होती है। इससे तुम्हारे कार्यों का सुधार प्रत्येक हितैषी एवं शुभचिन्तक की अपेक्षा अधिक होता है, अतः संयम को अवश्य ग्रहण करो। उससे शिक्षा प्राप्त करो। तुम्हारे समस्त कार्य बनते चले जायँगे। तुम्हारे अधिकार बढ़ेंगे। तुम्हारी विशेष एवं साधारण महत्त्वाकांक्षाएँ सुधर जायँगी। ईश्वर पर भरोसा रखो। तुम्हारी प्रजा की गरदन तुम्हारे समक्ष झुकी रहेगी। समस्त कार्यों में अल्लाह की ओर ही देखो। तुम पर जो उसकी देन है, वह बाक़ी रहेगी। जिसको तुम कोई कार्य सुपुर्द करो तो उस पर उस समय तक,जब तक कि ख़ूब पूछ-ताछ न कर लो, कोई दोष न लगाओ। कारण कि पवित्र लोगों को दोष लगाना एवं उनके विषय में कोई शंका रखना सबसे बड़ा पाप है, अतः अपने साथियों के विषय में सद्भावनाएँ रखो, दुर्भावनाओं को अपने हृदय से निकाल दो, ताकि वे अपने उत्तरदायित्व को परिश्रम एवं शान्ति से पूरा करें। ईश्वर के शत्रु शैतान को मार्ग भ्रष्ट करने का अवसर न दो। वह तुम्हारी साधारण कमज़ोरी से लाभ उठाकर तुम्हारे हृदय में शंकाएँ उत्पन्न कर देता है और तुम्हारे जीवन के आनन्द को नष्ट कर देता है। याद रखो कि सद्भावना द्वारा तुम शान्ति एवं आनन्द का अनुभव करोगे, जिससे तुम्हारे कार्य तुम्हारे इच्छानुसार ठीक हो जायँगे और लोग तुमसे प्रेम करने पर विवश होंगे और समस्त कार्य भली-भाँति सम्पन्न होंगे।

अपने साथियों के प्रति सद्भावना प्रकट करने और अपनी प्रजा के साथ दया एवं कृपा-पूर्ण व्यवहार करने का यह अर्थ नहीं कि उनके विषय में कोई जाँच अथवा पूछ-ताछ ही न की जाय और मित्रों के कारोबार से कोई सम्बन्ध ही न रखा जाय, अथवा प्रजा की आवश्यकताओं की ओर से उपेक्षा की जाय या प्रजा के विषय में कोई ध्यान ही न दिया जाय। प्रजा के उत्तरदायित्व का भार तुम्हारे लिए अन्य कर्तव्यों—भारों से हलका होना चाहिए, क्योंकि यह बोझ धर्म के तथ्य को भी जीवित रखता है और सुन्नत भी इससे जीवित रहती है। फिर एक बार और सुन लो कि इन सब कार्यों में निष्ठा परमावश्यक है। निष्ठा के बिना कुछ सम्भव नहीं। अपनी आत्मा के सुधार में इस प्रकार लग जाओ कि मानो परलोक में केवल तुमसे ही तुम्हारे आचरण के विषय में प्रश्न किया जायगा। तुम्हारे अच्छे कार्यों से तुम्हें पूर्ण लाभ होगा और बुरे कार्यों के लिए दंड दिया जायगा।

ईश्वर ने तुम्हें दीन (इस्लाम) की रक्षा एवं सम्मान का साधन बनाया है। जो तुम्हारे अधीन अथवा देख-रेख में हों उनको भी दीन के मार्ग पर चलाओ और स्वयं अपने आप को भी न भुलाओ। अपराध करने का पेशा करनेवालों को अपराध के अनुसार दंड दो। न दंड की ओर से उपेक्षा करो, न दिये हुए दंड को माफ़ करो, न उसमें नरमी दिखाओ और न उसको टालो, कारण कि उसमें कमज़ोरी दिखाना तुम्हारी सद्भावनाओं में विघ्न डालेगा। अपने सभी कार्यों में मुहम्मद साहब की सुन्नत का पालन करो और बिदअतों एवं सन्देह से बचो। इससे तुम्हारा धर्म भी सुरक्षित रहेगा और पौरुष तथा मर्यादा भी। वचन का पालन करो। सदाचरण की ओर सर्वदा प्रेरित रहो। दुर्व्यवहार का बदला नेकी से दो। अपनी प्रजा की भूलों की ओर से उपेक्षा करो। जिह्वा को झूठ बोलने से बचाओ। तुम्हारे इस लोक तथा परलोक के कार्यों के विनाश का प्रथम चिह्न यह है कि तुम झूठों को पास बैठाओ तथा झूठ का उनको साहस दिलाओ। झूठ से वास्तव में पाप प्रारम्भ होता है और चुग़ली एवं झूठे इलज़ाम से वह चरम सीमा पर पहुँच जाता है। चुग़ली सुननेवाला मित्र से वंचित होता है और चुग़ली करनेवाला सहायकों से। उसका कोई काम नहीं बनता। योग्य एवं सच्चे लोगों का हृदय से आदर करो। शरीफ़ लोगों का सम्मान करो। कमज़ोरों को साहस दिलाओ और सम्बन्धियों के साथ दयापूर्वक व्यवहार करो। इस विषय में ईश्वर की प्रसन्नता का ध्यान रखो। उसके आदेशों का पालन करो। उससे परलोक में पुण्य की आशा करो। दुर्भावनाओं एवं अत्याचार से पृथक् रहो। उनकी ओर कोई ध्यान न दो, अपितु अपनी प्रजा से कह दो कि तुम अत्याचार की किसी प्रकार अनुमति नहीं दे सकते। दंड देते समय न्याय को मत त्यागो और समस्त बातों में सत्य के समर्थक रहो। उस ज्ञान को प्राप्त करो जो तुम्हें सन्मार्ग पर ले जा सके। क्रोध के समय अपने को वश में रखो। सहनशीलता एवं धैर्य को कभी मत त्यागो। जब कोई कार्य प्रारम्भ करो तो स्वेच्छाचार, क्रोध एवं तेज़ी से काम न लो। सावधान रहो।

किसी विषय में यह न कहना कि मुझे इसके निर्णय का पूर्ण अधिकार है, मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ। कारण कि यह कथन तुम्हारे विचारों की कमज़ोरी और ईश्वर पर तुम्हारे विश्वास न होने का खुला चिह्न है। अपने उद्देश्यों में कोई कपट मत रखो। ईश्वर पर भरोसा रखो। यह जान लो कि समस्त राज्य अल्लाह का ही है। वह जिसको चाहता है देता है और जिससे चाहता है

ले लेता है।[1] तुम किसी समृद्ध से उसकी धन-सम्पत्ति इतने शीघ्र छिनती हुई न देखोगे और न ईश्वर की ओर से क्रोध होता हुआ पाओगे, जितने शीघ्र सुल्तानों एवं उच्च पदाधिकारियों से उनका पद छिन जाता है और वे ईश्वर के क्रोध का निशाना बनते हैं। यह इस प्रकार होता है कि वे अल्लाह की देन एवं उपकारों के प्रति कृतघ्नता प्रकट करने लगते हैं और अल्लाह ने उन पर जो कृपा की है उसका अनुचित लाभ उठाने लगते हैं। लोभ एवं लिप्सा से बचते रहो। उपकार एवं पवित्र जीवन को ही तुम अपना पथ-प्रदर्शक समझो। प्रजा का उपकार, देश की समृद्धि, प्रजा की देखभाल, उनके प्राणों की रक्षा एवं पीड़ितों की सहायता को ही अपनी सारी सम्पत्ति समझो। यह बात अपने ध्यान में रख लो कि धन-सम्पत्ति जब खजानों में जमा कर ली जाती है तो बढ़ती नहीं। जब उसको प्रजा की भलाई एवं उपकार में लगा दिया जाता है तो इससे उसका कल्याण होता है। उसके खतरों को उससे यदि दूर कर दिया जाता है तो प्रजा का संचित धन बढ़ता और शुद्ध होता है। देश उन्नति करता एवं समृद्ध होता है। जमाने में खुशहाली फैलती है और सम्मान एवं लाभ के मार्ग खुलते हैं। तुम्हारा खजाना इस्लाम के प्रचार एवं मुसलमानों के उपकार में व्यय हो। तुमसे पूर्व जो "अमीरुल मोमिनीन" हुए हैं उनके समय के अधिकारियों का पूरा-पूरा ध्यान रखो। उनको जो प्राप्त हो रहा हो उसमें कमी मत करो। उनकी तथा उनकी आर्थिक दशा की देखभाल रखो। यदि तुमने ऐसा किया तो वर्त्तमान समृद्धि स्थायी रूप से चलती रहेगी और अल्लाह की ओर से अधिक-से-अधिक देन प्राप्त होती रहेगी। तुम सुगमतापूर्वक खराज एवं प्रजा की अन्य धन-सम्पत्ति वसूल कर सकोगे। जब सबकी गरदनें तुम्हारे न्याय एवं उपकार के कारण झुकी होंगी तो वे तुम्हारे दास हो जायँगे। जो कुछ तुम चाहोगे उसे वे प्रसन्नतापूर्वक करेंगे।

संक्षेप में इन सब उचित बातों में जो सीमाएं हमने निर्धारित कर दी हैं उन पर दृढ़तापूर्वक जमे रहो। उनसे अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करो। यह भली-भाँति जान लो कि स्थायी वही धन है जो ईश्वर के मार्ग में व्यय किया जाय। कृतज्ञ लोगों का अधिकार पहचानो और उन्हें वह दे दो। देखो, संसार एवं उसकी समृद्धि तुम्हें परलोक के भयंकर दंड से असावधान न बना दे और तुम अपने कर्त्तव्यों के पालन में शिथिलता एवं काहिली न करने लगो। कारण

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

कि शिथिलता कर्त्तव्य-पालन में बाधक होती है, जिससे हर प्रकार के कष्ट सिर पर आ जाते हैं। जो कार्य करो अल्लाह के लिए करो और उसी से पुण्य की आशा रखो, कारण कि ईश्वर तुम्हारा अत्यधिक उपकार करता है। उसकी देनों के प्रति कृतज्ञ रहो और लेश मात्र न डगमगाओ। अल्लाह तुम्हारे प्रति अपनी दया एवं देन में वृद्धि कर देगा। अल्लाह की यह आदत है कि वह अपने कृतज्ञ बन्दों की कृतज्ञता के अनुसार उनके उपकार में वृद्धि करता रहता है। किसी पाप को साधारण न समझो। किसी ईर्ष्यालु की ओर ध्यान न दो। किसी दुराचारी पर दया मत करो। किसी कृतघ्न से मेल न करो। किसी शत्रु की उपेक्षा न करो। किसी चुग़ली करनेवाले को सच्चा न समझो। किसी विश्वासघाती पर भरोसा न करो। किसी व्यभिचारी से मित्रता मत करो। किसी मार्गभ्रष्ट का अनुसरण मत करो। धूर्त की प्रशंसा मत करो। किसी मनुष्य को क्षुद्र मत समझो। किसी भिखारी को कुछ दिये बिना वापस मत करो। झूठी बात को अच्छी दृष्टि से मत देखो। विद्वेषकों की ओर ध्यान न दो। विश्वासघात, अभिमान एवं क्रोध से कार्य न लो। किसी की आशाएँ भंग न करो। अकड़कर न चलो। परलोक सुधारने में कोई कमी न करो। चुग़ली खानेवाले की ओर आँख उठाकर भी न देखो। किसी अत्याचारी की, उससे भयभीत होने के कारण उपेक्षा मत करो। परलोक का पुण्य इस लोक में न माँगो।

फ़क़ीहों[1] से परामर्श करो। अपने आपको धैर्य का अभ्यस्त बना लो। अनुभवी लोगों, बुद्धिमानों एवं विवेकपूर्वक कार्य करनेवालों से कुछ सीखो। अपने परामर्श में विलासियों एवं कृपणों को सम्मिलित न होने दो, न उनकी बात सुनो, कारण कि उनके द्वारा जो हानि पहुँच सकती है, वह लाभ से अधिक है। याद रखो कि कृपणता से बढ़कर प्रजा के कार्यों में शीघ्र ख़राबी पैदा करनेवाली कोई आदत नहीं। भली-भाँति समझ लो कि जब तुम लोभी होगे तो अधिक लोगे, कम दोगे। जब तुम्हारी यह दशा होगी तो तुम्हारे काम बहुत ही कम बनगे और अधिकांश बिगड़ेंगे। कारण कि प्रजा तुम्हारे प्रति उसी समय तक स्नेह करती रहेगी जब तक तुम इसकी धन-सम्पत्ति को हानि न पहुँचाओगे और अत्याचार न करोगे। अपने सच्चे मित्रों के प्रति दयापूर्ण व्यवहार करो और दान-

१. फ़िक़ह-वेत्ताओं।

पुण्य करते रहो। कृपणता से बचते रहो, इसलिए कि कृपणता ही वह पहला पाप है जिसमें मनुष्य ईश्वर की अवज्ञा करता है। पापी की मित्रता वैसी ही है जैसी कि अग्नि एवं उसकी लौ की। ईश्वर का आदेश है कि जो लोग कंजूसी से बचते हैं, उनका उपकार होगा, अतः उचित अवसरों पर दान करो। समस्त मुसलमानों का भला करो और विश्वास रखो कि मनुष्य के कार्यों में दान-पुण्य को बहुत ही ऊँचा स्थान प्राप्त है, अतः दान-पुण्य की आदत डालो। उस पर आचरण करो और उसी को अपना धार्मिक विश्वास समझो।

सेना के कार्यालयों एवं पदों की जाँच पड़ताल करो। उनको दिल खोलकर रोजी दो। उनके वेतन में वृद्धि करो। इससे ईश्वर उनकी दरिद्रता एवं बुभुक्षा को भी दूर करेगा और तुम्हारे काम भी उनसे खूब निकलते जायँगे। वे सच्चे हृदय से एवं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारी आज्ञा पालन करेंगे। बादशाह के लिए यह क्या कम सौभाग्य की बात है कि वह अपनी सेना एवं प्रजा पर दया एवं कृपा करता हो, उनसे न्याय-पूर्वक व्यवहार करता हो और दान-पुण्य का हाथ उन पर खोले रहता हो। जब अच्छाई एवं बुराई के विषय में तुम्हें ज्ञान प्राप्त हो जाय तो राजनीति के उत्तम पहलुओं को अपनी दृष्टि के समक्ष रखो और उन पर आचरण करो। बुराई से बचते रहो। यदि ईश्वर ने चाहा तो तुम्हें सफलता प्राप्त होगी और तुम्हारा उपकार होगा। यह भी खूब समझ लो कि जहाँ बाह्य साधनों से सफलता नहीं मिलती, वहाँ केवल ईश्वर की कृपा से सफलता प्राप्त हो जाती है, कारण कि संसार में वही ऐसी तराजू है जिससे लोगों की कृतियाँ तोली एवं परखी जाती हैं। कर्म एवं निर्णय में न्याय पर ध्यान रखना प्रजा की दशा सुधार देता है। मार्गों पर शान्ति हो जाती है। पीड़ित को न्याय प्राप्त हो जाता है। लोग अपने-अपने अधिकार प्राप्त करते हैं। जीवन सँवरता है। ईश्वर की ओर से शान्ति प्राप्त होती है। धर्म दृढ़ता-पूर्वक स्थापित रहता है। सुन्नत एवं इस्लामी शरा का पालन होता है। ईश्वर के आदेशों का दृढ़तापूर्वक पालन करो। उपद्रव से बचते रहो। सहसा करने की आदत मत डालो। अशांति, चिंता एवं परेशानी को पास न आने दो। अपने भाग्य से संतुष्ट रहो। अपने अनुभव से लाभ उठाओ। तुम्हारा मौन रहस्यमय हो। तुम्हारी वार्ता सीधी-सच्ची हो। शत्रु के साथ न्याय करो। संदेह के अवसर पर खूब सोच-समझ लो। दलीलों एवं प्रमाणों पर भली-भाँति ध्यान दो। प्रजा के कार्यों में किसी की मित्रता एवं रवादारी की परवाह न करो। किसी निन्दा करनेवाले की निंदा का भय मत करो। सहनशील

रहो। धैर्य धारण करो। सोच-विचार से काम लो। देखो, सोचो, समझो एवं शिक्षा ग्रहण करो। अपने ईश्वर के समक्ष झुको।

अपनी प्रजा से प्रेम रखो। हत्या कराने में शीघ्रता से कार्य न करो, कारण कि किसी की अकारण हत्या करा देना ईश्वर के निकट बहुत बड़ा पाप है। खराज की पूरी देख-भाल रखो। प्रजा की कमर उसी से मजबूत होती है। अल्लाह ने उसे इस्लाम के लिए सम्मान एवं समृद्धि का साधन बनाया है, खराज के स्वामियों को उसके द्वारा समृद्धि एवं प्रतिरक्षा की शक्ति प्रदान की है। ईश्वर एवं मोमिनों के शत्रुओं के लिए उसे जलने एवं कुढ़ने का साधन बनाया है। उसको काफ़िर शत्रुओं के अपमान का जरिया बनाया है। अतः अपने सहचरों में उसे बाँटते समय न्याय एवं बराबरी के सिद्धांत को अपनी दृष्टि के समक्ष रखो। किसी शरीफ़ को उसकी शराफ़त, किसी धनी को उसकी धन-सम्पत्ति, किसी कातिब को उसकी किताबत के कारण अथवा किसी विश्वासपात्र को उससे वंचित न करो। किसी पर इतना बोझ न लादो जिसे वह सहन न कर सके। सबको न्यायपूर्वक अपने-अपने स्थानों पर बनाये रखो। इससे वे शान्ति के साथ रहेंगे और प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत करेंगे।

खूब समझ लो कि जबसे तुम वाली बने हो, तुम सबके खजांची भी हो, रक्षक एवं आश्रयदाता भी हो। जो लोग तुम्हारे अधीन हैं उन्हें रैयत इसी कारण कहा गया है कि तुम उनके लिए गड़रिये के समान हो। जो धन उनकी आवश्यकता से अधिक हो और उसमें से जो कुछ वे तुमको दें, वह लो और उसको उन्हीं के कार्यों के ठीक करने एवं उन्हीं के उपकार में व्यय करो। उन पर ऐसे लोगों को शासक एवं हाकिम नियुक्त करो जिनमें विवेक हो, जो अनुभवी एवं ज्ञानी हों, शासन-प्रबंध एवं राजनीति से भली-भाँति परिचित हों, क्रियात्मक दृष्टि से भी कुशल एवं अनुभवी हों। उनके लिए रोजी के द्वार खोल दो। राज्य की ओर से जिन कर्त्तव्यों का तुम्हें पालन करना चाहिए, उनकी व्यवस्था करना तुम्हारा ही उत्तरदायित्व है। इनमें उपर्युक्त विषयों को बड़ा महत्व प्राप्त है, अतः कोई कार्य एवं व्यस्तता तुम्हें इस कार्य से न रोके। यदि तुमने इसका निर्धारण कर लिया और उसको भली-भाँति सम्पन्न कर लिया, तो तुम अपने ईश्वर की ओर से अधिक देन के पात्र बनोगे। तुम्हारे कार्य चलते चले जायेंगे। प्रजा तुम पर प्राण न्योछावर करेगी और तुम्हें पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त होती रहेगी, फलतः तुम्हारा नगर समृद्ध एवं धनधान्य-सम्पन्न हो जायगा। उसकी सीमा का

विस्तार बढ़ेगा, ख़राज में वृद्धि होगी और फिर इससे तुम्हारी सेना की हालत भी सुधर जायगी। साधारण लोग तुमसे प्रसन्न रहेंगे, कारण कि तुम्हारे द्वारा उन पर धन-सम्पत्ति की वर्षा होगी। शत्रु भी तुम्हारी राजनीति एवं तुम्हारे न्याय का गुणगान करेंगे। संक्षेप में तुम्हारे प्रत्येक कार्य में न्याय दृष्टिगत होगा और शक्ति दिखाई पड़ेगी, अतः बड़ी रुचि एवं साधना से इस शिक्षा पर आचरण करो और इसे हर चीज से अधिक महत्त्व दो। ईश्वर ने चाहा तो तुम्हारे कार्यों का अच्छा फल मिलेगा।

अपने राज्य के प्रत्येक नगर में एक अमीन[1] नियुक्त करो, जो तुम्हारे आमिलों[2] के आचरण एवं कार्यों से तुम्हें ऐसा अवगत रखे मानो तुम अपने प्रत्येक आमिल के कार्य को स्वयं देख रहे हो। अपने आमिलों को जो भी आदेश दो उसे भली-भाँति सोच लो। यदि उसमें लोगों की कुशलता एवं उपकार पाओ और उससे कोई कष्ट टलता एवं कुछ भला होता हुआ देखो, तो उसे जारी करो, अन्यथा आदेश को रोके रखो। बुद्धिमान् लोगों से इसके विषय में परामर्श करो। फिर जो बात निश्चय हो वह करो। कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्य एक बात को सोचता है, तौलता है और फिर अपने मतानुसार उस पर आचरण करता है, किन्तु उसमें धोखा दृष्टिगत होता है। अतः यदि परिणाम पर दृष्टि न रखी जाय तो विनाश का सामना करना पड़ता है और कार्य अलग बिगड़ता है। अतः जिस बात का संकल्प करो उसमें अपनी पूरी समझ से काम लो और फिर ईश्वर से सहायता माँगते हुए पूरी शक्ति एवं भरोसे से उसमें लग जाओ। अपने समस्त कार्यों में इस्तिख़ारा किया करो। आज का काम आज ही कर लो। उसको कल पर न छोड़ो। कार्य स्वयं करो। आज का काम यदि तुमने कल पर टाला तो कल के लिए पृथक् कार्य होंगे जो टाले हुए कार्य को न करने देंगे। यदि दोनों कार्य करोगे तो थककर रुग्ण हो जाओगे। जब हर रोज का काम रोजाना कर लोगे तो शरीर को भी सुख प्राप्त होगा, हृदय को भी शान्ति मिलेगी और तुम्हारी शक्ति भी बनी रहेगी। जिन शरीफ़ तथा सम्मानित व्यक्तियों के स्वभाव एवं चरित्र की जाँच-पड़ताल कर चुको और जो तुम्हारे प्रति स्नेहपूर्वक व्यवहार करें और तुम्हें उचित परामर्श दें, तुम्हारे कार्यों की देख-भाल करें तो अपनी

१. विश्वस्त अधिकारी।
२. पदाधिकारियों।

मित्रता के लिए उन्हें छाँट लो। उनका उपकार करो और उन पर दया की वर्षा करो। उनमें से आवश्यकता-ग्रस्त लोगों की आवश्यकता पूरी करो। उनके बोझ को स्वयं वहन करो। उनका सुधार करो, ताकि उन्हें किसी अन्य मित्र की आवश्यकता न रहे। दीन, निर्धन तथा ऐसे निःसहाय लोगों की, जो अपनी फ़रियाद तुम तक न पहुँचा सकें, अथवा उन लोगों की, जिन्हें अपने अधिकारों का स्वयं ज्ञान न हो देख-रेख में पूरी शक्ति लगा दो। तुम्हारी प्रजा में से जो लोग सदाचारी हों उनको इस कार्य हेतु नियुक्त करो कि वह इस प्रकार के निर्धनों की आवश्यकताएँ तुम तक पहुँचायें, ताकि तुमको उनके उपकार का अवसर प्राप्त हो सके।

अनाथों, विधवाओं और दुखी लोगों का पता लगाओ। 'अमीरुल मोमिनीन" के आचरणानुसार बैतुल माल से उनकी वृत्ति निश्चित करो ताकि, उन पर ईश्वर की दया प्रदर्शित हो सके। इससे ईश्वर उनके जीवन को भी सुखी कर देगा और तुम्हारी धन-सम्पत्ति में भी वृद्धि करेगा। अंधों एवं अपाहिजों के लिए बैतुल माल से वृत्तियाँ निश्चित करो। वृत्तियों की सूची में "हाफ़िज़ों"[१] को प्राथमिकता प्रदान करो। उन्हें अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक वृत्ति दो। मुसलमान रोगियों के लिए चिकित्सालय खोलो। रोगियों के लिए दयाभाव रखनेवाले सेवक एवं कुशल चिकित्सकों का प्रबंध करो जो उनका सच्चा उपचार करें। उनकी आवश्यकताओं की व्यवस्था करो, किन्तु इस बात का ध्यान रखो कि बैतुल माल पर अपव्यय का बोझ न पड़ने पाये, कारण कि जब लोगों के अधिकार एवं उनकी बड़ी-से-बड़ी इच्छाएँ पूरी कर दी जाती हैं तो वे इस पर भी प्रसन्न नहीं होते और जब तक अपने वालियों के समक्ष अपनी आवश्यकताओं का वर्णन न करें, संतुष्ट नहीं होते। उन्हें और अधिक प्राप्त करने तथा अधिक उदारता का सर्वदा लोभ रहता है। कभी-कभी लोगों की ओर से उचित एवं अनुचित प्रार्थनाएँ इतनी अधिक संख्या में होती हैं कि अधिकारी वर्ग थककर परेशान हो जाता है। जो व्यक्ति न्याय की ओर इस कारण प्रेरित होता है कि वह उसका लाभ इस लोक में एवं पुण्य परलोक में पाये, तो वह उस व्यक्ति की तुलना में, जो केवल ईश्वर के निकट पहुँचने के लोभ एवं उसकी दया की अभिलाषा से न्याय करता है और इसके अतिरिक्त उसका कोई उद्देश्य नहीं होता, बराबर तो क्या, कम ही होता है।

१. जिन्हें पूरा क़ुरान शरीफ़ कंठस्थ होता है।

लोगों को अपने समक्ष उपस्थित होने की आम अनुमति दो और उनसे बेरोक-टोक खुलकर मिलो। उनसे मिलते समय अपने होश-हवास ठीक रखो। उनके समक्ष नम्र बने रहो और प्रसन्नचित्त रहो। प्रश्नोत्तर एवं वार्त्तालाप में मीठे बोल बोलो। दान-पुण्य से उन्हें लाभ पहुँचाओ। जब लोगों को कुछ देना चाहो तो दिल खोलकर एवं प्रसन्नचित्त होकर प्रदान करो। केवल नैतिक दृष्टि-कोण एवं पुण्य का ध्यान रखो। उनको असंतुष्ट न करो, न उन पर एहसान जताओ, कारण कि यह ऐसा लाभदायक व्यापार है जो ईश्वर ने चाहा तो लाभ पहुँचाकर रहता है। प्राचीन काल में तथा प्राचीन क़ौमों में जो सुल्तान एवं अमीर हुए हैं उनके इतिहास से शिक्षा ग्रहण करो। फिर अपनी समस्त बातों में केवल अल्लाह पर ही भरोसा रखो। उससे प्रेम का सम्बन्ध रखो। उसकी भेजी हुई शरीअत एवं मुहम्मद साहब की सुन्नत का पालन करो। उसके दीन एवं उसकी किताब का संसार में प्रचार करो। उनके विरुद्ध ऐसे कार्य कदापि न करो जो ईश्वर के क्रोध को भड़काएँ।

तुम्हारे आमिल जो धन एकत्र करते हैं और जो कुछ व्यय करते हैं, उसकी देख-भाल रखो कि वह धन कहाँ-कहाँ से आता है और कहाँ-कहाँ चला जाता है। तुम न हराम कमाई करो और न अपव्यय। आलिमों की गोष्ठियों में अधिक उठा-बैठा करो। उनकी परामर्श-गोष्ठियों एवं सभाओं में सम्मिलित हुआ करो। तुम्हारे मित्र ऐसे होने चाहिए कि यदि वे तुममें कोई दोष पायें तो तुम्हें उसकी सूचना देने में तुम्हारा आतंक उनको न रोक सके, अपितु गुप्त रूप से अथवा खुल्लम-खुल्ला वे तुमको टोकें और तुम्हारी त्रुटियों को बतायें। तुम्हारे इस प्रकार के मित्र वास्तव में तुम्हारे हितैषी एवं शुभचिंतक होंगे। अपने आमिलों एवं कातिबों के कार्य की देख-भाल रखो। उनमें से प्रत्येक के लिए विशेष समय निश्चित कर दो ताकि वे उस समय सल्तनत एवं प्रजा की समस्त बातें तुम्हारी सेवा में प्रस्तुत करें और तुमको पढ़कर सुनायें। तुम उस समय पूर्ण रूप से सावधान होकर बैठो और जो बातें प्रस्तुत हों उन पर बार-बार ग़ौर करो। उनके विषय में पूरा विचार करके संतुष्ट हुआ करो। तुम जो भी उपकार करो उसका कोई एहसान न प्रजा पर जताओ और न किसी अन्य पर। किसी से निष्ठापूर्वक व्यव-हार के अतिरिक्त कुछ आशा मत करो। संयम से कार्य करो और मुसलमानों के कार्यों में उनकी सहायता करते रहो। इसी उद्देश्य से दया एवं उपकार के कार्य करो।

मेरे इस पत्र पर ग़ौर करो और इसकी शिक्षाओं पर सदा आचरण करो। अपने समस्त कार्यों में अल्लाह पर भरोसा रखो और उसी से कुशलता एवं भलाई की इच्छा करते रहो, कारण कि ईश्वर सदाचारियों का सर्वदा साथ देता है। तुम्हारी सबसे बड़ी इच्छा यह हो कि ईश्वर तुमसे संतुष्ट रहे। धार्मिक शासन संसार में स्थापित हो। धर्मनिष्ठ लोगों को सम्मान प्राप्त हो। काम में न्याय, सदाचरण एवं सच्चरित्रता का संचार हो। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि ईश्वर तुम्हारी सहायता करे, तुम्हारे प्रति दया का व्यवहार करे और तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करे एवं तुम्हें भाग्यशाली बनाये।"

इतिहासकारों का कथन है कि जब यह पत्र प्रकाशित हुआ तो लोगों को बड़ा पसन्द आया। जब यह मामून के समक्ष पढ़ा गया तो मामून ने कहा कि वास्तव में ताहिर ने कोई बात नहीं छोड़ी जिसके विषय में शिक्षा न दी हो। सांसारिक, धार्मिक, देश एवं प्रजा सभी के उपकार के उपाय बताये हैं। सल्तनत एवं खिलाफ़त की स्थापना, रक्षा के नियम एवं खलीफ़ाओं की आज्ञाकारिता, सभी बातों पर ज़ोर दिया है। फिर मामून के आदेशानुसार उसकी प्रतियाँ सभी दिशाओं के आमिलों के पास इस आशय से भेजी गयीं कि वे इसका अक्षरशः पालन करें और इसकी शिक्षाओं के अनुसार आचरण करें।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इस पत्र से बढ़कर राजनीति के सिद्धान्तों की शिक्षा देने-वाला कोई अन्य लेख नहीं है।

(५२) इमाम महदी, उनके विषय में लोगों के विचार एवं महदवियत की वास्तविकता

शताब्दियों से मुसलमानों में यह भविष्यवाणी प्रचलित है कि संसार के अन्तिम काल में "अहले बैत"[१] से एक ऐसा व्यक्ति संसार में पैदा होगा जो ईश्वर के दीन को संसार में स्थापित करेगा, न्याय फैलायेगा, मुसलमान उसका साथ देंगे और वह समस्त इस्लामी राज्यों को अपने अधिकार में कर लेगा। उसका नाम महदी होगा। फिर महदी के बाद दज्जाल[२] आयेगा एवं क़यामत के अन्य चिह्न दृष्टिगत होंगे। जैसा कि

१. हज़रत मुहम्मद के घर के लोग।
२. वह झूठा, जो क़यामत के पूर्व ख़ुदा होने का दावा करेगा। कहा जाता है कि वह काना होगा।

प्रामाणिक हदीसों में उल्लेख है, हज़रत ईसा उतरेंगे और दज्जाल की हत्या करेंगे। अथवा हज़रत ईसा भी हज़रत महदी के साथ प्रकट होंगे और दज्जाल की एक-दूसरे की सहायता से हत्या करेंगे। हज़रत ईसा इमाम महदी के पीछे नमाज़ पढ़ेंगे। इन विश्वासों के सम्बन्ध में मुसलमान उन हदीसों से प्रमाण प्रस्तुत करते हैं जिनको हदीस के विद्वान् उद्धृत करते हैं। जिनका इसके विरुद्ध विश्वास है वे इन हदीसों में संदेह प्रकट करते हैं और कुछ हदीसें इसके विरुद्ध बताते हैं। पिछले युग के सूफ़ी लोग इमाम महदी के प्रकट होने की समस्या का अन्य प्रकार से समाधान करते हैं। उनके तर्क का नियम और ही है। वे इसमें कश्फ़[१] से कार्य लेते हैं जो उनका मूल नियम है।

अनेक आलिमों ने महदी के विषय में हदीसें प्रस्तुत की हैं, जिनमें तिरमिज़ी,[२] अबू दाऊद,[३] अल-बज़्ज़ार,[४] इब्ने माजह,[५] अल-हाकिम,[६] अत्तबरानी,[७] अबू यला अल मौसिली[८] प्रमुख हैं।......[९]

१. सूफ़ियों की वह शक्ति जिससे वे गुप्त बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

२. मुहम्मद बिन ईसा "तिरमिज़ी" की मृत्यु २७९ हि० (८९२ ई०) में हुई।

३. सुलेमान बिन अल अशऊद २०२–२७५ हि० (८१७–१८–८८९ ई०)। उनकी रचना का नाम सुनन है।

४. अहमद बिन अमर अल-बज़्ज़ार की मृत्यु २९२ हि० (९०४–५ ई०) में हुई। उनकी रचना का नाम मुसनद है।

५. मुहम्मद बिन यज़ीद २०९–२७३ हि० (८२४–२५–८८७ ई०)। उनकी रचना का नाम सुनन है।

६. अबू अब्दुल्लाह मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह अल-हाकिम अन्-नीशापूरी, ३२१–४०५ हि० (९३३–१०१४ ई०)। उनकी रचना का नाम मुस्तदरक है।

७. सुलेमान बिन अहमद अत्तबरानी, २६०–३६० हि० (८७३–९७१ ई०)।

८. अहमद बिन अली अबू यला यला मौसिली की मृत्यु ३०७ हि० (९१९–२० ई०) में हुई।

९. इसके उपरान्त हदीसों का उल्लेख है जिनका अनुवाद नहीं किया गया। हदीसों के उपरान्त सूफ़ियों के मतों की भी चर्चा की गयी है। इसका अनुवाद भी छोड़ दिया गया है।

(५३) सल्तनत एवं क़ौमों का अभ्युदय

तथा

भविष्यवाणियाँ एवं जफ़र[1]

मानव की यह स्वाभाविक विशेषता है कि उसे अपने कार्यों के परिणाम की चिंता रहती है और वह अपने जीवन एवं मृत्यु के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया करता है। भविष्य में घटनेवाली अच्छी-बुरी घटनाओं की जानकारी में उसे बड़ी रुचि होती है। उदाहरणार्थ, वह पता लगाया करता है कि संसार का जीवन-काल अब कितना रह गया है ? सल्तनतें अपना प्रभुत्व कब तक स्थापित रख सकेंगी ? उनमें से सबसे पहले कौन-सी सल्तनत समाप्त होगी और बाद में कौन-सी ? संक्षेप में इन बातों की खोज मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, इसी कारण आप अनेक लोगों को देखेंगे कि वे स्वप्न द्वारा भविष्य में घटनेवाली घटनाओं के परिणाम का पता लगाने का प्रयत्न किया करते हैं। यह बात तो हम साधारणतः देखा ही करते हैं कि बादशाह एवं सर्वसाधारण भी काहनों[2] के पास जा-जाकर भविष्य की घटनाओं का पता लगाया करते हैं। यही कारण है कि बड़े-बड़े नगरों में कुछ लोग भविष्यवाणी के व्यवसाय द्वारा रोज़ी कमाते हैं। इसका कारण यह है कि उन्हें ज्ञात है कि लोगों की इसमें बड़ी दिलचस्पी होती है, फिर वे इसे जीविकोपार्जन का साधन क्यों न बनायें। वे काहन मार्गों में बैठ जाते हैं अथवा दूकानें लगा लेते हैं और उनसे जो प्रश्न किया जाता है, उसका उत्तर देने के लिए उद्यत रहते हैं। अतः स्त्रियों, बालकों एवं मूर्खों की प्रातःकाल से सायंकाल तक उनके पास भीड़ लगी रहती है। एक आता है और एक जाता है। कोई अपनी कमाई एवं पद के विषय में पूछता है तो कोई अपनी आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के विषय में प्रश्न करता है। कोई शत्रुता एवं मित्रता की समस्याओं का समाधान चाहता है।

जो इन प्रश्नों का उत्तर रमल[3] के चिह्नों से देते हैं उन्हें मुनज्जिम (ज्योतिषी) कहा जाता है, जो लोग छोटे-छोटे कंकड़ों एवं अनाज के दानों से भविष्यगणना करते हैं,

१. भविष्यवाणी की एक विधि।
२. शकुन विचारनेवाले।
३. शून्य की बिन्दियों द्वारा भविष्यवाणी की एक विधि।

उन्हें "हासिब"[१] कहते हैं। दर्पण अथवा जल देखकर भविष्यवाणी करनेवाले 'ज़ारिबुल मन्दल'[२] कहलाते हैं।......[३]

१. हिसाब लगानेवाले।

२. वृत्त खींचनेवाले।

३. इसके उपरान्त भविष्यवाणी के विभिन्न नियमों एवं इस्लामी सल्तनतों की अवस्था के विषय में भविष्यवाणियों की चर्चा की गयी है।

अध्याय ४

देश एवं नगर

नगर सम्बन्धी सभ्यता की विभिन्न क़िस्में, नगरों की दशा, उसका विवेचन

(१) सल्तनत का अभ्युदय नगर एवं आबादियों के पूर्व होता है

बड़ी-बड़ी आलीशान इमारतों एवं भव्य भवनों का निर्माण सभ्यता एवं संस्कृति का ही परिणाम होता है। भोग-विलास तथा आराम-चैन, राज्य की खुशहाली एवं समृद्धि के द्योतक होते हैं। इसका प्रमाण हम पिछले पृष्ठों में दे चुके हैं। संस्कृति अपना यह प्रभाव उस समय जमाती है जब "बदवियत" एवं उसकी आवश्यकताओं का युग समाप्त हो चुकता है और शहर का जीवन उसका स्थान ले चुकता है। उस समय तक कोई शक्तिशाली सल्तनत स्थापित हो चुकती है। इसके अतिरिक्त शहरों एवं नगरों का तात्पर्य उन्ही बस्तियों से होता है जिनमें सब लोगों के लिए न कि विशेष लोगों के रहने-बसने के लिए, बड़े-बड़े भवन हों। यह बात उसी समय सम्भव है जब कि लोग बड़ी संख्या में मिल-जुलकर रहें और एक दूसरे की सहायता करें। किसी एक व्यक्ति अथवा छोटे-से समूह द्वारा यह सम्भव नहीं कि वह ऐसे भवन बना ले। फिर यह कार्य उन परमावश्यक कार्यों में नहीं आता जिनके करने के लिए मनुष्य स्वाभाविक रूप से बाध्य होता है। यह ज़रूरी नहीं कि वह बिना किसी दबाव के ऐसी बस्तियों के बसाने में व्यस्त हो जाय। वास्तविक वस्तुस्थिति तो यह है कि सल्तनत अपने दबाव, धौंस और राज्य की शक्ति द्वारा साधारण लोगों से निर्माण कार्य कराती है। अधिक से अधिक मज़दूरियाँ देकर भव्य भवनों का निर्माण कराया जाता है और इस प्रकार एक शानदार नगर बस जाता है। यह बात स्पष्ट है कि अधिक से अधिक मज़दूरियाँ देना अथवा ज़बरदस्ती काम लेना सल्तनत एवं राज्य द्वारा ही सम्भव है। अतः यह भी स्पष्ट है कि नगर बसाने एवं बड़ी-बड़ी इमारतों के निर्माण के लिए सल्तनत का अस्तित्व अनिवार्य एवं अपरिहेय होता है।

नगरों को बसाने के इच्छुक शासन एवं सल्तनत के दृष्टिकोण तथा अध्यवसाय के अनुसार और दैवी घटनाओं के अधीन जब नगर बसकर पूर्ण हो जाता है तब उसकी परिस्थितियाँ एवं जीवन-अवधि सल्तनत की जीवन-अवधि से सम्बन्धित होती हैं। वे उसी के साथ चलती और समाप्त होती हैं। यदि सल्तनत का जीवन काल कम होता है और कुछ दिन जमने के बाद वह समाप्त होने लगती है तो बसा-बसाया नगर भी उजड़ना प्रारम्भ हो जाता है और वहाँ विनाश एवं शोक का वातावरण छा जाता है।

यदि सल्तनत की आय अधिक होती है तो नगर की समृद्धि भी दिन दूनी, रात चौगुनी उन्नति करने लगती है। बड़े-बड़े कारखाने खुलते हैं। लम्बे-चौड़े भव्य भवनों का निर्माण होता है। नित्यप्रति उनकी संख्या बढ़ती है। खुले बाज़ार बन जाते हैं। चौड़े मार्ग बनाये जाते हैं। यहाँ तक कि मीलों के क्षेत्रफल में चमकीला, दमकीला नगर बस जाता है। बग़दाद सरीखे भव्य नगरों का उदाहरण हमारे समक्ष है।

ख़तीब बग़दादी[1] ने अपने इतिहास में लिखा है कि मामून के राज्यकाल में बग़-दाद में ६५,००० स्नानागार थे। चालीस से अधिक आबादियाँ मिलकर बग़दाद नगर बसा था और उसकी जन-संख्या इतनी अधिक हो गयी थी कि वह किसी चहार-दीवारी में न घेरी जा सकती थी। इस्लाम के प्रारम्भ में क़ैरवान, क़रतबा एवं मह-दिया की आबादियाँ ऐसी ही फैल गयी थीं। उनके उपरान्त क़ाहिरा का ऐश्वर्य एवं गौरव भी इतना बढ़ गया था। कभी-कभी नगर बसानेवाली सल्तनतें नष्ट हो जाती हैं, किन्तु जो पर्वत एवं मैदान नगर को घेरे होते हैं, वे उसकी सभ्यता के अन्तः-प्रवाह के साधन बन जाते हैं। इस प्रकार नगर राज्य के समाप्त हो जाने के उपरान्त भी जीवित रहता है और बाहरी स्थानों से अपनी जनसंख्या की कमी पूरी कर लेता है। मग़रिब में फ़ास (फ़ेज़) एवं बजाया तथा पूर्व में इराक़ और अजम के नगर इसी प्रकार अपनी आबादी को सुरक्षित रख सके और उनके आस-पास की बस्तियों ने उनकी जनसंख्या को गिरने नहीं दिया। इसका कारण यह है कि बदवी लोगों की आदत होती है कि जब वे लोग समृद्धि एवं सुख सम्पन्नता की हालत में प्रवेश करते हैं तो सुख-चैन एवं नाज़ व नेमत के जीवन के आदी हो जाते हैं और नगरों में जाकर बस जाते हैं तथा स्थायी रूप से वहीं निवास करना प्रारम्भ कर देते हैं। अब यदि इस बसे हुए नगर के इर्द-गिर्द बदवी बस्तियाँ नहीं हैं अथवा कम हैं तो संस्थापिका सल्तनत का विनाश नगर की वीरानी एवं विनाश का द्योतक होता है। इधर वह सल्तनत मिटी, उधर उस नगर की आबादी घटनी प्रारम्भ हुई। यहाँ तक कि उसके निवासी तितर-बितर हो जाते हैं और एक भरा-पूरा नगर एकदम उजाड़ नजर आता है। मिस्र बग़दाद, कूफ़ा, क़ैरवान, महदिया तथा बनी हम्माद इत्यादि के क़िलों की यही दशा हुई।

कभी-कभी ऐसा होता है कि संस्थापिका सल्तनत के समाप्त होने के उपरान्त तुरन्त ही कोई दूसरी सल्तनत उसका स्थान ले लेती है और उस नगर को अपनी राज-धानी बना लेती है। उस सल्तनत का विचार यह होता है कि जब एक बना-बनाया

१. सम्भवतः अल-ख़तीब-अल बग़दादी, 'तारीख़े बग़दाद' का लेखक।

तथा बसा-बसाया नगर प्राप्त हो रहा है, तो उसे नया नगर बसाने की आवश्यकता ही क्या है ? इस दशा में उस नगर को और भी रौनक़ प्राप्त हो जाती है और उसकी रौनक़ को चार-चाँद लग जाते हैं। घर बहुत बड़ी संख्या में बनते हैं, कारखाने खुलते हैं। संक्षेप में, नया राज्य जैसे-जैसे उन्नति करता है नगर भी अपना रंग-रूप बदलता है, मानो नया जीवन प्राप्त करता हो। फ़ास और क़ाहिरा के शहर इसी तरह उन्नत हुए हैं।

(२) सल्तनत की स्थापना के पश्चात् सल्तनतें नगरों में पाँव जमाना चाहती हैं

जब किसी क़ौम को प्रभुत्व प्राप्त होता है तो वह आस-पास के नगरों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए विवश होती है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि सल्तनत स्थापित होने पर लोगों में आराम की आदत एवं विलास-प्रियता बढ़ जाती है और वे अपने कार्य-भार को हलका करने की चिन्ता करने लगते हैं। सभ्यता की जो आवश्यकताएँ अपूर्ण एवं अधूरी रहती हैं, उनकी पूर्ति भी सल्तनत करना चाहती है। संक्षेप में ये आवश्यकताएँ एवं उद्देश्य नगर में ही पूरे हो सकते हैं, अतः सल्तनत नगर में ही अपने पाँव जमाना चाहती है। दूसरा कारण यह है कि नगरों पर अधिकार कर लेने के उपरान्त शत्रुओं का खटका मिटता है,कारण कि सीमा के समीप का नगर कभी-कभी शत्रु के लिए शरण का स्थान बन जाता है। वह उसमें ठहरकर दृढ़तापूर्वक युद्ध करता है। नये राज्य का पौरुषपूर्वक मुक़ाबला करता है और चाहता है कि नयी शक्ति का नितान्त विनाश कर दे। इस संघर्ष में नगर उसके शत्रु के लिए कवच का काम करता है और उसकी योजनाओं को सहायता पहुँचाता है। तब उस नगर को विजय कर लेना बड़ा कठिन हो जाता है।

नगर में प्रतिरक्षा के साधन बहुत अधिक होते हैं। वहाँ दृढ़ क़िले तथा चहार-दीवारियाँ होती हैं, अतः नगर में रहकर युद्ध करने के लिए थोड़ी-सी सेना भी बहुत बड़ी सेना का काम देती है। नगर में "असबियत" की आवश्यकता भी अधिक नहीं होती, कारण कि खुले मैदानों में उनकी आवश्यकता उस समय होती है जब शत्रु टूटकर गिरता है। ऐसी अवस्था में "असबियत" एवं एक दूसरे की सहायता के भरोसे पर ही शत्रु का डटकर मुक़ाबला किया जाता है। किन्तु नगर में दृढ़ एवं मज़बूत शहरपनाहें "असबियत" तथा सेना के आधिक्य की आवश्यकता बहुत कुछ पूरी कर देती हैं। संक्षेप में

२४

क़िले, चहार-दीवारियाँ एवं शहरपनाहें खुले मैदान में युद्ध करनेवाली शक्ति का साहस शीघ्र समाप्त कर देती हैं और उसके प्रभुत्व की योजनाओं को मिट्टी में मिला देती हैं। इस परिस्थिति के कारण नयी सल्तनतों के लिए आस-पास के नगरों का विजय कर लेना अपने जीवित रहने के लिए परमावश्यक होता है ताकि वे इस भय से सदा के लिए मुक्त हो जायँ। यदि आस-पास नगर न हो तो सल्तनत को स्वयं नये नगर बसाने की चिन्ता होती है, ताकि सभ्यता की उन्नति हो सके और धन-सम्पत्ति को इधर-उधर लिये फिरने से मुक्ति प्राप्त हो जाय। यह उद्देश्य भी सामने होता है कि यदि कोई "असबियतवाला" क़बीला अथवा समूह उन पर आक्रमण कर दे तो उससे अपनी रक्षा करने के लिए एक दृढ़ स्थान मिल सके, अतः इस वाद-विवाद द्वारा यह सिद्ध होता है कि सल्तनत की स्थापना के उपरान्त नगर में निवास करना एवं उस पर अधिकार जमाना परमावश्यक होता है।

(३) बड़े-बड़े नगरों एवं भव्य भवनों का निर्माण शक्तिशाली सल्तनतें ही करती हैं

यह हम पहले स्पष्ट कर आये हैं कि नगर की इमारतों, भवनों, एवं गृहों का बड़ा-छोटा होना सल्तनत की शक्ति एवं निर्बलता पर निर्भर है। इसका यह कारण है कि नगर का निर्माण मज़दूरों, कारीगरों एवं मेमारों की अधिकता और बहुतायत पर निर्भर है। जब सल्तनत बड़ी होती है और उसके इलाक़े एवं सीमाएँ दूर-दूर तक फैली होती हैं तो वह अपने राज्य के आस-पास से मज़दूर एवं कारीगर अधिक संख्या में एकत्र कर लेती हैं और वे मिल-जुलकर देखते-देखते भूमि को दृढ़ भवनों से ढँक देते हैं। कभी-कभी निर्माण-कार्य में नाना प्रकार की मशीनों एवं चरखियों आदि से भी काम लेते हैं। कुछ लोग जब प्राचीन नगरों के आश्चर्यजनक भग्नावशेषों, किसरा के ऐवान, मिस्र के एहरामों, मल्गा (कार्थेज) एवं शरशाल की मेहराबों आदि को देखते हैं तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वे यह सोचने पर विवश होते हैं कि जैसे विशाल प्राचीन लोगों के ये भव्य भवन हैं, वैसे सम्भवतः उनके डील-डौल भी लम्बे-चौड़े ही रहे होंगे, हालाँ कि ऐसा सोचना एक भूल एवं गलती है और उनकी उन मशीनों एवं चरखियों के प्रयोग से परिचित न होने का प्रमाण हैं जो भूतकाल में उन्होंने भवनों के निर्माण के लिए ईजाद कर रखी थी और जिनकी सहायता से वे इन गगनचुम्बी भवनों का निर्माण कर गये। यदि किसी को विश्वास न हो तो अजम के देशों में जाकर देख ले कि भारी बोझ उठाने के लिए उन्होंने कैसे-कैसे यंत्रों का आविष्कार किया था।

प्रायः लोग जब भव्य एवं प्राचीन भवनों को देखते हैं तो कह दिया करते हैं कि ये आद जाति के बनाये हुए हैं, कारण कि उन्होंने यह धारणा बना ली है कि इस क़ौम का डील-डौल असाधारण था और यह देवरूपी क़ौम थी, हालाँ कि यह विचार निराधार है। हमको अनेक प्राचीन आश्चर्यजनक भवन ऐसे लोगों के भी मिलेंगे जिनके डील-डौल के विषय में हमें विश्वस्त रूप से ज्ञात है कि वे हम-जैसे ही अथवा हमसे कुछ अधिक डील-डौल के न थे। उदाहरणार्थ, फ़ारस में किसरा का ऐवान, इफ़रीक़िया में उबैदीईन के भवन, बनी हम्माद के क़लए में सिनहाजा के भग्नावशेष, क़ैरवान मस्जिद में अग़ालबा के भग्नावशेष, रबातुल फ़तह में मुवह्हेदीन के गगन-चुम्बी भवन, रबाते अबू सईद इत्यादि। इनके निर्माताओं का हाल चाहे वे हमारे युग के समीप के हों और चाहे पहले के, हमें विश्वास के साथ ज्ञात है और हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वे किसी असाधारण डील-डौल के व्यक्ति न थे। यह केवल कहानी कहनेवालों की कपोलकल्पित बातें हैं जो उन्होंने आद, समूद तथा अमालक़ा जातियों के बारे में गढ़ी हैं। उदाहरणार्थ, समूद के तराशे हुए पत्थरों के घर उसी रूप में अबतक वर्त्तमान हैं। प्रामाणिक हदीसों से भी सिद्ध होता है कि ये घर उन्हीं के हैं। हिजाज़ी क़ाफ़ले रातदिन उनकी ओर से गुज़रते हैं और उनको देखते हैं कि लम्बाई तथा चौड़ाई में वे साधारण घरों के समान हैं। वास्तव में इन क़ौमों के विषय में मस्तिष्क में ग़लत धारणाएँ बैठ गयी हैं और उन धारणाओं के कारण यह निराधार किस्से भी गढ़ लिये गये हैं। अतः बड़ी-बड़ी शानदार इमारतें, कारीगरों के डील-डौल की द्योतक नहीं, अपितु उस सल्तनत के ऐश्वर्य एवं वैभव की द्योतक हैं जिसके राज्यकाल में उनका निर्माण हुआ।

"ईश्वर जो चाहता है वह पैदा करता है[1]।"

(४) बड़े-बड़े भवन एक ही सल्तनत नहीं बना सकती

इसका कारण वही है जिसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि भव्य भवनों के निर्माण हेतु बहुसंख्यक मनुष्यों का मिल-जुलकर काम करना और पारस्परिक सहयोग से कार्य की मात्रा बढ़ाना नितांत आवश्यक है, कारण कि कुछ भवन इतन बड़े होते हैं कि उनका निर्माण एक अथवा दो या दस-बीस या सौ-पचास मनुष्यों के बस की बात नहीं होती। बहुत बड़ी मशीनों से भी यह काम सम्भव नहीं होता। इसके लिए सैंकड़ों की संख्या में मनुष्यों की संगठित शक्ति की आवश्यकता होती

(१) क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

है। इसी एक ही सल्तनत के समय में शानदार इमारतों का निर्माण नहीं होता, अपितु प्रत्येक सल्तनत अपने-अपने शासन काल में निर्माण-कार्य जारी रखती और उसमें वृद्धि करती रहती है। इस प्रकार विभिन्न सल्तनतों के बाद इमारतें पूरी होती हैं। कार्य एक सल्तनत प्रारम्भ करती है और बाद में आनेवाले राज्य अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उसे आगे बढ़ाते और उच्चतर करते रहते है। यहाँ तक कि कुछ समय में एक आश्चर्यजनक गौरव की वस्तु सबके समक्ष आ जाती है। देखनेवाले समझते हैं कि यह एक ही सल्तनत अथवा एक ही बादशाह का कारनामा है।

इसके प्रमाण में इतिहास मारिब के बाँध का उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है। इसका निर्माण सबा बिन यशजुब ने प्रारम्भ कराया और उसमें ७० नदियों को लाकर मिलाया था, किन्तु पूरा होने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गयी। बाद के आनेवाले हिमयरी बादशाहों ने अपनी-अपनी बारी से उसे पूरा कराया। इसी प्रकार क़रताजन्ना[२] बना और उसकी अद्वितीय नहर एवं आद के (पुलों के) मेहराब बहुत अधिक समय में बनकर तैयार हुए। विभिन्न बादशाहों ने अपने-अपने राज्यकाल में उस पर धन-सम्पत्ति व्यय की और अन्त में उसे पूर्ण कर दिया। अधिकांश प्राचीन बड़े-बड़े भवन इसी प्रकार शनैः-शनैः वर्तमान रूप धारण कर सके जिसे देखकर हम आश्चर्यान्वित हो जाते हैं। हम अधिक दूर क्यों जायँ। अपने ही युग के बादशाहों को देखिए कि एक बादशाह एक भव्य भवन की नींव डालता है और उसका निर्माण-कार्य उच्च स्तर पर प्रारम्भ करता है, किन्तु यह कार्य उसके जीवन-काल में पूर्ण नहीं होता। वह उसे अधूरा छोड़कर संसार से चल बसता है फिर उसके बाद दूसरे बादशाह उसकी ओर घ्यान नहीं देते। फलतः वह भवन अपूर्ण एवं अधूरा रह जाता है।

इस तथ्य को हम एक अन्य प्रकार से सिद्ध कर सकते हैं। हम बहुत-से भवनों को इतना दृढ़ पाते हैं कि सल्तनतें उनका खंडन एवं विनाश नहीं करा पातीं, यद्यपि तोड़ना बनाने से और गिराना निर्माण से कहीं अधिक सरल है, कारण कि तोड़ने से चीज़ अपने स्रोत अथवा शून्य की ओर जाती है। अतः जब उनका एक अथवा कई सल्तनतें खंडन नहीं करा सकतीं, जो बहुत सरल है, तो उनको एक सल्तनत बना कैसे सकती हैं? इतिहासों में लिखा है कि जब हारूनुर्रशीद ने किसरा के ऐवान का खंडन

१. दक्षिणी-पश्चिमी अरब का एक नगर तथा Sabaean (साबी) बादशाहों की राजधानी।

२. Carthage.

कराना चाहा और इस विषय में यहया बिन खालिद से जो उस समय बन्दीगृह में था, परामर्श किया तो उसने कहा, "अमीरुल मोमिनीन ! ऐसा न कीजिए। इनको इसी दशा में छोड़ दीजिए। अनन्त काल तक य आपके पूर्वजों के, जिन्होंने इस भव्य भवन के निर्माता से राज्य छीना था, ऐश्वर्य एव गौरव के द्योतक रहेंगे।" हारूनुर्रशीद समझा कि, "है तो अजमी ही ! अजम के नाम को बनाये रखना चाहता है" और शपथ लेकर कहा "मैं इनका खंडन करके रहूँगा।" अतः खंडन कार्य प्रारम्भ हुआ और बहुत बड़ी संख्या में मज़दूर एकत्र कराये गये। इस विचार से कि भवन के जोड़ खुल जायँ और वह सुगमतापूर्वक टूट-फूट सके, सिरका छिड़क कर आग लगा दी जाती थी, किन्तु वह भवन न टूटा। जब हारुनुर्रशीद ने देखा कि वह उसके तुड़वाने में असमर्थ है और अब काम अधिक जारी रखने से और भी अपमान होगा तो यहया से पुनः परामर्श किया कि, "क्या भवन इसी प्रकार बिना तुड़वाये छोड़ दूं ?" तो उसने उत्तर दिया, नहीं ! अब काम जारी रखिए अन्यथा लोग यह कहेंगे कि देखो अजम के बनवाये हुए भवन का अरब बादशाह अमीरुल मोमिनीन खंडन भी न करवा सके।" रशीद समझ गया कि, उसने व्यंग किया है, किन्तु वह कर ही क्या सकता था। अतः उसको कार्य बन्द कराना पड़ा।

इसी प्रकार की घटना मामून के समय में घटी जब कि उसने मिस्र के एहरामों[1] को ढाना चाहा। उसने बहुत बड़ी संख्या में मज़दूर एकत्र किये। उन्होंने इमारत तोड़ना प्रारम्भ किया। जब बाहर की दीवार थोड़ी-बहुत टूट गयी तो भीतर से खाली स्थान दृष्टिगत हुआ जिसके पीछे अन्य दीवारें थीं। यह देखकर मामून के भी छक्के छूट गये और उसने काम वहीं रुकवा दिया। यह छेद अब तक उसी प्रकार बाक़ी है। लोगों का विचार है कि यहाँ से मामून को कोई गड़ी हुई धन-सम्पत्ति प्राप्त हुई थी। यही हाल (मलगा) करताजा[2] के मेहराब का है कि अब तक खड़ा है। कुछ ही दिनों की बात है कि तूनुसवालों को इमारत के लिए पत्थर की आवश्यकता हुई और इस पुल का पत्थर पसन्द किया गया। बहुत समय तक उसके खंडन का प्रयत्न किया गया, तब कहीं जाकर थोड़ा-सा गिरा। मेरी बाल्यावस्था थी जब कि लोग उस पुल के गिराने का प्रयत्न कर रहे थे और इस विषय में परामर्श गोष्ठियाँ किया करते थे।

"ईश्वर को सभी बातों पर शक्ति प्राप्त है।"

१. पिरामिड।

२. कारथेज।

(५) नगर बसाने में ध्यान देने योग्य बातें तथा उनकी उपेक्षा के दुष्परिणाम

जब किसी क़ौम को भोग-विलास, समृद्धि एवं सुख-सम्पन्नता प्राप्त होती है तो उसमें आराम करने एवं शरीर को कष्ट न देने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था में वह नगरों की ओर प्रस्थान कर देती है। वहाँ बसकर भव्य भवनों एवं ऊँचे-ऊँचे महलों के निर्माण की उसे चिन्ता हो जाती है। शान्तिदायक स्थान की इच्छा वह करने लगती है। अतः उसके लिए आवश्यक होता है कि नगर में रहकर वह हानि से बचने और लाभ प्राप्त करने के साधन एकत्र करे। अर्थात् बाहरी आक्रमणों से बचने के उचित उपाय सोचे, आबादी के चारों ओर शहरपनाह बनाये और नगर को ऐसे स्थान पर बसाये जहाँ वह शत्रु के आक्रमण से अधिक से अधिक सुरक्षित रह सके यानी किसी ऊँचे टीले अथवा पहाड़ी की चोटी पर या किसी ऐसे स्थान पर जहाँ आस-पास नदी अथवा नहर बहती हो, ताकि शत्रु आक्रमण के समय उसे सुगमता-पूर्वक पार न कर सके और पुल इत्यादि पर होकर उसे पार करना पड़े। शत्रु के मार्ग को रोकने के लिए नहर निकालने की बात भी सोची जाती है।

इसी प्रकार दैवी दुर्घटनाओं से भी नगर की रक्षा परमावश्यक है। उदाहरणार्थ, नगर ऐसे शुद्ध-स्वच्छ अथवा खुले मैदान में बसाया जाय जहाँ का जलवायु स्वास्थ्य-प्रद हो और नगर की जनता रोगों एवं बीमारियों से सुरक्षित रह सके, कारण कि जब कहीं से स्थानाभाव के कारण हवा निकल नहीं पाती तो रुकी रहती है और ख़राब हो जाती है। यदि आबादी के पास बदबूदार हवा होती है अथवा गंदे-गंदे तालाब होते हैं तो उनकी दुर्गंध वायु को दूषित कर डालती है। प्राणियों में नाना प्रकार के रोग फैल जाते हैं। आबादी विविध प्रकार के रोगों का केन्द्र बन जाती है। हमने इसे देखा है कि जिन नगरों में वायु की शुद्धता पर ध्यान नहीं रखा जाता, वे प्रायः रोगों के केन्द्र बने रहते हैं। इफ़रीक़िया के क़ाबिस नगर के विषय में प्रसिद्ध है कि उस स्थान की दूषित वायु के कारण कोई यात्री अथवा स्थानीय निवासी एक विशेष प्रकार के ज्वर से सुरक्षित नहीं रह सकता। कुछ लोगों का मत है कि उस नगर की वायु अब दूषित हुई है, पहले न थी। इसका कारण अल-बकरी[१]

१. अब्दुल्लाह बिन अब्दुल अज़ीज़ प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता हुआ है। उसने अपना अधिकांश जीवन कारडोवा में व्यतीत किया। उसकी मृत्यु अक्तूबर-नवम्बर १०९४ ई० में हुई।

ने यह लिखा है कि किसी समय वहाँ खुदाई में एक ताँबे का मुहर बन्द बरतन मिला जिस पर सीसे की मुहर लगी हुई थी। उसकी मुहर जब खोली गयी तो उसमें से धुँवा उठा और वह वायुमंडल में फैल गया। उसी समय से ज्वर का वह रोग व्यापक हो गया। बकरा का इस कहानी को उद्धृत करने का उद्देश्य यह है कि इस बरतन में जादू के ज़ोर से वायु के समान कोई ऐसा पदार्थ बन्द कर दिया गया था जो मुहर के हटाने से वायुमंडल में फैल गया जिससे ज्वर का रोग फैल गया। यद्यपि जन-साधारण ऐसी कहानियाँ गढ़ा करते हैं और उन्हीं के विचार इस प्रकार से निराधार हुआ करते हैं। यतः बकरी स्वयं कोई विद्वान् न था, अतः ऐसी निराधार कहानी की आलोचना करने के स्थान पर उसने जैसा कुछ सुना वैसा ही अपने ग्रन्थ में उद्धृत कर दिया। इसमें तथ्य केवल इतना है कि वायु के अधिकांशतः एक ही स्थान पर ठहरे रहने से वायुमंडल दूषित हो जाता है और ज्वर फैल जाता है। जब वायु को इधर-उधर चलने का अवसर प्राप्त होता है तो उसकी दुर्गन्ध कम हो जाती है और प्राणियों को रुग्ण नहीं करती। अतः जब कोई नगर घना बसा होता है और उसमें हर समय हलचल मची होती है, तो वायु में भी हर समय लहरें पैदा होती रहती हैं। हवा को ठहरने का अवसर नहीं मिलता, अपितु हर समय लहराव के कारण बुरी हवा निकल जाती है और स्वच्छ ताज़ी हवा आ जाती है। इसके विपरीत नगर की आबादी जब घटती है तो हवा की लहरें कमज़ोर पड़ जाती हैं। वायु एक स्थान पर ठहरी रहती है और ठहरकर सड़ जाती है। इस गंदी वायु का हानिकर प्रभाव आबादी इत्यादि पर पड़ने लगता है। क़ाबिसनगर की दशा भी ऐसी ही हुई। जिस समय वह नया-नया बसा था और आबादी घनी थी तो लोगों के चलने-फिरने से उसकी वायु में हर समय कँपकँपी रहती थी। इस प्रकार वहाँ स्वास्थ्य-हानि की आशंकाएँ बहुत कम थीं। न तो वायु में दुर्गन्ध उत्पन्न होती थी और न उसके कारण बीमारी का खटका होता था। अब जब उसकी आबादी घटी तो उसकी वायु स्थिर होने के कारण सड़ गयी और उससे पूरा नगर रोग का केन्द्र बन गया। अतः रोग के उत्पन्न होने का ठीक कारण यही है।

कभी इसका उलटा भी होता है कि एक नगर जब प्रारम्भ में बसाया जाता है और वायु को स्वच्छ रखने के वहाँ कोई साधन भी नहीं होते तो आबादी की कमी के कारण वहाँ बहुत-से रोग फूट पड़ते हैं। जब आबादी बढ़ती है तो दशा उसके विरुद्ध हो जाती है। रोग एक-एक करके नष्ट होने लगते हैं। आज हमारे सामने राजधानी फ़ास जो नवीन नगर के नाम से प्रसिद्ध है, इस तथ्य का खुला उदाहरण

है। यही नहीं संसार में आप जिस नगर पर दृष्टि डालेंगे, तो जिस तथ्य का हमने निरूपण किया है, उसे शत-प्रतिशत ठीक पायेंगे।

वे साधन जिनसे आबादी को लाभ पहुँचाया जा सकता है, निम्नांकित हैं। पहले तो जल पर पर्याप्त ध्यान दिया जाय अथवा नगर नहर के किनारे बसाया जाय, या उसके निकट ही मीठे जल के झरने हों कारण कि जब जल आबादी के समीप ही होता है तो आबादी को बड़ी शांति एवं आराम मिलता है। उसकी जल की आवश्यकता शीघ्र पूरी हो जाती है। जल की आवश्यकता प्रत्येक जीव को कितनी है, वह स्पष्ट है। इसी प्रकार आबादी के समीप मवेशियों के लिए हरी-भरी चरागाहों का प्रबन्ध भी परमावश्यक है, कारण कि प्रत्येक आबादी में बच्चे लेने, दूध प्राप्त करने, एवं सवारी करने के लिए पशुओं का होना परमावश्यक है। जब चरागाहें समीप होंगी तो लोग अपने मवेशियों को चराने के लिए दूर ले जाने के कष्ट से बच जायँगे और जब चाहेंगे पास ही चरा लाया करेंगे। इसके साथ खेती-बारी भी नगर के निकट ही होनी चाहिए। ईंधन की आवश्यकता से भी लोगों को मुक्ति नहीं मिल सकती, कारण कि वे इससे आग जलाते हैं, तापते हैं और भोजन भी बनाते हैं। लोगों को घर की छतों एवं अन्य आवश्यकताओं के लिए लकड़ी की भी आवश्यकता होती है। नगर बसाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह समुद्र तट के समीप हो, ताकि दूरस्थ नगरों से सुगमतापूर्वक व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो सकें। किन्तु इसे उपर्युक्त अन्य बातों की अपेक्षा कम महत्त्व प्राप्त है। इन सब बातों की जितनी अधिक सुविधा नगरवासियों को होती है, नगर का महत्त्व उतना ही अधिक बढ़ता जाता है।

कभी-कभी तो नगर के संस्थापक नगर बसाते समय उसकी प्राकृतिक स्थिति पर दृष्टि नहीं रखते। वे यदि किसी बात पर दृष्टि रखते भी हैं तो प्रायः अपनी, एवं अपनी क़ौम की सुविधा पर ही, न कि सर्वसाधारण की सुविधा पर। इस प्रकार जब अरबों ने इस्लाम के प्रारम्भ में इराक़ एवं इफ़रीक़िया में नगरों की स्थापना की तो अपने पालतू जानवरों एवं ऊँटों की चरागाहों का पर्याप्त ध्यान रखा और नगर ऐसे स्थानों पर बसाये जहाँ उनके लिए चारा भी सुगमतापूर्वक प्राप्त हो सके एवं खारा जल भी। किन्तु उन्होंने मीठे पानी, खेती-बारी, जलाने एवं भवन-निर्माण के काम में आनेवाली लकड़ी, तथा ऊँटों के अतिरिक्त अन्य मवेशियों की चरागाहों पर कोई ध्यान नहीं दिया। क़ैरवान, कूफ़ा, बसरा अथवा इस प्रकार के अन्य नगर इस तथ्य के खुले प्रमाण हैं। यही कारण है कि जब तक नगरों के निर्माण में नैसर्गिक सुविधाओं का ध्यान नहीं रखा जाता तब तक वे विनाश की ओर ही बढ़ते रहते हैं।

जो नगर समुद्र तट पर स्थित हैं उनके लिए यह भी आवश्यक है कि वे या तो पर्वत के अंचल में बसे हों अथवा बहुसंख्यक क़बीलों की बस्तियों से घिरे हों, ताकि यदि किसी समय शत्रु अचानक नगर पर टूट पड़े तो समस्त क़बीले सहायतार्थ सिमट आयें और एक ही आवाज़ पर सब एकत्र हो जायँ। इसका कारण यह है कि भले ही कोई नगर समुद्रतट पर स्थित हो, लेकिन उसकी सहायता हेतु "असबियत" वाले क़बीले उसके चारों ओर यदि न हों और न वह पर्वत के आँचल में स्थित हो तो उसे सर्वदा शत्रु के नैश आक्रमणों तथा उसके समुद्री बेड़े का भी भय रहेगा क्योंकि शत्रु जानता है कि नगर के रक्षार्थ न तो कोई "असबियत" ही मुक़ाबला करने को है न नगरवासी ही जो आराम के जीवन एवं भोग-विलास के आदी हो चुके हैं, इतना साहस कर सकते हैं कि मुक़ाबला कर सकें। वे लोग तो स्वयं ही नगर संस्थापकों के कंधों के लिए भारस्वरूप होते हैं। पूर्व में इस्कन्दरिया, मग़रिब में तराबलस,[1] और बोना[2] एवं सलामती,[3] "असबियत" वाले क़बीलों से ऐसे घिरे हुए हैं कि एक आवाज़ लगा दी जाय तो सब सहायता के लिए टूट पड़ें। फिर उन तक पहुँचने के मार्ग भी इतने कठिन हैं कि शत्रु को उन पर अचानक आक्रमण करने का साहस नहीं होता, कारण कि वे मार्ग पर्वत की ऊँचाइयों एवं घाटियों की नीचाइयों में छिपे होते हैं अथवा यह कहिए कि शहर ऐसे क़िलेबन्द हैं कि शत्रु या तो मार्ग की कठिनाई का विचार करके साहसहीन हो जाता है या यह सोचकर कि नगर की सहायता हेतु सभी क़बीले सहमत होकर सहायता के लिए टूट पड़ेंगे, वह आक्रमण हेतु अग्रसर नहीं होता। सब्ततह,[4] बजाया[5] तथा क़ुल[6] यद्यपि छोटे-छोटे तटवर्ती नगर हैं, पर वे अपनी भौगोलिक स्थिति के आधार पर शत्रु के साहस को दलित किये रहते हैं। इसी कारण अब्बासियों के राज्यकाल में इस्कन्दरिया सीमांत के प्रदेशों में गिना जाता था यद्यपि उनका प्रभुत्व बरक़ा एवं इफ़रीक़िया तक फैला हुआ था। क्योंकि वह समुद्रतट पर स्थित था और शत्रु के आक्रमण का हर समय खटका रहता था, इस कारण इसे सीमान्त के स्थानों की भाँति अत्यन्त दृढ़ किया गया था।

१. Tripoli, त्रिपोली।
२. Bone, बोन।
३. Sale, सेल।
४. Ceuta, क्योटा।
५. Bougie, बोग।
६. Collo, कोल्लो।

शत्रुओं ने इस्कन्दरिया एवं तराबलस पर इस्लामी राज्यकाल में अनेक बार अचानक आक्रमण किये।

(६) संसार के सर्वोत्कृष्ट पूजागृह एवं मस्जिदें

ईश्वर ने भूमि के किन्हीं-किन्हीं भागों को विशेष सम्मान एवं ख़ास गौरव प्रदान किया है और वहाँ की गयी उपासनाओं का पुण्य अन्य स्थानों की अपेक्षा बहुत अधिक बताया है। अपने दासों के प्रति कृपा प्रदर्शित करते हुए एवं उनके लिए सौभाग्य के मार्ग प्रशस्त करते हुए उसने उन स्थानों की विशेषताओं एवं प्रसादों को अपने पूज्य रसूलों एवं नबियों की वाणी द्वारा प्रकट किया है। संसार के समस्त पूजागृहों एवं मस्जिदों में प्रामाणिक हदीसों के अनुसार तीन मस्जिदें सर्वोत्कृष्ट मानी गयी हैं, अर्थात् मक्के की मस्जिद, मदीने की मस्जिद एवं बैतुल मुक़द्दस। मक्के की मस्जिद "बैतुल हराम" का निर्माण हज़रत इबराहीम ने ईश्वर के आदेशानुसार कराया। तदुपरान्त वहाँ हज करने का संसारवालों को आदेश दिया। हज़रत इबराहीम ने स्वयं एवं उनके पुत्र हज़रत इस्माईल ने अपने पवित्र हाथों से ईश्वर के इस पवित्र एवं सम्मानित घर का निर्माण किया और ईश्वर के आदेश का पालन किया। क़ुरान शरीफ़ में इस घटना का इसी प्रकार उल्लेख हुआ है। काबे के निर्माण के उपरान्त हज़रत इस्माईल अपनी माता हज़रत हाजेरा एवं जुरहुम क़बीले सहित जीवन पर्यन्त वहीं निवास करते रहे। उनका मज़ार भी वहीं है।

बैतुल मुक़द्दस के निर्माण का आदेश ईश्वर की ओर से हज़रत दाऊद एवं हज़रत सुलेमान को मिला था। इन्हीं दोनों महानुभावों ने आदेश का पालन किया और वहाँ की मस्जिद एवं हयाकिल का निर्माण कराया। उसके आसपास हज़रत इस्हाक़ की संतान के बहुत-से नबियों के रौज़े हैं।

मदीने में हमारे नबी हज़रत मुहम्मद हिजरत करके पहुँचे थे। ईश्वर की ओर से आपको हिजरत का तथा मदीने को अपने धर्म के प्रचार का केन्द्र बनाने का आदेश मिला था। आपका मज़ार भी इसी पुण्य भूमि में है।

हम भी चाहते हैं कि इन तीनों मस्जिदों का कुछ ऐतिहासिक वर्णन प्रामाणिक सूत्रों की पृष्ठ भूमि में दें और बतायें कि ये किस प्रकार प्रारम्भ हुईं और किस प्रकार शनैः-शनैः उन्नति कर सकीं ······[१]

१. इब्ने ख़लदून ने इन तीनों का सविस्तर उल्लेख किया है। इस भाग का अनुवाद नहीं किया गया।

(७) इफ़रीक़िया एवं मग़रिब में नगरों की संख्या कम है

इसका कारण यह है कि इस्लाम के सहस्रों वर्ष पूर्व इस देश में बरबर जाति के लोग बसते थे जो बदवी जीवन व्यतीत करते थे। नगर के जीवन एवं संस्कृति से न तो उनका दूर का भी सम्बन्ध था और न सभ्यता के प्रभाव में आकर वे अपनी आबादियों को नगरों का रूप ही देते थे। यहाँ आकर आबाद होनेवाली फ़िरंग एवं अरब क़ौमों को राज्य करने के लिए बहुत कम समय मिल सका और वे अपने क़दम अधिक न जमा सकीं, न नगरों के निर्माण की व्यवस्था ही कर सकीं। अत: बरबर अपनी मूल "बदवी" दशा में ही मस्त एवं मगन रहे और इधर-उधर छिन्न-भिन्न होकर बसते रहे। इसके अतिरिक्त बरबर कला-कौशल से दूर एवं उनसे अनभिज्ञ भी थे। वे "बदवियत" के आदी थे जब कि कला-कौशल के लिए नगर के जीवन की आवश्यकता होती है। उन्हें न भवन-निर्माण की कला में कुशलता प्राप्त थी और न उन्हें इस बात से रुचि थी कि वे भव्य भवनों का निर्माण करायें तथा बड़े-बड़े नगर बसायें। तीसरे वे "असबियत" वाले थे एवं वंश तथा कुल के लिए प्राण त्याग करनेवाले। "असबियत" एवं नसब परस्ती "बदवियत" की ही पृष्ठ पोषक हैं। नागर जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। नगर निवासी आराम तलब एवं विलासप्रिय होते हैं। वे अपने शासकों पर बोझ होते हैं। इसी कारण "बदवी" लोग नगर-निवास से बचते हैं और उसे पसन्द नहीं करते। नगर की ओर तो उसी का हृदय आकृष्ट होता है जो विलासप्रिय हो और जिसके पास धन-सम्पत्ति की अधिकता हो।

इस प्रकार इफ़रीक़िया एवं मग़रिब की सब अथवा अधिक जनसंख्या "बदवी" है जो खेमों, डेरों एवं पर्वत की गुफाओं में निवास करने की आदी हैं। इसके विपरीत अजम की आबादियाँ, उदाहरणार्थ इन्दुलुस, शाम, मिस्र, एवं इराक़ इत्यादि के निवासी सबके सब सभ्यता एवं नगर के जीवन के आदी हैं। इसका कारण यही है कि वे वंश को अधिक महत्त्व नहीं देते, न उसकी शुद्धता की रक्षा की चिंता करते हैं। वे अपने कुल का गुण-गान नहीं किया करते और न उस पर अभिमान ही करते हैं। दूसरी ओर "बदवियों" को देखा जाय तो पता चलेगा कि वे कुल ही पर मिटे जाते हैं और उसकी रक्षा में रक्त बहाने पर उद्यत रहते हैं। इस कारण उनमें "असबियत" सीमातीत होती है और इस "असबियत" एवं कुल मर्यादा की चिन्ता ही उन्हें बदवी जीवन की ओर आकृष्ट किया करती तथा नागर जीवन से दूर रखती

हैं, कारण कि नगर में रहकर तो वे अपनी कठोरता, अक्खड़पन एवं वीरता आदि सभी गुणों को भूल जाते हैं। वे दूसरों की सहायता करने के स्थान पर दूसरों पर बोझ हो जाते हैं। अतः आप इस ऐतिहासिक तथ्य को भली-भाँति समझ लीजिए और संसार की सभ्यता को इसी सिद्धान्त की कसौटी पर परखिए।

(८) प्राचीन सल्तनतों की अपेक्षा इस्लामी ऐश्वर्य एवं गौरव की तुलना में इस्लामी सल्तनतों के भव्य भवनों की संख्या कम है

इसका कारण वही है जो हम बरबरों के सम्बन्ध में लिख चुके हैं कि अरब क्योंकि पूरे बद्दू थे और कला-कौशल से अनभिज्ञ थे, अतः वे लोग नागर जीवन से अपरिचित रहे और इस्लाम के पूर्व जिन देशों पर इन्हें प्रभुत्व प्राप्त हुआ वहाँ वे लोगों से अलग-अलग रहे, उनमें घुले-मिले नहीं। जब इस्लाम के उपरान्त उन्हें विजय प्राप्त हुई तो उन्होंने एक जगह जमकर अधिक समय नहीं व्यतीत किया जिससे वे सभ्यता एवं नागर जीवन को उच्च स्तर पर पहुँचाते और भव्य भवनों का निर्माण कराते। फिर अन्य लोगों के बनवाये भवन एवं आराम के निवास-स्थान मिल गये तो उन्होंने स्वयं अपने भवनों के निर्माण की ओर ध्यान नहीं दिया।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनका दीन एवं धर्म भवन-निर्माण में अपव्ययता की घोर निन्दा करता था और उतने ही भवन बनवाने की अनुमति देता था जितने निवास हेतु आवश्यक एवं अनिवार्य थे। इसका प्रमाण हमें इस ऐतिहासिक घटना से मिलता है कि जब कूफ़े के बाँसों के घर नित्यप्रति जलने लगे तो लोगों ने विवश होकर हज़रत उमर से पत्थर के भवनों के निर्माण की अनुमति माँगी ताकि आग लगने के भय से मुक्ति प्राप्त हो जाय। हज़रत ने अनुमति तो दे दी, किन्तु आदेश दिया कि "कोई भी तीन से अधिक कमरों का घर कदापि न बनवाये और न भवनों पर किसी प्रकार का अपव्यय करे, अपितु सुन्नत के मार्ग का ध्यान रखे। सौभाग्य सर्वदा उसका साथ देगा।" साथ-साथ एक शिष्ट-मंडल कूफ़े भेजा और आदेश दिया कि वह लोगों को चेतावनी देता रहे कि वे अपने भवनों को आवश्यकता से अधिक बलन्द न करें। जब हज़रत उमर से प्रश्न किया गया कि आवश्यकता का प्रतिबंध लगाने की क्या ज़रूरत है तो उन्होंने आदेश दिया कि न तुम अपव्यय करो और न कष्ट उठाओ।

जब धर्मनिष्ठा एवं ईश्वरीय भय का युग समाप्त हुआ और अरबवाले शहंशाहियत एवं भोग-विलास के चक्कर में आ गये तथा फ़ारसवालों से सेवाएँ कराने लगे तो उनसे अरबों ने कला-कौशल एवं भवन-निर्माण कला में कुशलता प्राप्त कर ली

और वे भी आरामतलबी एवं विलासिता की ओर आकृष्ट हो गये। उन्होंने बड़े-बड़े भवनों का निर्माण कराया। किन्तु इस समय उनकी सल्तनत अपने जीवन की अंतिम साँसें ले रही थीं। उनको अवसर ही न मिल सका कि और कुछ समय तक वे शान्ति-पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते, अधिक से अधिक संख्या में महल बनवा पाते एवं भव्य नगरों तथा क़स्बों का निर्माण कराते।

अन्य क़ौमों के साथ ऐसा नहीं हुआ। उदाहरणार्थ, फ़ारसवालों का राज्य सहस्त्रों वर्ष तक जमकर चला। इसी प्रकार क़िब्त, नब्त, रूम इत्यादि के राज्य भी सदियों तक चलते रहे। आद, समूद, अमालक़ा एवं तबाबेआ लोग भी दीर्घकाल तक राज्य करते रहे। इन सभी ने कला-कौशल की उन्नति की और अपने लम्बे राज्यकाल में उन्होंने संसार के आश्चर्यजनक भवनों का बहुसंख्यक निर्माण कराया जो सहस्रों वर्ष के बाद आज भी वर्त्तमान है। जब आप क़ौमों का इतिहास पढ़ेंगे तो जिन तथ्यों का हमने उल्लेख किया है उन्हें शत-प्रति-शत ठीक पायेंगे।

(६) एक-आध को छोड़कर अरबों के बनवाये हुए भवन शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं

इसका कारण वही है जो अभी बताया जा चुका कि अरब लोग ठेट बद्दू थे और कला-कौशल से अपरिचित थे। अतः उनके भवन मज़बूत, दृढ़ एवं स्थायी नहीं होते थे। एक कारण और भी था जिसकी ओर हम इससे पूर्व भी संकेत कर चुके हैं कि उन्होंने जब कभी नगर बसाये, बस्तियाँ आबाद कीं तो प्राकृतिक आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखा, न औचित्य की ओर दृष्टिपात किया। स्थान की सुन्दरता, जलवायु का स्वास्थ्यप्रद होना, मीठे एवं स्वादिष्ठ जल की निकटता, खेतों एवं चरागाहों के सान्निध्य आदि सुविधाओं की ओर से वे प्रायः असावधान रहते थे। नगर एवं बस्ती के गुण एवं अवगुण, तथा आबादी की सुन्दरता एवं विशेषता इन्हीं प्राकृतिक दशाओं पर निर्भर है। किन्तु अरबों ने उनसे कोई सम्बन्ध न रखा। वे तो अपने ऊँटों की चरागाहों का ध्यान रखते थे अर्थात् जल मीठा है अथवा खारा, कम है अथवा अधिक। वे इस बात की खोज न करते कि यहाँ की भूमि कृषि के लिए उपयुक्त है अथवा अनुपयुक्त, वायु स्वास्थ्यप्रद है अथवा नहीं। इन बातों की वे चिन्ता करते भी क्यों? कारण कि वे तो एक स्थान पर ठहरते ही न थे, नित्यप्रति चलते-फिरते रहते थे। आज यहाँ हैं तो कल वहाँ। वे दूर-दूर से अनाज ले आते। ऐसी अवस्था में उन्हें खेती-बारी हेतु भूमि ढूंढ़ने की आवश्यकता ही क्या थी। वे

किस लिए इस विषय में परिश्रम करते। वे मैदानों एवं जंगलों में पड़ाव करते थे। जब कभी एक स्थान पर निवास करने के कारण जलवायु दूषित हो जाता तो तत्काल वहाँ से चल पड़ते और कहीं अन्यत्र जाकर ठहर जाते थे।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि कूफ़ा, बसरा एवं क़ैरवान को जब अरबों ने बसाया तो केवल अपने ऊँटों की चरागाहों का ध्यान रखा, जंगल के सामीप्य पर दृष्टि रखी और यातायात के मार्गों के विषय में सोच-विचार किया। इसके अतिरिक्त नगर बसाने के लिए जिन प्राकृतिक सुविधाओं का होना अनिवार्य है उनकी उन्होंने उपेक्षा की। उन्होंने उन आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं दिया जिनसे नगर की जनसंख्या बढ़ती है और घटने नहीं पाती। हम बता चुके हैं कि प्रत्येक स्थान आबादी के लिए उपयुक्त नहीं होता। फिर यह भी आवश्यक है कि नगर के आस-पास ऐसी क़ौमें आबाद हों जो आबादी को घटने तथा कम न होने दें। अरबों ने इस बात पर कभी ध्यान नहीं दिया। फलतः जब उनके राज्य का ज़ोर टूटा और "असबियत" समाप्त हुई तो अचानक बस्तियाँ वीरान हो गयीं और एसी उजड़ गयीं कि मानो थीं ही नहीं। यदि उनके आस-पास अन्य क़ौमें होतीं तो आबादी की गिरती दशा को थाम लेतीं और उन्हें नष्ट होने से बचा लेतीं।

"ईश्वर ही निर्णय करता है और कोई भी उसके निर्णय में परिवर्तन नहीं कर सकता।"[१]

(१०) नगरों के विनाश का प्रारम्भ

नगर जब बसाये जाते हैं तो प्रारम्भ में उनकी आबादी कम होती है। भवन-निर्माण हेतु सामग्री, पत्थर, चूना इत्यादि भी कम प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार भवनों की सज्जा, सामग्री, नरम पत्थर, मीनाकारी एवं पिच्चीकारी हेतु शीशे, काँच एवं सीसा इत्यादि उपलब्ध नहीं होते। विवश होकर घर "बदवी" ढाँचे के बनते हैं और सीधे-सादे होते हैं। जब जनसंख्या में वृद्धि होती है, नगर निवासियों की संख्या बढ़ती है तब कला-कौशल की चर्चा होती है, अच्छे-अच्छे कारीगर एवं शिल्पकार पैदा होते हैं, भवनों के निर्माण एवं सज्जा हेतु सुन्दर वस्तुएँ ढूँढ़ कर लायी जाती हैं और भवन-निर्माण के नये-नये यंत्र ईजाद किये जाते हैं। ऐसी स्थिति बस्ती

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

की युवावस्था होती है, किन्तु जब इसका पतन होने लगता है तो नगरवालों की जन-संख्या कम हो जाती है। कला-कौशल का पतन हो जाता है, भवन-निर्माण में सुन्दरता का ध्यान कम रखा जाता है और वह कार्य ऐसी परिपाटी का रूप धारण कर लेता है जिसका पालन कठिनाई से होता है क्योंकि जनसंख्या की कमी के कारण न तो मजदूर ही मिलते हैं, न अन्य वस्तुएँ। अब जो नये भवन बनते हैं उनके लिए वीरान, एवं उजड़े हुए महलों, घरों तथा कारखानों को तोड़-फोड़कर पत्थर एवं चूना प्राप्त किया जाता है। एक भवन का सामान दूसरे भवन में लगाया जाता है। एक भवन उजड़ता है तो दूसरा बसता है, एक मिटता है तो दूसरा बनता है। इस प्रकार बसा बसाया नगर ग्राम का रूप धारण करने लगता है और अन्त में ग्राम बनकर ही रह जाता है अथवा पूर्णतः वीरान हो जाता है।

"ईश्वर अपने प्राणियों से इसी प्रकार व्यवहार करता है।"

(११) नगरों में खाद्य सामग्री की बहुतायत और बाज़ारों की चहल-पहल तथा रौनक़ नगर की सांस्कृतिक अवस्था पर निर्भर है

सत्य तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य अकेला ही अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को कदापि पूरा नहीं कर पाता। आपस में मिल-जुलकर तथा एक दूसरे की सहायता से ही सब लोग अपनी आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करते और जीवन निर्वाह करते हैं। अनाज को ही ले लीजिए, चूंकि प्रत्येक मनुष्य अपना भोजन अकेले स्वयं तब तक प्राप्त नहीं कर पाता जब तक कि उसके साथी उसका साथ नहीं देते। एक अनाज बोता है, एक खेत काटता है, एक लोहारी का, एक बढ़ईगीरी का पेशा करता है, संक्षेप में जब कार्य का इस प्रकार विभाजन होता है तभी व्यक्ति के मुंह में भोजन जाता है। इसके साथ यह भी सत्य है कि सब लोग जब काम पर लगते हैं और अपने-अपने कार्यों के फल का उपभोग करते हैं तो वह उनकी आवश्यकताओं से कहीं अधिक पाया जाता है। कृषक जो अनाज पैदा करता है वह उसकी आवश्यकता से कहीं बहुत अधिक होता है। जुलाहा जो कपड़ा बुनता है वह उसकी ज़रूरत से कहीं ज्यादा होता है। जब नगरवाले अपने कार्यों द्वारा अपनी आवश्यकताओं से अधिक चीज़ें पैदा करते हैं तो विवश होकर उन्हें उन वस्तुओं को दूसरे नगरों में जाकर बेचना पड़ता ह और अधिक से अधिक धन उन्हें मिलता है। इस प्रकार वे नित्यप्रति धनी होते जाते हैं। क्योंकि धन-सम्पत्ति अपने साथ भोग-विलास का चसका लाती है। अतः ये विलास-प्रिय एवं नाज़-नख़रों के शौक़ीन हो जाते हैं।

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि मनुष्य के व्यवसाय उसके उद्योग के परिणाम हैं। मनुष्य जितना अधिक उद्योगी एवं कार्यकुशल होता है धन-सम्पत्ति की उतनी ही उन्नति होती है। जब लोगों में विलास-प्रियता उत्पन्न होती है तो उसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक पहलू पर पड़ता है। आवासों का रंग ढंग बदलता है। वस्त्र शानदार होने लगते हैं। विचित्र प्रकार के बर्तन तैयार कराये जाते हैं। प्रत्येक कार्य के लिए सेवक नौकर रखे जाते हैं। आडम्बर-पूर्ण सवारियों की व्यवस्था की जाती है। यह सब चीज़ें उसी समय उपलब्ध हो सकती हैं जब देश में अच्छे से अच्छे शिल्पकार पैदा हों और नाना प्रकार की वस्तुओं का आविष्कार किया जाय। वे बाज़ारों में आयें और बाज़ारों की रौनक़ तथा चहल-पहल बढ़े। बाज़ारों की आबादी से नगर के आय-व्यय में वृद्धि होती है। लोगों में समृद्धि एवं सुख-सम्पन्नता का संचार होता है। सभ्यता नित्यप्रति बढ़ने लगती है। सभ्यता के बढ़ने के साथ-साथ ही कामों की बहुतायत होती है और लोगों में विलास-प्रियता फलती है। उनकी आदतें रंग पलटती जाती हैं और उनकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। फिर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु नाना प्रकार के कला-कौशलों का आविष्कार किया जाता है। धन-सम्पत्ति की बहुतायत होती है और बाज़ार की रौनक़ बढ़ जाती है, कारण कि केवल जीविकोपार्जन के लिए ही संघर्ष किया जाता है और वह ही वास्तविक शहरी आचरण का प्रतीक होता है। इससे विलास-प्रियता नहीं बढ़ती। उसमें जो दौड़-धूप करनी होती है, वह धन-धान्य सम्पन्नता एवं विलास-प्रियता का कारण बनती है।

जिस नगर की सभ्यता जितनी बढ़ती है उसके निवासियों में प्रत्येक व्यवसाय एवं कला-कौशल के कलाकार तथा विभिन्न वस्तुओं में रुचि रखनेवाले आदमी भी उसी अनुपात से अधिक सुखसम्पन्न होते हैं। किसी बड़े नगर का क़ाज़ी, व्यापारी, कारीगर, अमीर एवं पुलीस का अधिकारी छोटे नगर के क़ाज़ी, व्यापारी, कारीगर, अमीर एवं पुलिस के अधिकारी की अपेक्षा कहीं अधिक खुशहाल एवं समृद्ध होता है। उदाहरण के लिए, फ़ास सरीखे आबाद नगर को ले लीजिए। उसकी दशा में तथा बजाया, तलमसान एवं सिब्ता के इन्हीं लोगों की दशाओं में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। फ़ास के हर पेशेवाले, कारीगर एवं कलाकार की उन नगरों के पेशेवालों, कारीगरों एवं कलाकारों से तुलना करें तो उनकी समृद्धि में बड़ा अन्तर मिलेगा। यदि तलमसान की तुलना वहरान[1] अथवा अलजायर[2] से की जाय तो यही अन्तर मिलेगा।

१. Oran. २. Algiers.

यदि तलमसान एवं अलजायर की तुलना कम आबाद नगरों के कारीगरों से की जाय तो यही अन्तर होगा। आप छोटे से छोटे गाँव तक में यही अन्तर पायेंगे। इस अन्तर का यही कारण है कि लोगों के कार्य एवं धंधे भिन्न, कम अथवा अधिक होते रहते हैं। इस प्रकार सभ्यताएँ काम काज को बाज़ार हैं। लोगों की जितनी आय होती है, उतना ही व्यय भी होता है। फ़ास के क़ाज़ी की यद्यपि आय अधिक है, किन्तु उसका व्यय भी उतना ही अधिक है। यही हाल तलमसान के क़ाज़ी का है कि जितनी उसकी आय है उतना ही उसका व्यय भी है। जहाँ आय-व्यय दोनों ही अधिक हों वहाँ के लोगों की दशा अच्छी होगी। वे विलास-प्रिय एवं नाज़-नख़रे के शौक़ीन भी होंगे। फ़ास में कारोबार की अधिकता एवं शोरग़ुल तथा नगरवासियों के आय-व्यय सभी अधिक हैं, अतः उनमें उसी अनुपात से विलास-प्रियता एवं कृत्रिमता भी पायी जाती है। यही दशा वहरान, कान्सटैन्टाइन, अलजायर एवं बिसकरा की है कि जितनी ही इनमें अन्योन्य कारबार की कमी होती है, उतना ही यहाँ के आय-व्यय में अन्तर आता जाता है। यहाँ तक कि एक साधारण से साधारण नगर तक में जिसको बड़ी कठिनाई से नगर कह सकते हैं और जिसमें कार-बार और धंधे केवल आर्थिक आवश्यकताओं का समाधान कर सकते हैं, आप इसी तथ्य को प्रत्यक्ष होता पायँगे। यही कारण है कि इन छोटे-छोटे नगरों के निवासी, परेशान, दरिद्र एवं दीन होते हैं। उनके धंधे कठिनाई से उनकी आर्थिक आवश्यकताओं का समाधान कर पाते हैं। न वे अपनी कमाई में से कुछ बचा सकते हैं और न उनकी आय में कुछ वृद्धि हो सकती है। अतः मुश्किल से ही उनमें कोई खाता-पीता दिखाई देता है। अधिकांश लोग दीन, दरिद्र एवं परेशान ही रहते हैं।

उपर्युक्त वर्णन में आपने छोटे-बड़े नगरों के ऊँचे एवं मध्यवर्गों म जो अन्तर देखा है वही अन्तर आप साधारण से साधारण वर्ग तक में पाते चले जायँगे। देख लीजिए कि फ़ास का फ़क़ीर तथा भिखारी तलमसान एवं वहरान के भिखारी की अपेक्षा अच्छी दशा में होगा। मैंने स्वयं देखा है कि फ़ास में भिखारी ईदुज़्ज़ुहा के अवसर पर क़ुरबानी की खालों का मूल्य माँगते घूमते हैं। वे भोजन हेतु, मांस, घी, मलाई इत्यादि एवं पहनने के लिए सुन्दर वस्त्र और अच्छे-अच्छे बरतन छलनी इत्यादि माँगते हैं। यह बात उनकी समृद्धि की द्योतक है। यदि तलमसान एवं वहरान में कोई भिखारी इस प्रकार की प्रार्थना करे तो उसे लोग विचित्र समझकर झिड़क देंगे।

आज हम स्वयं क़ाहिरा एवं मिस्र की धन-धान्य सम्पन्नता तथा समृद्धि देखकर दंग रह जाते हैं। यहाँ तक कि मग़रिब से बहुत-से फ़क़ीर मिस्रवालों की समृद्धि की

कहानियाँ सुनकर मिस्र चले जाते हैं। साधारण लोगों का मत है कि मिस्रवाले बड़े त्यागी हैं और ईश्वर ने उन्हें धनी भी बनाया है। दान-पुण्य में उन्हें बड़ी श्रद्धा है, अतः दान के भूखे लोग मिस्र पहुँचते हैं। किन्तु इस विचार में कोई तथ्य नहीं है। इस बात का उल्लेख तो हम ऊपर कर ही चुके हैं कि मिस्र एवं क़ाहिरा की जनसंख्या अन्य नगरों की अपेक्षा कहीं अधिक है। इसी कारण वहाँ के निवासी समृद्ध हैं और वे सर्वदा दान-पुण्य किया करते हैं, अन्यथा आय-व्यय सब नगरों में लगभग बराबर होता है। जब आय में वृद्धि होती है तो साथ ही साथ व्यय में भी वृद्धि होती है। इस प्रकार व्यय का बढ़ना आय की वृद्धि का द्योतक है। जब किसी नगर में आय-व्यय दोनों बढ़े हों तो वहाँ के निवासी सुखी, समृद्ध एवं उदार होते हैं और नगर की आबादी दूर-दूर तक फैल जाती है। अतः जब कभी आपको किसी नगर के निवासियों के विषय में दान-पुण्य के असाधारण समाचार प्राप्त हों तो आप उनका खंडन न करें और समझ लें कि इसका आधार वहाँ की जनसंख्या की अधिकता है। आबादी की अधिकता से व्यवसाय एवं धंधों में वृद्धि होती है और तब वहाँ लोगों में दान-पुण्य एवं उदारता की भावनाएँ बढ़ती हैं।

लोगों की समृद्धि एवं कष्टों का प्रभाव मनुष्यों पर ही नहीं, अपितु पशुओं तक पर भी दृष्टिगत होता है। जो लोग समृद्ध एवं धनी होते हैं और अन्य लोगों को भोजन इत्यादि कराते रहते हैं तथा अनाज, दाने अथवा भोजन के टुकड़े उनके यहाँ हर तरफ़ बिखरे रहते हैं वहाँ चींटियाँ असंख्य पंक्तियों मेंउ नके घरों में रेंगती फिरती हैं। उनके भवनों पर पक्षियों के झुंड के झुंड उड़ते दृष्टिगत होते हैं। पक्षी प्रातःकाल भखे आते हैं और सायंकाल पेट भरकर जाते हैं। दूसरी ओर दीन दरिद्रों को देखिए कि उनके यहाँ न कोई चींटी रेंगती दृष्टिगत होती है और न उनके घरों पर कोई पक्षी उड़ता दिखाई पड़ता है और न ही उनके मकानों के कोनों में चूहे तथा बिल्लियाँ फिरती दिखाई पड़ती हैं। जब वे स्वयं भोजन के लिए तरसते हैं तो जानवरों के लिए भोजन कहाँ से लायें।

संक्षेप में इस विषय में मनुष्यों एवं जानवरों की एक ही दशा है। क्योंकि अमीरों तथा धनी लोगों के पास हर चीज़ की बहुतायत होती है, अतः वे स्वयं निश्चिन्त होकर उड़ाते-खाते हैं और अन्य लोगों को भी खिलाते-पिलाते हैं। मनुष्य भी उनके यहाँ से मालामाल होकर जाते हैं और जानवर भी पेट भरकर लौटते हैं। संक्षेप में नगर की आबादी जितनी अधिक होती है उतना ही वहाँ के निवासी खुशहाल, समृद्ध, दानी एवं उदार होते हैं।

(१२) शहरों में चीजों के भाव

वैसे तो बाज़ारों में मनुष्यों की आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं, किन्तु आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में बड़ा अन्तर होता है। उदाहरणार्थ, अनाज, गेहूँ इत्यादि अथवा सब्ज़ियों जैसे पियाज़, लहसुन इत्यादि के मूल्यों में कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जो जीवन को सुखी एवं आनन्दमय बनाने के काम आती हैं। उदाहरणार्थ, स्वादिष्ठ मेवे, उत्तम वस्त्र, उच्च कोटि के बरतन, शानदार सवारियाँ अथवा जीवन की अन्य विलासिताएँ। जब किसी नगर की आबादी बढ़ती है तो केवल भोजन की वस्तुओं का भाव सस्ता होता है और अन्य आडम्बर की वस्तुओं का मूल्य महँगा हो जाता है। इसके विपरीत जब नगर की जनसंख्या कम होती है तो इससे उलटी बात होती है कि आवश्यकता की वस्तुओं का मूल्य अधिक एवं अनावश्यक वस्तुओं का मूल्य कम होता है। इसका कारण यह है कि भोजनोपयोगी वस्तुओं, अनाज इत्यादि की प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकता होती है। वह एक साल अथवा कम से कम एक मास का अनाज भर लेना चाहता है क्योंकि इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं होता। अतः सभी नगरवाले अथवा सब नहीं तो अधिकांश लोग इन आवश्यक वस्तुओं को संग्रह करने के प्रयत्न में लग जाते हैं, चाहे वे वस्तुएँ उसी नगर से प्राप्त होती हों अथवा उसके आस-पास से।

हम यह बता चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पैदा की हुई जिन्स उसकी तथा उसके घरवालों की आवश्यकता से कहीं अधिक होती है और बहुत-से लोगों की आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है। अतः नगर की पैदावार नगर की आवश्यकता से कहीं अधिक होती है। इसलिए इन चीज़ों का भाव प्रायः कम होता है। परन्तु आकस्मिक दुर्घटनावश निःसन्देह भाव चढ़ जाता है। यदि लोग आकस्मिक दुर्घटनाओं के भय से अनाज का भंडार एकत्र न करें तो कभी-कभी पैदावार इतनी अधिक हो जाती है कि बिना मूल्य के भी बाँटी जा सकती है। जहाँ तक आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का प्रश्न है वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि न तो सब लोगों को उनकी आवश्यकता ही होती है और न सब लोग अथवा अधिकांश व्यक्ति पैदावार के काम में व्यस्त ही होते हैं। जब किसी नगर की आबादी बढ़ती है और समृद्धि एवं आडम्बर का संचार होता है तो इन वस्तुओं की हर ओर से माँग होती है और प्रत्येक समृद्ध व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार अधिक से अधिक मात्रा में उनकी माँग करता है। इस कारण उनकी उत्पत्ति नगर की आवश्यकता के लिए पर्याप्त नहीं होती। चीज़

थोड़ी होती है और उसके इच्छुक अधिक होते हैं। एक पर एक गिरता है। धनी लोग अधिक से अधिक मूल्य पर वस्तुओं को लेने को तैयार होते हैं। फलतः ऐसी वस्तुओं का मूल्य अधिक रहता है।

अधिक आबाद नगरों में कला-कौशल, मज़दूरी एवं नौकरी का मूल्य बढ़ चढ़ जाता है। इसके तीन कारण हैं। एक यह कि नगर में समृद्धि एवं ख़ुशहाली फैली हुई होती है। अतः अधिकांश लोग कारीगरों, मज़दूरों एवं सेवकों पर निर्भर होते हैं। दूसरा कारण यह है कि सेवकों एवं मज़दूरों की आर्थिक आवश्यकताएँ सुगमतापूर्वक पूरी हो जाती हैं और उनकी ओर से उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती, अतः वे अपनी सेवाओं के बदले अधिक से अधिक वस्तु माँगते हैं और उसमें किसी प्रकार की कमी पसन्द नहीं करते। उधर समृद्ध नगरनिवासी स्वयं अपना कार्य करने से बचते हैं। सेवकों के बिना वे कुछ नहीं कर सकते। इस कारण वेतन एवं मज़दूरी बढ़ जाती हैं। तीसरे नगर में धनी एवं अमीर लोगों की संख्या अधिक होती है और वे अपना काम करना नहीं जानते। बात-बात पर दूसरों की सहायता चाहते हैं। अतः वे हर मूल्य पर कारीगरों, मज़दूरों एवं सेवकों को स्वीकार कर लेते हैं और उनसे काम लेते हैं। इस भय से कि कहीं अन्य लोग उनकी सेवाएँ न प्राप्त कर लें, वे मज़दूरी बढ़ाकर उनसे काम लेने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार कारीगरों एवं मज़दूरों के दिमाग़ भी आसमान पर चढ़ जाते हैं। वे अपने कार्यों का मूल्य बढ़ा देते हैं, अतः इन्हीं मार्गों से नगरवालों का धन तथा उनकी दौलत बिखरती और बढ़ती रहती है। प्रत्येक दिशा में धन की वर्षा होती देख पड़ती है।

दूसरी ओर छोटे-छोटे नगरों को देखिए तो उनमें आबादी की कमी के कारण चीज़ों की पैदावार कम होती है और वे कम मात्रा में प्राप्त होती हैं। कमी के कारण लोग अकाल की आशंका से उनका संग्रह कर लेते हैं। अतः वे और भी अप्राप्य हो जाती हैं। उनका भाव चढ़ जाता है। अब रहीं अनावश्यक वस्तुएँ, मेवे इत्यादि वे नगर के निवासियों को जो संख्या में कम और दीन-दुखी भी होते हैं उनकी आवश्यकता नहीं होती। अतः इन चीज़ों का बाज़ार ठंडा ही रहता है। जब उनके ग्राहक कम होते हैं तो उनका मूल्य भी सस्ता रहता है।

कभी-कभी बड़े नगरों में चीज़ों की महँगाई चुंगी एवं नाना प्रकार के भारी, करों पर जिन्हें राज्य अपने अंतिम चरण में लगाया करते हैं निर्भर रहती है। इस प्रकार व्यापारियों एवं प्रजा की कमर टूटती है। हर चीज़ का भाव चढ़ जाता है और एक आम महँगाई की लहर दौड़ जाती है। छोटे-छोटे नगरों में चुंगी या तो होती ही

नहीं और होती भी है तो बहुत थोड़ी-सी, अतः चीज़ें सस्ती रहती हैं। कहीं-कहीं भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए नगरवालों को अत्यधिक व्यय करना पड़ता है। इसका प्रभाव मूल्यों पर पड़ता है जो प्रायः चढ़ जाते हैं।

उन्दुलुस की आजकल यही दशा है। ईसाइयों ने जब उन्दुलुसवालों को कृषि के अयोग्य, बंजर एवं खारी भूमि की ओर ढकेल दिया और स्वयं हरी-भरी एवं उपजाऊ भूमियों पर अधिकार जमा लिया तो उन्दुलुसवालों को भूमि को कृषि योग्य बनाने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा और इस संबंध में धन के लिए भी बड़ा कष्ट भोगना पड़ा और अत्यधिक धन भी व्यय करना पड़ा। उन लोगों ने बहुत अधिक मात्रा में खाद एकत्र की और हर प्रकार से प्रयत्न करके भूमि को कृषि योग्य बनाया। फिर इन सबका प्रभाव भावों पर पड़ा और पैदावार महँगी हो गयी। उन्दुलुस महँगाई का केन्द्र हो गया। यह सब ईसाइयों का कुप्रभाव है कि उन्होंने मुसलमानों को ऐसे अनुचित भूमि के टुकड़े पर बसने के लिए विवश किया। लोग जब उन्दुलुस की महँगाई के विषय में सुनते हैं तो समझते हैं कि सम्भवतः वहाँ अनाज कम पैदा होता है, यद्यपि वास्तव में ऐसा नहीं है। उन्दुलुस का भू-भाग, जहाँ तक हमें ज्ञात है, अनाज की उपज में सबसे बढ़कर है और वहाँ के लोगों को कृषि में बड़ी कुशलता प्राप्त है। कुछ कारीगरों, मज़दूरों एवं बाहर से आनेवाले मुजाहिद[1] लोगों को छोड़कर बादशाह से लेकर साधारण बाजारी जन तक कृषि में रुचि रखते हैं और यही उनका व्यवसाय है। मुजाहिद लोग खेती से इस कारण अलग रहते हैं कि शासन की ओर से उनको जीविका-साधन एवं भोजन प्राप्त हो जाते हैं। अतः उन्दुलुस की महँगाई का वही कारण हुआ जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया है।

अब बरबर देशों को देखिए। वहाँ सब कुछ उलटा है। उनकी भूमि कृषि के लिए बड़ी उपयुक्त है, अतः उनको कृषि के सम्बन्ध में अधिक कठिनाई नहीं भोगनी पड़ती। धन भी अधिक व्यय नहीं होता और उसके साथ-साथ वहाँ यह व्यवसाय सभी लोग करते हैं। अतः वहाँ अनाज का भाव इत्यादि बहुत सस्ता रहता है।

(१३) बदवी लोग अधिक आबाद (सभ्य) नगरों में नहीं बस सकते

पिछले वर्णन में यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि अधिक सभ्य नगरों के लोगों में विलास-प्रियता बढ़ जाती है और इसके साथ-साथ उनकी आवश्यकताओं की मात्रा

१. जिहाद करनेवालों।

भी अधिक से अधिक हो जाती है। नाज़-नख़रों का शौक़ उन्हें इधर-उधर भटकाता है और आराम की चीज़ों को वे हर मूल्य पर लेने के लिए तैयार होते हैं। अतः नगर में आवश्यक वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है। महँगाई का दूसरा कारण है राज्य की ओर से बाज़ारों के व्यापार पर कर लगाया जाना। इससे नगर की व्यापारिक वस्तुएँ महँगी हो जाती हैं। मज़दूरियाँ बढ़ जाती हैं और लोगों के समय का मूल्य चढ़ जाता है। अतः नगर-वासियों का व्यय दुगुना-चौगुना हो जाता है। उनको अपनी तथा अपने परिवारवालों की जीविका के लिए बहुत-से धन की आवश्यकता होती है। थोड़े धन में उनका जीवन निर्वाह नहीं हो पाता। दूसरी ओर बेचारे बदवियों की आय कम होती है। वे ऐसे स्थानों में रहते हैं जहाँ के बाज़ार इतने मंदे होते हैं कि उनमें ऐसे कारोबार एवं धंधे ही नहीं मिलते जिनकी आड़ में उन्हें कुछ धन प्राप्त हो जाय और वे समृद्ध हो जायँ। अतः बदवी लोग ख़ाली हाथ रहते हैं। उनके लिए यह सम्भव नहीं होता कि वे नगर में जाकर निवास करें और वहाँ के ख़र्च उठायें। वे तो ऐसे ग्रामों में रहने के आदी होते हैं जहाँ थोड़े-से काम से वे अपना पेट भर लेते हैं, कारण कि आडम्बर एवं नाज़-नख़रों से जिनके लिए अधिक धन की आवश्यकता होती और अधिक कार्यों में अपने आपको फँसाना पड़ता है वे अनभिज्ञ होते हैं। यदि कोई बदवी ऐसा कर भी बैठता है और रेगिस्तान के जीवन को त्यागकर किसी बड़े नगर में बस जाता है तो शीघ्र ही वह वहाँ के जीवन से घबरा उठता है और अपना निवास-स्थान बदलने पर पछताता और लज्जित होता है।

केवल वही बदवी जो धन-सम्पत्ति एकत्र करके और आवश्यकता से अधिक धन लेकर नगर में बस जाता है एवं नाज-नख़रे तथा आडम्बर पसंद करने लगता है, नगर में निवास कर सकता है कारण कि वह स्वभाव, चरित्र एवं आचार-विचार में नगरवासियों के समान हो जाता है और उनके साथ घुल-मिल जाता है। इस प्रकार नगरों की आबादियाँ प्रारम्भ होती हैं और बदवी का स्वभाव धन-सम्पत्ति की अधिकता के कारण नगरवासियों सरीखा बन जाता है। वह नगर बसाने लग जाता है।

(१४) देशों और नगरों की दीनता, दरिद्रता एवं समृद्धि का अन्तर

जिन देशों की सभ्यता उन्नत होती है और जिनमें अनेक क़ौमें बसी होती हैं उनके निवासी समृद्ध एवं धनी होते हैं। बड़े-बड़े नगर उन देशों में बसे होते हैं और वहाँ की सल्तनत का ऐश्वर्य एवं गौरव भी अधिक होता है। इन सबका कारण ऊपर लिखा है। वहाँ कारीगरों एवं धंधों की अधिकता होती है जो समस्त देश को धन-धान्य सम्पन्न

कर देते हैं। लोग अपनी वास्तविक आवश्यकताओं को पूरा करके धन बचा लेते हैं। फिर देश की सभ्यता जितनी उन्नत होती है उतना ही वहाँ धन का बाहुल्य होता है। संक्षेप में धन की अधिकता से देश में समृद्धि एवं खुशहाली फैलती है। लोगों में विलास-प्रियता पैदा होती है। बाज़ारों में चहल-पहल बढ़ती है और बाजारों की रौनक़ से सल्तनत की आय दिनदूनी रात चौगुनी बढ़ जाती है। उसके ऐश्वर्य एवं गौरव में वृद्धि होती है। दृढ़ एवं भारी-भारी किलों का निर्माण होता है। बड़े-बड़े नगरों की नींव पड़ती है और बड़ी शान से वे बसाये जाते हैं।

देख लीजिए कि पूर्व के देशों में मिस्र, शाम, इराक़, अजम, हिन्द, चीन एवं अन्य पूर्वीय देश सभ्यता की दृष्टि से कितने उन्नत एवं धन-धान्य सम्पन्न हैं। उनकी सल्तनतें बहुत बड़ी हैं। नगरों की संख्या और आबादी भी बेहद बड़ी है। व्यापार ज़ोरों पर चल रहा है। संक्षेप में सभी बातें ईर्ष्या योग्य हैं। आज हम उन ईसाई व्यापारियों को क्यों न देख लें जो मग़रिब के मुसलमानों में आते-जाते हैं अथवा उनमें बस जाते हैं। उनकी समृद्धि का क्या ठिकाना है और उनका गुणगान किस प्रकार सम्भव है। यही दशा सुदूर पूर्व इराक़-अजम, हिन्द एवं चीन के व्यापारियों की है जिनकी धन-सम्पत्ति की कहानियाँ हम आने-जानेवालों से नित्यप्रति सुनते रहते हैं। कभी-कभी तो हम उन पर विश्वास ही नहीं करते।

साधारण लोगों का तो इस विषय में यह कहना है कि उनकी यह समृद्धि उनकी धन-सम्पत्ति के बाहुल्य के कारण है अथवा उनके यहाँ सोनें-चाँदी की खानें अन्य देशों की अपेक्षा अधिक हैं या पिछली क़ौमों द्वारा संचित खज़ाने उनको प्राप्त हो गये होंगे। यद्यपि इनमें से कोई भी बात सत्य पर आधारित नहीं है क्योंकि सोना इत्यादि तो सूडान से आता है जो मग़रिब के निकटतम है। फिर पूर्ववाले अपने देश की पैदावार अन्य देशों में व्यापार के उद्देश्य से ले जाते हैं। यदि वे स्वयं धनी होते तो फिर ऐसा क्यों करते और धन की चिन्ता में क्यों इधर-उधर मारे-मारे फिरते, अपितु सब लोगों की उपेक्षा करके अपने स्थान पर बैठे रहते।

ज्योतिषियों ने जब पूर्ववालों की समृद्धि एवं धन-सम्पत्ति की यह कहानियाँ सुनीं तो इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया कि नक्षत्रों का प्रभाव एवं कृपा पश्चिम की अपेक्षा पूर्व पर अधिक है। इसी कारण वहाँ पैदावार का बाहुल्य है। यह अनुमान एक सीमा तक ठीक है, कारण कि भूमि पर घटनेवाली घटनाएँ नक्षत्रों से प्रभावित होती हैं, किन्तु ज्योतिषियों का दिमाग भूमि-सम्बन्धी उस कारण की ओर नहीं गया जिनका प्रभाव इस कार्य पर अत्यधिक पड़ता है। वह कारण है पूर्व की बेहद उन्नत

सभ्यता जिसे प्राथमिकता प्राप्त है। जब वहाँ की आबादी अधिक हुई तो वहाँ के कारोबार एवं धंधे भी बढ़ गये और उनके कारण देश में धन का संचार होने लगा। इस प्रकार इन स्थानों की समृद्धि का कारण नक्षत्र ही नहीं, अपितु भूमि संबंधी अन्य परिस्थितियाँ भी हैं। उदाहरणार्थ, वहाँ की जनसंख्या एवं कारोबार की अधिकता।

यही हाल इफ़रीक़िया एवं बरक़ा का है कि जब उनकी सभ्यता घटी तो उनकी दशा भी शोचनीय हो गयी। वे दरिद्रता एवं फ़ाक़े के शिकार हो गये। देश का ख़राज कम हो गया, आय घट गयी। यद्यपि इससे पूर्व शीआ[1] सल्तनत एवं सिनहाजा के राज्य-काल में लोगों की ख़ुशहाली खराज की अधिकता एवं लोगों की समृद्धि उन्नति के शिखर पर पहुँच गयी थी। यहाँ तक कि मिस्र के वाली के व्यय हेतु क़ैरवान से ही धन जाया करता था। सल्तनत इतनी धनी थी कि जब महदी का सेनापति जौहर अल-कातिब मिस्र विजय हेतु रवाना हुआ तो माल से भरे हुए १००० बोझ ऊँटों पर लदे थे ताकि सेना के वेतन का भुगतान किया जा सके और मुजाहिदों के व्यय में काम आये। यद्यपि उस युग में भी मग़रिबवाले इफ़रीक़िया से कम थे, किन्तु धन-सम्पत्ति की कुछ कमी न थी। मुवह्हेदीन के राज्य काल में तो समृद्धि का वातावरण चारों ओर व्याप्त था और ख़राज बड़ी अधिक संख्या में प्राप्त होता था। आजव ही मग़रिब बड़ी दुर्दशा को प्राप्त हो गया है और उसकी जनसंख्या बेहद घट चुकी है। बरबर क़ौम तो उस क्षेत्र में रही ही नहीं। चारों ओर वीरानी छाई हुई है और सम्भव है कि उसकी दशा और भी शोचनीय हो जाय। एक वह समय था जब भूमध्य-सागर से लेकर सूडान तक, सूस से लेकर बरक़ा तक के प्रदेश सभ्यता में उन्नति पर थे। अब वहाँ सब जंगल ही जंगल दृष्टिगत होता है। केवल समुद्रीय तट और उसके आस-पास की ऊँचाई पर कुछ आबादी रह गयी है।

(१५) नगरों में भूमि और गृहों की प्राप्ति में कठिनाई, महर्घता और लाभ

नगरवासी, भूमि, जायदाद एवं जागीरों के स्वामी अचानक और एकदम नहीं हो जाते क्योंकि उनके पास इतना धन नहीं होता जिसे व्यय करके वे बड़ी बड़ी जागीरें ख़रीद सकें। जागीरें शनैः-शनैः प्राप्त होती हैं और वे भी दो प्रकार से। एक तो बाप-दादा अथवा पूर्वजों की भूमि या जागीर उत्तराधिकार में प्राप्त करके और उसमें वृद्धि

1. फ़ातेमी।

करते-करते उसे बढ़ाकर और दूसरे किन्हीं ज़मीनों, घरों एवं जागीरों पर प्रभुत्व जमाकर। बाज़ारों के रंगढंग बदलने के समय भी जायदाद पैदा की जा सकती है। यह इस प्रकार पैदा की जा सकती है—जब कोई सल्तनत अपना जीवन-काल समाप्त करके स्थान छोड़ने लगती है और उसकी सेना कम हो जाती है तथा समस्त व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है; वहाँ के नगर विनाश एवं वीरानी की ओर अग्रसर होने लगते हैं और लोगों की हालत गिर जाने के कारण व्यापार में लाभ कम प्राप्त होता है, प्रत्येक वस्तु का महत्त्व कम हो जाने के कारण लोग अपनी जागीरें और घर कौड़ियों के मोल बेचने लगते हैं और उन्हें साधारण वस्तु के समान फेंकने लगते हैं। तब कुछ लोग इस अवसर से लाभ उठाकर जागीरों एवं घरों को साधारण मूल्य पर क्रय कर लेते हैं और साधारण धन व्यय करके बड़ी जागीरों के स्वामी बन जाते हैं। फिर जब दूसरे नये राज्यों की स्थापना होती है तो नगरों में भी नवस्फूर्ति का संचार होने लगता है। हर चीज़ पर रौनक आने लगती है। तब जागीरों का मूल्य भी बढ़ जाता है और उनको वही महत्त्व प्राप्त हो जाता है जो पहले कभी उन्हें प्राप्त था। उस समय उनको कौड़ियों के मूल्य पर क्रय करनेवाला नगर के चोटी के धनी लोगों में गिना जाने लगता है। किन्तु उसकी यह सम्पन्नता उसके प्रयत्नों का फल नहीं होती, अपितु राजनीतिक परिवर्तन, सल्तनतों एवं नगरों की उथल-पुथल के फलस्वरूप उसको यह पदवी प्राप्त होती है।

नगरवालों की धन-सम्पत्ति एवं जागीरें उनके विलासमय जीवन के लिए पर्याप्त नहीं होतीं, न वे उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही कर सकती हैं। हमने पूज्य व्यक्तियों से सुना है कि जागीर एवं सम्पत्ति बनाने का उद्देश्य केवल यह होता है कि आगामी संतान होश सँभालने और कमाने योग्य होने तक उनसे जीविका प्राप्त कर सके। जब वह स्वयं अपने पाँव पर खड़े होने योग्य हो जाय तो उनमें वृद्धि करके अपने बाद आनेवाली संतान के लिए वह उसे छोड़ जाय। कभी-कभी ऐसा होता है कि मरते समय किसी का बालक अल्पवयस्क ही रह जाता है और बुद्धि की कमी एवं शारीरिक दोष के कारण जीविकोपार्जन योग्य नहीं होता। ऐसी अवस्था में जागीर उसके लिए संतोष का साधन बन जाती है और उसकी जीविका का सहारा होती है। धनी लोगों का जागीर बनाने का उद्देश्य यही होता है कि धनी होकर वे भोग-विलास का जीवन व्यतीत कर सकें।

ऐसा अवसर बहुत कम और वह भी उस समय जब कि राज्यों में परिवर्तन के कारण बाज़ारों का रंग पलटता है और क्रय की हुई वस्तु का मूल्य अचानक चढ़ जाता है, तभी आता है कि हज़ारपति लखपति और लखपति करोड़पति बन जाय। किन्तु

इस प्रकार अचानक धनी बन जानेवाले लोग अन्य धनी लोगों की दृष्टि में बहुत खटकते हैं और हाकिमों की भी निगाहें उन पर पड़ती रहती हैं। वे उनको नहीं छोड़ते, अपितु किसी न किसी प्रकार उनसे जागीरें छीन लेते हैं अथवा साधारण मूल्य पर उन लोगों से क्रय कर लेते हैं।

(१६) नगरों में पूँजीपतियों को हानि से बचने के लिए प्रभुत्व एवं संरक्षण की आवश्यकता पड़ती है

जब किसी नगरवासी की धन-सम्पत्ति बढ़ती है और वह जायदाद का स्वामी बन जाता है तो पूरे नगरवालों की दृष्टि उस पर केन्द्रित होने लगती है। वह भोग-विलास एवं समृद्धि के वातावरण में पलने लगता है। अमीर एवं हाकिम लोग लोभ के कारण उस पर टूट पड़ते हैं और प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी उपाय से उसकी धन-सम्पत्ति पर अधिकार जमाना चाहता है। इसके लिए वे एक उपाय यह भी करते हैं कि उसे किसी शाही क्रोध में फाँसकर उसकी धन-सम्पत्ति पर अधिकार कर लेने का प्रयत्न करते हैं। यत: आजकल की राजाज्ञाएँ न्याय पर आधारित नहीं होतीं और उन्हें स्वार्थसिद्धि का साधन बनाया जा सकता है। राजाज्ञाओं का न्यायाधारित्व शरई ख़िलाफ़त की ही विशेषता थी जो हज़रत मुहम्मद के उपरान्त शीघ्र ही समाप्त हो गयी। इस विषय में मुहम्मद साहब का यह कथन प्रसिद्ध है कि, "मेरे उपरान्त ख़िलाफ़त तीस वर्ष रहेगी, तदुपरान्त निरंकुश शासन स्थापित हो जायँगे।"

जब यह स्थिति हो जाती है तो नगर के प्रसिद्ध धनी लोगों को अपने सहायक एवं समर्थक रखने पड़ जाते हैं और बादशाह के किसी निकटतम सम्बन्धी, विश्वास-पात्र अथवा "असबियत" वाले से उन्हें अपना मेल-जोल बढ़ाना पड़ता है ताकि उसके द्वारा वे बादशाह की छत्र-छाया में शान्ति-पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें और लोगों के अत्याचार से अपनी रक्षा कर सकें। यदि वे इस उपाय से कार्य न लें तो शासक एवं अन्य अत्याचारी लोग उन पर अत्याचार प्रारम्भ कर दें और सब मिलकर उनकी धन-सम्पत्ति को बाँट लें।

(१७) नगरों की संस्कृति सल्तनतों द्वारा आती है और जब तक सल्तनत अपने पाँव जमाये रखती है तब तक ही उनकी सभ्यता भी बनी रहती है

नगर की संस्कृति की एक ही दशा हरदम नहीं रहती। समृद्धि एवं क़ौमों के घटने-बढ़ने के साथ-साथ उसमें भी परिवर्तन होता रहता है। जब नगर का जीवन अपनी

प्रवीणता पर आ जाता है तो कलाओं की उन्नति होती है। नाना प्रकार के कुशल एवं योग्य कलाकार तथा शिल्पकार पैदा होते हैं जो अपनी कला से नगरवालों के जीवन एवं स्वभाव में परिवर्तन कर देते हैं। अब जैसे-जैसे संस्कृति के प्रभाव से लोगों की रुचि में परिवर्तन होता है उसी तरह नाना प्रकार की कलाएँ पैदा होती हैं और उन्हें उन्नति प्राप्त होती है। जब कुछ समय तक यही स्थिति रहती है तो अभ्यास के कारण कलाकार अपनी-अपनी कलाओं में दक्ष हो जाते हैं। उनका अभ्यास नित्यप्रति उन्नति करता रहता है। यह उसी दशा में सम्भव होता है जबकि नगर की जनसंख्या बढ़ रही हो और नगरवाले भोग-विलास में पल रहे हों। यह सल्तनत की वजह से होता है, कारण कि वह प्रजा से धन-सम्पत्ति वसूल करके अपने विश्वासपात्रों एवं आश्रितों पर व्यय करती है और वे बड़े-बड़े पद प्राप्त करके समृद्ध होते जाते हैं। फिर उनकी समृद्धि उनके विश्वास-पात्रों एवं आश्रितों को प्रभावित करती है और उनकी धन-सम्पत्ति में नित्यप्रति वृद्धि होती रहती है। उनमें विलास-प्रियता उत्पन्न हो जाती है। संस्कृति एवं नगर के जीवन के विभिन्न पहलुओं में वे रुचि लेने लगते हैं। उनकी रुचि के परिवर्तन के कारण नाना प्रकार की कलाओं का आविष्कार होता है और नगर नाना प्रकार की कलाओं के प्रदर्शन का केन्द्र बन जाता है। इसी वातावरण को हम हज़रियत अथवा नगर का जीवन या संस्कृति कहते हैं।

इसी कारण उन नगरों पर जो हुकूमत से दूर एक कोने में आबाद होते हैं उनकी जन-संख्या अधिक होने के बावजूद, बदवियतों पर जो छायी रहती है और वे नगर के वातावरण से अपरिचित रहते हैं। इसके विपरीत जो नगर शासन-केन्द्र के समीप होते हैं, उन्हें बादशाह की निकटता प्राप्त होती है और वे उसकी धन-सम्पत्ति द्वारा उसी प्रकार सर्वदा लाभान्वित हुआ करते हैं जिस प्रकार जल अपने बहाव के स्थान को भी हरा-भरा रखता है और उसके आस-पास के स्थान को भी। संक्षेप में जहाँ तक जल की तरी का प्रभाव रहता है, खुश्की नहीं आती, हरियाली ही दृष्टिगत होती है। हम पूर्व पृष्ठों में यह भी उल्लेख कर चुके हैं कि बादशाह तथा उसका शासन संसार के लिए बाज़ार सरीखा होता है। माल व अस्बाब बाज़ार में मिलता है अथवा उसके आस-पास। उससे दूर जाइए तो कुछ न मिलेगा। यह बादशाह एवं सल्तनत का हाल है। समीप रहने पर सब कुछ मिलेगा, दूर रहने पर कुछ न प्राप्त होगा।

इसके अतिरिक्त सल्तनत का जीवन-काल जितना अधिक होगा और बादशाह एक-एक करके सिंहासनारूढ़ होते रहेंगे, नगर की संस्कृति भी उतनी ही पूरी शान से चमकती ही न रहेगी, अपितु नित्यप्रति बढ़ती रहेगी। जब शाम में यहूदियों की सल्त-

नत जम गयी और १४०० वर्ष तक चलती रही तो नगर की संस्कृति भी उनमें जड़ पकड़ गयी। उनकी नस-नस में सभ्यता एवं संस्कृति की लहर दौड़ गयी और खाने-पीने, वस्त्र एवं रहन-सहन के विषयों में उन्होंने ऐसी-ऐसी कलाओं का आविष्कार किया जो आज तक प्रचलित हैं। इस प्रकार हम शाम में जो नगर की संस्कृति देखते हैं वह उन्हीं की अथवा उन रूमवालों की यादगार है जिनका शासन ६०० वर्ष तक जमा रहा।

यही हाल क़िब्तियों का रहा कि उनकी राज्य सत्ता भी ३००० वर्ष तक स्थापित रही और नगर की संस्कृति उनकी नस-नस में प्रविष्ट हो गयी। मिस्र नगर संस्कृति का केन्द्र बन गया। इसके बाद यूनान एवं रूमवालों ने उनका स्थान लिया तथा वे उन्हीं के पद-चिह्नों पर चले। किन्तु इस्लाम ने शहर के जीवन का तख़्ता पलट दिया और नगर की संस्कृति की जड़ काट दी।

यही हाल यमन का हुआ। वहाँ अरबों का शासन अमालक़ा एवं तबाबेआ के राज्यकाल से सहस्रों वर्ष तक स्थापित रहा। अतः नगर की संस्कृति ने भी वहाँ अपने पाँव जमाये।

इराक़ की भी यही दशा रही कि जब नब्त एवं फ़ारसवालों के राज्य वहाँ स्थापित हुए और कलदानी[1], कियानी[2], किसरवी[3] और बाद में अरब सहस्रों वर्ष तक शासन करते रहे, तब नगर की संस्कृति ने वहाँ वह ज़ोर पकड़ा कि इतिहास उसका दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करने में असमर्थ है। इस प्रकार आज भी शाम, इराक़ एवं मिस्र का नाम नगर की संस्कृति को प्रसिद्धि देनेवालों की प्रथम श्रेणी में है।

उन्दुलुस में देखिए कि जब उसमें क़ूत[4] और उनके उपरान्त बनी उमय्या के राज्य सहस्रों वर्ष तक स्थापित रहे तो सभ्यता एवं संस्कृति को वहाँ भी अत्यधिक उन्नति प्राप्त हुई।

इफ़रीक़िया एवं मग़रिब की स्थिति इन सबसे पृथक् है। इस्लाम के पूर्व इफ़रीक़िया में कोई बड़ा राज्य स्थापित नहीं हुआ। कुछ समय तक रूमियों[5] तथा फ़िरंगियों ने इफ़रीक़िया के तटों को अपने अधीन रखा, किन्तु बरबर भी उनसे कभी

१. Chaldaeans.
२. Kayyanids (Achaemenids)
३. Sassanian (al-Kisrawiyah)
४. Gothic.
५. Byzantine.

न दबे। वे क़िलों एवं दूरस्थ मैदानों में स्वतंत्र रहे। मग़रिबवाले तो राज्य के समीप भी न पहुँचे। ये लोग क़ूतों को ख़राज अदा किया करते थे। जब इस्लाम का अभ्युदय हुआ और इफ़रीक़िया एवं मग़रिब पर अरबों को प्रभुत्व प्राप्त हुआ तो प्रारम्भ में उनको भी जमकर राज्य करने का अवसर न मिला। फिर अरबवाले स्वयं नगर के जीवन से अपरिचित थे, अतः ये लोग नगर की सभ्यता क्या फैलाते? इफ़रीक़िया एवं मग़रिब में जो सल्तनतें स्थापित भी हुईं तो उनको नगर की संस्कृति का कोई ऐसा प्राचीन उदाहरण नहीं मिला जिसके आधार पर वे अपनी सभ्यता को उन्नति देते। कारण कि उनकी अधीन प्रजा बरबर थी जो जन्मजात "बदवियत" में रँगी थी। नगर की संस्कृति से उसका दूर का भी सम्बन्ध न था।

हिशाम बिन अब्दुल मलिक के राज्य काल में जो सुदूर मग़रिब से आये बरबरों में कुछ सभ्यता अवश्य पायी जाती थी, किन्तु फिर वहाँ अरब न जम सके और शीघ्र ही बरबर लोगों ने प्रभुत्व प्राप्त कर लिया और इदरीस से बैअत करके राज्य पर अधिकार जमाया। अरब नाममात्र को थे। न उनकी कोई संख्या थी और न प्रभाव। केवल इफ़रीक़िया में अग़ालेबा के राज्य के साथ अपनी संस्कृति को उन्नति देते रहे और देश की समृद्धि एवं क़ैरवान की जनसंख्या की अधिकता के कारण संस्कृति को आश्रय प्रदान किया। फिर कुतामा और उनके बाद सिनहाजा भी इसी परम्परा का अनुसरण करते रहे। उन्होंने बहुत बड़ी सीमा तक संस्कृति को उन्नति दी, किन्तु अभी संस्कृति ने अपनी अवस्था के ४०० वर्ष भी पूरे न किये थे कि वे स्वयं समाप्त हो गये और जैसे ही उनकी सल्तनत का अन्त हुआ, नगर की संस्कृति का भी अन्त हो गया। हिलाली नामक अरब बद्दवियों ने उन पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया।

नगर की संस्कृति के अवशेष केवल किन्हीं-किन्हीं स्थानों पर रह गये। अब भी उन लोगों में जो क़लआ, क़ैरवान एवं महदीया में कभी निवास कर चुके हैं, सभ्यता एवं संस्कृति के चिह्न पाये जाते हैं। उनके रहन-सहन एवं जीवन के अन्य पहलुओं में नगर की संस्कृति एवं "बदवियत" दोनों मिलकर चमकती है जिसे विवेकवाले नगरवासी साफ़ पहचान लेते हैं। इसी प्रकार इफ़रीक़िया के अधिकांश नगरों में प्राचीन संस्कृति के अवशेष अब तक मिलते हैं, किन्तु मग़रिब में तो चिह्न भी नहीं पाये जाते कारण कि इफ़रीक़िया में अग़ालेबा के समय से शीओं एवं सिनहाजा के राज्य-काल तक संस्कृति का ज़ोर रहा।

मग़रिब में मुवह्हेदीन के राज्य के साथ सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। क्योंकि मुवह्हेदीन की सल्तनत को उन्दुलुस में बड़ा गौरव प्राप्त था और वहाँ सभ्यता सामान्य

रूप से फैल चुकी थी। अतः वहाँ के लोगों ने मग़रिब में पहुँचकर अपनी संस्कृति का प्रतिबिम्ब डाला और ईसाइयों ने पूर्वी उन्दुलुस से मुसलमानों को निकाला तो वे विवश होकर इफ़रीक़िया में निवास करने लगे और उन्होंने वहाँ अपनी संस्कृति फैलायी। इधर तो उन्दुलुस की संस्कृति इफ़रीक़िया में अपना प्रभाव डाल रही थी, उधर मिस्र-निवासी मग़रिब एवं इफ़रीक़िया में पहुँचकर अपना रंग जमाने लगे। इस प्रकार मिल-जुलकर मग़रिब एवं इफ़रीकिया में अच्छी ख़ासी सभ्यता फैल गयी। किन्तु जब मग़रिब की सल्तनत शक्तिहीन हुई और नगरों की सभ्यता छिन्न-भिन्न हो गयी तो बरबर अपनी मूल दशा पर पलट आये। उनमें वही "बदवियत" एवं कठोरता आ गयी। संक्षेप में इस समय मग़रिब की तुलना में इफ़रीक़िया में सभ्यता के अधिक चिह्न पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि मग़रिब की अपेक्षा वहाँ देर तक विभिन्न सल्तनतें रहीं। इसके अतिरिक्त वहाँ के निवासियों में मिस्रवालों के चरित्र की छाप पड़ने की अधिक सम्भावना थी।

इस रहस्य को इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि संस्कृति की न्यूनता एवं अधिकता का आधार सल्तनत की शक्ति तथा कमज़ोरी, क़ौम की अधिकता एवं कमी, नगर की छोटाई-बड़ाई एवं धन-सम्पत्ति की कमी तथा अधिकता पर निर्भर है।

इस प्रकार सल्तनत संस्कृति का एक ढाँचा है। नगर एवं नागर सभ्यता उसका मांस एवं खाल हैं और राजस्व एवं ख़राज, कला-कौशल और व्यापार उसकी नसों में संचारित वह रक्त हैं जो शरीर की उन्नति का कारण होता है। इस प्रकार जब बादशाह सहायता के पात्रों एवं अपने आश्रितों को धन-सम्पत्ति प्रदान करता है तो वह चल-फिर कर प्रजा में पहुँच जाती है और कर एवं ख़राज की आड़ में उनके पास से पुनः राजकोष में पहुँचकर अन्य रूप में संचरणहेतु तैयार हो जाती है। अतः सल्तनत के गौरव के अनुसार प्रजा धनी रहती है और प्रजा के धन-धान्य सम्पन्न होने के कारण सल्तनत का ख़ज़ाना भरा एवं मालामाल रहता है। इन दोनों धन-सम्पत्ति एवं गौरव का कारण सभ्यता की उन्नति है। अतः इस तथ्य को सामने रखकर यदि आप सल्तनतों की हालत को जाँचेंगे तो हमारे कथन को शत-प्रतिशत ठीक पायेंगे।

(१८) नगर की संस्कृति उसकी सभ्यता का मूल, उसकी प्रौढ़ अवस्था की समाप्ति का चिह्न तथा उसके पतन का भी द्योतक है

हम पूर्व पृष्ठों में उल्लेख कर चुके हैं कि देश एवं सल्तनत "असबियत" की अंतिम सीमा है और नगर की संस्कृति "बदवियत" की। सभ्यता चाहे जिस प्रकार की हो

"बदवी" हो अथवा नगर की, शहंशाहियत हो अथवा सर्वसाधारण से सम्बन्धित, उसकी एक आयु उसी प्रकार होती है जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की। बुद्धि एवं लोगों के कथनानुसार मनुष्य का विकास और उसकी उन्नति ४० वर्ष पर समाप्त हो जाती है और फिर वह थोड़े से अवकाश के उपरान्त पतन की ओर अग्रसर होती है। नगर के जीवन एवं संस्कृति की भी यही स्थिति है। उनकी भी एक अंतिम सीमा होती है जिससे वे आगे नहीं बढ़तीं और वहाँ से वे पतन की ओर अग्रसर होने लगती हैं। इसका यह रूप होता है कि जब लोगों को सुख एवं समृद्धि प्राप्त होती है तो वे स्वाभाविक रूप से संस्कृति के समस्त मार्गों की ओर अग्रसर होते और उनके आदी हो जाते हैं, भोग-विलास एवं ऐश व आराम के नये-नये उपाय सोचते हैं। फिर इसके साथ-साथ कला-कौशल को उन्नति प्राप्त होती है। जीवन के प्रत्येक पहलू में कला एवं आविष्कार की तरक़्क़ी होने लगती है। भोजन, वस्त्र, पोशाक, भवन-निर्माण, फ़र्श, बरतन, रहन-सहन एवं जीवन निर्वाह के समस्त नियमों में नित्य ऐसे नये आविष्कार होने लगते हैं कि "बदवियत" के युग में उनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। जब नगर का जीवन इस सीमा को पहुँच जाता है तो लोग कामुकता के वश में हो जाते हैं फिर वे ऐसी अवस्था में पहुँच जाते हैं कि न वे इस लोक के रहते हैं, न परलोक के। धर्मनिष्ठता हाथ से निकल जाती है और कुकर्म उन्हें इस ओर नहीं जाने देते। संसार इस कारण हाथ से निकल जाता है कि अधिक से अधिक आवश्यकताएँ एवं महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी करने के लिए आय पूरी नहीं पड़ती।

यह स्पष्ट है कि जब नगर में संस्कृति की संचार होता है तो नगरवालों के व्यय बढ़ जाते हैं। तब जैसे-जैसे आबादी अधिक होती है, वैसे-वैसे ही संस्कृति की भी उन्नति होती है। दोनों साथ-साथ चलते हैं। यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि बड़े-बड़े नगरों के बाज़ारों में जीविका संबंधी आवश्यकताओं का मूल्य अधिक होता है और चीज़ों का भाव चढ़ा हुआ होता है। कर (टैक्स) एवं चुंगी के प्रतिबंध भाव में और भी वृद्धि कर देते हैं, कारण कि संस्कृति का अभ्युदय उसी समय होता है जब सल्तनत उन्नति की चरम सीमा पर होती है। यही वह युग है कि इसमें शासन को चुंगी लगाने के उपाय सूझते हैं। जब उसके व्यय में वृद्धि हो जाती है तो उसको पूरा करने के लिए उसे इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय दृष्टिगत नहीं होता कि चुंगी वसूल की जाय। चुंगी लगने का परिणाम यह होता है कि चीज़ों का मूल्य बढ़ जाता है और भाव चढ़ जाते हैं। यह बात स्पष्ट है कि बाज़ार के व्यापारी, व्यापारिक सामग्री का मूल्य निश्चित करते समय समस्त व्यय, यहाँ तक कि अपने परिश्रम एवं कष्ट का मूल्य भी लगा

लेते हैं। ऐसी अवस्था में वे चुंगी की उपेक्षा किस प्रकार कर सकते हैं, अतः जब असली मूल्य पर चुंगी का धन बढ़ता है तो चीज़ों का मूल्य कहीं से कहीं पहुँच जाता है और नगरवासियों के व्यय बढ़ जाते हैं और वे विवश होकर संयम त्यागकर अपव्यय का आश्रय लेते हैं। उनके पास इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं होता। उनकी आदतें पहले से ही बिगड़ चुकी होती हैं। वे कामुकता एवं वासनाओं के वश में होते हैं। अपने व्यय को घटा न सकने के कारण वे जो कुछ कमाते हैं सब का सब उड़ा डालते हैं। जीवन की इस सीमा को प्राप्त होकर वे दीनता एवं दरिद्रता के शिकार हो जाते हैं। बाज़ारों में चीज़ों का विक्रय एवं माँग कम होने लगता है। बाज़ार ठंडे पड़ जाते हैं और नगर की दुर्दशा हो जाती है।

यें समस्त दोष संस्कृति के विस्तार से उत्पन्न होते हैं, फिर यह तो वे दोष हैं जो नगर के आम बाज़ारों एवं आबादी में दृष्टिगत होते हैं। नगरवासी स्वयं भी ख़राबियों से सुरक्षित नहीं रह सकते। वे विवश होकर अपनी बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति में अत्यधिक प्रयत्न करते हैं और इस दिशा में किसी भी उचित एवं अनुचित उपाय को नहीं छोड़ते। इस प्रकार उनकी आत्मा नित्यप्रति अपमानजनक आदतें एवं स्वभाव अपने में उत्पन्न कर लेती है। दुराचार, व्यभिचार, दुष्टता, छल, धूर्तता अथवा जिस प्रकार सम्भव होता है वे जीविकोपार्जन करते हैं। वे सदा यही सोचते रहते हैं कि किसी न किसी चाल से रोज़ी कमायी जाय। इसी कारण आप देखेंगे कि ऐसे सभ्य नगरवासी झूठ, जुएबाज़ी, धोखेबाज़ी, चालबाज़ी, चोरी, झूठी गवाही तथा ब्याज खाने में बड़े दक्ष होते हैं। दुराचार एवं व्यभिचार के सभी मार्ग उनके सामने खुले होते हैं जिनमें से किसी को ग्रहण करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता और न इस विषय में उन्हें कोई लज्जा ही आती है चाहे किसी निकटतम संबंधी का ही मामला क्यों न हो, वे किसी को क्षमा करना नहीं जानते, यद्यपि "बदवियत" उन्हें अपमानजनक भावनाओं से बाज़ रखती है। फिर इन नगरवासियों को ऐसी युक्तियाँ एवं ऐसे उपाय भी खूब आते हैं जिनसे वे शासन के अत्याचार, कठोरता एवं आतंक से सुरक्षित भी रह सकते हैं।

संक्षेप में सभ्यता के वातावरण में प्रत्येक व्यक्ति इन्हीं कुकर्मों में ग्रस्त रहता है। केवल ईश्वर ही जिसे बचाये, वह बचा रहता है। इस प्रकार यह समझना चाहिए कि नगर गुंडों एवं दुराचारियों का एक समुद्र होता है जो हर समय लहरें मारा करता है। वे बालक जो शाही वंश अथवा अन्य शरीफ़ एवं सम्मानित वंशों से सम्बन्धित होते हैं, शिक्षा-दीक्षा की साधारण-सी उपेक्षा के कारण नगर की आवारगी के

बुरी तरह शिकार हो जाते हैं, कारण कि जहाँ तक मनुष्यों का सम्बन्ध है, सभी मनुष्य एक समान होते हैं। इनका पारस्परिक भेद-भाव और उनकी एक दूसरे पर प्राथमिकता, उनकी योग्यता एवं श्रेष्ठता तथा अपमानजनक कार्यों से बचने की इच्छा पर निर्भर हैं। जिसे दुष्कर्म की आदत पड़ जाती है, उसके लिए कुल एवं वंश की शुद्धता का कोई मूल्य नहीं होता और वह उसे अन्य लोगों की दृष्टि में अच्छा प्रामाणित नहीं कर सकती। आप बहुत-से अच्छे वंश एवं कुल के लोगों तथा शाही वंश से सम्बन्ध रखनेवालों को पायेंगे जो ऐसी ही आवारगी में डूबे रहकर जीविकोपार्जन हेतु अत्यन्त अपमानजनक व्यवसाय करने से नहीं चूकते। इसका कारण केवल यह है कि नगर के विषैले वातावरण से उनके चरित्र बिगड़ चुकते हैं और दुष्टता एवं बदमाशी का उन पर पूरा-पूरा रंग चढ़ चुकता है। जब नगर अथवा क़ौम में साधारणतः मानवता को कलंक लगानेवाले ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हो जाते हैं तो ईश्वर उनके विनाश का आदेश दे देता है। वह स्वयं कहता है, "जब हम किसी बस्ती को नष्ट करना चाहते हैं तो हम वहाँ के निवासियों को जो भोग-विलास के आदी होते हैं, दुराचार में ग्रस्त हो जाने का आदेश दे देते हैं। अतः आदेश पूरा हो जाता है और हम उसे नष्ट कर देते हैं।"[1]

इसका कारण यह होता है कि नगरवासियों की आय उनकी बढ़ती हुई इच्छाओं, एवं आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं होती। इस सम्बन्ध में वे अपनी आय के साधन औचित्य पर ध्यान दिए बिना बढ़ाते हैं और उनके चरित्र एवं आचरण मिट्टी में मिल जाते हैं। जब नगरवासियों की वैयक्तिक दशा बिगड़ जाती है तो पूरी शासन-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और वे विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। अतः आप कुछ विशेष लोगों को यह कहते हुए सुनेंगे कि नगर में जब नारंगी के वृक्ष अधिक संख्या में बोये जाते हैं तो वह नगर नष्ट हो जाता है। इसी विचार के अधीन साधारण लोग नारंगी का बृक्ष अपने घरों में लगाने से बचते हैं और उसे अशुभ समझते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि नारंगी के वृक्ष में यह प्रभाव है कि वह नगर अथवा घर को नष्ट कर देता है, अपितु इस कथन का उद्देश्य केवल यह है कि उद्यानों का लगाया जाना और उनमें नहरों का निकालना नगर की संस्कृति एवं नगर के जीवन की उन्नति के द्योतक हैं। नारंगी, नीबू एवं सरो के वृक्षों के लगाने का हरियाली के अतिरिक्त कोई अन्य उद्देश्य नहीं। उनमें कोई

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

ऐसा विशेष स्वाद अथवा लाभ नहीं जिस से उनको बोया अथवा लगाया जाय। इस प्रकार का भोग-विलास नगरवालों की विलासिता एवं ऐशपसन्दी का चिह्न है। यही वह सीमा है जहाँ पहुँचकर नगर विनाश का प्रिय भोजन बन जाता है। इसी प्रकार का कथन कनेर के विषय में प्रसिद्ध है। वह भी विनाश का कारण होता है। इसका उद्देश्य केवल यही है कि इस प्रकार के वृक्ष केवल सुन्दरता एवं सजावट के लिए लगाये जाते हैं। उनके लगाने का उद्देश्य यह होता है कि उनके लाल-लाल एवं सफ़ेद-सफ़ेद फूलों से दृष्टि को आनन्द एवं हृदय को प्रसन्नता हो। यह आदतें अनावश्यक विलासिता की चिह्न हैं जो विनाश का द्योतक हैं।

नगर की संस्कृति के दोषों में से एक दोष यह भी है कि वह कामुकता में वृद्धि करता है और भोग-विलास में रुचि पैदा करता है। इसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक अंग में दृष्टिगत होता है। खाने-पीने में उत्तम वस्तुओं से रुचि होती है। स्वादिष्ठ भोजनों के बिना जीवन निर्वाह नहीं हो पाता। जब शरीर में उत्तम भोजन पहुँचने लगते हैं तो नाना प्रकार के दुष्कर्म सूझते हैं जिनसे मानव का विनाश हो जाता है। संक्षेप में सभ्यता की उन्नति की चरम सीमा नगर का जीवन एवं संस्कृति हैं और जब उन्हें पूर्ण उन्नति प्राप्त हो जाती है तो पतन प्रारम्भ हो जाता है। उनकी स्थिति पशुओं के समान होती है। जिस प्रकार वे अपनी युवावस्था को प्राप्त होकर वृद्धावस्था की ओर अग्रसर होते हैं उसी प्रकार सभ्यता भी। हम यहाँ तक कह सकते हैं कि नगर की संस्कृति विनाश की ओर नहीं ले जाती, बल्कि वह स्वयं विनाश है। वह ऐसे चरित्र का आधार है जो पूर्णतः विनाश है। अतः स्पष्ट हो गया कि मनुष्य वह है जिसमें अपने लाभ को प्राप्त करने एवं हानि को रोकने की योग्यता हो और जो इस दिशा में उचित प्रयत्न कर सके।

नगरवासी अपनी आवश्यकताएँ स्वयं पूरी नहीं कर सकता। वह लाभ प्राप्त करने में असमर्थ होता है। कुछ तो वह इस बात की योग्यता ही खो बैठता है, कारण कि वह विलास-प्रिय एवं आराम का अभिलाषी हो जाता है और स्वयं अपना कार्य करने का आदी नहीं रहता, प्रत्येक बात में अन्य लोगों पर निर्भर होता है। कुछ यह भी कि समृद्धि एवं भोग-विलास में पल-बढ़कर अपना काम अपने हाथ से करने में नाक-भौं चढ़ाने लगता है और इसमें अपना अपमान समझता है। यह दोनों आदतें बड़ी बुरी हैं। इसी प्रकार नगरवासी अपनी हानियों का भी निराकरण नहीं कर सकता। इस दिशा में उचित प्रयत्न एवं परिश्रम करने का साहस खो बैठता है कारण कि ऐश व आराम के जीवन में पलकर एवं नगर के अनुशासन में जीवन व्यतीत

करके वह सौजन्य से शून्य हो जाता है। अपनी हानि के निराकरण के सम्बन्ध में सेना पर पूरा भरोसा करने से उसके कंधों पर बोझ हो जाता है। प्रत्येक कष्ट में सैनिक शक्ति की ओर उसकी दृष्टि रहती है। फिर उसमें इस कारण भी दोष आ जाते हैं कि उसकी आदतें खराब हो जाती हैं। स्वभाव में अधीनता एवं आज्ञाकारिता की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। वह प्रत्येक हानि को भुगतने का आदी बन जाता है। उसमें अपनी मर्यादा की रक्षा की भावनाएँ नहीं रहतीं। इस प्रकार जब नगरवासी नगर में बस कर न तो अपने चरित्र की ही रक्षा कर पाता है न अपनेध र्म की तो वह वास्तव में मानवता से शून्य हो जाता है और केवल नाम मात्र को मनुष्य रह जाता है।

इस वर्णन का निष्कर्ष यह निकला कि नगर की संस्कृति, सभ्यता एवं सल्तनत के लिए वह युग है जिसे हम मनुष्य के जीवन में उन्नति की चरम सीमा कहते हैं। जिस प्रकार इस सीमा को प्राप्त होकर मनुष्य पतन एवं विनाश की ओर अग्रसर होता है उसी प्रकार सभ्यता एवं सल्तनत नगर की संस्कृति के बाद शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाती हैं।

(१९) जब राज्य का पतन तथा अन्त होता है तो राजधानी उसके साथ-साथ नष्ट हो जाती है

जब किसी राज्य में विघ्न पड़ता है और बिगाड़ उसकी नस-नस में घुस जाता है तो राजधानी अपना जीवन नहीं सँभाल सकती और शीघ्र नष्ट हो जाती है। इस तथ्य के विभिन्न कारण हैं। एक यह कि जब किसी प्राचीन सल्तनत का विनाश होता है और उसके स्थान पर नयी सल्तनत प्रारम्भ होती है तो उस पर "बदवियत" छायी रहती है। वह लोगों की धन-सम्पत्ति को लूटने की ओर से हाथ खींचे रहती है। प्रजा पर न राजस्व का और न खराज का अधिक बोझ डालती है और न भारी-भारी कर लगाती है। इसी प्रकार जब आय नहीं बढ़ती तो व्यय का बोझ भी हल्का रहता है। अप-व्ययिता एवं भोग-विलास की ओर उसका क़दम नहीं बढ़ता। जब नयी सल्तनत इस रंग-ढंग की स्थापित होती है तो उसके कारण राजधानी में बनावट एवं दिखावे का वातावरण समाप्त हो जाता है। प्रजा शासक का अनुकरण करने लगती हैं, कारण कि यह स्वा-भाविक ही है कि प्रजा, राजा के पद-चिह्नों पर चला करती है चाहे, वह अपनी इच्छा से हो (क्योंकि प्रत्येक अधीनस्थ व्यक्ति अपने हाकिम एवं स्वामी का अधीन होता है) अथवा अपनी इच्छा के विरुद्ध (कारण कि जब शासक भोग-विलास से रुचि नहीं रखता, अपितु घृणा करता है तो प्रजा को भी उससे पृथक् रहना ही पड़ता है)। इस

प्रकार दिखावे एवं बनावट के समाप्त हो जाने के उपरान्त नगर संस्कृति एवं नागर जीवन की जड़ कट जाती है और नगर अपनी चहल-पहल तथा रौनक़ खो बैठता है। इसे हम विनाश एवं वीरानी कहते हैं।

दूसरा कारण यह है कि एक सल्तनत का दूसरी सल्तनत पर प्रभुत्व उसकी पहले की गहरी शत्रुता एवं उसकी वजह से युद्ध तथा मारकाट का परिणाम होता है। इस प्रकार जब तक शत्रुता, युद्ध एवं मारकाट की सभी श्रेणियाँ पार न कर ली जायँ, एक शक्ति दूसरी शक्ति पर विजय नहीं प्राप्त कर सकती। शत्रुता का आधार पारस्परिक घृणा एवं आदतों का विरोध होता है। अतः जब एक शक्ति दूसरी पर प्रभुत्व प्राप्त करती है तो मिटनेवाली शक्ति की हर आदत और स्वभाव प्रत्येक रंग-ढंग एवं आचार-व्यवहार नयी शक्ति की दृष्टि में अत्यन्त निंद्य प्रतीत होता है। वह उसका समूलोच्छेदन करके नयी प्रकार की संस्कृति एवं नागरिक जीवन की नींव डालती है और अपनी राज-व्यवस्था नये ढंग से करती है। इस प्रकार इसी परिवर्तन एवं उलट-फेर से राजधानी एक बार उजड़ एवं वीरान होकर पुनः शनैः-शनैः आबाद होने और शोभा प्राप्त करने लगती है। इसी मध्य युग को हम वीरानी एवं विनाश का युग कहते हैं।

तीसरा कारण यह है कि प्रत्येक क़ौम का एक विशेष वतन होता है जहाँ से उसकी सल्तनत का प्रादुर्भाव होता है। फिर जब वह अपनी विजयों को बढ़ाती है और दूर-दूर के देश अपने अधिकार-क्षेत्र में ले आती है तो उसके अधीनस्थ इलाक़े उसकी मूल राजधानी के अधीन एवं उपांत समझे जाते हैं और विजित नगर असल राज्य से सम्बन्धित समझे जाते हैं। इस कारण कि राजधानी सल्तनत के मध्य में होनी चाहिए सल्तनत अपनी प्राचीन राजधानी को ही अपने राज्य का केन्द्र बनाये रखती है और विजित राजधानी के निवासी, सुल्तान की निकटता के लोभ में केन्द्र की ओर बढ़ने लगते हैं। फलतः भरा-भराया एवं सभ्य नगर उजड़ने लगता है। जब सभ्यता का पतन होने लगता है तो नगर के जीवन का अन्त हो जाता है क्योंकि नगर का जीवन एवं आबादी साथ-साथ बढ़ती है और साथ ही मिटती है, इस प्रकार विजित राजधानी वीरान हो जाती है।

इतिहास इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है। जब सलजूक़ियों को प्रभुत्व प्राप्त हुआ तो उन्होंने इसफ़हान को अपनी राजधानी बनाया और बग़दाद ने अपनी शोभा खो दी और उसकी प्राचीन रौनक़ समाप्त हो गयी। अरब ने अपने राज्य-काल में मदाएन को छोड़कर कूफ़ा एवं बसरा को राजधानी बनाया तो मदाएन

पर वीरानी छा गयी। बनी अब्बास ने अपने राज्य-काल में दमिश्क़ को छोड़कर बाग़दाद को राजधानी बनाया और बनी मरीन ने मग़रिब में मराकश को छोड़कर फ़ास को राजधानी बनाया तो प्राचीन राज्य-केन्द्र उजड़ते एवं वीरान होते गये। नये नगरों की आबादी प्राचीन नगरों के विनाश का कारण बनने लगी। इसका निष्कर्ष यही निकला कि राज्य का एक नये स्थान को शासन केन्द्र बनाने का अर्थ प्राचीन राजधानी का विनाश होता है।

चौथा कारण यह है कि नया शासन, पिछले शासन के हितैषियों, एवं शुभ-चिन्तकों को उनके मूल निवास स्थान से दूर दूसरे स्थान पर स्थानांतरित कर देना अपना परम कर्त्तव्य समझता है ताकि उनके खतरों से पूर्ण-रूप से रक्षा हो सके। प्राचीन राजधानी में जो लोग रहते, बसते हैं उनमें विजित शासन के हितैषियों की अधिकता होती है और वे विभिन्न रूप में शासन से सम्बन्धित होते हैं। अधिकांशतः तो शासन के आश्रित होते हैं। उसके प्रति अपनी आस्था को किस प्रकार भुला सकते हैं प्रभुत्व एवं "असबियत" से वे भले ही वंचित हो चुके हों, किन्तु हृदय से अपनी निष्ठा के कारण पिछले शासन के साथ होते हैं। उधर नये शासन का यह दृष्टिकोण होता है कि जिस प्रकार उसके द्वारा पिछली हुकूमत मिटी है उसी प्रकार उसके अवशेष एवं चिह्न तक मिट जायँ। अतः उसके लिए इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं होता कि प्राचीन शासन से सहानुभूति रखनेवालों को भी अपनी राजधानी में स्थानांतरित कर ले। कुछ को बन्दी बना कर, कुछ पर कृपा दृष्टि प्रदर्शित करके अपने पास बुला ले। प्राचीन राजधानी में इस प्रकार जन-साधारण, श्रमिकों एवं कृषकों के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं रह जाता। जो लोग निकल कर चले जाते हैं उनके स्थान पर नगर की रक्षा हेतु सेना रखी जाती है। जब राजधानी इस प्रकार प्राचीन राज्य के समर्थकों से रिक्त हो जाती है तो आबादी में अत्यधिक विघ्न पड़ जाता है।

फिर नये राज्य के लिए यह भी आवश्यक होता है कि वह अपनी श्रेणी एवं दृष्टि-कोण के अनुसार कोई नवीन सभ्य नगर बसाये। इसका उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है कि जिस तरह किसी आदमी के पास किसी विशेष प्रकार का एक घर हो और जब उसके दिन फिर जायँ और वह वर्त्तमान आवश्यकताओं एवं रुचि के अनुसार उसका निर्माण कराना चाहे तो फिर उसके लिए इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं होता कि वह उसे तुड़वा कर दूसरे नये घर का निर्माण कराये और उसे नवीन प्रकार से तैयार कराये। संसार के इतिहास से पता चलता है कि राजधानियों में इस प्रकार के परिवर्तन बार-बार होते रहते हैं। हम ने इसे स्वयं अपनी आँखों से देखा है।

एक सल्तनत के मिटने पर उसकी राजधानी के नष्ट होने का स्वाभाविक कारण यह है कि सल्तनत का सभ्यता से वही सम्बन्ध है जो सभ्यता का धातु से। धातु का रूप उसे तत्सम्बन्धी विशेष दृष्टि के सहारे सुरक्षित रखता है। यह निश्चय हो चुका है कि धातु एवं रूप एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। इसी प्रकार सल्तनत के अस्तित्व की सभ्यता के बिना कल्पना नहीं हो सकती, कारण कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से अत्याचार एवं उद्दंडता, दुराचार और धूर्तता लेकर पैदा हुआ है जिसका निराकरण किसी राज्य-सत्ता तथा न्यायकारी के बिना सम्भव नहीं। हाकिम अपनी राजनीति द्वारा शासन करना चाहता है, चाहे वह सल्तनत शरा के अनुसार हो और चाहे देश के हितानुसार। संक्षेप में सभ्यता के लिए सल्तनत का अस्तित्व अनिवार्य है। अब यह ज्ञात हो गया कि सभ्यता तथा सल्तनत दोनों का अस्तित्व एक दूसरे के बिना नहीं हो सकता, एक का अस्तित्व दूसरे का अस्तित्व है और एक का विनाश दूसरे का विनाश है। यदि इनमें से एक में विघ्न पड़ जाय तो दूसरे में विघ्न पड़ना अनिवार्य होता है। यदि सल्तनत की नींव हिल जाय तो देश अपने अस्तित्व को किसी प्रकार स्थापित नहीं रख सकता। इस प्रकार रूम, फ़ारस, एवं अरब तथा बनी उमय्या एवं बनी अब्बास की सल्तनतों की यही दशा हुई। वैयक्तिक सल्तनत के पतन के विषय में उपर्युक्त सिद्धांत लागू नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, नौशीरवाँ, हरक़ुल[1], अब्दुल मलिक बिन मरवान तथा रशीद की सल्तनतें जब अपने-अपने समय पर बदलीं तो क़ौमी प्रभुत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और सभ्यता उसी प्रकार की रही, कारण कि बाद में आनेवाला प्रत्येक बादशाह सभ्यता के अस्तित्व का रक्षक एवं उसकी स्थापना के लिए उत्तरदायी सिद्ध हुआ। राज्य के नियमों एवं सिद्धांतों में अगले-पिछले बादशाह एक दूसरे से मिलते-जुलते रहे। अतः उनका परिवर्तन सभ्यता को कुछ अधिक प्रभावित न कर सका। इसका भी कारण यह है कि सल्तनत जो वास्तव में सभ्यता को प्रभावित करती है, और उसके अस्तित्व का कारण है, पूर्ण रूपसे प्रभुत्व एवं "असबियत" पर अवलम्बित है। वह शख़सी बादशाहों के परिवर्तन से नहीं बदलती, अपितु उसी प्रकार वर्त्तमान रहती है। यदि एक "असबियत" मिट कर, दूसरी "असबियत" उसका स्थान ले और पहली "असबियत" वाली क़ौम पूर्ण रूप से नष्ट हो जाय तो निःसन्देह देश में बहुत बड़ी उथल-पुथल हो जाती है और सभ्यता का स्थान वीरानी ले लेती है। ईश्वर में जो वह चाहे करने की शक्ति है। "यदि वह उन्हें नष्ट करना

१. Heraclius.

चाहे तो वह नष्ट कर देता है और नये प्राणियों का सर्जन कर देता है। ईश्वर के लिए यह कठिन नहीं[१]।"

(२०) कुछ कलाएँ विशेष रूप से नगरों में पायी जाती हैं

यह एक खुला तथ्य है कि नगरवालों के कर्त्तव्य एवं आचरण एक दूसरे की सहायता के बिना जन्म नहीं पा सकते, कारण कि मनुष्यों की सभ्यता स्वाभाविक रूप से पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। जिन कार्यों की जन-साधारण को अधिक आवश्यकता होती है, उनके लिए कुछ लोग अपने आपको विशेष रूप से पृथक् कर लेते हैं। वे उनमें कुशलता एवं दक्षता पैदा कर लेते हैं और उन्हीं उद्योग-धंधों को अपनी जीविकोपार्जन का साधन समझते हैं, कारण कि वे जानते हैं कि नगर की सभ्यता का अस्तित्व उन कार्यों के बिना हो ही नहीं सकता। जिन उद्योग-धंधों की नगरवालों को साधारणतः आवश्यकता नहीं होती वे बड़ी शोचनीय दशा में रहते हैं। कोई उनकी ओर ध्यान नहीं देता। दरज़ी, बढ़ई, लोहार इत्यादि ऐसे पेशेवाले हैं कि नगर का कार्य इनके बिना चल ही नहीं सकता। अब रहे ऐसे पेशे जो केवल मनोरंजन एवं तफ़रीह के साधन होते हैं, और आर्थिक आवश्यकता के समाधान में उनका कोई स्थान नहीं होता। वे ऐसे नगरों में पाये जाते हैं जो सभ्यता की चरम सीमा पर होते हैं और नगर के जीवन एवं संस्कृति के केन्द्र होते हैं। उदाहरणार्थ, शीशा बनानेवाले, सुनार, इत्र बेचनेवाले, भटियारे, नानबाई, फ़र्राश, इत्यादि। फिर ये पेशे भी प्रत्येक सभ्य नगर में एक प्रकार से नहीं पाये जाते। नगर की संस्कृति जितनी उन्नति करती है, नगर के इस प्रकार के पेशों को उतनी ही उन्नति प्राप्त होती है और वे बढ़ते जाते हैं। अतः यह हो सकता है कि एक नगर में ये पेशे कम हों और एक में अधिक।

देख लीजिए कि हम्माम[२] बड़े सभ्य एवं आबाद नगरों में ही पाये जाते हैं, कारण कि लोगों की समृद्धि एवं ख़ुशहाली के साथ-साथ इनका अस्तित्व परमावश्यक हो जाता है, किन्तु एक औसत आबादी के नगर में हम्माम कम संख्या में मिलेंगे। वहाँ यदि किसी बादशाह अथवा हाकिम ने हम्माम बनवा भी लिया तो इस कारण कि साधारण आबादी को इनकी आवश्यकता नहीं होती, वे शीघ्र ही टूट-फूट कर नष्ट हो

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

२. सार्वजनिक स्नानगृह अथवा गरम जल के स्नानगृह।

जाते हैं और उनके प्रबंधक लाभ न होने के कारण उनका प्रबंध छोड़कर भाग जाते हैं। "ईश्वर अपने हाथ दृढ़तापूर्वक बन्द रखता है, किन्तु उन्हें खोल भी देता है[1]।"

(२१) नगरों में "असबियत", एक दूसरे पर प्रभुत्व

मनुष्य स्वाभाविक रूप से आपस में एक दूसरे के साथ मेल-जोल एवं मेल-मिलाप रखने का आदी है भले ही कुल का सम्बन्ध उनमें न हो। किन्तु कुल के सम्बन्ध के आधार पर जो मेल-जोल होता है वह बड़ा दृढ़ होता है और कुल के बिना कमज़ोर। संक्षेप में यद्यपि कुल का सम्बन्ध न भी हो तो भी एक प्रकार की "असबियत" अवश्य पैदा होती है। नगरवालों में से बहुत से लोग वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा जुड़ जाते हैं और एक खून एवं एक रिश्ते के हो जाते हैं। फिर उनमें वही शत्रुता एवं सत्यता की भावनाएँ पायी जाती हैं जो विभिन्न क़बीलों एवं समूहों में मिलती हैं। उनकी अलग-अलग टोलियाँ बन जाती हैं और प्रत्येक "असबियत" पृथक् हो जाती है। जब सल्तनत में वृद्धावस्था के चिह्न दृष्टिगत होने लगते हैं और राज्य की विभिन्न दिशाओं में उसका प्रभाव समाप्त होकर उसकी शक्ति राजधानी में ही सीमित हो जाती है, तब नगर-वाले इस चिन्ता में ग्रस्त हो जाते हैं कि उनका प्रभुत्व किस प्रकार स्थापित रखा जा सकता है और उनके नगर की रक्षा किस प्रकार की जा सकती है। वे परस्पर एक दूसरे से परामर्श करते हैं और साधारण एवं श्रेष्ठ तथा ऊँच-नीचका भेद-भाव करने लगते हैं। यतः मनुष्य में स्वाभाविक रूप से यह भावनाएँ पायी जाती हैं कि वे दूसरे पर प्रभुत्व प्राप्त करना चाहते हैं। अतः देश के प्रतिष्ठित लोग शक्तिशाली बादशाह को न पाकर अपना पृथक् स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगते हैं और इस उद्देश्य हेतु परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं। प्रत्येक अपने दासों, आश्रितों एवं सहायकों के बल पर उठता है और नगर के दुष्टों को धन-सम्पत्ति देकर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार एक दूसरे से गुथकर अन्त में एक दूसरे पर अधिकार जमा ही लेता है। फिर वह अपने साथियों एवं हितैषियों को कृपा एवं दया द्वारा सम्मानित करता है और शत्रुओं को मौत के घाट उतारता अथवा निर्वासित करता है, ताकि विरोधियों के ज़ोर-शोर एवं शक्ति को पूर्ण रूप से कुचल दे और फिर किसी को सिर उठाने की शक्ति न हो। अतः इस प्रकार विजयी शक्ति को नगर में स्वतंत्र

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

राज्य स्थापित करने का अवसर मिल जाता है और फिर सल्तनत एक नस्ल से दूसरी नस्ल में चलती रहती है।

इस नयी सल्तनत को स्वयं उन्हीं हालतों का सामना करना पड़ता है जिनका एक बड़ी सल्तनत को। उदाहरणार्थ, वह बाल्यावस्था से युवावस्था अथवा उन्नति की चरम सीमा को प्राप्त होती है। तदुपरान्त वृद्धावस्था की ओर और फिर विनाश की तरफ अग्रसर होती है।

कभी-कभी ऐसी छोटी सल्तनतें बड़ी सल्तनतों के रंग-ढंग पर चलने लगती हैं और उनका बादशाह उन बड़े बादशाहों की बराबरी का दावा करता है जो क़बीलों एवं समूहों के स्वामी तथा "असबियत" वाले होते हैं, जो महान् युद्ध करता है और जिसका राज्य दूर-दूर तक के देशों तक फैला होता है। यह इस प्रकार होता है कि नया बादशाह भी सिंहासनारूढ़ होता है, सशस्त्र सेनाएँ राज्य की विभिन्न दिशाओं में भेजता है, शाही फ़रमानों के लिए मुहरें तैयार होती हैं, लेखा एवं निरीक्षण-विभाग स्थापित होते हैं, इनशा[1] एवं दीवानी विभागों की स्थापना होती है। संक्षेप में उसका रंग-ढंग कुछ ऐसा बदल जाता है कि उसको देखकर शिक्षा प्राप्त होती है एवं आश्चर्य होता है कि प्राचीन सल्तनत का ज़ोर टूट जाने और कुछ सम्बन्धियों के आपस में मिलकर "असबियत" पैदा करने से नयी सल्तनत क्या से क्या हो गयी। कभी-कभी ऐसा होता है कि नयी सल्तनत सरलता को ही अंगीकार किये रहती है और अपने आपको संसार के समक्ष व्यंग का विषय नहीं बनाती।

इस प्रकार इफ़रीक़िया में जब हफ़सिया राज्य शक्तिहीन हो गया और अन्त में उसकी ऐसी दुर्दशा हो गयी कि बीसियों वर्षों तक वह सँभल न सकी तो जरीद, तराब्लस, गेब्स, तोज़र, नफ़ता, क़फ़सा, बिस्करा एवं ज़ाब सरीखे नगरों में ऐसी ही अराजकता स्थापित हो गयी। प्रत्येक नगर में पृथक् हाकिम का राज्य था। वही अपने परगने एवं एलाक़े का शासन-प्रबंध करता और राजस्व तथा कर वसूल करता था। यद्यपि वे लोग प्राचीन सल्तनत की अनुयायिता का भी दावा करते थे, किन्तु अपनी मृत्यु के समय वे अपनी संतानों को अपना उत्तराधिकारी बना गये जिन्होंने कुछ ही दिनों में अत्याचार एवं कठोरता से लोगों को तंग कर डाला और मलिकों एवं सुल्तानों की संतानों के उसी प्रकार के चरित्र एवं नियमों पर चलकर अशान्ति उत्पन्न कर दी। वे अपनी दशा को भूलकर सुल्तान कहलाने लगे। अंततोगत्वा "अमीरुल मोमिनीन"

१. पत्र-व्यवहार का विभाग।

अब्बास ने इस उपद्रव को शांत किया और जो स्थान उनके अधिकार में आ गये थे, उन्हें उनसे छीन लिया।

सिनहाजा की सल्तनत के अन्तिम युग में जरीद के एलाक़ों में भी विभिन्न स्थानों पर अव्यवस्था फैल गयी थी और सल्तनत का प्रभाव पूर्णतः समाप्त हो गया था। यहाँ तक कि शेख़ुल मुवह्हेदीन और उनके बादशाह अब्दुल मोमिन ने उन्हें देश एवं राज्य से निर्वासित करके मग़रिब की ओर भगा दिया और जरीद के पूरे एलाक़े से उनके प्रभाव को समाप्त कर दिया। इसी प्रकार बनी अब्दुल मोमिन के अंतिम राज्य काल में सिब्ता[1] की यही दशा हुई थी कि वहाँ भी अमीरों एवं रईसों ने अत्यधिक उद्दंडता प्रदर्शित की थी और अपने आपे से बाहर निकल गये थे।

यह आपने उन उच्च वंशवाले रईसों एवं अमीरों के प्रभुत्व का हाल सुना जो नगर में सम्मानित एवं प्रतिष्ठित होते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि नगर के निम्न वर्ग के एवं दुष्ट तथा दुराचारी लोग विद्रोह कर देते हैं और अपने कुछ साथियों के सहयोग के ज़ोर पर एवं उनकी "असबियत" की सहायता से ऐसा ज़ोर पकड़ लेते हैं कि नगर के सम्मानित एवं प्रतिष्ठित लोग भी उनसे दब जाते हैं, कारण कि उनकी "असबियत" तो समाप्त ही हो चुकती है, अतः मुकाबले की शक्ति वे पैदा ही कहाँ से कर सकते हैं।

"ईश्वर में अपने आदेशों को मनवा लेने की शक्ति है"[2]

(२२) नगरवालों की भाषा

नगरवाले प्रायः उस क़ौम की भाषा का अनुसरण करते हैं जो उस पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेती हैं। इस प्रकार पूर्व से पश्चिम तक के सभी इस्लामी नगरों में अरबी भाषा आज तक प्रचलित है, यद्यपि मूल मुज़र अरबी भाषा एवं उसके एराब[3] दोनों में दोष आ चुके हैं। इसका कारण वही है कि इन नगरों में बसनेवालों के धर्म पर इस्लामी सल्तनत का जब प्रभुत्व स्थापित हुआ तो अधीनस्थ क़ौमें अपनी भाषाएँ भुला बैठीं और इस्लामी भाषा अरबी के अधीन हो गयीं। यह बात स्पष्ट है चूँकि मुहम्मद साहब अरबी थे, अतः इस्लाम धर्म भी अरबी भाषा में आया और जो क़ौमें इस धर्म

१. Ceuta.
२. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
३. ज़बर, ज़ेर और पेश।

को स्वीकार करती गयीं वे अपनी भाषाओं को छोड़कर अरबी भाषा को स्वीकार करती गयीं।

हज़रत उमर ने अजमियों में प्रचलित महाविरों के प्रयोग का निषेध कर दिया था। आपका कथन था कि यह "खिब" अथवा छल एवं धूर्तता है। जब धर्म ने अजमी भाषाओं की पूर्णतः उपेक्षा की और मुसलमानों की भाषा अरबी हो गयी तो अजमी भाषाएँ स्वतः मिट गयीं, कारण कि प्रजा अपने आचार-व्यवहार एवं धर्म में अपने बादशाह का अनुसरण करती हैं, अतः अरबी भाषा इस्लामी राज्यों में प्रविष्ट हो गयी और अरब की आज्ञाकारिता का चिह्न समझी जाने लगी। समस्त इस्लामी नगरों एवं देशों में प्राचीन भाषाएँ पूर्णतः नष्ट हो गयीं और प्रत्येक दिशा में अरबी की ही चर्चा होने लगी। स्थानीय भाषाओं को विदेशी भाषाओं का स्थान प्राप्त हो गया, किन्तु इसके साथ-साथ अरबी भाषा भी दोषों एवं परिवर्तनों से सुरक्षित न रह सकी। अन्य भाषाओं के शब्द इसमें सम्मिलित हो गये। वाक्यों के रूप में परिवर्तन होने लगा। फिर इस मिश्रित भाषा का नाम हज़री[1] भाषा रखा गया, कारण कि समस्त इस्लामी नगरों में यही प्रचलित और इसी को उन्नति प्राप्त थी।

एक कारण यह भी है कि आज तक इस्लामी नगरों में उन्हीं अरबों की संतानें रहती-बसती चली आयी हैं जिन्होंने उन पर अधिकार जमाया और जिनका जीवन सभ्य जीवन है, कारण कि वे अजमियों की भूमियों एवं देशों के स्वामी बनकर समृद्ध हो चुके थे। फिर उनके उपरान्त उनकी भाषा उनकी संतान में विरासत के रूप में आयी और उनकी भावी संतानें अपने पूर्वजों की भाषा बोलती-चालती रहीं, यद्यपि उसमें कुछ अजमी शब्द मिश्रित हो गये। संक्षेप में अरबी ही प्रचलित रही। इस प्रकार अरबी सर्वदा नगरवासियों एवं हज़रियों की भाषा समझी गयी। इसको हज़री भाषा की उपाधि प्राप्त हुई। बदवी भाषा पूर्व की भाँति अजमी शब्दों के मिश्रण से सुरक्षित रही।

जब पूर्व में देलम एवं सल्जूक़ियों को प्रभुत्व प्राप्त हुआ और पश्चिम में ज़नाता एवं बरबर ने अपना अधिकार जमाया और इस्लामी देशों में उन्हीं को प्रभुत्व प्राप्त हो गया तो अरबी भाषा में अत्यधिक दोष उत्पन्न हो गये और वह नष्ट ही हो जाती यदि मुसलमान किताब[2] एवं सुन्नत जो धर्म के स्रोत हैं की आड़ में अरबी भाषा की रक्षा अपना परम कर्त्तव्य समझ कर उसकी रक्षा के लिए हर प्रकार से कटिबद्ध

१. नगरवालों की।

२. क़ुरान शरीफ़।

न हो गये होते। जब समय के परिवर्तन से तातारियों एवं मुग़लों को प्रभुत्व प्राप्त हुआ तो इस्लाम से उनके अपरिचित होने के कारण किताब एवं सुन्नत की आड़ भी समाप्त हो गयी और फिर अरबी भाषा का सभी स्थानों से अन्त हो गया। इस्लामी देशों, इराक़, ख़ुरासान, फ़ारस, हिन्द, सिन्ध, मावराउन्नहर, शाम एवं रूम के देशों में भी उसका दबदबा समाप्त हो गया। कविताओं एवं पद्यों में भी अरबी का प्रयोग समाप्त हुआ। केवल कहीं-कहीं पाठ्यक्रमों में अरबी भाषा सम्मिलित रह गयी और वह भी उन्हीं लोगों तक जिन्हें ईश्वर ने उससे रुचि प्रदान की। धर्म (इस्लाम) के साथ-साथ मिस्र, शाम, उन्दुलुस एवं मग़रिब में अरबी भाषा को कुछ स्थायित्व प्राप्त हुआ है। अन्य इस्लामी देशों में तो अरबी भाषा का चिह्न तक मिट गया। यहाँ तक कि पांडित्य-पूर्ण ग्रंथ अजमी[1] भाषा में लिखे जाने लगे हैं और पठन-पाठन में भी अजमी भाषा प्रचलित है।

१. ग़ैर अरबवालों की।

अध्याय ५

जीविकोपार्जन के विभिन्न साधन

(लाभकर कार्य, कला-कौशल और
तत्सम्बन्धी अन्य समस्याएँ)

(१) जीविकोपार्जन तथा लाभ के वास्तविक अर्थ, लाभ ही मनुष्य के परिश्रम का मूल्य है

मानव स्वभावतः खाद्य सामग्री एकत्र करना अनिवार्य समझता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह क्षण भर के लिए भी अपनी इस आवश्यकता की उपेक्षा नहीं कर सकता और वास्तव में संग्रह की उपेक्षा करना ईश्वर का ही गुण है। मनुष्य को नाना प्रकार की आवश्यकताओं के लिए दूसरों का मुँह देखना पड़ता है। मनुष्य की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर ही ईश्वर ने समस्त प्राणियों को उसके लाभार्थ पैदा किया है और क़ुरान शरीफ़ में जगह-जगह पर इस परोपकार का उल्लेख किया गया है। वह कहता है, "उसने ज़मीन तथा आसमान में जो कुछ है वह सब तुम्हारे लिए पैदा किया है। उसने सूर्य तथा चन्द्रमा को तुम्हारे अधीन किया है। उसने समुद्र को तुम्हारे अधीन किया[१]। उसने आकाश-मंडल को तुम्हारा वशंवद किया और पशुओं को तुम्हारे अधिकार में किया।" मनुष्य को ईश्वर ने अपना उत्तराधिकारी बनाया है। अतः उसको संसार की समस्त वस्तुओं पर प्रभुत्व भी उसने प्रदान किया है, किन्तु केवल एक मनुष्य सब पर अधिकार नहीं जमा सकता, अपितु सब मिल-जुलकर संसार की वस्तुओं का अपने लाभार्थ प्रयोग करते हैं। जो वस्तु एक मनुष्य को प्राप्त हो जाती है दूसरा बिना उसका मूल्य चुकाये हुए उसे नहीं हासिल कर सकता। अतः जब मनुष्य निर्बलता के चक्र से निकल कर कुछ शारीरिक शक्ति प्राप्त करता है तथा जीविकोपार्जन के लिए हाथ-पाँव मारता है तो वह जो कुछ इस प्रकार कमाता है उसको अपने आवश्यकतानुसार व्यय करता है तथा चीज़ों का मूल्य चुकाता है। ईश्वर ने कहा है कि "ईश्वर से ही रोजी माँगो।"[१] कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जो बिना मूल्य मिल जाती हैं। उदाहरणार्थ, वर्षा का जल, कृषि एवं अन्य कार्यों के लिए बिना मूल्य ही प्राप्त होता है। किन्तु केवल यह जल ही रोज़ी के लिए उस समय तक पर्याप्त नहीं होता जब तक मनुष्य उसके साथ अपना प्रयत्न एवं उद्योग भी सम्मिलित न करे। यदि इस परिश्रम से मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताएँ, जिनके बिना उसका जीवन असम्भव

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

है, पूरी हो जायँ तो इस प्रकार के परिश्रम के मूल्य को लाभ कहा जाता है और यदि आवश्यकता से अधिक एकत्र हो जाय तो उसे पूँजी कहते हैं।

मनुष्य जो जीविकोपार्जन करता है उससे यदि वह केवल अपने आपको लाभ पहुँचाये और उसे व्यय करके वह स्वयं उससे लाभ कमाये, उसे अपनी आवश्यकताओं पर व्यय करे तो यह लाभ वास्तव में उसके लिए रोज़ी कहलायेगा। मुहम्मद साहब ने कहा है कि "तुम्हारी धन-सम्पत्ति वास्तव में वही है जिसे तुम खाकर समाप्त कर देते हो अथवा पहिनकर फाड़ डालते हो या दान में देकर व्यय कर देते हो।" यदि कमानेवाला अपनी कमाई से लाभ न उठाये और उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यय न करे तो वह उसके लिए रोज़ी नहीं, केवल उसके परिश्रम का मूल्य है जो कि उसके प्रयत्न से प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, 'तरके' को ले लीजिए, यह मरनेवाले के लिए लाभ है रोज़ी नहीं, कारण कि वह उससे कोई नफ़ा नहीं उठा सकता। जब उसके उत्तराधिकारी उससे लाभान्वित होंगे तो वह उनके लिए रोज़ी बन जायगा। सुन्नी मुसलमान उसी को रोज़ी कहते हैं। मोतज़ेला रोज़ी के लिए वे यह शर्त लगाते हैं कि उस पर उचित रूप से अधिकार प्राप्त हुआ हो, यदि ऐसा नहीं है तो वह उनके निकट रोज़ी नहीं। इसी कारण उन्होंने अपहरण की हुई एवं हराम वस्तुओं को रोज़ी के क्षेत्र से निकाल दिया है और वह उन्हें रोज़ी नहीं मानते, यद्यपि ईश्वर अपनी कृपा तथा दया द्वारा अपहरणकर्त्ता, ज़ालिम, धर्मनिष्ठ मुसलमान तथा काफ़िर सभी को रोज़ी पहुँचता है, किन्तु वे इसके लिए बहुत-सी दलीलें भी देते हैं जिनके उल्लेख का यह उपयुक्त स्थान नहीं है।

लाभ के लिए परिश्रम एवं उद्योग की आवश्यकता पड़ती है। रोज़ी कमाने के लिए प्रयत्न, परिश्रम, कोशिश तथा दौड़-धूप की अत्यधिक आवश्यकता होती है। ईश्वर का आदेश है कि, "ईश्वर से ही रोज़ी माँगों[1]।" क्योंकि प्रयत्न इन आदेशों तथा दैवी प्रेरणा से सम्बन्धित है और उसी पर निर्भर हैं। अतः प्रत्येक कार्य ईश्वर की ही शक्ति से सम्पन्न होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाय। इसके लिए मनुष्य को कार्य करने की भी आवश्यकता पड़ती है। यदि किसी कला-कौशल को जीविकोपार्जन का साधन बनाया जाय तो स्पष्ट है कि उसमें अन्ततः कार्य करना ज़रूरी रहेगा। यदि कोई पशुओं, वनस्पतियों अथवा खनिज

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

पदार्थ आदि का स्वामी है तो उसके लिए भी परिश्रम करना परमावश्यक होता है, अन्यथा उसे किसी प्रकार का कोई लाभ नहीं हो सकता।

फिर यह भी अपने स्थान पर सत्य है कि खनिज पदार्थों में सोना-चाँदी को ईश्वर ने पूँजी का मूल्य प्रदान किया है। संसारवाले प्राय: इसी से भंडार भरते हैं। यदि इसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का वे संग्रह करते हैं तो उसका उद्देश्य भी यही होता है कि उससे सोना चाँदी प्राप्त हो सके कारण कि यह दो उत्तम खनिज पदार्थ ऐसे हैं जो बाज़ार के उतार-चढ़ाव तथा बाज़ार के खतरों से भी मुक्त रहते हैं। अत: यही कमाई का मूल उद्देश्य एवं भंडार तथा खज़ाने की वास्तविक सम्पत्ति हैं। जब यह सब तथ्य सामने आ गये तो यह समझ लिया जाय कि मनुष्य जिस वस्तु को लाभ-दायक जानकर जमा करता तथा प्राप्त करता है, यदि वह केवल कला-कौशल की क़िस्मों में से है तो उसमें लाभ, प्रयत्न एवं परिश्रम द्वारा प्राप्त होगा, कारण कि कला-कौशल में उद्योग के अतिरिक्त और है ही क्या। यदि कला-कौशल के साथ कोई और भी वस्तु सम्मिलित हो, उदाहरणार्थ बढ़ई और जुलाहे की कला में लकड़ी तथा सूत का भी हाथ हो, तो उसमें मूल्य अधिकांश परिश्रम का ही होगा। यदि लाभ कला-कौशल की क़िस्मों में से नहीं है तो उसमें भी परिश्रम का हाथ होगा क्योंकि उद्योग के बिना लाभ का अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी परिश्रम का हाथ स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है और पूँजी में उसका हिस्सा चाहे कम हो चाहे अधिक, लगाया अवश्य जाता है। कभी परिश्रम का बाह्य रूप से हाथ नहीं दिखाई देता, उदाहरणार्थ अनाज इत्यादि के भावों में जिनमें पूँजी तथा परिश्रम दोनों पर ध्यान रखा जाता है। किन्तु जिन देशों में सुगमतापूर्वक कृषि हो जाती है वहाँ परिश्रम का भाग उसके भाव में दृष्टिगत नहीं होता। बहुत कम लोग ही समझते हैं कि अनाज के भाव में परिश्रम भी सम्मिलित है। अत: इस वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लाभ सब का सब या उसका अधिकांश भाग परिश्रम का ही मूल्य है। साथ ही साथ यह बात भी स्पष्ट हो गयी कि परिश्रम एवं रोज़ी का वास्तविक तथ्य क्या है, जो वस्तु लाभदायक सिद्ध हो वही रोज़ी बन सकती है।

जिन नगरों की जनसंख्या कम होती है उनमें क्योंकि मानव के परिश्रम की कमी होती है, अत: उसी अनुपात से रोज़ी की भी कमी हो जाती है। जिन नगरों की आबादी अधिक होती है उनमें उसी अनुपात से रोज़ी का बाहुल्य होता है, लोग सुखी एवं धन-धान्य सम्पन्न होते हैं। इसका यही कारण है कि जब किसी नगर की जनसंख्या

घटने लगती है तो साधारण लोग कहा करते हैं कि वहाँ अब रोज़ी का द्वार बन्द हो गया। वहाँ की बहती हुई नहरें तथा उबलते हुए झरने सूख जाते हैं, कारण कि नहरों तथा झरनों के लिए खुदाई एवं सफ़ाई की आवश्यकता होती है। जब जनसंख्या ही कम हो गयी तो यह कार्य कौन करे? यदि उन बड़े नगरों को देखा जाय जिनमें किसी समय बड़ी घनी आबादी थी तो पता चलेगा कि उनमें हर तरफ़ नहरों के जाल बिछे हुए थे। जब वे उजड़े तो उन नहरों का पानी भी सूख गया और समस्त भू-भाग सूखा मैदान दिखाई पड़ने लगा।

'ईश्वर ही रात्रि तथा दिन का निर्धारक है'[1]

(२) जीविकोपार्जन के विभिन्न साधन तथा उनकी क़िस्में

जीविकोपार्जन रोज़ी की इच्छा एवं उसके लिए प्रयत्न एवं परिश्रम को कहते हैं। मआश[2] शब्द "ऐश[3]" से निकला है जिसका अर्थ जीवन है। क्योंकि जीवन जीविकोपार्जन एवं परिश्रम तथा उद्योग पर निर्भर है, इसी कारण उसको "मआश" कहा गया।

१—जीविकोपार्जन के कई साधन हैं। उनमें से पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त होने पर राज्य के विधान के अधीन अन्य लोगों से कर तथा खराज के रूप में कुछ द्रव्य या वस्तु प्राप्त करना जिसे कर या खराज कहा जाता है, सर्वप्रथम साधन है।

२—जल, तथा स्थल के पशुओं का शिकार करके जीविकोपार्जन करना। शिकार को व्यवसाय कहा जाता है। यह दूसरा साधन है।

३—पालतू जानवरों से लाभदायक चीज़ें प्राप्त करना और उनको रोज़ी का साधन बनाना। उदाहरणार्थ, दूध देनेवाले जानवरों से दूध प्राप्त करना, रेशम के कीड़ों से रेशम और मधुमक्खी से मधु संग्रह करना आदि, तीसरे प्रकार के साधन हैं।

४—कृषि से अनाज और वृक्षों से फल प्राप्त करना जीविकोपार्जन का मुख्य साधन होता है। इसका नाम कृषि है।

५—मनुष्य के उद्योग द्वारा जीविकोपार्जन भी अन्य प्रधान साधन है। यह दो प्रकार से सम्भव होता है। प्रथम तो विशेष कार्य एवं व्यवसाय द्वारा, उदाहरणार्थ किताबत, बुनाई, घुड़सवारी, बढ़ई, दर्ज़ी इत्यादि के पेशों अथवा किसी अन्य विशेष पेशे द्वारा जिसमें हर प्रकार का श्रम आ जाता है।

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
२. जीविकोपार्जन।
३. जीवन।

६—दूसरे पूँजी तथा धन-सम्पत्ति लगाकर लाभ-प्राप्ति द्वारा। सामान या माल असबाब क्रय करके इधर-उधर नगरों में लिये फिरना, उसे विभिन्न बाज़ारों में बेचना अथवा माल क्रय करके अपने पास इस आशय से रखे रहना कि बाज़ार का भाव चढ़ जाने पर उसे बेचा जाय आदि, इसके अन्तर्गत आते हैं। यह सब व्यापार के रूप हैं और कुछ लोगों के जीविकोपार्जन का साधन यही व्यापार है।

संक्षेप में उपर्युक्त सब बातें जीविकोपार्जन के विभिन्न साधन हैं। विद्वानों एवं दार्शनिकों उदाहरणार्थ हरीरी[1] एवं अन्य लोगों के मस्तिष्क में यही बात थी जब उन्होंने कहा कि "हमें जीविका राज्यसत्ता, व्यापार, कृषि तथा उद्योग-धंधे द्वारा प्राप्त होती है।" राज्यसत्ता जीविकोपार्जन का प्राकृतिक साधन नहीं है। हम उसका उल्लेख इस स्थान पर नहीं करेंगे। इससे पूर्व राज्य, करों एवं राज्यसत्ता के विषय में दूसरे अध्याय में कुछ कहा जा चुका है। कृषि, कला-कौशल एवं व्यापार जीविकोपार्जन के प्राकृतिक साधन हैं।

कृषि को सभी साधनों के ऊपर प्राथमिकता प्राप्त है, क़ारण कि यह सरल तथा प्राकृतिक साधन है। इसके लिए अधिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। इसी कारण इसे हज़रत आदम[2] का आविष्कार बताया जाता है। कहा जाता है कि उन्होंने ही कृषि का पाठ मानव को पढ़ाया और कृषि करना सिखाया। इस बात से यह स्पष्ट होता है कि कृषि जीविकोपार्जन का प्राचीनतम साधन है और प्राकृतिक परिस्थितियों के निकटतम है।

कला-कौशल कृषि के बाद है। इनमें ज्ञान की भी आवश्यकता होती है और सोच-विचार की भी। इसी क़ारण आप देखेंगे कि कला-कौशल केवल नगरवासियों में प्रचलित होते हैं, बदवियों में नहीं। कहा जाता है कि कला-कौशल का आविष्कार हज़रत इदरीस[3] ने किया जो कि मानव के दूसरे पिता कहे जाते हैं। कहा जाता है कि उन्होंने भावी नस्लों के लिए दैवी प्रेरणा द्वारा इसका आविष्कार किया।

व्यापार भी लाभ कमाने का प्राकृतिक साधन है, किन्तु व्यापार में प्रायः युक्ति, सूझबूझ, एवं धूर्तता की आवश्यकता होती है। इसमें बहुत-से उपाय करने पड़ते

१. सम्भवतः "मक़ामात" का लेखक अल-क़ासिम बिन अली (४४६–५१६ हि०। १०५४–५५ से ११०२ ई०)

२. वे मुसलमानों तथा ईसाइयों इत्यादि के अनुसार सबसे पहले पुरुष माने जाते हैं।

३. एक पैग़म्बर।

हैं ताकि क्रय-विक्रय के समय मूल्यों के घटने-बढ़ने से लाभ हो, हानि न हो। यद्यपि वे उपाय जुए के प्रतिरूप होते हैं, किन्तु शरीअत ने व्यापारिक उलट-फेर का निषेध नहीं किया है, कारण कि इसमें जुए के समान दूसरे की धन-सम्पत्ति पर, मूल्य अदा किये बिना अधिकार नहीं जमाया जाता, अतः व्यापार में शरा के अनुसार कोई हानि नहीं, किन्तु जुआ हराम बताया गया है।

(३) नौकरी जीविकोपार्जन का प्राकृतिक साधन नहीं

सल्तनत के विभिन्न विभागों के लिए सेवकों की नियुक्ति करना बादशाह के लिए अनिवार्य होता है। उनके बिना उसका कोई काम नहीं चल सकता। उदाहरणार्थ, बादशाह सैनिकों द्वारा सेना एवं पुलिस विभाग की व्यवस्था करता है और सचिवों से किताबत-विभाग चलाता है। इसी प्रकार अन्यवि भाग चलाये जाते हैं, परन्तु प्रत्येक कार्य के लिए ऐसे विशेषज्ञ की खोज की जाती है जो तत्सम्बन्धी कार्य कर सके। इन सेवकों के वेतन शाही ख़ज़ानों से अदा किये जाते हैं। वे सेवक एक प्रकार से राज्य के स्तम्भ होते हैं। राज्यव्यवस्था उन्हीं पर आधारित होती है। बादशाह एक झरने के समान होता है और वे उसकी छोटी-छोटी नहरें।

इनके अतिरिक्त भी अन्य सेवाएँ होती हैं। इसका कारण यह है कि विलासप्रिय एवं धन-धान्य सम्पन्न लोग अपना काम स्वयं अपने हाथ से नहीं करना चाहते। वे इसमें अपनी मानहानि समझते हैं। इसके अतिरिक्त भोग-विलास में पलकर बड़े होने के कारण वे कार्य करने की सामर्थ्य खो बैठते हैं। संक्षेप में वे अपने कार्यों के लिए सेवकों को नियुक्त करने पर विवश होते हैं। अपनी आय से उनके वेतन का भुगतान करते हैं, किन्तु यह पौरुष के सिद्धान्त को देखते हुए अनुचित कार्य है, कारण कि अपने कार्य का भार दूसरे के कन्धों पर डालना अपनी अयोग्यता एवं विवशता को स्वीकार करना है और इससे व्यय भी बढ़ जाता है। साहसी पुरुष कभी इस प्रकार विवश नहीं होते कि वे स्वयं अपना काम न कर पायें और बात-बात में अन्य लोगों से अपना काम निकालें। क्योंकि मनुष्य अपनी आदत एवं परिस्थितियों पर निर्भर होता है, अतः धन-धान्य सम्पन्न होने के उपरान्त वह ऐसी अपमानजनक आदतें अपने अन्दर उत्पन्न कर लेता और अपनी क़ौम तथा कुल को भूल जाता है।

इसके अतिरिक्त ऐसे सेवक भी बहुत कम ही हैं जो कार्य करने के योग्य भी हों और भरोसे के भी क़ाबिल, कारण कि सेवक चार प्रकार के हो सकते हैं। एक वे जो केवल अपने कार्य में निपुण हों, किन्तु भरोसे के योग्य न हों। दूसरे वे जो भरोसे के

योग्य हों, किन्तु कार्य के योग्य न हों। तीसरे वे जो कार्य में भी निपुण हों और भरोसा एवं विश्वास भी उनमें पूरा हो। चौथे वे जो न कार्य के ही योग्य हों और न भरोसे के ही। इनमें ऐसे सेवकों को जिनमें दोनों गुण पाये जाते हों अर्थात् वे योग्य भी हों और उन पर भरोसा भी किया जा सकता हो, प्रत्येक व्यक्ति अपने यहाँ नहीं रख सकता। जिसकी आय कम है वह तो उनकी सेवा से लाभ उठा ही नहीं सकता। वे इतना अधिक वेतन माँगते हैं कि कम आयवाले उन्हें किसी प्रकार नहीं रख सकते। वे केवल बड़े-बड़े अमीरों तथा रईसों के यहाँ ही नौकरी करते हैं और वे लोग ही उन्हें नौकर रख भी सकते हैं। ऐसे सेवकों को जिनमें दोनों गुणों में से कोई भी गुण न हो अर्थात् जो अयोग्य हों और जिन पर भरोसा अथवा विश्वास भी न किया जा सकता हो कोई बुद्धिमान् अपनी सेवा में रखने ही क्यों लगा, कारण कि वे काम भी बिगाड़ेंगे तथा अपहरण एवं चोरी भी करेंगे। ऐसे सेवक स्वामी के लिए बड़ा भारी रोग बन जाते हैं।

अब सेवकों की केवल दो ही क़िस्में रह जाती हैं। एक तो वे जो कार्य योग्य भी हों, किन्तु विश्वास के योग्य न हों अथवा विश्वास के योग्य हों, किन्तु कार्य योग्य न हों। इनमें एक को दूसरे पर प्राथमिकता देने के विषय पर बुद्धिमानों में मतभेद है और प्रत्येक अपनी-अपनी दलीलें प्रस्तुत करता है। हम पहले प्रकार के सेवकों को स्वीकार कर सकते हैं, कारण कि उनकी ओर से कार्य बिगड़ने का कोई भय न होगा, किन्तु यदि कड़ा नियन्त्रण रखा जाय तो चोरी और अपहरण से भी बचा जा सकता है, परन्तु वह नौकर जो काम बिगाड़े, किन्तु भरोसे के योग्य हो प्रायः कार्य को हानि ही पहुँचाता है। अतः हमने जिस सिद्धांत की व्याख्या की है उसे भली-भाँति समझ लेना चाहिए और फिर सेवक नियुक्त करते समय उसका ध्यान रखना चाहिए।

"ईश्वर जो कुछ चाहता है उसे करने की उसमें शक्ति है।"

(४) भूमिष्ठ निधि एवं धन-सम्पत्ति की खोज जीविकोपार्जन का स्वाभाविक साधन नहीं

नगरों के अधिकांश मूर्ख इस लोभ में फिरते रहते हैं कि कहीं से उनको गड़ा हुआ ख़ज़ाना मिल जाय और वे उस पर जीवन निर्वाह कर सकें। उनका यह भी विश्वास होता है कि पिछली क़ौमों ने जो धन-सम्पत्ति भूमि के नीचे गाड़ दी है उस पर जादू की मुहर लगा दी है। इसको वही व्यक्ति खोल सकता है जो जादू-मंत्र से अवगत हो और धूनी रमाकर, कुछ भेंट चढ़ाकर तथा मंत्र जपकर, मुहर तोड़ दे और संपत्ति प्राप्त कर ले।

इफ़रीक़िया के निवासियों का विचार है कि इफ़रीक़ियों ने इस्लाम के अभ्युदय के पूर्व बहुत-सी धन-सम्पत्ति ज़मीन में गाड़ दी थी और ग्रन्थों में उनके विषय में संकेत कर दिये थे ताकि उन संकेतों के आधार पर उनकी ठीक खोज की जा सके। इसी प्रकार पूर्व के निवासी क़िब्त, रूम तथा फ़ारस की क़ौमों के विषय में इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हैं कि वे लोग भी बहुत कुछ भूमि में गाड़ गये हैं। वे इन गड़े हुए भण्डारों के सम्बन्ध में ऐसी बे-सिरपैर की कहानियों का विभिन्न सूत्रों से उल्लेख करते रहते हैं जो निराधार हैं। उदाहरणार्थ, वे कहते हैं कि कुछ लोगों ने जादू से अनभिज्ञ होने के कारण जब वह गड़ी हुई धन-सम्पत्ति खुदवायी तो उन्हें कुछ न मिला अथवा उन-स्थानों को कीड़े-मकोड़ों से भरा हुआ पाया और यदि कभी वहाँ धन-सम्पत्ति एवं सोने तथा जवाहिरात से परिपूर्ण बर्तन देखे भी तो उनके रक्षकों को नंगीतल वारें निकाले हुए वहाँ खड़ा पाया अथवा भरे हुए ख़ज़ाने उनके सामने भूमि के नीचे धँस गये। इसी प्रकार की अन्य निराधार बातें भी कही जाती हैं।

मग़रिब में ऐसा भी देखा गया है कि कुछ लोग जब जीविकोपार्जन के सहज साधनों से ऊब जाते हैं तो कुछ जाली एवं बनावटी अभिलेख तैयार कर लेते हैं और यह प्रकट करते हैं कि वे अभिलेख गड़ी हुई धन-सम्पत्ति के स्वामियों के आज्ञापत्र हैं। फिर उनको लेकर वे किसी सम्मानित एवं धनी व्यक्ति के पास पहुँचते हैं और कहते हैं कि, "क्योंकि शासकों के हस्तक्षेप का भय है और दण्ड का डर है, अतः बिना आपकी सहायता के गड़ी हुई धन-सम्पत्ति की खुदाई का कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता।" इस धूर्त्तता का उद्देश्य यही होता है कि वे इस प्रकार कुछ धन प्राप्त कर लें और उसे चटकर जायँ। इन धूर्त्तों में कुछ लोग जादू के कुछ करतब भी जानते हैं जिनके आधार पर वे अपने झूठे दावों को सच्चा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। हालाँ कि वे जादू के विषय में कोई बात नहीं जानते, किन्तु मूर्ख लोग उनके जाल में फँसकर मज़दूरों को एकत्र कर लेते हैं और रात्रि के अँधेरे में खुदाई का कार्य प्रारम्भ कराते हैं ताकि किसी को पता न चले और उनके सिवा कोई अन्य व्यक्ति गड़ी हुई धन-सम्पत्ति में हिस्सा न बँटा सके। जब ख़ज़ाना प्राप्त नहीं होता तो वे धूर्त कहते हैं कि जिस जादू के अधीन यह धन-सम्पत्ति गाड़ी गयी थी उसका ठीक पता न चल सका और इस प्रकार असफल रहना पड़ा। इस तरह वे लोभी लोगों को उनके अनुचित लोभ का ख़ूब मज़ा चखाते हैं और इस आड़ में अपना उल्लू सीधा करके उनको हानि पहुँचाते हैं। इसका कारण यह है कि वे धूर्त स्वयं अनपढ़ होते हैं और उस पर जीविकोपार्जन के प्रकृत-साधन यानी व्यापार, धंधा, कला-कौशल तथा कृषि से धन कमाना भी नहीं जानते। बिना

किसी परिश्रम के, बैठे-बिठाये धन कमाने की इच्छा उन्हें होती रहती है। उनकी यह आकांक्षा होती है कि वे बिना हाथ-पाँव हिलाये भूमि से रोज़ी हासिल कर लें, पर वे इतना नहीं समझते कि इस प्रकार के अनुचित उपायों में जितनी बुद्धि खपानी होती है और जितना परिश्रम करना पड़ता है उतना जीविकोपार्जन के प्रकृत साधनों की उपासना में नहीं लगता। इसके अतिरिक्त उन्हें कभी-कभी दंड भी भोगना पड़ता है। इन समस्त अनुचित कार्यों का कारण यह है कि नगरवासियों में अपव्ययिता एवं उड़ाने-खाने की आदत होती है। बढ़े हुए खर्चों एवं अपव्ययीपन के कारण जीविकोपार्जन के प्रकृत साधनों से उनका काम नहीं चल पाता। वे इस बात की इच्छा करते रहते हैं कि बिना हाथ-पाँव हिलाये कहीं से अत्यधिक धन-सम्पत्ति प्राप्त कर लें और उससे भोग-विलास का जीवन व्यतीत करते रहें। इसी कारण आप देखेंगे कि नगर के धनी लोग ही बिना मूल्य की धन-सम्पत्ति के ऐसे भूखे होते हैं कि सभ्यता एवं नगर के जीवन के वातावरण में पलकर वे भोग-विलास की स्थिति में आगे बढ़ते हैं। उन्हें धुन लगी रहती है कि मुफ़्त की धन-सम्पत्ति कहीं से हाथ आ जाय। वे लोग ही कीमिया[1] की शिक्षा प्राप्त करने के चक्कर में मारे-मारे फिरा करते हैं।

मिस्रवालों के विषय में सुना गया है कि वे मग़रिबवालों से पता लगाते फिरते हैं कि खज़ाना तथा गड़ी हुई धन-सम्पत्ति कहाँ-कहाँ है। वे इस बात की उधेड़-बुन में रहते हैं कि नील नदी का पानी किसी प्रकार सूख जाय, कारण कि उनका मत है कि नील नदी के बहाव में ख़ज़ाने दफ़न हैं। अतः जब तक जल न हटेगा, ख़ज़ानों पर अधिकार नहीं जमाया जा सकेगा। उनको यही धोखा दिया जाता है कि नदी के बहाव में ख़ज़ाने इस कारण गाड़े जाते हैं कि पानी की वजह से किसी को उन पर अधिकार न प्राप्त हो सके और वे सर्वदा छिपे पड़े रहें। सुननेवालों के हृदय में इससे लालच पैदा हो जाता है कि जादू इत्यादि के ज़ोर से नदी के जल को अपने मार्ग से हटाया जाय। जादू की चर्चा तो वहाँ है ही और वह भी आज से नहीं, अपितु सहस्रों वर्षों से। फ़िरऔन की कहानियाँ इसी का प्रमाण हैं। मग़रिब निवासी एक क़सीदे का भी पाठ किया करते हैं जिसके विषय में कहा जाता है कि वह पूर्व के दार्शनिकों की रचना है, जिसमें जादू के प्रभाव से जल के सुखाने के उपाय की ओर संकेत किया गया है।.......[2]

१. ताँबे अथवा पीतल से सोना-चांदी बनाने की कला।

२. क़सीदे का अनुवाद नहीं किया गया।

अब यदि यहाँ यह प्रश्न किया जाय कि ख़ज़ाने इत्यादि यदि भूमि में दफ़न नहीं किये गये तो पिछली क़ौमों की वह अपार धन-सम्पत्ति, जिसका उल्लेख प्रायः किया जाता है, कहाँ गयी ? इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि सोना-चाँदी, जवाहिरात और धन-सम्पत्ति कमायी हुई वस्तुएँ हैं और लोहे, ताँबे, सीसे तथा अन्य खनिज पदार्थों से भिन्न नहीं हैं। वे सभ्यता एवं मनुष्य के परिश्रम के घटने-बढ़ने से घटती-बढ़ती रहती हैं और कम तथा अधिक होती रहती हैं। लोगों के अधिकार में जो कुछ कमाई आती है वह एक दूसरे के हाथों में चलती-फिरती रहती है। इसमें तरके का क्रम भी चलता है। आज यदि एक देश में धन-सम्पत्ति का बाहुल्य है तो कल वह देश धन-सम्पत्ति से शून्य होगा और वही धन-सम्पत्ति दूसरे देश में पहुँच जायगी। संक्षेप में सभ्यता में यही परिवर्तन नित्यप्रति होते रहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि मग़रिब तथा इफ़रीक़िया में धन-सम्पत्ति की कमी है तो इसका यह अर्थ नहीं कि सक़ालिया एवं यूरोप के देशों में भी इसका अभाव है। यदि मिस्र तथा शाम में धन-सम्पत्ति की कमी है तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हिन्दुस्तान तथा चीन में भी इसका अभाव है। संक्षेप में हमारी कमाई हुई धन-सम्पत्ति एक स्थान पर नहीं ठहरती। वह आज किसी के हाथ में है तो कल किसी दूसरे के हाथ में होगी। आज एक अमीर है तो कल कोई दूसरा। सभ्यता यही खेल खेला करती है।

इसके अतिरिक्त खनिज पदार्थ एवं उससे सम्बन्धित अन्य वस्तुएँ भी नष्ट हुआ करती हैं। मोती एवं जवाहिरात तो सब चीज़ों की अपेक्षा शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार सोना-चाँदी, ताँबा, लोहा, सीसा इत्यादि भी शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

अब मिस्र के ख़ज़ानों का हाल सुनिए। वहाँ क़िब्तियों का राज्य सहस्रों वर्ष तक रह चुका था। पिछली क़ौमों के समान उनके यहाँ भी यह प्रथा चली आ रही थी कि जब वे अपने मुर्दे को दफ़न करते तो उसकी जो कुछ धन-सम्पत्ति, सोना-चाँदी तथा जवाहिरात इत्यादि होते वे सब उसी के साथ दफ़न कर दिये जाते थे। जब क़िब्तियों का राज्य नष्ट हुआ और फ़ारसवालों ने मिस्र पर अधिकार जमाया तो उन्होंने क़बरें खोद-खोदकर अपार धन-सम्पत्ति निकाली। देख लीजिए कि मिस्र के एहराम[1] से जो वास्तव में बादशाहों की क़ब्रें हैं कितनी अधिक धन-सम्पत्ति निकाली जा चुकी है और निकाली जा रही है। फ़ारसवालों के उपरान्त यूनान-वालों ने भी क़ब्रों को खुदवाया और अत्यधिक धन-सम्पत्ति प्राप्त की। आज तक लोग

१. पिरामिड।

इन क़ब्रों को धन-सम्पत्ति का भंडार समझते हैं और प्रायः उनमें गड़ी हुई धन-सम्पत्ति मिल भी जाती है। क़िब्ती अपने मुर्दों के सामान में धन-सम्पत्ति के साथ सोने-चाँदी के बर्तन भी रख दिया करते थे । इसी लोभ में मिस्रवासियों में से बहुत से लोगों ने क़ब्र खोदने का व्यवसाय ग्रहण कर लिया। राज्य के अन्तिम युग में जब इन व्यवसायवालों पर कर लगाया जाने लगा तो उन्होंने कर भी अदा किया और खुदाई भी करते रहे। उनकी देखा-देखी बहुत से लालची मूर्ख यह कार्य करने को दौड़ पड़े और शासन को कर के रूप में भारी-भारी धनराशि देकर खुदाई कराते रहे, किन्तु उन्हें असफल रहना पड़ा। हानि के अतिरिक्त उन्हें कुछ न प्राप्त हुआ। अतः ऐसे मूर्ख लोभियों को हम यही परामर्श देंगे कि वे ईश्वर के लिए जीविकोपार्जन में शिथिलता एवं काहिली से काम न लें और ईश्वर से उसी प्रकार शरण माँगें जिस प्रकार मुहम्मद साहब ने माँगी थी कि ईश्वर उनको शैतानी कल्पनाओं से मुक्ति प्रदान करे। इस प्रसंग में वे जो निराधार एवं झूठी कहानियाँ सुनते चले आये हैं उन्हें कदापि स्वीकार न करें।

"ईश्वर जिसे चाहता है उसे बिना हिसाब के रोज़ी प्रदान करता है।"

(५) पद एवं श्रेणी धन-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए लाभदायक हैं

यह हमारा अनुभव है कि समस्त आर्थिक मामलों में उच्चश्रेणी के लोग ही अधिक धनी होते हैं। इस तथ्य का रहस्य यह है कि धनी पदाधिकारियों के पीछे सदा चापलूस लोग लगे रहते हैं और उनके प्रत्येक आवश्यक तथा अनावश्यक कार्य बिना किसी मूल्य अथवा पारिश्रमिक के करते रहते हैं ताकि उनकी प्रसन्नता से वे अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकें। इस प्रकार उच्च पदस्थ लोगों के बहुत से कार्य बिना-किसी मूल्य के पूरे हो जाते हैं और उनका बहुत-सा धन बच जाता है। उनकी धन-सम्पत्ति नित्यप्रति बढ़ती रहती है और शीघ्र ही वे चोटी के धनी लोगों में गिने जाने लगते हैं। यही कारण है कि उच्चाधिकारों को भी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन माना गया है। अब दूसरी ओर उस धनी को देखिए जिसे कोई पद अथवा सम्मान प्राप्त नहीं है। उसका धन उतना ही बढ़ेगा जितनी उसकी पूँजी है अथवा जितना उसका प्रयत्न तथा परिश्रम। इस प्रकार व्यापारियों की दशा यह है कि वे अपनी सम्पत्ति एवं प्रयत्न के अनुपात में नित्यप्रति धनी होते जाते हैं, बिना मूल्य के उनका कोई काम नहीं होता और वह हो भी किस प्रकार तथा किस लोभ के कारण हो सकेगा? पदाधिकारियों की पद-शक्ति द्वारा लोगों के सैकड़ों काम निकलते हैं, किन्तु

पूँजीपति के पास पूँजी के अतिरिक्त होता ही क्या है ? ऐसी अवस्था में कोई मुफ़्त में उसका कार्य क्यों करने लगा ?

इसका प्रमाण यह भी है कि फ़क़ीहों, आलिमों तथा दीन (इस्लाम) के सम्मानित लोगों के प्रसिद्ध हो जाने पर जब सब लोग उनके भक्त हो जाते हैं और लोग यह समझने लगते हैं कि वे वास्तव में बड़े पहुँचे हुए हैं तो उनके सांसारिक कार्य बिना मूल्य दिये ही हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति बिना कुछ प्राप्त किये उनकी सहायता हेतु कटिबद्ध रहता है, फलतः दीन के उन प्रसिद्ध लोगों की धन-सम्पत्ति तेज़ी से बढ़ने लगती हैं, कारण कि कार्य का मूल्य तथा मज़दूरी उन्हें नहीं अदा करना पड़ती। वे बिना परिश्रम एवं अधिक धन व्यय किये शीघ्र धनी हो जाते हैं। नगरों में भी हमको इस प्रकार के सम्मानित व्यक्ति मिलते हैं और ग्रामों में भी। ग्रामों में लोग उनकी ओर से कृषि एवं व्यापार का कार्य करते हैं और वे सम्मानित लोग स्वयं घर में एकान्त-वास ग्रहण किये रहते हैं, फलतः उनका धन बढ़ता रहता है और आय में वृद्धि होती रहती है। बिना किसी प्रयत्न अथवा परिश्रम के उनकी गणना धनी लोगों में होने लगती है। यहाँ तक कि जो लोग उनके अचानक धनी हो जाने के रहस्य को नहीं समझते, वे उनको देखकर आश्चर्य किया करते हैं और यह नहीं समझते कि वास्तव में इसका कारण क्या है।

"ईश्वर जिसे चाहता है उसे रोज़ी देता है और बिना किसी हिसाब के देता है[1]।"

(६) दीनता प्रकट करनेवालों और चाटुकारी करनेवालों को अधिकांश लाभ एवं सम्पन्नता प्राप्त होती रहती है

हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि मानव जो कुछ कमाता है वह उसके परिश्रम का मूल्य होता है। यदि मनुष्य काम से बिलकुल हाथ उठा ले तो कमाई से भी खाली हो जायेगा। फिर कार्य जितनी उच्च श्रेणी का होता है लोग उसकी उतनी ही अधिक चिन्ता करते हैं। उतना ही उसका सम्मान एवं मूल्य अधिक हो जाता है और इसी अनुपात से आय भी बढ़ती है। यह भी पिछले पृष्ठों में सिद्ध किया जा चुका है कि पद एवं श्रेष्ठता धन को बढ़ाने में सहायक होती हैं क्योंकि लोग सम्मानित व्यक्तियों का विश्वासपात्र बनने के लिए बिना कोई मूल्य लिये हुए उनके कष्टों का निवारण करते रहते हैं तथा उनको लाभ पहुँचाने का प्रयत्न किया करते हैं। वे इसमें तन-मन-

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

धन बलिदान करने में कोई कसर नहीं उठा रखते, किन्तु उनका यह आचरण त्याग पर आधारित नहीं होता। वे अपने हृदय में अच्छी और बुरी सभी प्रकार की भावनाएँ छिपाये रहते हैं। उनकी यह इच्छा होती है कि इस चाटुकारी से उनके सम्मान एवं पद में अधिक से अधिक वृद्धि हो जाय। संक्षेप में, सम्मानित लोगों के विषय में इन चापलूसों की यह चाटुकारी तथा त्याग अपना प्रभाव दिखाता है और वे उसे शीघ्र ही धनी बना देते हैं और देखते-देखते वे उच्च श्रेणी को प्राप्त हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त श्रेष्ठता का माप भी विभिन्न श्रेणियों में विभाजित है। कोई ऊँचा होता है और कोई नीचा। ऊँचे से ऊँचा सम्मान बादशाह को प्राप्त होता है, उससे ऊँचा कोई मनुष्य नहीं। सबसे निम्न वर्ग में वह दरिद्र होता है जो न किसी-को हानि पहुँचाने के योग्य होता है और न कोई लाभ। इन दोनों श्रेणियों के मध्य में अनेक श्रेणियाँ हैं और ईश्वर जिसे चाहता है उसे उस श्रेणी में रखता है। इन्हीं श्रेणियों के अनुपात से मानव की आर्थिक व्यवस्था आँकी जाती है, और उसकी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं तथा उन्हें स्थायित्व प्राप्त होता है कारण कि मानव का स्थायित्व पारस्परिक सहयोग एवं सहायता पर निर्भर है। अतः यदि कोई ऐसी परिस्थिति की कल्पना करे जिसमें परस्पर सहयोग न प्राप्त हो सके तो मनुष्य का स्थायित्व भी सम्भव न हो सकेगा। फिर यह सहयोग बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। उसमें किसी के अधिकार या इच्छा का कोई स्थान नहीं होता, कारण कि कुछ लोग ऐसे भी हैं जो मानव-हित से अपरिचित होते हैं, और दूसरों के सहयोग से हाथ खींच लेते हैं। अतः एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो कि उन्हें सहयोग देने के लिए विवश कर सके और मनुष्य को नष्ट होने से बचा सके। साथ ही साथ यह बात बुद्धि एवं विवेक से सम्बन्ध रखती है, स्वभावतः प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के कार्य करने के लिए तैयार नहीं होता, अतः कुछ लोग दूसरों से सहयोग करने से मुँह फेर लेते हैं। इसी तथ्य की ओर "आयत"[1] में संकेत किया गया है। "हमने इनमें से कुछ लोगों को विभिन्न श्रेणियों में रखा है ताकि वे दूसरों से ज़बरदस्ती काम न ले सकें। तुम्हारे पालने-वाले की दया उससे कहीं अधिक है जो वे कमाते हैं।"

इस उल्लेख से यह बात स्पष्ट हो गयी कि सम्मान उस शक्ति का नाम है जिसके अधीन एक मनुष्य अपने अधीनस्थ मनुष्यों पर अधिकार प्राप्त करता है। वह जो काम चाहता है उसका आदेश देता है, किसी वस्तु का निषेध करता है, सबको अपने प्रभुत्व

१. क़ुरान शरीफ़ के वाक्य।

के अधीन रखता है और शरा के आदेशों तथा राजनीति के सिद्धान्तों के अनुसार मानव का न्याय करता है। एक को दूसरे पर अत्याचार करने पर नहीं, अपितु लाभ पहुँचाने पर विवश करता है और इसके साथ-साथ अपने उद्देश्य भी अपने अधीनस्थ लोगों से पूरे कराता है। किन्तु प्रथम उद्देश्य अर्थात् मानव का लाभ मूल उद्देश्य है और ईश्वर की इच्छा भी यही है। दूसरा उद्देश्य सम्मानित व्यक्ति का व्यक्तिगत लाभ है। जिस प्रकार दैवी आदेशों में भी थोड़ा बहुत दोष होना आवश्यक है, कारण कि संसार में कोई भी भलाई बिना बुराई के नहीं हो सकती और थोड़ी बहुत बुराई अधिक भलाई के अस्तित्व में बाधक नहीं होती, इसी कारण कहा जाता है कि संसार म थोड़ा-बहुत अत्याचार होना चाहिए और होता है।

चाहे कोई नगर हो अथवा देश उसमें प्रत्येक प्रकार के उच्च वर्ग का निम्नवर्ग पर अधिकार होता है। निम्न वर्गवाले उच्च वर्गवालों के सम्मानित व्यक्तियों से सहायता प्राप्त करते हैं। सम्मानित व्यक्तियों का धन उनकी सहायता से बढ़ता है। जितनी ही वे उनसे सहायता लेते हैं उतना ही उनके धन में वृद्धि होती है। उच्च पद उनकी आर्थिक उन्नति के द्वार खोल देता है। जितनी ही सम्मानित व्यक्ति की श्रेणी ऊँची होती है उतना ही उसका प्रभाव भी विस्तृत होता है। इसी आधार पर सम्मानित व्यक्ति का धन बढ़ता-घटता रहता है। यद्यपि कोई व्यक्ति उच्च सम्मान से वंचित हो तो चाहे वह धनी ही क्यों न हो उसका धन उसके उद्योग एवं परिश्रम तथा धन के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। उदाहरणार्थ, व्यापार, कला-कौशल तथा कृषि करनेवालों का धन। जब वे लोग अपने व्यवसाय के लाभ पर ही जीवन-निर्वाह करते हैं और कोई पद नहीं रखते तो वे प्रायः दरिद्रता एवं फ़ाक़ों में ग्रस्त रहते हैं। उनकी धन-सम्पत्ति बहुत धीरे-धीरे बढ़ती है। अधिकांश ये लोग अपनी स्थिति से संघर्ष ही करते रहते हैं और कभी-कभी भोग-विलास का आनन्द भी उठा लेते हैं।

जब यह बात सिद्ध हो गयी कि उच्च पद ऊपर की श्रेणियों में बँटा हुआ है और उच्च पद से लाभ एवं सौभाग्य के द्वार खुलते हैं तो समझ लेना चाहिए कि उसका दान-पुण्य भी बहुत बड़ा सौभाग्य है और सम्मानित व्यक्ति बहुत बड़ा धनी। वह अपने अधीनस्थ वर्गों के लिए दान-पुण्य के द्वार खोलता है। उसके अधीनस्थ लोग उस पर निर्भर होते हैं। ऐसी अवस्था में जिसे भी सम्मान की इच्छा होगी वह अवश्य ही नम्रता दिखाने एवं चाटुकारी करने पर विवश होगा, ताकि उसे इस प्रकार का सम्मान प्राप्त हो। यदि वह ऐसा न करेगा तो सर्वदा दबा रहेगा और सम्मानित पद तक न पहुँच सकेगा। इसी कारण हमने लिखा कि दीनता एवं चाटुकारी

सम्मान की प्राप्ति के साधन हैं और सम्मान एवं सौभाग्य धन कमाने के साधन। संसार में ऐसे बहुत-से उदाहरण मिलेंगे कि बहुत-से धनी लोग चाटुकारी के कारण बड़े-बड़े पदों पर पहुँच गये और उन्होंने अत्यधिक सम्मान प्राप्त कर लिया। उन्हीं की तुलना में ऐसे लोग भी मिल जायँगे जो स्वाभिमान के कारण सर्वदा सम्मान से वंचित रहते हैं। उनकी जीविका केवल उनके परिश्रम पर निर्भर रहती है और वे अधिकांश दरिद्रता एवं फ़ाक़ों का शिकार बने रहते हैं।

अभिमान तथा घमंड की गणना यद्यपि चरित्रहीनता में है, किन्तु यह उस समय पैदा होते हैं जब मनुष्य को अपने उच्च पद का भरोसा होता है और इस बात का भी कि लोगों के लिए उसकी योग्यता अनुपेक्ष्य है। उदाहरणार्थ, किसी बहुत बड़े विद्वान्, कुशल कातिब तथा उच्च श्रेणी के कवि को देखा जा सकता है। उच्च कुल से सम्बन्धित व्यक्ति भी स्वाभिमानी हो जाते हैं, किसी बादशाह एवं बड़े आलिम की संतान इसके उदाहरण हैं। जब वे अपने पूर्वजों के विषय में सुनते हैं कि वे बहुत बड़े गौरव एवं श्रेष्ठता के स्वामी थे तो वे अपने आपको भी बहुत बड़ा सम्मानित व्यक्ति समझने लगते हैं, किन्तु यह गौरव केवल ऐसी वस्तु पर होता है जिसका कोई मूल्य नहीं। पूर्वजों के बड़े होने से उनकी संतान बड़ी नहीं हो जाती, जब तक कि वह स्वयं गौरव एवं सम्मान के कार्य न करे। इसी प्रकार उन लोगों को भी अभिमानी पाया गया है जो धूर्त्त, चालाक, सूझ-बूझवाले एवं अनुभवी होते हैं। वे भी अपने बराबर किसीको नहीं समझते। ऐसे लोगों के विषय में देखा गया है कि वे किसी अन्य सम्मानित व्यक्ति के समक्ष नहीं झुकते और अपने बड़े के साथ कोई चाटुकारी का व्यवहार नहीं करते, अपितु अन्य लोगों को अपने आपसे निम्न श्रेणी का समझते हैं और उनके समक्ष दीनता प्रकट करना अच्छा नहीं समझते, क्योंकि वे समझते हैं कि ऐसा करने से उनके सम्मान में कमी हो जायगी और वे अपमानित हो जायँगे। यह मूर्खता का चिह्न है।

अब जितना वे अपने आपको अन्य लोगों से श्रेष्ठ समझते हैं उसीके अनुसार वे लोगों से व्यवहार करते हैं। यदि कोई उनको उच्च श्रेणी का नहीं समझता तो वे उससे जलने लगते हैं और इसी चिन्ता में घुलते रहते हैं कि किस प्रकार हमारी श्रेष्ठता अन्य लोग स्वीकार कर लें। दूसरी ओर लोग उनके इस व्यवहार को बहुत बुरी दृष्टि से देखते हैं, कारण कि मनुष्य की प्रकृति में यह बात है कि वह अकारण किसी की श्रेष्ठता एवं गौरव को स्वीकार नहीं करता जब तक कि गौरव एवं सम्मान को देखकर उसे स्वीकार करने पर विवश न हो जाय। इन अभिमानी लोगों के पास उच्च पद न

होने के कारण कोई ऐसा साधन नहीं होता कि वे अन्य लोगों को दबा सकें, लोगों की गर्दनें अपने सामने झुका सकें, फलतः लोग उनके शत्रु हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे लोग उच्च श्रेणीवालों से लाभ उठाने से वंचित रहते हैं। उनको कभी कोई सम्मान नहीं प्राप्त होता और न कोई लाभ। जब वे सबको निम्न वर्ग का समझकर सबसे पृथक् रहते हैं और किसीको मुँह नहीं लगाते तो फिर उनको किस तरह लाभ प्राप्त हो सकता है? इसी कारण उनकी आर्थिक दशा भी गिरती जाती है। वे सर्वदा दरिद्रता एवं फ़ाक़े में ग्रस्त रहते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि कला-कौशल के कारीगर लोग सांसारिक लाभ से वंचित होते हैं और रोज़ी का लाभ उनको उनकी कला में प्राप्त हो जाता है, किन्तु वे अपनी कला में ही मस्त रहते हैं। सल्तनतों में सदाचरण के ही आधार पर लोगों को विभिन्न सम्मान प्राप्त होते हैं।

प्रायः कमीने तथा चरित्रहीन लोग चापलूसी एवं चाटुकारी करके बड़े-बड़े पद प्राप्त कर लेते हैं और उच्च सम्मानवाले एवं कुलीन लोग उन्नति नहीं कर पाते। इसका कारण यह है कि सल्तनत जब उन्नति के शिखर पर पहुँचकर ज़ोर पकड़ जाती है तो प्रभुत्व केवल बादशाह को ही प्राप्त होता है, इसके अतिरिक्त सब लोग उसके अधीन रहते हैं। बादशाह के सामने समस्त प्रजा सेवकों एवं दासों के समान होती है। बादशाह की दृष्टि में छोटे-बड़े का कोई अन्तर नहीं रहता। जो उसकी सेवा अधिक करते हैं और उसके निकट पहुँचने का प्रयत्न करते हैं उन्हें वह उच्च पदों द्वारा सम्मानित करता है। ऐसी अवस्था में बाज़ारी लोग बादशाह के निकट पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। नाना प्रकार से उसकी सेवा करके उसे प्रसन्न करते हैं और उसके प्रत्येक आदेश के समक्ष सिर झुकाये रहते हैं। वे नम्रता एवं चाटुकारी में कोई कमी नहीं करते यहाँ तक कि बादशाह के विश्वासपात्रों की भी चाटुकारी करते रहते हैं और उसके सम्बन्धियों के भी दास बने रहते हैं। अन्त में बाज़ारियों को भी इस धूतता के कारण बादशाह के सहचरों में सम्मिलित कर लिया जाता है और फिर वे सांसारिक धन-सम्पत्ति से लाभ उठाने लगते हैं और धन-धान्य सम्पन्न हो जाते हैं।

इसके विपरीत राज्य के सच्चे हितैषी अपने उन पूर्वजों के कारनामों पर जिन्होंने सल्तनत का बुरा चाहनेवालों को नष्ट करके सल्तनत की बुनियाद डाली थी अकड़ते रहते हैं। वे अपने पिछले इतिहास का स्मरण करके बादशाह के समक्ष ज़रा भी नहीं झुकते, अपितु बराबरी का दावा करते हैं और अपने आपको उसीके बराबर समझते हैं। बादशाह जब उनका यह रंग-ढंग देखता है तो वह उनसे जलने लगता है, उनको दूर रखता है और केवल अपने निम्न वर्ग के इन आश्रितों को मुंह लगाता है जो भूत-

काल पर दृष्टि नहीं रखते, अभिमान एवं गर्व नहीं करते, अपितु नम्रता एवं चाटुकारी से कार्य करते हैं। फलतः इन्हीं निम्न वर्ग के लोगों का सम्मान बढ़ जाता है। वे बड़े-बड़े पद प्राप्त कर लेते हैं। जब अन्य लोग उन्हें बादशाह का विश्वासपात्र पाते हैं तो उनका हृदय भी उन्हीं की ओर आकृष्ट हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति उन्हींको प्रसन्न करने का प्रयत्न करने लगता है। इधर इन कमीनों का यह सम्मान और उधर राज्य के हितैषियों की ऐसी दुर्दशा कि बादशाह उनको अपने पास नहीं फटकने देता, न उनको मुँह लगाता। यह दोनों ही बातें सल्तनत का नाश कर देती हैं।

(७) क़ाज़ी, मुफ़्ती[1], मदर्रिस[2], इमाम, ख़तीब[3] एवं मुअज़्ज़िन[4] इत्यादि धार्मिक लोग प्रायः धनी नहीं होते

इसका कारण वही है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है कि धन-सम्पत्ति परिश्रम का मूल्य है। परिश्रम का मूल्य लोगों की आवश्यकतानुसार घटता-बढ़ता रहता है। जो कार्य सभ्यता के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है और जिसकी सर्वसाधारण को बहुत ही ज़रूरत होती है उसका मूल्य भी अत्यधिक बढ़ जाता है। परन्तु जिस वस्तु की सर्वसाधारण को आवश्यकता न हो उसका सम्मान और मूल्य भी अत्यधिक बढ़ जाता है, भले ही उससे अधिक से अधिक लाभ होता हो। उपर्युक्त धार्मिक व्यक्तियों से सर्व साधारण व्यक्तियों का सरोकार प्रायः नहीं रहता। उनकी आवश्यकता तो केवल उन्हीं लोगों को होती है जो थोड़ी-बहुत धर्मनिष्ठता की ओर आकृष्ट होते हैं।

इनमें मुफ़्तियों तथा क़ाज़ियों की आवश्यकता अभियोगों का निर्णय करने के लिए होती है, किन्तु वह भी उन्हींको जो विवश होते हैं। सब लोगों को इनकी आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए सर्वसाधारण लोग इन धार्मिक लोगों की चिन्ता नहीं करते। सल्तनत के स्वामी का कर्तव्य सर्वसाधारण के हितों की देखभाल एवं उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। इसी कारण वह उनकी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उनके लिए कुछ वृत्ति निश्चित कर देता है, किन्तु इतना नहीं कि वे अन्य

१. फ़तवा (व्यवस्था) देनेवाला।
२. शिक्षक।
३. ख़ुत्बा पढ़नेवाला।
४. अज़ान देनेवाले।

कला-कौशलवालों तथा सम्मानित व्यक्तियों का मुक़ाबला कर सकें। अतएव इन लोगों के हिस्से में बहुत थोड़ा-सा धन आता है जिससे वे बड़ी कठिनाई से ही जीवन-निर्वाह कर पाते हैं। क्योंकि उनका धार्मिक कार्य बड़ा सम्मानित समझा जाता है, अतः सर्वसाधारण के हृदय में उनका बड़ा आदर-सम्मान होता है और वे बड़े सम्मान की दृष्टि से उनको देखते हैं। इसी कारण वे लोग कभी संसार के सामान्य व्यक्तियों के समक्ष नहीं झुकते और उनके सामने तक नहीं फटकते। यदि वे स्वयं आयें तो उन्हीं-को कुछ लाभ पहुँच जाय, किन्तु वे धर्म के सम्मानित कार्यों में हर समय मग्न रहने के कारण इतना समय नहीं निकाल पाते कि राज्य के उच्च पदाधिकारियों की सेवा में उपस्थित हों और उनकी धन-सम्पत्ति में से कुछ पाने की आशा लगायें। इसके अतिरिक्त वे अपने व्यवसाय को इतना श्रेष्ठ एवं सम्मानित समझते हैं कि उनकी आत्मा यह सहन नहीं कर सकती कि वे संसारवालों की चाटुकारी में अपना समय नष्ट करें और अपने आपको तथा अपने व्यवसाय को अपमानित करें। इन्हीं कारणों से धार्मिक लोगों की आर्थिक दशा कभी नहीं सुधरती।

इसी बात पर एक विद्वान् से मेरा वाद-विवाद हो गया। वे मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं हुए। संयोग से उन्हीं दिनों मामूनुर्रशीद के हिसाब-किताब के कुछ फटे-पुराने काग़ज़ मुझे प्राप्त हो गये जिनमें उसके राज्य की आय-व्यय का लेखा दिया हुआ था। क़ाज़ियों, इमामों तथा मुअज़्ज़िनों के वेतन की संख्या भी उसमें दी हुई थी। मैंने यही काग़ज़ उपर्युक्त विद्वान् को दिखा दिये और अन्त में उन्हें सहमत होना पड़ा कि वास्तव में मेरा शोध शत-प्रतिशत सत्य था और जो कुछ मैं कहता था वह ठीक था।

(८) कृषि शक्तिहीन शान्तिप्रिय लोगों का व्यवसाय है

कृषि क्योंकि वास्तव में एक भौतिक एवं सरल कार्य है, अतः सुखी एवं धन-धान्य सम्पन्न नगरवासी कभी इस कार्य में हाथ नहीं डालते और इसी कारण कृषक दरिद्रता एवं अपमान में ग्रस्त रहते हैं। एक बार हज़रत मुहम्मद ने किसी अनसारी[1] के घर में हल रखा हुआ देखा तो कहा कि जिस घर में भी यह आता है, अपमान साथ-साथ आते हैं। इमाम बुख़ारी ने इन वाक्यों की व्याख्या करते हुए लिखा कि, "कृषि में अत्यधिक संलग्न रहने के कारण मनुष्य इस सीमा को प्राप्त हो जाता है"। "कृषि" के

१. वे मदीनावासी जिन्होंने हज़रत मुहम्मद के मदीना पहुँचने के उपरान्त उनकी सहायता की।

अध्याय में इस हदीस की व्याख्या करते हुए इसका कारण यह बताया है कि "बेचारे किसान को सर्वदा भारी-भारी कर देने पड़ते हैं और वह अधिकारियों की कठोरता सहन किया करता है। इस कारण उसकी मर्यादा की भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं और वह अपमान सहने का आदी हो जाता है।" हज़रत मुहम्मद ने कहा है कि "क़यामत उस समय तक न आयेगी जब तक कि ज़कात जुर्माने का रूप न धारण कर लेगी" अर्थात् क़यामत आने के पूर्व अत्याचारी, आतंकमय एवं निरंकुश बादशाहों का राज्य आयेगा जो मनुष्य के अधिकारों की कोई परवाह न करेंगे और उन पर भारी-भारी जुर्माने लगाया करेंगे। इसी प्रकार ज़कात भी जुर्माने का रूप धारण कर लेगी।

'ईश्वर जो चाहे वह कर सकता है।'

(९) व्यापार की व्याख्या एवं उसकी क़िस्में और विधियाँ

व्यापार में पूंजी बढ़ाकर लाभ कमाया जाता है। हरएक माल जैसे—आटा, अनाज, पशु अथवा वस्त्र इत्यादि सस्ता क्रय करके महँगा बेचा जाता है। पूंजी पर जो अधिक धन प्राप्त होता है वह लाभ कहलाता है। लाभ प्राप्त करने के लिए व्यापारी या तो माल को रोके रखता है और बाज़ार का भाव चढ़ने की प्रतीक्षा करता रहता है ताकि उसको अधिक मूल्य पर बेचकर खूब लाभ कमाये अथवा माल को अपने नगर से क्रय करके दूसरे किसी नगर में ले जाता है जहाँ उसे अधिक मूल्य मिलता है। इस प्रकार व्यापारी को अधिक लाभ होता है। कुछ लोगों ने व्यापार की व्याख्या दो ही वाक्यों में भली-भाँति की है और इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि "व्यापार सस्ता खरीदने और महँगा बेचने का नाम है।" यह कथन भी हमारे सिद्धान्त की पुष्टि करता है।

(१०) किस प्रकार के लोगों को व्यापार करना चाहिए और किन लोगों को नहीं

हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि व्यापार माल के क्रय-विक्रय द्वारा धन बढ़ाने का नाम है। इस प्रकार सस्ते मूल्य पर एक वस्तु क्रय करके अपने ही नगर के बाज़ार में भाव चढ़ने पर बेच दी जाती है अथवा दूसरे नगर में ले जाकर अधिक मूल्य पर बेची जाती है और लाभ कमाया जाता है। इसको व्यापार कहते हैं। इसका दूसरा रूप एक चीज़ को उधार लेकर अधिक मूल्य पर बेचना है। अब इन साधनों से जो

लाभ प्राप्त होता है वह बहुत थोड़ा होता है, किन्तु यदि पूँजी अधिक हो तो यह लाभ भी बहुत अधिक होगा, कारण कि बहुत-सी वस्तुओं में से यदि थोड़ी-थोड़ी चीज़ भी मिले तो वह बहुत होती है। फिर व्यापार में माल के उलट-फेर एवं क्रय-विक्रय से ख़रीदने तथा बेचनेवाले दोनों ही का सम्बन्ध रहता है। आजकल संसार में सदाचारियों का बड़ा अभाव है, अतः हर प्रकार का धोखा खा जाने का भय रहता है। यदि बेचनेवाला धूर्त्तता कर जाता है तो पूँजी घट जाती है और व्यापारी माल के क्रय में ठग लिया जाता है। यदि ख़रीदार मूल्य के भुगतान में धूर्त्तता करता है तो लाभ से हाथ धो बैठना पड़ता है। क्रय करनेवाले ने यदि मूल्य के भुगतान में टाल-मटोल की और उसमें समय लगा दिया तो माल की वृद्धि रुक जाती है। माल केवल उलट-फेर से ही बढ़ता है। जब मूल्य ही प्राप्त न होगा या देर से प्राप्त होगा तो नये माल का क्रय न हो सकेगा। जब नये माल का क्रय रुक जायेगा तो लाभ समाप्त हो जायेगा। यदि ख़रीदार मूल्य अदा करने से इनकार कर दे तो असल पूँजी भी चली जाती है। यह उसी दशा में सम्भव है जब कि ऋण की लिखा-पढ़ी न हो और उसका कोई साक्षी न हो। रहा सल्तनत का हाकिम तो वह इन झगड़ों में अधिक लाभदायक नहीं होता। क्योंकि वह तो जो बात प्रत्यक्ष होती है उसके अनुसार निर्णय कर देता है। उसे वास्तविक बात की कोई सूचना नहीं होती। इस उलझन में बेचारे व्यापारी को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। या तो वह बड़ी कठिनाई से लाभ प्राप्त करता है या कष्ट सहन करने पर भी लाभ हासिल नहीं कर पाता, अपितु जितना लगाता है, उसे उतना ही मिल पाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लाभ तो दूर रहा, मूलधन से भी उसको हाथ धोना पड़ता है। अब यदि संयोग से व्यापारी, लड़ाका, गणितवेत्ता एवं हाकिमों तक पहुँचवाला हुआ तो वह अपने इन गुणों के कारण हानि से बच जाता है और व्यापार में सिर पकड़कर कभी नहीं रोता। यदि कोई स्वयं सम्मानित व्यक्ति है तो उसके भय से क्रय-विक्रय करनेवाले धूर्त्तता नहीं कर सकते और यदि मामला हाकिमों तक पहुँच भी जाता है तो वे भी उसके प्रभाव से उसीके पक्ष में निर्णय करते हैं। ऐसे व्यक्ति के प्रति लोग कभी धूर्त्तता नहीं कर पाते। ऐसी दशा में उसका व्यापार उन्नति करता रहता है और उसे लाभ होता रहता है। जो व्यक्ति न साहसी हो और न उसे कोई सम्मान ही प्राप्त हो तो उसे चाहिए कि वह कभी भूलकर भी व्यापार में हाथ न डाले अन्यथा वह अपनी धन-सम्पत्ति खो देगा और लोग उसे हड़प कर लेंगे तथा फिर उसके विषय में कोई भी कुछ न सुनेगा। क्योंकि निम्न वर्ग के लोगों को माल के अपहरण का लोभ होता है और यदि शासन

का हाथ उनके सिर पर न हो तो लोगों की धन-सम्पत्ति क्षण भर में नष्ट हो जायेगी और किसीको कोई लाभ न होगा।

(११) व्यापारियों के चरित्र सम्मानित व्यक्तियों एवं उच्च पदाधिकारियों के चरित्र की अपेक्षा गिरे हुए होते हैं

व्यापारी क्रय-विक्रय के बखेड़ों में फँसकर बड़ा कष्ट भोगते रहते हैं, अतः उनमें कृपणता उत्पन्न हो जाती है जो मर्यादा के विपरीत समझी जाती है और उच्च पदाधिकारी एवं सम्मानित लोग उसे बुरा समझते हैं। निम्न वर्ग के लोगों के संमुख उनका चरित्र और भी पतित हो जाता है तथा बात-बात पर झगड़ा करना, धोखा देना, झूठ बोलना, चीज़ों के मूल्य के लेन-देन में झूठी शपथ लेना आदि आदतें उनमें पैदा हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में उनकी गणना भी वास्तव में निम्न वर्ग में होने लगती है। यही कारण है कि सम्मानित व्यक्ति व्यापार की ओर से उपेक्षा करते हैं ताकि उनका चरित्र न बिगड़ने पाये। हमारा यह अभिप्राय नहीं कि सभी व्यापारी चरित्रहीन होते हैं, अपितु कुछ ऐसे व्यापारी भी होते हैं जो चारित्र्यहीनता से मुक्त होते हैं, किन्तु उनकी संख्या बड़ी ही कम होती है।

(१२) व्यापारियों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल ले जाना

कुशल एवं अनुभवी व्यापारी वही माल बाहर ले जाते हैं जिनकी अमीरों, ग़रीबों, बादशाह और सर्व साधारण को भी आवश्यकता होती है, कारण कि ऐसे माल की निकासी बहुत होती है। जिस माल की आवश्यकता कुछ ही लोगों को हो और अन्यों को न हो उसके बिकने में कभी-कभी बाधा पड़ जाती है। यदि किसी विशेष वर्ग ने किसी कारण वश क्रय न किया तो लाभ तो अलग रहा, मूल पूंजी का सँभालना मुश्किल हो जाता है। इसी प्रकार कुशल व्यापारी बाहर मध्यम वर्ग की चीजें ले जाते हैं। यदि केवल उत्तम वस्तुएँ ले जायँ तो उनके क्रय करनेवाले केवल थोड़े लोग ही निकलेंगे, कारण कि उनकी संख्या कम होती है, अतः यह भय होता है कि वे क्रय करें अथवा न करें। सर्वसाधारण तो औसत दर्जे के माल पर गिरते हैं। अतएव उसका बाज़ार बड़ी मुश्किल से मंदा पड़ता है, अपितु उसका संपूर्ण क्रय-विक्रय प्रायः हो जाता है। बुद्धिमान् व्यापारी भी व्यापारिक माल ऐसे नगरों में ले जाते हैं जिनके मार्गों में खतरे होते हैं अथवा जो दूरस्थ स्थानों पर स्थित होते हैं। इन परिस्थितियों के कारण नगरों में माल कम पहुँचने की वजह से एवं लोगों के अधिक आवश्यकताग्रस्त होने के कारण वहाँ

माल का आयात आवश्यक होता है और बहुत ऊँचे दामों में निकलता है तथा व्यापारी को खूब लाभ होता है। यह माना हुआ सिद्धान्त है कि जब कम वस्तुएँ प्राप्य होती हैं और उनकी आवश्यकता लोगों को अधिक होती है तो दाम बढ़ जाता है और वह बहुत अधिक मूल्य पर मिला करती है। इसके विपरीत यदि व्यापारी नगर के निकट कहीं अपना माल ले जाय तो अधिकांश व्यापारियों के वहाँ माल लेकर पहुँचते रहने के कारण माल का भाव गिरा रहता है। इस प्रकार हमारे यहाँ जो व्यापारी सूडान से माल लाते हैं वे बड़े धनी होते हैं। इसका कारण यह है कि सूडान यहाँ से बहुत दूर है, मार्ग में निर्जन जंगल पड़ते हैं जिनमें लुट जाने का भी भय होता है और प्यासे मर जाने का भी। पानी दूर-दूर तक नहीं मिलता, यदि मिलता है तो विशेष स्थानों पर जिनका पता केवल विशिष्ट व्यापारियों को ही होता है। ऐसे व्यापारी कम ही होते हैं जो इन सब खतरों का सामना करके वहाँ से माल लायें। जो इन खतरों का सामना कर लेते हैं वे धन-धान्य सम्पन्न हो जाते हैं। इसी कारण हमारे यहाँ सूडान का माल बहुत अधिक मूल्य पर बिकता है और इसका भाव सर्वदा चढ़ा रहता है। यही दशा हमारे माल की है जो हमारे यहाँ से सूडान भेजा जाता है, वह अधिक मूल्य पर बिकता है। इस प्रकार माल के इधर-उधर ले जाने में व्यापारियों की पूँजी बढ़ जाती है और वे शीघ्र ही धन-धान्य सम्पन्न हो जाते हैं। यही हाल उन यात्रियों का है जो हमारे नगरों से निकलकर दूरस्थ स्थानों की यात्रा करके पूर्व में पहुँचते हैं। वे भी खूब कमाते हैं। जो भय के कारण एक ही देश में घूमते-फिरते रहते हैं और दूर जाने का साहस नहीं करते उनको सर्वदा कम लाभ प्राप्त होता है।

(१३) माल को महँगाई के लोभ में भरे रखना

बुद्धिमान् एवं अनुभवी लोगों में यह बात प्रसिद्ध है कि अनाज को इस लोभ में रोक रखना कि मँहगाई ही में निकाला जाय, बड़ा ही अशुभ कार्य है और बाद में लाभ के स्थान पर हानि हो जाती है। इसका कारण यह है कि लोग अपना भोजन प्राप्त करने के लिए विवश होते हैं, इसके कारण वे अधिक से अधिक मूल्य अदा करने की भी परवाह नहीं करते, किन्तु आवश्यकता से अधिक मूल्य का भुगतान करने पर उन्हें अत्यधिक क्षोभ होता है और वे यह अनुभव करते हैं मानो उनसे रक़म व्यर्थ में ले ली गयी। इस क्षोभ का पाप अधिक मूल्य पर बेचनेवाले उस व्यक्ति पर पड़ता है जो उनकी आवश्यकता से अनुचित लाभ उठाता है और उनको व्यर्थ में लूट लेता है। सम्भवतः यही कारण है कि इस्लामी शरीअत में व्यापार के इस नियम को अनुचित

रूप से लोगों का माल खाना बताया गया है, कारण कि विवशता की दशा में लोगों के हाथ दुगुने-चौगुने मूल्य पर माल बेचना और लोगों का विवश होकर उसे क्रय करना ऐसा ही है कि मानो अधिक मूल्य पर बेचनेवाले व्यापारी ने लोगों की सम्पत्ति बिना किसी बदले के ऐंठ ली हो। खाद्य-सामग्री के अतिरिक्त अन्य चीज़ों के क्रय करने पर लोग विवश नहीं होते, अपितु वे उसे स्वेच्छा से क्रय करते हैं, किसी विवशता के कारण नहीं, अतः इन चीज़ों के क्रय के बाद उनके हृदय में कोई दुःख नहीं पैदा होता और उसका पाप व्यापारी पर नहीं होता। संक्षेप में कहा जा सकता है कि महँगाई के समय अनाज को सोने के भाव बेचना लोगों के दुःखों को बढ़ाना और लोगों की हाय लेना है। इस प्रकार अधिक मूल्य पर बेचने से व्यापारी को जो लाभ होता है वह उसके विनाश का कारण बन जाता है।

इसी समय मुझे एक हास्यप्रद कहानी का स्मरण हो आया जो हमारे शेख़ अबू अब्दुल्लाह अल-अबीली ने सुनायी थी। उन्होंने बताया कि "सुल्तान अबू सईद के राज्यकाल में फ़क़ीह अबुल हसन अल-मलीली फ़ास के क़ाजिउल-क़ुज़्ज़ात के पास पहुँचे। उनसे पूछा गया कि आप अपनी वृत्ति के लिए किस वस्तु के कर को अधिक पसन्द करते हैं।" उन्होंने सोचकर कहा कि "मदिरा के कर को।" समस्त उपस्थितगण हँस पड़े और पूछने लगे कि इसमें क्या रहस्य है? उन्होंने कहा कि "जब सल्तनत के समस्त राजस्व एवं कर हराम हो गये तो मैंने वृत्ति के लिए वह वस्तु पसन्द की जिसमें धन व्यय करने से हृदय को कष्ट नहीं पहुँचता। मदिरा क्रय करनेवाले मदिरा की ख़रीद में अपना धन खुशी-खुशी फेंका करते हैं और व्यय के उपरान्त न पश्चात्ताप करते हैं और न दुःख।" वास्तव में यह एक बड़ा विचित्र रहस्य है जिस पर ग़ौर करना चाहिए।

(१४) चीज़ों का मूल्य सस्ता होना व्यापारियों के लिए हानिकारक है

यह बात स्पष्ट हो चुकी कि कला-कौशल एवं व्यापार जीविकोपार्जन के ऐसे साधन हैं जिनसे मनुष्य अपना पेट पालता है और जीवन-निर्वाह करता है। माल व असबाब को क्रय करके बाज़ार में ले जाना और अधिक मूल्य पर बेचकर लाभ प्राप्त करना और उसीको अपनी जीविकोपार्जन का साधन बनाना ही असली व्यापार कहलाता है। व्यापारी लोग इसी प्रकार अपनी रोज़ी कमाते हैं। जब भोजन एवं वस्त्र से सम्बन्धित सामग्री बाज़ार में सस्ती हो जाती है तो व्यापारियों को व्यापारिक माल में लाभ मिलना बन्द हो जाता है। बाज़ार ठंडा पड़ जाता है। वे अपना धंधा छोड़कर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं, अपितु उनकी मूल पूंजी भी समाप्त होने लगती है। इस प्रकार केवल व्यापार की ही हानि नहीं होती, अपितु कला-कौशल से जीविको-

पार्जन करनेवाले के कार्यों में भी विघ्न पड़ जाता है। उदाहरणस्वरूप, अनाज को ले लिया जाय। जब अनाज का भाव अधिक समय तक गिरा रहता है तो अनाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जितने कला-कौशल में भाग लेनेवाले होते हैं उन सबका कार्य फीका पड़ जाता है। लाभ न मिलने के कारण सब अपने कार्य से हाथ खींचने लगते हैं। व्यापारी माल बढ़ाना बन्द कर देते हैं अथवा वह बहुत कम बढ़ता है, जिससे उनका जीवन-निर्वाह नहीं हो पाता। विवश होकर वे अपनी मूल पूँजी खाने लगते हैं। उनकी दशा शोचनीय हो जाती है। उन्हें रोज़ी तक नहीं प्राप्त होती। वे दरिद्रता में जीवन व्यतीत करने लगते हैं। उनके साथ-साथ अन्य व्यवसायवाले भी प्रभावित होते हैं। उनके काम भी ठंडे पड़ जाते हैं। उदाहरणार्थ, आटा पीसनेवाले अथवा बावरची इत्यादि। उनके धंधे भी रुकने लगते हैं। सेना की दशा भी गिरने लगती है। सेना के वेतन का गाँव की आय से भुगतान होता है। अतः आय कम हो जाने के कारण सिपाहियों का जीवन-निर्वाह नहीं हो पाता और उनकी दशा शोचनीय हो जाती है।

इस प्रकार यदि शक्कर एवं मधु का भाव बहुत समय तक गिरा रहेगा तो जो लोग इन चीज़ों का व्यवसाय करते हैं वे सब नष्ट हो जायँगे। संक्षेप में जो वस्तु अधिक समय तक सस्ती रहती है उससे सम्बन्धित जितने पेशेवाले होते हैं वे सबके सब हानि उठाते हैं और सबकी दुर्दशा हो जाती है। यह दशा केवल अल्प-मूल्यता तक ही सीमित नहीं रहती। महँगाई में भी विभिन्न व्यवसाय करनेवालों की ऐसी ही दुर्दशा हो जाती है। लोगों को सुख, शान्ति तो उस समय प्राप्त होती है जब कि चीज़ों का भाव न तो बहुत अधिक हो और न बहुत सस्ता तथा चीज़ें सुगमतापूर्वक प्राप्त होती रहें। बिकनेवाली वस्तुओं में अनाज की अल्पमूल्यता अच्छी समझी जाती है, कारण कि धनी तथा दरिद्र सभी को इसकी अत्यधिक आवश्यकता होती है। साधारण लोग इसीसे जीवित रहते हैं। अनाज ही एक ऐसी वस्तु है जिसका सस्ता होना व्यापार के नष्ट होने पर भी अच्छा माना गया है।

(१५) व्यापारियों के चरित्र सामान्यतः अन्य लोगों से घटिया होते हैं और वे मुरव्वत नहीं करते[1]

१. इस खंड में उन्हीं बातों की पुनरावृत्ति की गयी है जिनका उल्लेख खंड ११ में हो चुका है। अतः इसका अनुवाद नहीं किया गया।

(१६) कला के लिए शिक्षा परमावश्यक है

कला किसी विषय से सम्बद्ध कर्म में चिन्तन-शक्ति के विनियोग का नाम है। उसका कर्म से सम्बन्ध भौतिक होता है और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उसका निरीक्षण हो सकता है। जो विषय वस्तुएँ भौतिक रूप में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देखी जा सकती हैं उनका उचित ढंग से और कुशलतापूर्वक अभ्यास किया जा सकता है। उपर्युक्त उत्साह होने पर उन्हें सीखा जा सकता है। अभ्यास इसके लिए बड़ा आवश्यक होता है।

आदत एक प्रकार का स्थायी गुण है जो कि किसी कार्य को बार-बार करने से प्राप्त होती है। यहाँ तक कि कार्य का वह रूप भी स्थायी बन जाता है। आदत उस मौलिक कार्य का रूप है जिससे वह बनती है। ऐसी बातों का सिखाना जिन्हें मनुष्य ने स्वयं अपनी आँखों से देखा हो उन बातों के सिखाने से जिन्हें किसीने सीखा है, अधिक सरल होता है। वह आदत जो कि व्यक्तिगत निरीक्षण के ऊपर आधारित है उस आदत से जो किसीकी शिक्षा द्वारा प्राप्त होती है, अधिक पूर्ण एवं दृढ़ होती है। जो विद्यार्थी किसी कला में कुशलता प्राप्त करता है और जो आदत वह सीखता है वह गुरु की आदत एवं उसकी शिक्षा के अनुसार होती है।

इसके अतिरिक्त कुछ कलाएँ साधारण हैं और कुछ जटिल। साधारण कलाएँ जीवन की आवश्यकताओं से सम्बन्धित होती हैं तथा जटिल कलाएँ आनन्दमय जीवन की आवश्यकताओं से। साधारण कलाएँ सर्वप्रथम इसलिए सिखायी जाती हैं कि वे साधारण होती हैं और जीवन की आवश्यकताओं से उनका सम्बन्ध होता है। उनके सीखने की बड़ी माँग होती है, अतः उनकी शिक्षा को प्राथमिकता प्राप्त होती है, किन्तु यह शिक्षा निम्न श्रेणी की होती है।

बुद्धि हर प्रकार की कलाओं को जिनमें जटिल कलाएँ भी सम्मिलित हैं, सीखने से बाज़ नहीं आती, कारण कि एक के बाद दूसरी वस्तु का पता चलता रहता है, यहाँ तक कि मनुष्य को पूर्ण कुशलता प्राप्त हो जाती है। यह सफलता एक ही बार में नहीं प्राप्त होती। इसकी प्राप्ति में समय लगता है, यहाँ तक कि पीढ़ियाँ बीत जाती हैं। किसी ऐसी वस्तु की जिसकी कल्पना की जा सकती है, अनायास अस्तित्व में आना सम्भव नहीं, विशेष रूप से कला-सम्बन्धी बातों का, अतः इसमें समय लगना अनुपेक्ष्य है। इस कारण छोटे-छोटे नगरों में कलाएँ उच्च श्रेणी नहीं प्राप्त कर पातीं और केवल साधारण कलाओं का ही प्रयोग होता है। जब इन नगरों में नगर सम्बन्धी संस्कृति की उन्नति होती है तथा सुख-सम्पन्नता के साधनों की आवश्यकता

होती है तो कलाओं तथा कारीगरी की भी उन्नति होती है और वे सम्भावित स्थिति से वास्तविक स्थिति में आती हैं।

कलाओं का विभाजन अन्य प्रकार से भी होता है। उदाहरणार्थ, एक वह कला जो मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित हो चाहे वह आवश्यक हो अथवा अनावश्यक। उदाहरणार्थ, जुलाहे का काम, बढ़ई का काम, लुहार तथा क़साई का काम। इसके अतिरिक्त वे कलाएँ हैं जो मनुष्य की चिन्तनशक्ति से सम्बन्धित हैं। उदाहरणार्थ, किताबत, जिल्दसाजी, संगीत, कविता, शिक्षा। दूसरी वह कला है जिसका सम्बन्ध राजनीति से है। उदाहरणार्थ, सेना का कार्य।

(१७) नगर के जीवन एवं संस्कृति के बढ़ने पर ही कला-कौशल की उन्नति होती है

इसका कारण यह है कि जब तक नगर की सभ्यता पूर्ण रूप से उन्नत न हो जाय तथा नागर जीवन एवं संस्कृति का पूर्ण रूप से विकास न हो जाय तब तक लोग अपनी आर्थिक आवश्यकताओं ही में उलझे रहते हैं अर्थात् उनको केवल भोजन प्राप्त करने की चिन्ता होती है, उदाहरणार्थ अनाज की पैदावार की ओर उनका पूरा ध्यान लगा रहता है। फिर जब नगर में संस्कृति की उन्नति होती है तो हर प्रकार के कार्य की भी उन्नति होने लगती है। लोगों को अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं रहती। ऐसी अवस्था में उनका ध्यान अनावश्यक एवं ऐसी वस्तुओं की ओर आकृष्ट होता है जो भोग-विलास से सम्बद्ध होती हैं। इसके अतिरिक्त कला एवं ज्ञान मनुष्य की उस चिन्तनशक्ति द्वारा जन्म पाते हैं जिनके कारण वह पशुओं से पृथक् किया जाता है। क्योंकि भोजन की प्राप्ति मनुष्य की वह पाशविक आवश्यकता है जिसे मानवता पर प्राथमिकता प्राप्त है, अतः मनुष्य की चिन्तनशक्ति सम्बन्धी कलाओं एवं ज्ञानों पर भी उसका प्रभुत्व होता है। सभ्यता के क्षेत्र में नगर जितनी ही उन्नति करता है, कलाओं में उतनी ही बारीकियाँ निकलती आती हैं। उनकी विभिन्न शाखाएँ बन जाती हैं, कारण कि लोग संस्कृति की वजह से आडम्बर एवं दिखावा पसन्द करने लगते हैं। इस कारण कलाओं की उन्नति अनिवार्य होती है। जिस नगर की सभ्यता निम्नस्तरीय हो और वह केवल बदवी वर्ग की ही हो तो उसमें उन्हीं आवश्यक कलाओं की ज़रूरत होगी जिनका सम्बन्ध जीविका-निर्वाह मात्र से है, यानी दर्ज़ी, जुलाहे, क़साई इत्यादि के कला-कौशल की। किन्तु इन लोगों की कलाएँ साधारण श्रेणी की ही होती हैं जिनसे केवल जीवन की आवश्यकताएँ ही पूरी

होती हैं। उन पर किसी प्रकार के नवाविष्कार का आवरण नहीं चढ़ा होता। जब नगर की सभ्यता उन्नति करती है और लोगों को प्रत्येक वस्तु में कुशलता प्राप्त करने की इच्छा होती है तो कलाएँ भी विभिन्न नमूने की ईजाद होती हैं। जो कलाएँ पहले से प्रचलित होती हैं वे उन्नति के शिखर तक पहुँच जाती हैं, कारण कि सुख-सम्पन्नता एवं विलास-प्रियता लोगों पर गहरा प्रभाव डालती हैं। पुरानी कलाओं के उन्नति के शिखर पर पहुँचने के साथ ही नित्य नये आविष्कार होते हैं। उदाहरणार्थ, क़साई, चमड़े एवं कपड़े के रँगनेवाले भी मिलने लगते हैं। सभ्यता जब और भी अधिक बढ़ती है तो कलाओं एवं कारीगरियों में नये-नये आविष्कार होने लगते हैं। नगर-निवासी इन नयी-नयी कलाओं से भली-भाँति खाते-कमाते हैं और अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करते हैं, उदाहरणार्थ कोई अत्तार होता है तो कोई ठठेरा, कोई स्नान कराता है तो कोई बावरची बनता है, कोई मोमबत्ती बेचता है तो कोई हरीसा।[1] कोई संगीत नृत्य सिखाने लगता है और कोई तबला बजाना। कुछ लोग किताबत को अपना व्यवसाय बनाते ह और कुछ जिल्दसाज़ी को। संक्षेप में यह बातें समृद्धि एवं सुख-सम्पन्नता के साथ-साथ हैं। इनमें मानव-चिन्तन की अधिक आवश्यकता होती है।

इस प्रकार जब मिस्र में नगरों का जीवन उन्नति के शिखर पर पहुँचा तो वहाँ ऐसे लोग भी निकल आये जो पक्षियों को बोलियाँ बोलना सिखाते, और पशुओं को ऐसा वश में कर लेते हैं कि देखनेवाले चकित रह आते हैं। वे शिकारी पक्षियों को शिक्षा देकर हवा में नचाते हैं और हवा में ही डोरों पर चलाते हैं। पशुओं और पत्थरों को उठवाते हैं। संक्षेप में उनके ऐसे-ऐसे करतब देखने में आते हैं जिनकी मग़रिब-वाले कल्पना भी नहीं कर सकते। इसका कारण केवल यह है कि मग़रिब अभी सभ्यता एवं संस्कृति में मिस्र और क़ाहेरा की बराबरी नहीं कर सकता।

(१८) नगरों में संस्कृति जितनी दृढ़, स्थायी एवं पुरानी होती है उतनी ही वहाँ कलाएँ भी दृढ़ एवं स्थायी होती हैं

इसका कारण यही है कि कलाओं का जन्म सभ्यता की उन्नति से होता है। जब वे दीर्घकाल तक किसी सभ्य नगर में प्रचलित रहती हैं और अधिक समय तक लोगों में उनका चलन रहता है तो वे दृढ़ एवं स्थायी रीतियों का रूप धारण कर लेती हैं

१. एक प्रकार की लप्सी।

और फिर बड़ी कठिनाई से ही मिटती हैं। इतिहासों से पता चलता है कि जब सभ्य नगरों का पतन हुआ और वे उजड़ने लगे तो उनमें संस्कृति सम्बन्धी कलाएँ मिटते-मिटते भी इतनी बच गयी हैं कि नये सभ्य नगर उनकी बराबरी नहीं कर सकते। इसका कारण यही है कि उजड़नेवाले नगरों में कलाएँ हाल में ही प्रचलित नहीं होतीं कि शीघ्र मिट जायँ, अपितु शताब्दियों से प्रचलित रहती हैं और दृढ़ हो चुकती हैं। इसके विपरीत नये सभ्य नगरों में हाल में ही कलाएँ प्रचलित होती हैं तो उनका प्राचीन नगरों से मुक़ाबिला हो ही नहीं सकता।

समकालीन उन्दुलुस में ही देख लिया जाय कि यद्यपि उसकी सभ्यता पूर्व की अपेक्षा बहुत घट चुकी है, किन्तु सभ्य नगरों के समान सभी कलाएँ पायी जाती हैं और वे मिटाने से भी नहीं मिटी हैं। वहाँ अब भी अत्यन्त कुशल अभियन्ता, बावरची, संगीतज्ञ एवं नृत्य करनेवाले मिल जायँगे। वहाँ के महल सर्वोत्तम फर्शों से सुसज्जित होते हैं। भवन बड़े ही सुव्यवस्थित रूप से एवं योजनानुसार बनाये जाते हैं। खाने-पीने एवं अन्य प्रयोग के बर्तन एक से एक उत्तम तथा उत्कृष्ट धातुओं के होते हैं। विवाह एवं अन्य समारोहों के अवसर पर दर्शनीय प्रबन्ध होते हैं। संक्षेप में इस प्रकार की समस्त प्रथाएँ एवं प्रभुत्व तथा ऐश्वर्य एवं गौरव की वस्तुएँ इतनी उत्तम दशा में अब भी वर्त्तमान हैं कि हाल का कोई सभ्य नगर मुश्किल से ही उसका मुक़ाबिला कर सकता है। इसका कारण वही है जिसका हम उल्लेख कर चुके हैं कि यहाँ बनी उमय्या तथा क़ूत[1] के राज्यकाल में यहाँ तक कि मुलूकुत्तवाएफ़ के समय के शासकों के राज्यकाल में भी संस्कृति इतनी उन्नति पर रही जितनी आज भी किसी देश में नहीं है। इराक़, शाम तथा मिस्र में भी कलाओं की ऐसी ही उन्नति रही और दीर्घकाल तक यह कला-कौशल का केन्द्र बने रहे और अब भी यही समझा जाता है कि जब तक उनकी सभ्यता पूर्णतः नष्ट न हो जायगी वहाँ की कलाएँ नहीं समाप्त हो सकतीं। तूनुस (ट्युनिस) का उदाहरण भी आपके समक्ष है। इसमें भी सिनहाजा एवं मुवह्हेदीन की सल्तनत के समय में नगर का जीवन एवं संस्कृति के साथ-साथ कलाओं को भी बड़ी उन्नति प्राप्त हुई थी। यद्यपि उन्दुलुस की अपेक्षा तूनुस (ट्युनिस) कला-कौशल में पीछे रहा, किन्तु फिर भी वहाँ कला-कौशल की बड़ी चर्चा थी। कुछ इस कारण कि मिस्र वहाँ से निकट था और वहीं के निवासी प्रतिवर्ष मिस्र जाया करते थे जहाँ रहकर वे वहाँ की आदतें स्वभाव तथा कला को जो-जो उन्हें रुचिकर होतीं, सीख लेते थे और फिर

१. गोथिक वंश।

अपने देश में आकर उनको प्रचलित करते थे। इस प्रकार मिस्र तथा तूनुस (ट्युनिस) कला-कौशल एवं संस्कृति में अद्वितीय हो गये। कुछ इस कारण कि ७वीं शती (१३वीं शती ई०) में जब मुसलमान उन्दुलुस से निर्वासित हुए तो वे तूनुस (ट्युनिस) में ही जाकर बसे। यद्यपि अब तूनुस (ट्युनिस) की सभ्यता पतनशील है, किन्तु वहाँ की संस्कृति ने अभी तक अपना रंग नहीं बदला। क़ैरावान, मराकश, क़लात इब्ने हम्माद की भी यही दशा है। यद्यपि वे विनाश को पहुँच चुके हैं, किन्तु प्राचीन कला-कौशल तथा संस्कृति एवं सभ्यता के अवशेष वहाँ अब भी उसी प्रकार वर्त्तमान हैं जो भूतकाल के इतिहास का स्मरण दिलाते रहते हैं।

(१९) कला-कौशल की जब देश में माँग होती है तो उनकी उन्नति भी होती है और नये-नये आविष्कार भी होते रहते हैं

यह बात स्पष्ट है कि मनुष्य कोई कार्य बिना किसी मूल्य अथवा पारिश्रमिक के नहीं करता। कार्य ही उसके लिए लाभ एवं जीविकोपार्जन का साधन है। यदि वह बिना मूल्य के कार्य करने लगे तो उसका जीवन-निर्वाह कैसे हो सकता है।[1] इसी तथ्य के आधार पर जब किसी कला की नगर अथवा देश में माँग होती है और वह सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है तो वह एक व्यापारिक सामग्री के समान होती है जिसको प्रसिद्धि प्राप्त होती है और वह बिकने के लिए हर समय प्रस्तुत की जा सकती है। लोग ऐसी कलाओं को सीखने के लिए बड़ी रुचि दिखाते हैं, ताकि उसको जीवन-निर्वाह का साधन बना सकें। जब किसी कला की देश अथवा नगर में माँग ही न हो, बाज़ार में उसका कोई मूल्य ही न हो तो कोई भी उसके सीखने के लिए तैयार नहीं होता और उसकी ओर दृष्टिपात नहीं करता। इसी आधार पर हज़रत अली का यह कथन प्रसिद्ध है कि प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य उसका वह कार्य है जिसको वह भली-भाँति सम्पन्न कर सकता है[1]। अन्य शब्दों में इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि कला ही मनुष्य का अथवा उसके कार्य का मूल्य है जो उसके जीविकोपार्जन का साधन है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य तथ्य को भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि "सल्तनत की दृष्टि से कला-कौशल का मूल्य घटता-बढ़ता रहता है। जिस कला की सल्तनत

१. **इस कथन के हवाले बहुत-से स्थानों पर मिलते हैं, देखिए इब्नेक़ुतैबह, "उयूनुल अख़बार", सालेबी, "एजाज़" तथा इब्ने बस्साम, "ज़ख़ीरह"।**

में माँग होती है, उसके गुणों की बेहद प्रशंसा होती रहती है। बाज़ारों में भी उसी-से रौनक़ होती है और प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि में वही उत्तम दीखती है। सल्तनत जिस कला की प्रशंसा न करे और नगरवाले उसे पसन्द न करें तो उसका मूल्य शेष नहीं रहता, कारण कि सल्तनत एक बड़े बाज़ार के समान है जिसमें प्रत्येक वस्तु चाहे थोड़ी हो अथवा बहुत, खप जाती है। जिस चीज़ का चलन सल्तनत के बाज़ार में हो उसीका सर्वसाधारण में भी ज्यादा चलन होता है। सर्वसाधारण यदि किसी कला को पसन्द नहीं करते तो सामान्य रूप से उसकी माँग कम होती और बाज़ार भी उसको अधिक स्वीकार नहीं करता।

(२०) नगर जब उजड़ने लगते हैं तो वहाँ की कलाएँ भी कम होने लगती हैं

इसका कारण यह है कि कला को उस समय तक उन्नति प्राप्त होती है जब तक उसकी माँग अथवा आवश्यकता होती है। जब नगर की दशा शोचनीय हो जाती है और उसका जीवनकाल युवावस्था को समाप्त करके वृद्धावस्था में प्रविष्ट होता है तो उसकी सभ्यता का भी पतन हो जाता है। वहाँ का भोग-विलास भी समाप्त हो जाता है और लोग केवल अपनी मूल आवश्यकताओं की प्राप्ति मात्र का प्रयत्न करते रहते हैं। जब यह स्थिति हो तो कलाओं का पतन हो जाता है। इसका कारण यह है कि कलाओं का देश के भोग-विलास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकतीं। यह बात स्पष्ट है कि जब कलाकार का पेट अपनी कला से नहीं भरेगा तो वह उसे छोड़ भागेगा और किसी अन्य कला को स्वीकार कर लेगा। यदि वह ऐसा न करे तो उसे अपना विनाश दृष्टिगत होने लगेगा। इस प्रकार से कलाएँ एक-एक करके कम होती चली जायेंगी और धीरे-धीरे सब नष्ट हो जायेंगी। अतः बड़े-बड़े नगर जब नष्ट होने लगते हैं तो वहाँ न कोई शिल्पकार मिलता है न नक़्क़ाश, न सुनार न कातिब, न सुलेख लिखनेवाले। संक्षेप में संस्कृति संबंधी समस्त कलाओं का समूलोच्छेदन हो जाता है।

(२१) अरब लोग कलाओं से सब क़ौमों की अपेक्षा अधिक दूर रहते हैं

इसका कारण यह है कि अरब बदवी जीवन व्यतीत करते हैं। वे नागर जीवन, नगर की संस्कृति तथा कला-कौशल से अपरिचित होते हैं। इनकी तुलना में अजम उदाहरणार्थ, पूर्ववाले एवं वे ईसाई क़ौमें जो भूमध्य-सागर के तट पर आबाद हैं, संस्कृति

एवं सभ्यता में बड़ी उन्नति कर गयी हैं। वे बदवियत से अनभिज्ञ हैं। यहाँ तक कि उनके यहाँ ऊँट तक जो अरबों को रेगिस्तान में खींच ले गया और जिसने उनको बदवी बना दिया, वहाँ नहीं होता। न अजम के यहाँ चरागाहें होती हैं और न ऊँटों के पलने एवं बढ़ने के लिए रेगिस्तान। इस प्रकार बदवियत की अन्य विशेषताओं एवं आवश्यकताओं को सभ्यता एवं संस्कृति में पलनेवाले लोग नहीं जानते।

इसी कारण अरब की बस्तियों में तथा उन स्थानों में जिन्हें इन लोगों ने विजय किया, कला-कौशल की चर्चा बहुत ही कम रही। उधर अजम के प्रदेश चीन, हिन्द, तुर्किस्तान, एवं फ़िरंगिस्तान[1] कला-कौशल में बड़ी उन्नति कर गये यहाँ तक कि अन्य क़ौमें वहाँ से कला-कौशल सीख-सीख कर जाती हैं और अपने देशों में उन्हें प्रचलित करती हैं।

मग़रिब की बरबर क़ौम की दशा भी अरब-जैसी है। शताब्दियों से बदवी एवं सरल स्वभाव के होने के कारण उनमें कला-कौशल का कोई नाम नहीं जानता। उनके देश में नगरों की संख्या बहुत कम है। वहाँ यदि कोई कला है भी तो वह ऊन और खाल की। वहाँ ऊन की बुनाई और चमड़े की रँगाई अच्छी होती है। उनके देश की कुल सम्पत्ति यही दोनों वस्तुएँ हैं जिनकी सबको आवश्यकता होती है और देश में इनकी अत्यधिक माँग भी है। पूर्व में फ़ारसवालों नब्त, क़िब्त, बनी इस्राईल, यूनान तथा रूम में प्राचीन क़ौमों के युग से लेकर आज तक नागर जीवन एवं संस्कृति की चर्चा है। इसी के साथ-साथ हर प्रकार की कला देश में प्रचलित है। स्थायी रूप से एक स्थान पर रहने के कारण उनके यहाँ कलाएँ इतनी पुष्ट हो गयी हैं कि देश नष्ट हो गया, किन्तु कलाएँ अब तक पूरी तरह नहीं मिट सकीं।

अब रहे यमन, बहरैन, उमान तथा जज़ीरा तो वे यद्यपि अरबों के ही अधीन हैं, किन्तु वहाँ आद, समूद, अमालक़ा, हमीरी, तबाबेआ तथा अज़्वा[2] सरीखी सभ्य क़ौमें सहस्रों वर्ष रहीं। देश उनके कारण सभ्यता एवं संस्कृति का केन्द्र बन गया और कला-कौशल को दृढ़ता प्राप्त हो गयी। इस कारण यद्यपि उनकी सल्तनें मिट गयीं, किन्तु कलाएँ वहाँ से नहीं मिटने पायीं और अब तक उनमें आविष्कार होते रहते हैं। वहाँ की कढ़ाई एवं रेशम की बुनाई तो अब तक प्रसिद्ध चली आ रही है।

"ईश्वर ही पृथ्वी का स्वामी है और जो कुछ पृथ्वी पर है सब उसका है।"

१. फ़्रैंक्स के देश।
२. दक्षिणी अरब के शासक।

(२२) जिसको एक कला में कुशलता प्राप्त हो जाती है वह बड़ी कठिनाई से दूसरी कला में कुशलता प्राप्त कर पाता है

इसका यह कारण है कि यदि किसी दर्जी को अपने व्यवसाय में ही दक्षता प्राप्त हो जाय और हृदय से वह उसमें मग्न रहने लगे तो फिर वह कुशल बढ़ई अथवा भवन-निर्माण करनेवाला नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि कुशलता मनोवैज्ञानिक गुण है। उसका एक रंग है जो काम करते-करते कारीगर पर चढ़ जाता है। अब जिस प्रकार दो गुणों की ओर एक ही समय में किसी मनुष्य का झुकाव नहीं हो सकता, जिस तरह दो रंग भी किसी वस्तु पर एक ही समय में नहीं चढ़ सकते, उसी प्रकार दो तरह के व्यवसायों में कुशलता एक ही समय में एक व्यक्ति को नहीं प्राप्त हो सकती। प्रत्येक व्यक्ति की मनोवृत्ति पृथक् होती है। कोई किसी व्यवसाय में कुशलता प्राप्त करता है और कोई किसी में। जब किसी को एक व्यवसाय में कुशलता प्राप्त हो जाती है तो दूसरे व्यवसाय में उतनी कुशलता नहीं प्राप्त हो पाती। हमारा अनुभव कि यद्यपि एक कुशल कारीगर दूसरी कारीगरी की ओर आकृष्ट भी होगा तो वह बड़ी कठिनाई से उसमें कुशलता प्राप्त कर सकेगा इस बात का प्रमाण है। यदि उसने कुशलता प्राप्त कर भी ली तो वह उस श्रेणी की कुशलता कदापि न होगी जैसी कि पहली कला में उसे प्राप्त थी। यही सिद्धान्त उन कार्यों का भी है जिनमें सोच-विचार से कार्य करना पड़ता है। यदि किसी विद्वान् ने एक विद्या में कुशलता प्राप्त कर ली तो उसे उतनी सफलता दूसरे ज्ञान में नहीं प्राप्त होगी। इसका यही कारण है कि जब मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार एक कला की गहरी छाप पड़ जाती है तो दूसरी कला की छाप नहीं पड़ पाती और यदि पड़ती भी है तो उसका अधिक प्रभाव नहीं होता। इसी को हम कुशलता कहते हैं।

(२३) मुख्य कलाएँ

जिस प्रकार संसार में मनुष्यों के कार्य असंख्य हैं उसी प्रकार कलाएँ भी अगणित हैं, किन्तु इनमें कुछ ऐसी आवश्यक हैं जिनके बिना मनुष्य का कार्य नहीं चल सकता और वे सम्मानित भी समझी जाती हैं, कुछ उनके विपरीत हैं। यहाँ हम केवल आवश्यक एवं श्रेष्ठ कलाओं का ही उल्लेख करेंगे, अन्यों का नहीं। कृषि, भवन-निर्माण कला, बढ़ईगीरी इत्यादि आवश्यक कलाएँ हैं। दाई का कार्य, किताबत[1] का कार्य, संगीत,

१. लिखने की कला।

तबीबों के कार्य सम्मानित गिने जाते हैं। इनमें से सभ्यता के युग में दाई के कार्य की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है, कारण कि इस पर बालकों का जीवन तथा उनका स्वास्थ्य निर्भर होता है। दाइयों को बालकों तथा उनकी माताओं की शुश्रूषा करने की शिक्षा प्रदान की जाती है। चिकित्सकों के व्यवसाय में मनुष्य के स्वास्थ्य तथा रोग के निराकरण के उपाय बताये जाते हैं। संक्षेप में इस विषय का क्षेत्र मनुष्य के शरीर से सम्बन्धित है। किताबत एवं वर्राक़ी[1] की कलाएँ कई दृष्टि से बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं। यह मनुष्य को भूल-चूक से बचाती हैं, उसके हार्दिक विचारों को अन्य मनुष्यों तक पहुँचाती हैं तथा मानवबुद्धि के बहुमूल्य आविष्कारों को विद्या के भंडार ग्रन्थों के रूप में सुरक्षित रखने का साधन बनती हैं। संगीत ध्वनि को कानों के लिए रोचक बनाता है, उससे ध्वनि-सौंदर्य की वृद्धि होती है और उसमें चार चाँद लगते हैं। इनमें से अन्तिम तीन कलाएँ बादशाहों के दरबारों तथा एकान्त गोष्ठियों के गौरव एवं सम्मान का साधन बनती हैं। बादशाहों की दृष्टि में इनका बड़ा महत्त्व होता है, अतः इनको अन्य कलाओं पर श्रेष्ठता प्राप्त होती है। उनके महत्त्व को देखते हुए अन्य कलाएँ उनसे निम्न श्रेणी की गिनी जाती हैं। सब कलाओं का मूल्य एवं महत्त्व समय की आवश्यकता के अनुसार घटता बढ़ता रहता है।

(२४) कृषि

(२५) भवन-निर्माण

(२६) बढ़ई का काम

(२७) बुनाई तथा सिलाई

(२८) दाई का कार्य

(२९) चिकित्सा-शास्त्र एवं बड़े-बड़े नगरों तथा आबाद बस्तियों में उसकी आवश्यकता और उजाड़ स्थानों में उसकी अनावश्यकता

१. इब्ने खलदून ने वर्राक़ी के अध्याय में लिखा है कि प्राचीन काल में वर्राक़ी के अन्तर्गत काग़ज़ बनाना, किताबत और जिल्दसाज़ी तीनों पेशे समझे जाते थे।

(३०) मानवीय कलाओं में लिखने की कला का महत्त्व

(३१) वर्राक़ी (पुस्तकों की तैयारी) का व्यवसाय

(३२) संगीत

(३३) प्रत्येक कला के अभ्यास से विशेषतया लिखने तथा गणित की कलाओं से मनुष्य की बुद्धि बढ़ती है।[1]

१. उपर्युक्त खंडों (२४–३३) के अनुवाद यहाँ नहीं दिये गये हैं।

अध्याय ६

ज्ञान की विभिन्न क़िस्में, शिक्षा-विधि, तत्सम्बन्धी शर्तें

(१) शिक्षा मानव सभ्यता की एक प्रकृत आवश्यकता ह

यह खुला हुआ तथ्य है कि मानवेन्द्रियों की तुष्टि के निमित्त खाने के लिए भोजन और निवास हेतु किसी-न-किसी प्रकार के स्थान की आवश्यकता होती है । इन आवश्यकताओं के विषय में मनुष्य तथा अन्य पशुओं में कोई भेद नहीं है । मनुष्य को पशुओं से पृथक् करनेवाली वस्तु है उसका विवेक एवं बुद्धि, जो उसके जीविकोपार्जन के मार्ग निकालती है, एक मनुष्य को दूसरे के साथ मिल-जुलकर बसना सिखाती है, पवित्र नबियों की शिक्षा से अवगत कराती है एवं परलोक के मार्ग दिखाती है। प्रतिक्षण अथवा प्रतिपल मनुष्य सोच-विचार किया करता है । उसकी यही चिन्तनशक्ति एवं विवेक ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओं के स्रोत हैं । जब वह अपने शरीर की स्वाभाविक आवश्यकताओं के कारण विवश होता है तो वह ऐसे लोगों की खोज में लग जाता है जो उससे अधिक बुद्धिमान् होते हैं अथवा उससे अधिक ज्ञानवान् और उससे श्रेष्ठ भी । वह उनसे ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करता है और फिर आगे चलकर स्वयं भी तथ्यों को एक-एक करके पहचानता और उनसे सम्बन्धित कारणों का भी ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार दीर्घ काल तक अभ्यास करते-करते उसे तथ्यों और उनके कारणों का पता चल जाता है और उनमें उसे विशेष कुशलता प्राप्त हो जाती है। भावी संतान जब उसको इस प्रकार कुशल देखती है तो उसके समक्ष झुक जाती है। शिक्षा का क्रम इसी से प्रारम्भ होता है। इस संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा कि शिक्षा-दीक्षा मनुष्य के लिए स्वाभाविक है।

(२) वैज्ञानिक शिक्षा भी एक प्रकार की कला है

जब तक किसी विद्वान् को किसी ज्ञान के प्रारम्भिक सिद्धान्तों एवं अन्य नियमों पर पूरा-पूरा अधिकार न प्राप्त हो जाय और उसको समस्त समस्याओं से परिचय प्राप्त करके मूल सिद्धांतों से निष्कर्ष निकालने का अभ्यास न हो जाय उस समय तक उसे उस विद्या में कुशल नहीं कहा जा सकता और वह पूर्ण रूप से उस ज्ञान की जानकारी नहीं प्राप्त कर सकता। यह कुशलता सिद्धान्तों तथा समस्याओं को रट लेने मात्र से या उन्हें समझ लेने मात्र से नहीं प्राप्त होती,कारण कि हम देखते हैं कि कई सिद्धान्तों को साधारण

मनुष्य भी समझ लेता है और विद्वान् भी, जाहिल भी और कुशल आलिम भी, पर प्रारम्भिक ज्ञानवाले व्यक्ति को अथवा जाहिल को उसके प्रयोग की कुशलता नहीं प्राप्त हो पाती। अतः यह सिद्ध हो गया कि कुशलता समस्याओं के मूल सिद्धांतों को समझ लेने या उन्हें रट लेने मात्र से नहीं प्राप्त होती। इसका कारण यह है कि हम देखते हैं कि कई सिद्धान्तों को साधारण मनुष्य भी समझ लेता है और विद्वान् भी, जाहिल भी और कुशल आलिम भी, पर प्रारम्भिक ज्ञानवाले व्यक्ति को अथवा जाहिल को उसके प्रयोग की कुशलता नहीं प्राप्त हो पाती। अतः यह सिद्ध हो गया कि कुशलता समस्याओं के मूल सिद्धांतों को समझ लेने तथा याद कर लेने से अधिक बड़ी चीज़ है और वह केवल कुशल आलिमों को ही प्राप्त होती है। यहाँ यह भी सिद्ध हो जाता है कि कुशलता चाहे शारीरिक कार्य संबंधी गुण हो अथवा बुद्धि एवं विवेक सम्बन्धी, शारीरिक ही होती है। परन्तु ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभव की जाने वाली वस्तु के लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि संसारवाले प्रत्येक ज्ञान तथा कला को उनके कुशल विद्वानों से सम्बन्धित करते हैं चाहे वे किसी क़ौम अथवा किसी राष्ट्र में हुए हों। फिर यह भी स्पष्ट है कि वैज्ञानिक शिक्षा एक कला है। वैज्ञानिक शिक्षा-शास्त्रियों का इस विषय में बड़ा ही अधिक मतभेद है। प्रत्येक प्रसिद्ध विद्वान् का पारिभाषिक शब्दकोष पृथक् होता है जो दूसरे विद्वान् से अलग रहता है। कला में ऐसा ही होता रहता है कि प्रत्येक कला दूसरे से पृथक् होती है। यदि हम पारिभाषिक शब्दकोष को विज्ञान मानें तो सबका पारिभाषिक शब्दकोष एक ही होना चाहिए। यदि विज्ञान एक ही है तो पारिभाषिक शब्दकोष का एक होना अनिवार्य है। उदाहरण-स्वरूप कलाम के ज्ञान को ले लीजिए। जहाँ तक उसके पारिभाषिक शब्दों का सम्बन्ध है, प्रारम्भिक काल तथा उसके बाद के विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है, यद्यपि सब आलिमों का ज्ञान एक ही है। यही दशा फ़िक़्ह, अरबी भाषा साहित्य एवं अन्य ज्ञानों की है। इस विवाद से यह निष्कर्ष निकला कि विज्ञान चाहे एक ही हो किन्तु शिक्षा के पारिभाषिक शब्द कला की भाँति भिन्न-भिन्न हैं।

जब से मग़रिब की सभ्यता में विघ्न पड़ा और सल्तनत का सम्मान घटा तो अन्य कलाओं के साथ-साथ वैज्ञानिक शिक्षा का भी वहाँ से अन्त होने लगा। एक वह युग था जब कि क़ैरवान, क़रतेबा तथा मग़रिब एवं उन्दुलुस की राजधानी सभ्यता का केन्द्र थी, विज्ञान तथा कला का बाज़ार वहाँ गरम था, वैज्ञानिक शिक्षा की हर ओर चर्चा रहती थी। नगर के जीवन तथा नगर की संस्कृति के भी वे केन्द्र थे। जब वहाँ वीरानी एवं विनाश का प्रारम्भ हुआ तो शिक्षा का भी मग़रिब से अन्त हो गया। केवल

मराकश में मुवह्हेदीन के आश्रय में शिक्षा की कुछ चर्चा है। शिक्षा को वहाँ इस कारण उन्नति न प्राप्त हुई कि मुवह्हेदीन पर बदवियत छायी रही और वे नगर की संस्कृति से अनभिज्ञ रहे। ऐसी अवस्था में वहाँ शिक्षा का कैसे ज़ोर होता। जब मुवह्हेदीन ने अपना रहा-सहा प्रभुत्व भी खो दिया तो उनके यहाँ से वैज्ञानिक शिक्षा की चर्चा भी समाप्त हो गयी। इसी युग में इफ़रीक़िया से क़ाज़ी अबुल क़ासिम[1] बिन ज़ैतून ७वीं शताब्दी[2] हि० के मध्य में विद्याध्ययन के लिए इफ़रीक़िया से पूर्व की ओर रवाना हुए और इमाम इबनुलखतीब[3] के शिष्यों से शिक्षा ग्रहण करने लगे और अक़ली[4] तथा नक़ली[5] ज्ञानों में अच्छी कुशलता प्राप्त कर ली। तदुपरान्त वे अपने वतन तूनुस (ट्यूनिस) में वापस आ गये। उसके उपरान्त अबू अब्दुल्लाह् इब्न शुयेब अद्दक्काली[6] मग़रिब से मिस्र विद्याध्ययन हेतु रवाना हुए और पूर्ण रूप से शिक्षा ग्रहण करके तूनुस लौट आये। फिर इन्हीं बुज़ुर्गों के शिष्य विभिन्न संतानों को शिक्षा प्रदान करते रहे, यहाँ तक कि क़ाज़ी मुहम्मद बिन अबदुस्सलाम,[7] इब्नुल हाजिब[8] के टीकाकार तथा शिष्य का युग आया। इब्नुल इमाम तथा उसके शिष्यों द्वारा उनकी विद्वत्ता का प्रभाव तूनुस से तलमसान पहुँचा। इब्नुल इमाम, क़ाज़ी मुहम्मद बिन अबदुस्सलाम के सहपाठी तथा गुरुभाई थे। दोनों ने एक ही गुरु तथा शेख से शिक्षा प्राप्त की थी। तूनुस में इब्ने अबदुस्सलाम के शिष्य तथा तलमसान में इब्नुल इमाम के कुछ शिष्य अब भी बचे खुचे रह गये हैं, किन्तु उनकी संख्या इतनी कम है कि इस बात का भय है कि कहीं दोनों विद्वानों का प्रभाव पूर्ण रूप से समाप्त न हो जाय।

१. अबुल क़ासिम बिन अबी बक्र (जन्म ६२१ हि० १२२४ ई०, मृत्यु ६९१ हि० १२९२ ई०) ने पूर्व के देशों की १२५१ ई० तथा १२५८ ई० में यात्रा की।
२. १३वीं शती ई०।
३. सम्भवतः इमाम फ़ख़रूद्दीन राज़ी से तात्पर्य है।
४. बुद्धि अथवा तर्क सम्बन्धी ज्ञान।
५. नक़ल (हज़रत मुहम्मद के परम्परागत कथन) पर आधारित ज्ञान।
६. मुहम्मद बिन शुऐब अल हस्कूरी (मृत्यु ६६४ हि०, १२२५ ई०)।
७. वह स्वयं इब्नुल हाजिब का शिष्य न था।
८. अबू अमर उस्मान बिन अल-हाजिब (मृत्यु ६४६ हि०, १२४९ ई०) अरबी व्याकरण का बड़ा प्रसिद्ध विद्वान् हुआ है। इब्ने खलदून ने भी उसके ग्रंथों का अध्ययन किया था।

७वीं शती हि० के अन्त में ज़वावह से अबू अली नासिरुद्दीन[1] अलमशद्दाली पूर्व की ओर पहुँचा और अबी अमर बिन अलहाजिब के शिष्यों से शिक्षा ग्रहण करने लगा। उसने तथा शिहाबुद्दीन अब क़राफ़ी[2] ने साथ-साथ शिक्षा पायी थी। संक्षेप में अक़ली तथा नक़ली ज्ञानों में परिपूर्ण कुशलता प्राप्त करके वह मग़रिब की ओर लौटा और बिजाया में ठहर गया। वहीं उसका शिक्षा-कार्य चलता रहा। फिर उसका एक शिष्य इमरान अल-मशद्दाली[3] तलमसान में पहुँचा और वहीं शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ कर दी। उसके शिष्य बिजाया तथा तलमसान में अब भी मिलते हैं, किन्तु उनकी भी संख्या बड़ी कम है।

जब से क़रतेबा तथा क़ैरवान में वैज्ञानिक शिक्षा की चर्चा समाप्त हुई और शिक्षा का उत्साह ठंडा पड़ा तो फ़ास एवं मग़रिब के समस्त नगर भी विद्वानों से शून्य हो गये। शिक्षा समाप्त हो गयी। अब वहाँ के निवासियों के लिए वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करने के द्वार लगभग बन्द हो गये हैं।

किसी विद्या में कुशलता प्राप्त करने का सरलतम साधन यह है कि विद्यार्थियों को वादविवाद का अभ्यास कराया जाय। तत्सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर शोधपूर्ण विचार-विनिमय हो। विभिन्न विषयों पर वार्त्ता की जाय और विद्यार्थी उनमें उत्साह-पूर्वक भाग लें। शिक्षा के इस नियम द्वारा कुशलता शीघ्र प्राप्त हो जाती है और देखते-देखते विद्यार्थी अपने विषय में दक्ष हो जाते हैं, किन्तु आज हमारे युग में शिक्षा का ढंग ही दूसरा हो गया है। शिष्य लोग वर्षों विद्वानों की गोष्ठियों में मौन बैठे रहते हैं, और वादविवाद नहीं करते। वे ज्ञान की विभिन्न समस्याओं को प्रायः रटते रहते हैं। इस कारण किसी भी विषय का ज्ञान प्राप्त करके भी वे दक्ष नहीं हो पाते और न उनमें शोध की योग्यता ही पैदा हो पाती है। वे केवल ऊपरी बातें रट लेते हैं। शिक्षा समाप्त कर लेने पर भी इन्हें किसी प्रकार की कोई कुशलता प्राप्त नहीं होती। न वे वादविवाद कर सकते हैं, न विचार-विनिमय और न उस विषय की शिक्षा ही दे सकते हैं। इसका एक-मात्र कारण यह है कि एक तो उनकी शिक्षा ठीक तरह से नहीं होती और दूसरे

१. मनसूर बिन अहमद (लगभग ६३२ हि०) १२२५ से (७३१ हि०) १३३०-३१ ई०।

२. अहमद बिन इदरीस (मृत्यु ६८४ हि०, १२८५ ई०)।

३. इमरान बिन मूसा (६७० हि० १२७१-७२ ई० से ७४५ हि० १३४४-४५ ई०) नासिरुद्दीन का शिष्य तथा जामाता।

उन्हें कुशल आचार्य भी नहीं मिल पाते। अन्यथा विभिन्न ज्ञान विषयक समस्याएँ कण्ठस्थ कर लेने में वैसे वे सबसे आगे होते हैं, कारण कि रटाई को ही वे अपनी शिक्षा का ध्येय समझते हैं और उसे ही तद्विषयक दक्ष ज्ञान की पराकाष्ठा भी।

इसका परिणाम यह है कि मग़रिब में विद्यार्थी के लिए शिक्षा प्राप्त करने की अवधि १६ वर्ष रखी गयी है और तूनुस में केवल ५ वर्ष जो साधारण विद्यालयों की प्रथा को देखते हुए किसी ज्ञान में कुशलता प्राप्त करने की न्यूनतम ही नहीं, अपितु सम्भवतः अपर्याप्त अवधि भी है। इसका कारण यह है कि मग़रिब की शिक्षा-विधि ठीक नहीं है। इसीलिए उसका अभ्यास-काल बढ़ गया है। सच पूछा जाय तो इतने समय में भी जैसी योग्यता होनी चाहिए वह पैदा नहीं हो पाती।

उन्दुलुस में दो सौ वर्ष से जब से मुसलमानों की सभ्यता का पतन प्रारम्भ हुआ, वैज्ञानिक शिक्षा का भी अन्त हो गया है। वहाँ वैज्ञानिक शिक्षा की ओर अब कोई ध्यान नहीं दिया जाता, केवल अरबी साहित्य की कुछ चर्चा शेष है। उनके ज्ञान की संपूर्ण पूँजी उतनी ही है जितनी से उन्हें उनके पिछले इतिहास का स्मरण दिलाया जाता है। फ़िक़्ह इससे भी कम प्रचलित है और अक़्ली ज्ञानों का तो कोई नाम ही नहीं लेता। इसका कारण केवल यही है कि मुसलमानों के पतन तथा शत्रुओं के प्रभुत्व के कारण वैज्ञानिक शिक्षा में कुशल वंश समाप्त हो गये और उनके उत्तराधिकारियों के चिह्न मिट गये। समुद्र तट पर मुसलमानों की सभ्यता किसी अंश में पायी जाती है, लेकिन वह भी नाम मात्र की ही है। वे लोग प्रायः अपनी आर्थिक समस्याओं में ही उलझे रहते हैं और अन्य बातों की ओर कोई ध्यान ही नहीं दे पाते।

"अपना आदेश पूरा करने की शक्ति ईश्वर में ही है।"[1]

पूर्व में वैज्ञानिक ढंग की शिक्षा अब भी प्रचलित है। वहाँ प्रत्येक दिशा में शिक्षा की चर्चा है। कारण यह है कि नगरों में सभ्यता का संचार है। विद्वानों के वंश पहले-जैसे ही चले आ रहे हैं और विज्ञान की परम्पराएँ भी वैसी ही। यद्यपि वहाँ के बड़े-बड़े नगर, जैसे बग़दाद, बसरा एवं कूफ़ा जो किसी समय ज्ञान-विज्ञान के बहुत बड़े केन्द्र थे नष्ट-भ्रष्ट हो चुके हैं, किन्तु उनका स्थान अन्य नगरों ने ले लिया है। इस प्रकार विज्ञान पूर्व में अजम के ख़ुरासान से लेकर मावराउन्नहर तक और पश्चिम में क़ाहेरा तथा आस-पास तक फैला हुआ है। इनकी सभ्यता भी उन्नति पर है और शिक्षा-कार्य भी। संक्षेप में पूर्ववाले ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अत्यधिक अनुभव के स्वामी भी हैं और उन्होंने इस दिशा में

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

अत्यधिक अभ्यास भी प्राप्त कर लिया है। अन्य कलाओं में भी उन्हें अत्यधिक कुशलता प्राप्त है, यहाँ तक कि मग़रिबवाले जब विद्याध्ययन के लिए वहाँ जाते हैं तो उनकी धारणा यह होती है कि पूर्ववाले उनसे अधिक बुद्धिमान् एवं प्रतिभाशाली होते हैं। उनका विचार यह होता है कि पूर्ववालों की बुद्धि एवं विवेक स्वाभाविक रूप से अधिक कुशाग्र होते हैं। वे पूर्ववालों को अपने से इतना ऊँचा समझते हैं मानो वे किसी विचित्र प्रकार की मानव-जाति से सम्बन्धित हों। इसका केवल यही कारण है कि मग़रिब-वाले ज्ञान-विज्ञान तथा कला-कौशल में पूर्ववालों की कुशलता देखकर अत्यधिक प्रभावित हो जाते हैं और फिर उनके विषय में इतनी उच्च धारणाएँ बनाने पर विवश हो जाते हैं, यद्यपि इसमें कोई तथ्य नहीं। पूर्व एवं पश्चिम के देशों में प्राकृतिक रूप से इतना अन्तर नहीं कि उनको दो पृथक् वस्तु समझ लिया जाय। भौगोलिक दृष्टि से निःसन्देह प्रथम तथा सातवीं इक़लीमों में बड़ा अधिक अन्तर है, फलतः वहाँ के निवासियों के स्वभाव एवं प्रकृति में बहुत बड़ा फ़र्क़ दृष्टिगत होता है और इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पर जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि पूर्व तथा पश्चिमवालों में इतना अधिक अन्तर क्यों होता है, तो उसका कारण वही है जिसका उल्लेख हमने कलाओं के प्रकरण में किया है अर्थात् जिस स्थान पर संस्कृति को जितनी उन्नति प्राप्त रहती है, वहाँ के निवासियों की बुद्धि भी उसी हिसाब से अधिक तीव्र होती है। अब हम इस तथ्य का और अधिक विश्लेषण करते हैं।

जिन लोगों को सभ्यता में उन्नति प्राप्त हो जाती है वे अपने समस्त मामलों में चाहे वे आर्थिक हों, चाहे निवास-स्थान से सम्बन्धित, इस लोक से सम्बन्धित हों चाहे परलोक से, कुछ ऐसे विशिष्ट अनुशासन एवं नियमों का पालन करते हैं जिनकी वे लेश-मात्र भी अवहेलना नहीं करते। जिस अनुशासन अथवा जिस नियम का उन्हें पालन करना होता है उसका वे पालन करते हैं। जो बातें पालन योग्य नहीं होतीं उनकी वे उपेक्षा करते जाते तथा उन्हें त्यागते जाते हैं। इस प्रकार वे कुछ विशिष्ट सीमाओं के भीतर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी ये सब बातें एक कला का रूप धारण कर लेती हैं जिसको उनके बाद के आनेवाले उनसे सीखते रहते हैं।

साथ ही साथ इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि प्रत्येक कला का अभ्यास बुद्धि को तेज़ करता और एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक शक्ति उत्पन्न करता है और उसमें दूसरी कला को सीखने की भी योग्यता उत्पन्न हो जाती है, कारण अभ्यास से विवेक की शक्ति बढ़ जाती है। फलतः प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान सुगमतापूर्वक सीखा जा सकता है। इस प्रकार मिस्रवालों ने शिक्षा सम्बन्धी विज्ञान को उन्नति के शिखर

पर पहुँचा दिया और ऐसी-ऐसी बातें कर डालीं, जिन्हें देखकर अक़्ल दंग रह जाती है। उदाहरणार्थ, जंगली गधों एवं पशुओं को ऐसे ऐसे शब्द रटा देते हैं और ऐसे कार्य एवं करतब सिखा देते हैं जिन्हें देखकर मनुष्य आश्चर्य में रह जाता है और मग़रिब-वाले तो इन बातों को समझ ही नहीं पाते। इसका कारण यही है कि शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान में अभ्यास पैदा कर लेने तथा उन्हें अपनी आदत में सम्मिलित कर लेने से बुद्धि में तेज़ी एवं चिंतन-शक्ति में जाग्रति पैदा हो जाती और प्रबुद्ध प्रतिभा के कारण विद्वत्ता के ऐसे चमत्कार दृष्टिगत होने लगते हैं कि सर्वसाधारण ऐसे विद्वानों को अपने से पृथक् समझने लगते हैं, यद्यपि बात ऐसी नहीं होती।

यदि आप नगरवासियों तथा बदवियों की तुलना करें तो यह भली-भाँति ज्ञात हो जायगा कि नगरवासी अपनी बुद्धि एवं सूझ-बूझ के कारण हर बात की तह को पहुँच जाता है और वास्तविक तथ्य का पता लगा लेता है। बदवी जब उसे देखता है तो समझता है कि इसमें कोई और ही रहस्य है हालाँकि बात केवल इतनी ही होती है कि नगरवासियों को ज्ञान-विज्ञान का अभ्यास होता है और नगर की सभ्यता तथा नागर जीवन से वे भली-भाँति परिचित होते हैं और बदवी इन बातों से अनभिज्ञ होता है। इस विचार में भी कोई तथ्य नहीं कि नगरवासियों में असाधारण बुद्धि पायी जाती है और बदवियों में वह बुद्धि नहीं पायी जाती। हमने बहुत से बदवियों को देखा है जो असाधारण बुद्धि एवं विवेक के स्वामी होते हैं, केवल अन्तर इतना होता है कि नगर-वासियों की बुद्धि एवं विवेक पर ज्ञान-विज्ञान की छाप पड़ी रहती और उसकी आत्मा हर प्रकार से पूर्ण हो जाती है। एक साधारण बदवी इन बातों से अनभिज्ञ होता है, अतः उसकी बुद्धि एवं समझ अपनी ज्ञान-सीमा तक ही परिमित रहती है, आगे क़दम नहीं बढ़ा पाती। इसी तथ्य को मग़रिबवाले तथा पूर्ववाले लोगों को सामने रखकर जाँचिए तो पता चलेगा कि सभ्यता के पथ पर अग्रसर पूर्ववाले क्योंकि शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में सबके आगे थे और मग़रिबवाले नगर की संस्कृति से अनभिज्ञ और बदवियत के निकटतम थे। अतः नासमझ मग़रिबवासी, पूर्ववालों को अपने से वास्तव में पृथक् समझते थे और उनका विचार था कि वे अन्य प्रकार के मनुष्य हैं और हम अन्य प्रकार के। उनकी यह बात तथ्य से अनभिज्ञ होने का प्रमाण है।

"ईश्वर अपने किसी प्राणी को इच्छानुसार अन्य प्राणियों से अधिक दे डालता है।"[1]

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।

(३) सभ्यता की जितनी ही उन्नति होती है और नगर की संस्कृति का जितना ज़ोर होता है, ज्ञान-विज्ञान की चर्चा ही अधिक होती है

पहले बताया जा चुका है कि वैज्ञानिक ढंग से शिक्षा प्राप्त करना भी अन्य कलाओं के समान एक कला है और यह भी कि नगरों की सभ्यता जितनी घटती-बढ़ती है और उनमें नगर की सभ्यता एवं संस्कृति की चर्चा जितनी कम अथवा अधिक होती है उसी हिसाब से कलाओं का चलन भी कम अथवा अधिक होता है और उनकी अच्छाई एवं श्रेष्ठता में अन्तर आता रहता है। इसका कारण यह है कि ये कलाएँ जीविकोपार्जन की आवश्यकताएँ पूरी हो जाने के बाद की चीज़ें हैं। जब जीविकोपार्जन की चिन्ता से मनुष्य मुक्त हो जाता है तो उसे ज्ञान-विज्ञान एवं कलाओं की चिन्ता होती है। यदि कोई किसी ग्राम अथवा असभ्य नगर में पैदा हो और उसे शिक्षा प्राप्त करने में रुचि हो तो उसे विवश होकर सभ्य नगर की ओर जाना पड़ेगा, कारण कि वहीं उसकी प्यास बुझ सकती है और उसकी इच्छा पूरी हो सकती है। छोटे-छोटे स्थानों पर वैज्ञानिक ढंग से शिक्षा की ऐसी संस्थाएँ नहीं होतीं जहाँ वह अपनी इच्छा की पूर्ति कर सके।

बग़दाद, क़रतेबा, क़ैरवान (कारडोवा), बसरा तथा कूफ़ा के इतिहास का अध्ययन कीजिए कि इस्लाम के प्रारम्भ में जब वहाँ नगर संस्कृति एवं नागर जीवन को उन्नति प्राप्त हुई और ज्ञान-विज्ञान का सागर लहरा उठा, नाना प्रकार के विज्ञानों एवं कलाओं का आविष्कार हुआ, नये-नये वैज्ञानिक शोध होने लगे तो वास्तव में उन्होंने पूर्वकालीन लोगों को भुला दिया और उनसे कहीं आगे निकल गये। जब इतिहास ने करवट बदली और युग परिवर्तन हुआ तथा इन उपर्युक्त नगरों की सभ्यता का पतन हुआ तो वहाँ के निवासियों की बड़ी दुर्दशा हो गयी और वे छिन्न-भिन्न हो गये। वैज्ञानिक शिक्षा का भी अन्त हो गया और वह अन्य इस्लामी नगरों में अपनी चमक-दमक दिखाने लगी।

हमारे इस युग में मिस्र का क़ाहेरा नगर विज्ञान एवं वैज्ञानिक शिक्षा में अद्वितीय है, कारण कि वह आज से नहीं, अपितु सहस्रों वर्षों से उच्च सभ्यता का केन्द्र रहा है और नागर संस्कृति में भी वह सर्वोच्च रहा है। अतः कलाओं की जड़ें वहाँ दृढ़ हो गयी हैं और उनके साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान का भी बड़ा ज़ोर है। यह ज़ोर विशेष रूप से पिछले २०० वर्षों में जब से कि तुर्कों का राज्य वहाँ प्रारम्भ हुआ अर्थात् सलाहुद्दीन बिन अय्यूब के समय से और भी बढ़ गया है। यह एक विशेष ऐतिहासिक तथ्य है कि

तुर्की अमीर अपनी सन्तान के लिए बड़े चिन्तित रहा करते थे, कारण कि उनके बादशाहों की यह प्रथा थी कि वे अपने अमीरों के मरते ही उनकी धन-सम्पत्ति छीन लेते थे, क्योंकि अमीर लोग उनके दास तथा सेवक ही तो होते थे। वे अपने अमीरों के धन को अपनी सम्पत्ति समझते थे। फलतः अमीरों की सन्तान उनकी मृत्यु के उपरान्त दरिद्र हो जाती थी। इस भय से बचने के लिए अमीरों ने यह उपाय निकाला कि अत्यधिक धन लगाकर मदरसे खोलें तथा सरायें बनवा दें। सन्तान के नाम पर वे अत्यधिक आय के वक़्फ़ पृथक् कर देते थे जिनकी आय से वे सर्वदा चलते रहते थे और इन वक़्फ़ों का मुतवल्ली अथवा प्रबंधक वे अपनी सन्तान को कर देते थे। इस कार्य के दो लाभ थे, एक तो यह कि वे बहुत बड़े पुण्य के कार्य थे और उससे लोगों को निरन्तर लाभ पहुँचता रहता था तथा उस दान से बढ़कर कोई अन्य दान भी नहीं होता था। दूसरा लाभ यह था कि उन वक़्फ़ों की आड़ में उनकी सन्तान का जीवन-निर्वाह होता रहता था और वे भूखे नहीं मर पाते थे। उधर सुल्तानों के अपहरण के द्वार भी बन्द हो जाते थे। इस प्रकार वक़्फ़ों की संख्या बहुत बढ़ गयी थी। विद्यार्थी एवं शिक्षक बहुत बड़ी संख्या में मिलने लगे। विद्यार्थियों एवं शिक्षकों को बहुसंख्यक वृत्तियाँ भी निश्चित होने लगीं। जब यह दशा हो गयी तो फिर इराक़ एवं मग़रिब से विद्यार्थियों की बहुत बड़ी संख्या वहाँ पहुँच गयी। ज्ञान-विज्ञान की माँग बढ़ गयी और उन्हें उन्नति प्राप्त होने लगी।

"ईश्वर जो चाहता है वह पैदा करता है।"[१]

(४) समकालीन सभ्यता के विभिन्न विज्ञान

वे सभी ज्ञान-विज्ञान जो मानव-समाज के अध्ययन और अभ्यास के विषय हैं, दो प्रकार के होते हैं। एक प्राकृतिक जिनकी ओर उसका चिन्तन स्वतः आकृष्ट होता है, और दूसरे नक़ली[२] जिन्हें वह उनके आविष्कर्ताओं से सुनकर जानता है।

प्रथम प्रकार के ज्ञान में दर्शन-सम्बन्धी विषय हैं। उनको सीखने के लिए मनुष्य स्वयं अपनी चिन्तन-शक्ति का प्रयोग करता है। वह स्वयं अपनी बौद्धिक शक्ति से उनके विषयों, समस्याओं, तर्क एवं शिक्षाविधि का ज्ञान प्राप्त करता है। संक्षेप में वह स्वयं अपनी बौद्धिक शक्ति से काम लेकर इन ज्ञानों में कुशलता प्राप्त करता है। उनसे सम्बन्धित प्रत्येक उचित एवं अनुचित बात के विषय में शोध करता है। नक़ली

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
२. नक़ल (हज़रत मुहम्मद के परम्परागत-कथन) पर आधारित ज्ञान।

ज्ञान का आधार शरा के नियमों एवं शरा के स्रोत की बतायी हुई रवायतों पर है। मनुष्य की बुद्धि का उसमें इसके अतिरिक्त कोई हाथ नहीं कि मूल सिद्धान्तों के आधार पर साधारण प्रकार के निष्कर्ष निकाले जायँ और उनका मूल सिद्धांत से समाधान कराया जाय। जो बातें नित्यप्रति विस्तार से पेश आती रहती हैं उनका उल्लेख मूल सिद्धान्त के रूप में अलग से नहीं हो सकता। उनका किसी-न-किसी प्रकार तुलनात्मक तर्क द्वारा समाधान करना पड़ता है, किन्तु इस तुलनात्मक तर्क का आधार भी नक़ल[1] ही है, कारण कि वे मूल सिद्धान्त जिनमें परिवर्तन सम्भव नहीं नक़ल पर ही आधारित हैं। इस प्रकार तुलनात्मक तर्क भी वास्तव में नक़ल ही पर आधारित हुआ।

नक़ली ज्ञान का स्रोत अल्लाह की किताब[2] तथा हज़रत मुहम्मद की सुन्नतें हैं जिन पर इस्लामी शरा आधारित है। इस्लाम (धर्म) इन्हीं पर अवलम्बित है। जिस विद्या द्वारा हमें अल्लाह की किताब तथा मुहम्मद साहब की सुन्नत के समझने में सहायता मिले, वह नक़ली ज्ञान में सम्मिलित समझी जाती है, यहाँ तक कि अरबी साहित्य जो अरबवालों तथा क़ुरान शरीफ़ की भाषा है, इसी नक़ली ज्ञान में गिनी जाती है। जब नक़ली ज्ञान का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया तो अन्य सभी प्रकार की विद्याएँ भी इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं, कारण कि प्रत्येक मुसलमान का जिसके लिए शरा का पालन अनिवार्य है, कर्त्तव्य है कि वह उन दैवी आदेशों का ज्ञान प्राप्त करे जो अल्लाह की किताब एवं हज़रत मुहम्मद की सुन्नत पर आधारित हैं।

इस प्रकार यह परमावश्यक है कि अल्लाह की किताब के शब्दों तथा उसके अर्थ को भली-भाँति समझा जाय और उनकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जाय। ऐसी विद्या जिससे उपर्युक्त बोध होता है तफ़सीर[3] कहलाती है। फिर यह भी आवश्यक है कि अल्लाह की किताब के शुद्ध उच्चारण के विषय में हज़रत मुहम्मद के जो कथन बताये जाते हैं उनका ज्ञान प्रमाण सहित प्राप्त हो। जिस विद्या द्वारा यह ज्ञान प्राप्त होता है उसे क़िरअत कहा जाता है। यह भी आवश्यक है कि हज़रत मुहम्मद की हदीस के प्रमाणों का पता लगाया जाय और अन्तिम काल के हदीस का उल्लेख करने-वाले लेखकों के विषय में भी छान-बीन की जाय और यह भली-भाँति देख लिया जाय कि वे सच्चे हैं अथवा झूठे, ताकि उन कथनों एवं सूत्रों द्वारा जो शरा सम्बन्धी आदेश प्राप्त

१. हज़रत मुहम्मद के परम्परागत कथन।
२. क़ुरान शरीफ़।
३. क़ुरान शरीफ़ की टीका।

हो, उसकी प्रामाणिकता पर पूर्ण विश्वास हो जाय। जिस ज्ञान में इस प्रकार का शोध होता है उसे हदीस कहते हैं। फिर यह भी आवश्यक है कि दैवी आदेशों से विशेष नियम एवं मूल सिद्धान्त निकाले जायँ ताकि उनकी सहायता से नाना प्रकार की दैनिक प्रयोग में आनेवाली बातों एवं घटनाओं का वैधानिक रूप से ज्ञान प्राप्त हो सके। जिस ज्ञान में इस प्रकार का तर्क-वितर्क एवं शोध होता है उसे फ़िक़ह के सिद्धान्त कहते हैं। अन्त में यह बात भी आवश्यक है कि उपर्युक्त ज्ञानों द्वारा जो शरा के आदेश मुसलमानों के लिए प्राप्त हों वे एक स्थान पर ज्ञान-विज्ञान के रूप में संकलित हों। अतः जिस ज्ञान के अधीन ये आदेश आ जाते हैं, वे फ़िक़ह कहलाते हैं।

जहाँ तक (मुसलमानों के) कर्त्तव्यों का संबंध है, वे दो प्रकार के हैं—शरीर सम्बन्धी तथा हृदय सम्बन्धी। इनका सम्बन्ध मुसलमानों के धार्मिक विश्वास से है, अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व एवं गुणों से सम्बन्धित, क़यामत के विषय में अथवा स्वर्ग के सुख एवं नरक के दंड तथा ईश्वर की शक्ति के बारे में। जिस ज्ञान में उपर्युक्त विश्वासों पर तर्क-वितर्क किया जाता है उसको कलाम कहते हैं।

साथ ही साथ क़ुरान शरीफ़ एवं हदीस को समझने के लिए भाषा सम्बन्धी ज्ञानों की भी उपेक्षा सम्भव नहीं। भाषा सम्बन्धी ज्ञान कई प्रकार के हैं। उदाहरणार्थ, शब्दकोष सम्बन्धी ज्ञान, व्याकरण, वाक्य-रचना, साहित्य इत्यादि। इन सब ज्ञानों के विषय में आगे चलकर विस्तार से उल्लेख किया जायगा।

उपर्युक्त नक़ली ज्ञान केवल मुसलमानों के लिए आवश्यक हैं, यद्यपि अन्य धर्मों में भी इसी प्रकार की चीज़ें पायी जाती हैं। इस्लाम के नक़ली ज्ञान इस दृष्टि से अन्य धर्मवालों के ज्ञानों के कुछ-न-कुछ अनुरूप हैं कि शरीअतवाले पैग़म्बरों[1] को ही उनके प्रचार का दैवी आदेश हुआ था, किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि पिछले आदेश (ईश्वर द्वारा) रद्द कर दिये गये हैं और केवल इस्लामी विधान के पालन का (ईश्वर की ओर से) आदेश हुआ है। मुसलमानों के लिए उनके विषय में विचार करने का (ईश्वर की ओर से) निषेध हुआ है। हज़रत मुहम्मद ने क़ुरान शरीफ़ के अध्ययन के अतिरिक्त अन्य दैवी ग्रंथों के अध्ययन से रोका है और इस बात का निषेध किया है। हज़रत मुहम्मद का कथन है कि "अहले किताब को न सच्चा समझो और न झूठा ही" अपितु यह कहो कि "हम ईमान लाये उस चीज़ पर भी जो हम पर उतरी और उस पर

१. ईसाइयों, तथा यहूदियों के पैग़म्बरों को, इन पैग़म्बरों के अनुयायी "अहले किताब" कहते हैं।

भी जो तुम पर उतरी और हमारा-तुम्हारा ख़ुदा एक है।[1]" एक बार हज़रत मुहम्मद ने हज़रत उमर के हाथ में तौरीत[2] के कुछ अंश देख लिये। वे इतने क्रोधित हुए कि उनके मुँह पर क्रोध के चिह्न झलकने लगे। उन्होंने कहा, "क्या मैं तुम्हारे लिए स्पष्ट, तथा खुला हुआ क़ुरान अथवा दीन[3] नहीं लाया हूँ। ईश्वर की शपथ है, यदि मूसा भी आज मेरे युग में जीवित होते तो उनके लिए भी मेरे अनुसरण के सिवा कोई अन्य उपाय न होता।"

उपर्युक्त शरा सम्बन्धी नक़ली ज्ञान आज मुसलमानों में इतने प्रकार के प्रचलित हो गये हैं कि उनका उल्लेख सम्भव नहीं। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के पारिभाषिक शब्द निश्चित हैं और प्रत्येक शब्द का संकलन वैज्ञानिक रूप में हुआ है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रत्येक विद्या की भली-भाँति शिक्षा-दीक्षा हो रही है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का कोई-न-कोई ऐसा कुशल विद्वान् मौजूद है जिसके पास समस्त संसार भाग-भागकर पहुँचता रहता है। एक समय में, पूर्व तथा पश्चिम दोनों में समस्त ज्ञान-विज्ञान प्रचलित थे, किन्तु आजकल मग़रिब की सभ्यता का पतन हो चुका है, अतः ज्ञान-विज्ञान की वहाँ उतनी चर्चा नहीं है। पूर्व के विषय में नहीं कहा जा सकता कि वहाँ की क्या दशा है, किन्तु वहाँ की सभ्यता अभी तक उसी रूप में है और नागर जीवन एवं संस्कृति का वहाँ बड़ा ज़ोर है। अतः विश्वास तो यही है कि वहाँ भी नक़ली ज्ञान भली-भाँति प्रचलित होंगे। वहाँ वक़्फ़ों की संख्या भी अधिक है और उनसे विद्यार्थियों को अधिक-से-अधिक वृत्तियाँ भी मिलती रहती हैं।

(५) क़ुरान की टीका तथा उसका शुद्ध रूप से पाठ
(६) हदीस
(७) फ़िक़ह, उसकी शाखाएँ
(८) तरके के क़ानून
(९) फ़िक़ह के सिद्धांत तथा तत्सम्बन्धी वाद-विवाद
(१०) कलाम[4]
(११) क़ुरान तथा सुन्नत में अस्पष्ट वर्णन तथा उनके कारण मुसलमानों में विभिन्न मतों का पैदा होना

१. क़ुरान शरीफ़ से उद्धृत।
२. वह दैवी पुस्तक जो मूसा पैग़म्बर (मोज़ेज़) पर उतरी।
३. इस्लाम धर्म।
४. देखिए पूर्व पृष्ठ ४६१।

(१२) तसव्वुफ़
(१३) स्वप्नफल प्रकाशन विद्या
(१४) अक़्ली ज्ञान तथा उसकी क़िस्में
(१५) संख्या का ज्ञान, गणित अंकगणित तथा तरका
(१६) रेखागणित, भूमापन
(१७) ज्योतिष-विद्या
(१८) तर्क-शास्त्र
(१९) भौतिक-शास्त्र
(२०) चिकित्सा-शास्त्र
(२१) कृषि-शास्त्र
(२२) आत्मविद्या
(२३) जादू-टोने
(२४) अक्षरों के रहस्य का ज्ञान
(२५) कीमिया
(२६) दर्शन-शास्त्र एवं उसके दोष तथा उसका खंडन
(२७) फलित ज्योतिष से हानियाँ, उसके दोष एवं उसका खंडन
(२८) कीमिया का अस्तित्व असम्भव है तथा उसके द्वारा जो हानियाँ होती हैं
(२९) रचनाओं का मूल उद्देश्य जो हमेशा सामने रखना चाहिए[1]
(३०) ग्रंथों की अधिकता ज्ञानोपार्जन में बाधक होती है

ग्रंथों की अधिकता, शिक्षा विषयक पारिभाषिक शब्दों की विभिन्नता, उनके नियमों तथा सिद्धान्तों का बाहुल्य ज्ञानोपार्जन में अत्यन्त बाधक होता है, कारण कि विद्यार्थी एवं शिक्षक को विवश किया जाता है कि वह समस्त रचनाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करे, अन्यथा उसका ज्ञान अधूरा समझा जायगा और उसे विश्वस्त विद्वान् न समझा जा सकेगा। अतः वह सब विद्याओं को रटता है, उनके विभिन्न पारिभाषिक शब्दों को याद करता है और अपना पूरा जीवन इसी कार्य म लगा देता है,किन्तु फिर भी

१. उपर्युक्त खंडों (५–२९) का अनुवाद नहीं किया गया।

उसका ज्ञान पूरा नहीं हो पाता और वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। उदाहरण हेतु फ़िक़ह के ज्ञान को ले लीजिए और इसमें भी मालिकी फ़िक़ह की शाखा को। उसके "मुदव्वनह" नामक ग्रंथ पर टीकाओं के ऊपर टीकाएँ तथा टिप्पणियाँ लिखी गयी हैं उदाहरणार्थ इब्ने यूनुस, अल्-लख़मी, तथा इब्ने बशीर के ग्रंथ एवं उनकी टिप्पणियाँ, कुंजियाँ तथा प्रस्तावनाएँ। इसके अतिरिक्त "उत्बीयह" और उसी विषय पर लिखे गये "अलब्यान वत्तहसील" नामक ग्रंथ को ले लीजिए या इब्नुल हाजिब के ग्रंथ तथा उसके विषय में जो ग्रंथ लिखे गये, उन्हीं को ले लीजिए। केवल यही नहीं अपितु इन सबको रटने के उपरान्त विद्यार्थी से यह आशा रखी जाती है कि वह क़ैरवान, क़र-तेबा, बग़दाद एवं मिस्र के विभिन्न सिद्धान्तों में भेद कर सके और उनको भली-भाँति समझ सके। जब उसे इन सब पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है तब कहीं जाकर उसे फ़तवे लिखने की अनुमति दी जाती है, हालाँ कि वास्तव में उपर्युक्त सब ग्रंथ एक ही विषय पर हैं और उनमें केवल रचना-शैली का अन्तर है।

विद्यार्थी इन्हीं को रटने में अपना जीवन समाप्त कर देता है। इसके बजाय यदि शिक्षक विद्यार्थियों को धर्म के सिद्धान्त समझा देते तो कहीं अच्छा होता। शिक्षा-कार्य भी सरल हो जाता और ज्ञान भी शीघ्र प्राप्त हो जाता। किन्तु अब किया क्या जाय क्योंकि यह दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति हमारे यहाँ प्रचलित हो चुकी है और उसने एक पक्की आदत का रूप धारण कर लिया है जिसमें कोई परिवर्तन करना असम्भव है।

इसी प्रकार अरबी भाषा-विज्ञान का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें "सीबावै" नामक ग्रंथ है। इस पर अगणित पुस्तकें लिखी गयी हैं। विद्यार्थियों का यह कर्त्तव्य है कि वे उन्हें रटें भी और बसरे, कूफ़े, बग़दाद तथा उन्दुलुसवालों के सिद्धान्तों को समझें और भूत काल एवं आधुनिक काल के विद्वानों के मतों उदाहरणार्थ इब्नुल हाजिब तथा इब्ने मालिक के ग्रंथों को और उन ग्रंथों से सम्बन्धित जो साहित्य है, उसे पढ़ें। इसी में विद्यार्थी का जीवन समाप्त हो जाता है, अतः कोई व्यक्ति बड़ी कठि-नाई से ही इन पर अधिकार पा सकता है। इस समय एक ही उदाहरण हमारे सामने है और वह मिस्र के भाषा-विज्ञान के विद्वान् इब्ने हिशाम का है। मग़रिब में हमें उसकी रचनाएँ प्राप्त हो गयी हैं। उसने भाषा-विज्ञान में इतनी कुशलता प्राप्त कर ली है जो सीबावै तथा इब्ने जिन्नी सरीखे विद्वानों से भी श्रेष्ठ है। उसे इस विद्या के सिद्धान्तों पर पूर्ण अधिकार तथा योग्यता प्राप्त है। उसने यह बात सिद्ध कर दी है कि विद्वता केवल प्राचीनकाल के लोगों तक सीमित नहीं, किन्तु ऐसे लोग बिरले ही मिलेंगे। साधारणतः तो यही बात है कि यदि कोई अपना पूरा जीवन-काल अरबी भाषा-विज्ञान

के सीखने में लगा दे तब भी बड़ी कठिनाई से उसे इस पर अधिकार प्राप्त हो सकेगा। लोग ज्ञानोपार्जन के साधनों को ही सीखने में अपना जीवन समाप्त कर देते हैं और उन विद्याओं के मूल उद्देश्यों को तो वे प्राप्त ही नहीं कर पाते।

(३१) शिक्षा के लिए विभिन्न विद्याओं के सारग्रन्थ या कुंजियाँ भी हानिकारक होती हैं

बहुत-से आधुनिक विद्वान् ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने लगे हैं। प्रत्येक विद्या की विस्तृत समस्याओं, कठिन एवं गूढ़ विवरणों को वे सूची के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं, जो देखने में तो कुछ नहीं, किन्तु समझने पर बहुत कुछ हैं। इस प्रकार उन्होंने कम शब्दों में अधिक अर्थ का भंडार प्रस्तुत कर दिया है और विद्यार्थियों के लिए अत्यधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी हैं। मोटे-मोटे ग्रंथों, क़ुरान की टीका एवं अन्य विद्याओं के ग्रंथों के ख़ुलासे इसलिए तैयार कर डाले हैं जिससे प्रत्येक व्यक्ति सुगमतापूर्वक उन्हें याद कर सके।

इब्न अल-हाजिब ने फ़िक़ह में, इब्ने मालिक ने अरबी भाषा-विज्ञान में और अल ख़ूनजी ने तर्कशास्त्र में इसी सिद्धान्त का पालन किया है। रचना के इस ढंग से शिक्षा को बड़ी हानि हुई और ज्ञानोपार्जन में बड़ा विघ्न पड़ा। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की रचनाओं में नये विद्यार्थी के मस्तिष्क पर विद्या की उन अन्तिम समस्याओं के समझने का बोझ लादा जाता है, जिनके समझने के योग्य वह नहीं होते। शिक्षा का यह बड़ा ही दोष-पूर्ण ढंग है। इस विधि के कारण विद्यार्थी मूल समस्याओं के समझने की उपेक्षा करके कठिन शब्दों को समझने में लीन हो जाता है। उनके बड़ी कठिनाई से समझ में आनेवाले शब्दों के अर्थ का पता चलाकर उनके द्वारा समस्याओं का समाधान करता है, कारण कि यह माना हुआ सिद्धान्त है कि आप यदि किसी बात को अत्यधिक संक्षिप्त रूप से कहेंगे तो आपके शब्द बहुत ही कठिन हो जायँगे और समझ में न आयेंगे। इस विधि से विद्यार्थी का बहुत-सा समय शब्दों के अर्थ समझने में निकल जाता है।

फिर यदि इस ओर से भी उपेक्षा कर ली जाय और यह स्वीकार कर लिया जाय कि किस प्रकार इन ख़ुलासों पर पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया जाय तो भी वह कुशलता नहीं प्राप्त होती, जो विस्तृत एवं बड़े-बड़े ग्रंथों के अध्ययन से होती है। इसका कारण यह है कि बड़े-बड़े ग्रंथों में ज्ञान-विज्ञान की समस्याओं का बार-बार विस्तार से उल्लेख होता है और इस प्रकार पूर्ण योग्यता प्राप्त हो जाती है।

इन खुलासों से केवल समस्याओं के नाम बार-बार आते हैं, जिसके कारण पूर्ण योग्यता नहीं प्राप्त होती और ज्ञान अधूरा रह जाता है। इस प्रकार खुलासा तैयार करनेवालों का उद्देश्य तो यह था कि समस्याओं को सुगमतापूर्वक याद किया जा सके, किन्तु इस प्रकार ज्ञान को जो हानि पहुँची उसकी ओर से उन्होंने पूर्ण रूप से उपेक्षा प्रदर्शित कर दी।

(३२) ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की उचित एवं लाभदायक विधि

ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की सर्वोत्तम विधि यह है कि विद्यार्थियों को थोड़ा-थोड़ा करके समझाया जाय। उदाहरणार्थ, जब किसी विशिष्ट ग्रन्थ की शिक्षा देनी हो तो उसके प्रत्येक अध्याय की मूल समस्याओं का पहले उल्लेख करें और संक्षेप में उनकी व्याख्या भी करते जायँ। विद्यार्थी की बुद्धि एवं उसकी योग्यता को अवश्य ध्यान में रखा जाय, ताकि जो बात बतायी जाय वह उसकी बुद्धि ग्रहण करती रहे। इसी प्रकार पूरे ज्ञान की शिक्षा दी जाय, तो उस ज्ञान में विद्यार्थी को एक विशेष अभ्यास हो जायगा। यद्यपि उसकी योग्यता साधारण तथा निम्न श्रेणी की होगी, किन्तु उसका मस्तिष्क इस योग्य अवश्य हो जायगा कि वह उस ज्ञान की समस्याओं को संक्षिप्त रूप से समझ सके।

अब शिक्षक को पुनः प्रारम्भ से उस ज्ञान की शिक्षा देनी चाहिए और इस बार शिक्षा का स्तर कुछ ऊँचा कर देना चाहिए, यानी विषय को संक्षिप्त रूप से न समझाकर विस्तार से समझाया जाय और साथ ही साथ समस्याओं की पारस्परिक तुलना भी समझायी जाय और विरोध का कारण भी बताया जाय। इसी विधि से पूरे ज्ञान की शिक्षा दे देनी चाहिए। इस बार भी विद्यार्थी को अभ्यास होगा, जो पूर्वाभ्यास से उत्तम एवं पक्का होगा।

अब फिर तीसरी बार उस ज्ञान की शिक्षा प्रारम्भ से देनी चाहिए और इस बार प्रत्येक कठिन समस्या को उचित व्याख्या एवं टीका-टिप्पणी के साथ समझाया जाय। जब इस विधि से भी शिक्षा पूरी हो जाय तो विद्यार्थी अपने ज्ञान में कुशल एवं अभ्यस्त समझा जा सकेगा। संक्षेप में शिक्षा की उत्तम एवं लाभदायक विधि यही है।

इस प्रकार तीन बार की शिक्षा से ज्ञान में बड़ी अच्छी योग्यता प्राप्त हो जाती है। कुछ ऐसे भी समझदार एवं बुद्धिमान् विद्यार्थी होते हैं जो तीन से भी कम यानी केवल दो बार में ही पूर्ण योग्यता प्राप्त कर लेते हैं।

बड़े खेद का विषय है कि आज तक हमने जितने भी शिक्षक देखे उनमें से अधिकांश शिक्षा-विधि के ज्ञान से अनभिज्ञ एवं अपरिचित निकले। उन्हें इसके लाभों का ज्ञान न था। उनकी शिक्षा-विधि यह है कि वे सर्वप्रथम विद्यार्थियों को कठिन समस्याएँ पढ़ाते और सिखाते हैं और उनके समाधान का भारी बोझ उनके कमज़ोर दिमाग़ पर डालते हैं, और समझते हैं कि यह शिक्षाविधि ठीक है और लाभदायक भी। फिर वे ज्ञान की अन्तिम समस्याओं को प्रारम्भिक समस्याओं में मिलाकर गड़बड़ कर देते हैं और जो समस्याएँ बाद में पढ़ानी चाहिएँ उन्हें प्रारम्भ में ही रटाने लगते हैं। वे इतना नहीं जानते कि किसी विद्या को समझने की योग्यता शनैः-शनैः पैदा होती है। प्रारम्भ में विद्यार्थी समस्त समस्याओं को समझने के योग्य नहीं होता और वह जो कुछ समझता भी है तो संक्षिप्त रूप से और वह भी क्रियात्मक उदाहरणों द्वारा, किन्तु उसकी योग्यता धीरे-धीरे ही बढ़ती है। ज्ञान की समस्याओं के बार-बार पढ़ने से ही वह बढ़ती है, यहाँ तक कि उसे उस ज्ञान की समस्त समस्याओं की योग्यता प्राप्त हो जाती है। अब यदि यह भूल की जाय कि अन्तिम समस्याओं का बोझ प्रारम्भ से ही विद्यार्थी पर डाल दिया जाय, जब कि उसकी समझ एवं बुद्धि कमज़ोर हो और उसमें योग्यता की भी कमी हो, तो उसकी बुद्धि उन्हें समझ नहीं पाती। उसको यह भ्रम होता है कि यह विद्या बड़ी कठिन है और उसकी योग्यता के बाहर है। अतः वह ज्ञानोपार्जन में उपेक्षा बरतने लगता है और विद्याध्ययन से जी चुराने लगता है, अपितु उसका अभ्यास छोड़ने के उपाय ढूँढ़ता है। ये दुष्परिणाम अनुचित शिक्षा-विधि से उत्पन्न होते हैं।

फिर यह भी अनुचित बात है कि विद्यार्थी चाहे प्रारम्भिक शिक्षा ही प्राप्त कर रहा हो और उसने जिस पुस्तक को अपनी योग्यतानुसार शुरू कर रखा है, शिक्षक उसे उस पुस्तक को पढ़ाते समय उससे ऊपर की पुस्तकों की समस्याओं को पढ़ाने या सिखाने लगे। इससे उसकी समझ एवं बुद्धि पर ऐसा बोझ पड़ेगा जिसे वह उठा न सकेगा। जब तक विद्यार्थी किसी ग्रंथ को आद्योपान्त भली-भाँति समझ न ले और वह उस पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करके इतना दक्ष न हो जाय कि अन्य पुस्तकों के अध्ययन में अपनी इस योग्यता से काम ले सके, तो ऐसी अवस्था में उसका ध्यान कदापि न बँटाना चाहिए, कारण कि जब विद्यार्थी को किसी ग्रन्थ या विषय का कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो उस ग्रन्थ के शेष भागों को समझने की उसमें स्वतः योग्यता उत्पन्न हो जाती है और उनको समझने की इच्छा भी उसमें प्रकट होती रहती है, जो उसे शनैः-शनैः ज्ञान के मूल उद्देश्य तक पहुँचा देती है। अन्त में एक दिन उस विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है। यदि इसके विरुद्ध शुरू से ही प्रारम्भिक एवं चरम

समस्याओं का भेद-भाव समाप्त कर दिया जाय तो विद्यार्थी की कमज़ोर बुद्धि समस्याओं के समझने के योग्य न रहेगी और मंद पड़ जायगी। वह निराश हो जायगा और अपने आपको ज्ञानोपार्जन में असमर्थ समझकर ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न छोड़ देगा तथा शिक्षा प्राप्त करने से हाथ धो लेगा।

शिक्षा देते समय इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि एक ही विषय की शिक्षा बीच में अधिक समय का अन्तर देकर न प्रदान की जाय, कारण कि इस प्रकार क्रम तोड़ देने से भूल-चूक का अधिक भय हो जाता है। ज्ञान की विभिन्न समस्याओं की शिक्षा में क्रम एवं सम्बन्ध पर ध्यान न देने से सीखी हुई बातें भी मस्तिष्क से निकल जाती हैं और अभ्यास प्राप्त करना कठिन हो जाता है। इसके विरुद्ध जब प्रारम्भिक एवं अन्तिम समस्याओं को क्रम एवं एक-दूसरे से सम्बन्धित करके पढ़ाया जाय तो इसमें भूलने का भी भय कम होता है और अभ्यास भी सुगमतापूर्वक प्राप्त हो जाता है, कारण कि अभ्यास के लिए किसी कार्य का क्रम से तथा लगातार होना परमावश्यक है। जब पिछले भाग को भुला दिया जाय तो अभ्यास कैसे हो सकता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा-विधि में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि दो विषय एक ही समय पर न पढ़ाये जायँ, अन्यथा किसी में भी कोई योग्यता न प्राप्त हो सकेगी, कारण कि इस प्रकार विद्यार्थी की बुद्धि एवं उसका ध्यान बँट जायगा। वह एक को छोड़कर दूसरे की ओर जायगा और दूसरे को छोड़कर पहले की ओर आयेगा, फलतः दोनों से वंचित रहेगा और दोनों में से कोई भी ज्ञान उसे प्राप्त न हो सकेगा। अन्त में वह दोनों विषयों को कठिन समझकर निराश हो जायगा। यदि वह एक ही विषय पर पूरा ध्यान देगा तो उसमें कुछ कर दिखायेगा।

अब यहाँ हम विद्यार्थियों को उनके एक बड़े लाभ की बात बताते हैं, जिसे उन्हें भली-भाँति समझ लेना चाहिए और जो उनके लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी, किन्तु इससे पूर्व निम्नलिखित प्रस्तावना को समझ लेना उचित होगा।

ईश्वर ने सोचने की शक्ति मनुष्य को विशेष प्राकृतिक देन के रूप में दी है। उसने उसका उसी प्रकार सर्जन किया है जिस प्रकार अन्य अनेक वस्तुओं का। यह शक्ति मन में क्रिया तथा गति के रूप में मस्तिष्क के बीच के छिद्र की एक प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होती है। कभी-कभी (इस विचार-शक्ति द्वारा) मनुष्य के सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध कार्य प्रारम्भ होते हैं। कभी-कभी इसका अर्थ यह होता है कि किसी बात का ज्ञान, जो पूर्व से प्राप्त न था, प्राप्त होना प्रारम्भ हो गया है। सोचने की योग्यता का कोई-न-कोई लक्ष्य होता है, जिसके दोनों अन्तिम सिरों का अनुभव करके किसी बात को स्वीकार

अथवा अस्वीकार किया जाता है। (विचार-शक्ति द्वारा) मध्य का मार्ग तत्काल निकाल लिया जाता है। यदि मध्य के मार्ग एक से अधिक हैं तो फिर इनमें से एक उचित मार्ग को चुनने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। सोचने की योग्यता की विधि यही है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया। इसी शक्ति के कारण मनुष्य अन्य पशुओं से भिन्न है।

तर्कशास्त्र का उद्देश्य यही है कि वह विचारपूर्वक कार्य करने की प्रवृत्ति को भूल से बचाये रखे। यह प्रवृत्ति यद्यपि सत्य की खोज में ही रहती है, किन्तु कभी-कभी इसे भी ठोकर लग जाती है और वह सन्मार्ग से विचलित हो जाती है और वह दोनों सिरों की कल्पना तथ्य के विरुद्ध कर बैठती है। तब समस्याओं की व्यवस्था एवं उनका क्रमबन्धन सन्दिग्ध हो जाते हैं। तब तर्कशास्त्र ही इस विषय में उसका पथ-प्रदर्शक बनकर धोखे एवं भूल से उसे बचाता है, मानो तर्कशास्त्र एक कला है जो विचार-शक्ति को सन्मार्ग पर खींच लाती है और उससे उचित कार्य करा लेती है। क्योंकि यह एक कला है और विज्ञान भी, अतः कभी-कभी इसकी आवश्यकता नहीं भी पड़ती। हमने स्वयं अनेक विद्वान् ऐसे देखे हैं जिन्हें अपनी विद्या में कुशलता प्राप्त होती है, किन्तु तर्कशास्त्र से उनका परिचय तक नहीं होता, फिर भी उन्हें सफलता मिलती है, विशेष रूप से जब उद्देश्य भी ठीक हो और ईश्वर की कृपा पर उन्हें भरोसा भी हो। ऐसी अवस्था में उन्हें इन विज्ञानों की कोई आवश्यकता नहीं होती और यह होना भी न चाहिए, कारण कि कहाँ ईश्वर की कृपा और उसकी देन और कहाँ मनुष्यों के बनाये हुए ज्ञान-विज्ञान। तर्कशास्त्र की चिन्ता किये बिना बुद्धिमानों का विवेक स्वतः सन्मार्ग पर चलता है और मध्य मार्ग का पता लगाकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थी के लिए एक कठिनाई यह भी है कि वह शब्दों के अर्थ समझे और उनके तात्पर्य को अपने दिमाग़ में रखे। जब कोई शब्द किसी पुस्तक में देखे अथवा किसी से सुने तो उसके शुद्ध अर्थ को अपने मस्तिष्क में बिठा ले। विद्यार्थी को इन सब कठिनाइयों को सुलझाकर अपनी सोचने की शक्ति को लक्ष्य की ओर लगाना चाहिए।

सर्वप्रथम लेख बोले जानेवाले शब्दों को प्रकट करते हैं। इन्हें समझना सरल होता है। फिर बोले जानेवाले शब्दों द्वारा विचार व्यक्त किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त विचारों को उचित रूप से व्यवस्थित करने के अलग नियम होते हैं, जिनका पता तर्क-शास्त्र की कला से चलता है और इन्हीं से निष्कर्ष निकाले जाते हैं। अन्त में सुव्यव-

स्थित विचारों द्वारा चिंतन-शक्ति की सहायता से ईश्वर पर भरोसा करते हुए अपने उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है।

प्रत्येक व्यक्ति इन कठिनाइयों एवं रुकावटों को तेज़ी से तथा सुगमतापूर्वक नहीं पार कर सकता। बहुत-से लोगों की बुद्धि शब्दों के गोरख-धंधे में फँसकर रह जाती है अथवा दलीलों के मध्य में ठोकर खाने लगती है और विभिन्न मतों एवं सन्देहों की शिकार हो जाती है। इससे थककर वह व्यक्ति अपने उद्देश्य को नहीं प्राप्त कर पाता। ईश्वर ही जिसका पथ-प्रदर्शन करे वही इन कठिनाइयों को झेलता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुँचता है।

यदि विद्यार्थी को कहीं ये रुकावटें पेश आ जायँ या वह अपनी समझ के अनुसार चलकर धोखा खा जाय, या उसका मस्तिष्क सन्देहों के कारण भटकने लगे, तो ऐसी अवस्था में उसको चाहिए कि शब्दों की उलझन से अपने आपको मुक्त करके सन्देहों से बचकर निकल जाय। समस्त वैज्ञानिक सिद्धान्तों को त्यागकर स्वाभाविक चिन्तन-शक्ति से काम ले। मस्तिष्क में जो विचार उत्पन्न हो रहे हों उन्हें त्यागकर ध्यान को केवल वांछित लक्ष्य की ओर, जैसा कि बड़े-बड़े विचारक करते रहे हैं, लगाये। यदि विद्यार्थी हमारे बताये हुए नियमों का पालन करेगा तो विजय एवं सफलता के द्वार उसके लिए उसी प्रकार खुल जायँगे, जिस प्रकार भूतकाल के लोगों के लिए खुले थे। जिस प्रकार वे लोग अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सके उसी प्रकार वह भी अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकेगा। उसकी चिन्तन-शक्ति उस सन्मार्ग को स्वतः पा लेगी जिसका निर्देश ईश्वर प्रत्येक उचित चिन्तन शक्तिवाले के लिए किया करता है। जब वह इस अवस्था को प्राप्त हो जाय तो विचारों को दलीलों के साँचे में ढालने का उसे प्रयत्न करना चाहिए और तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों द्वारा उन दलीलों की जाँच करनी चाहिए। फिर शब्दों के वस्त्र पहनाकर अपने विचारों को व्यक्त करना चाहिए।

यदि विद्यार्थी उस तथ्य को न समझ सका, जिसका हमने उल्लेख किया है और वह मतभेदों एवं संदेहों के कारण दलीलों के जाल में उलझा रहा तथा झूठ एवं सच के बीच झूलता रहा, तो इन सिद्धान्तों के वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक होने के कारण इनके विभिन्न रूप एक ही प्रकार के दृष्टिगत होंगे और एक-दूसरे के समान एवं अनुरूप होने के कारण सत्य एवं असत्य में भेद न किया जा सकेगा। इस प्रकार सन्देह बढ़ता जायगा और वास्तविक उद्देश्य तिरोहित होता जायगा। अन्त में विचारक थककर बैठ रहेगा। इस प्रकार आधुनिक काल के वाद-विवाद करनेवालों एवं विचारकों को इसी समस्या का सामना करना पड़ता है और उनमें भी उनको, जो प्रारम्भ में फ़ारसी

भाषा-भाषी थे, अथवा जिनको तर्कशास्त्र से अत्यधिक रुचि थी, यह बाधा अधिक सताती थी। वे तर्कशास्त्र को ही सत्य एवं असत्य की कसौटी समझते थे। ऐसे लोग दलीलों एवं सन्देहों में पूर्णतः खो जाते थे और उनकी मुक्ति बड़ी कठिनाई से हो पाती थी। वे इस तथ्य से अनभिज्ञ होते थे कि सत्य की खोज स्वाभाविक चिन्तन-शक्ति द्वारा उस समय हो सकती है जब उसे भ्रमों से मुक्त कर लिया जाय। सोचनेवाले की दृष्टि ईश्वर की कृपा की ओर लगी रहती है। तर्कशास्त्र का काम तो केवल इतना है कि वह इसी चिन्तन-शक्ति को विकसित तथा स्पष्ट करता है।

अब इस विषय को समाप्त करने के पूर्व हम यह आग्रह अवश्य करेंगे कि आप हमारी बातों पर विश्वास एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखें और जब कभी समस्याओं के समझने में कठिनाई हो तो ईश्वर की कृपा पर भरोसा रखें। ईश्वर ने चाहा तो दैवी प्रकाश एवं प्रेरणा के द्वार आपके लिए खुल जायेंगे और सत्य एवं असत्य का मार्ग आपके लिए प्रकट हो जायगा।

"ईश्वर ही अपनी कृपा द्वारा पथ-प्रदर्शन करता है। ज्ञान केवल ईश्वर द्वारा ही प्राप्त होता है।"

(३३) सहायक विद्याओं को शिक्षा देते समय अधिक न पढ़ाना चाहिए और उनकी विभिन्न क़िस्में विस्तार से न पढ़ानी चाहिएँ

प्रचलित ज्ञान-विज्ञान दो प्रकार का है। एक वह जो स्वतः सिद्ध और मूलोद्देश्यीय है, जैसे शरा सम्बन्धी क़ुरान की टीकाएँ, हदीसें, फ़िक़ह कलाम अथवा दर्शन-शास्त्रीय भौतिक विज्ञान एवं आत्मविद्या। दूसरा वह ज्ञान जो उपर्युक्त विषयों के ज्ञान की प्राप्ति में सहायक एवं साधन होता है। सहायक विषयों में अरबी भाषाशास्त्र, गणित एवं वे सब अन्य विषय भी जो शरा सम्बन्धी ज्ञान प्राप्तकर ने में सहायक होते हैं, शामिल हैं। तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र के ज्ञान के लिए सहायक होता है। आधुनिक काल के विद्वान् तो इसे कलाम एवं फ़िक़ह के सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए भी सहायक बताते हैं।

अब इनमें से जिन विद्याओं को मूल विज्ञान की श्रेणी प्राप्त है, यदि इन विषयों को सविस्तर समझाया जाय और समस्याओं की शाखा-प्रशाखाएँ निकाली जायँ, उनकी विभिन्न क़िस्में समझायी जायँ, दलीलों एवं प्रमाणों की प्रचुरता हो, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं, अपितु लाभ ही है,कारण कि इस प्रकार उन विज्ञानों में रुचि रखनेवालों को उनका अभ्यास हो जाता है और बारीकियाँ पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती हैं। इसके विपरीत

अरबी भाषाशास्त्र, तर्कशास्त्र इत्यादि सहायक विषयों का अध्ययन सरसरी तौर पर होना चाहिए अर्थात् वह इतना ही हो कि जिससे अन्य विज्ञान सीखने में उससे सहायता मिल सके। न तो उन विषयों का अधिक विस्तार करना उचित है और न समस्याओं की शाखाओं की शाखाएँ निकालना। यदि हम ऐसा करेंगे तो हम उन्हें मूल विज्ञान की श्रेणी प्रदान करेंगे, न कि सहायक विद्या की। जब सहायक विद्या की श्रेणी उन्हें प्राप्त न रही तो उनका मूल उद्देश्य अपने स्थान से हट जाता है और उन विषयों का अध्ययन अनावश्यक एवं निरर्थक हो जाता है। यदि सहायक विद्याओं का विस्तार से अध्ययन किया जाय, ताकि पूर्ण अभ्यास हो जाय और समस्याओं को फैलाया जाय, तो उनमें उलझकर मनुष्य प्रायः मूल-विज्ञान से वंचित रह जायगा, हालाँ कि उनका महत्त्व बहुत अधिक है। मनुष्य को अपने जीवनकाल में दोनों प्रकार के ज्ञान में कुशलता प्राप्त करना कठिन हो जाता है। विवश होकर उसे एक ही वस्तु के अध्ययन में अपना समस्त जीवन लगा देना पड़ता है, तो फिर ऐसी अवस्था में मनुष्य सहायक विद्याओं के लिए अपना जीवन क्यों नष्ट करे और अनावश्यक चीज़ में अपने प्राण किस कारण खपाये।

आजकल के विद्वान् इसी अनुचित मार्ग पर अग्रसर हुए हैं। व्याकरण, तर्कशास्त्र एवं फ़िक़्ह के सिद्धान्तों से वे बात में बात निकालते चले गये हैं और इस प्रकार उन्होंने बूंद को नदी और राई को पहाड़ बनाकर खड़ा कर दिया है। वे सिद्धान्तों की शाखाओं में से शाखाएँ निकालते चले गये हैं और दलीलों का गोरख-धंधा उन्होंने अलग खड़ा कर दिया है। इस प्रकार वे सहायक विद्याएँ अपना स्थान भूलकर मूल विज्ञान बन गयी हैं। इन विद्याओं में कभी-कभी इतने लम्बे-चौड़े वाद-विवाद खड़े कर दिये गये हैं जिनका न तो मूल विज्ञान से कोई सम्बन्ध है और न आवश्यकता। इस प्रकार यह शिक्षाविधि अनावश्यक एवं विद्यार्थियों के लिए हानिकारक बन गयी है, कारण कि उन्हें मूल विज्ञान की अपेक्षा सहायक विद्याओं को अधिक महत्त्व देना पड़ता है। जब विद्यार्थी सहायक विद्याओं के अध्ययन में ही अपने प्राण खपा देंगे, तो वे जीवन का वास्तविक लक्ष्य मूल ज्ञान कब सीख सकेंगे? अतः शिक्षकों के लिए यह परमावश्यक है कि वे सहायक विद्याओं को अधिक विस्तार से न पढ़ायें, अपितु विद्यार्थियों को केवल उसका उद्देश्य भर समझा दें। यदि कोई साहस करके उन्हीं के पीछे लग जाय और उन्हीं का हो जाय तो फिर यह उसकी इच्छा है कि जितनी चाहे उनमें उन्नति करे।

"प्रत्येक व्यक्ति को उन्हीं बातों में सफलता होती है जिनके लिए उनका सर्जन हुआ है।"

(३४) बच्चों की शिक्षा एवं इस्लामी देशों में शिक्षा की विभिन्न विधियाँ

इस्लामी नियमों के अनुसार क़ुरान शरीफ़ की शिक्षा बच्चों के लिए एक धार्मिक आवश्यकता कही गयी है। सभी नगरों में इसी प्रथा का पालन होता है। इसका उद्देश्य यह है कि इस शिक्षा से बच्चों के हृदय में धार्मिक विश्वास दृढ़ हो जाते हैं और क़ुरान शरीफ़ की आयतों पर उनका विश्वास जड़ पकड़ जाता है। क़ुरान शरीफ़ के साथ-साथ हदीस के कुछ उद्धरणों के पढ़ाने की प्रथा भी पहले से चली आ रही है। सोचा यह गया है कि बच्चा जब प्रारम्भ से क़ुरान शरीफ़ पढ़ना प्रारम्भ करेगा तो उसकी बाद की शिक्षा का आधार भी क़ुरान शरीफ़ ही रहेगा और समस्त ज्ञानों का निर्माण इसी शुभ नींव पर होगा, क्योंकि बाल्यावस्था में पायी हुई शिक्षा बद्धमूल होती है। यह बात स्पष्ट है कि हृदय में जो चीज़ पहले आरूढ़ होगी वह भविष्य के अभ्यासों की जड़ बनेगी। यह बात भी स्पष्ट है कि जैसी नींव होगी वैसा ही भवन भी बनेगा।

क़ुरान शरीफ़ की शिक्षा देने के विभिन्न नियम विभिन्न देशों में प्रचलित हैं और जैसे नियम प्रचलित हैं, वैसे ही परिणाम भी होते हैं। मग़रिबवाले अपने बच्चों को केवल क़ुरान शरीफ़ की शिक्षा देते हैं और इसके साथ-साथ लिखना भी सिखाते हैं एवं क़ुरान शरीफ़ के विद्वानों के मध्य लिपि-विषयक जो मतभेद हैं उन्हें भी बताते जाते हैं। क़ुरान शरीफ़ के साथ हदीस, फ़िक़ह, पद्य एवं अरबों की कविताओं में से कोई चीज़ उस समय तक नहीं पढ़ाते जब तक कि क़ुरान शरीफ़ में उसे पूरी कुशलता न प्राप्त हो जाय, अथवा वह उसका अध्ययन न त्याग दे, और जब क़ुरान शरीफ़ का अध्ययन त्याग दिया तो मानो सभी विद्याओं से पृथक् हो गया। इस प्रकार मग़रिब के नगरों एवं उनसे मिले हुए बरबर क़ौम के ग्रामों में बच्चों की शिक्षा की यही विधि प्रचलित है, अपितु यदि कोई युवावस्था के बाद भी शिक्षा प्राप्त करने की रुचि के कारण क़ुरान शरीफ़ पढ़ना प्रारम्भ करे तो इसी विधि का पालन किया जाता है। यही कारण है कि मग़रिब-निवासी क़ुरान शरीफ़ के हाफ़िज़ होते हैं और क़ुरान की लिपि का भी उन्हें बड़ा अच्छा ज्ञान होता है।

उन्दुलुस में यह शिक्षा-विधि प्रचलित है कि क़ुरान शरीफ़ तथा अन्य पुस्तकों को साथ-साथ पढ़ाते हैं। क्योंकि वे क़ुरान शरीफ़ को दीन (इस्लाम) एवं दीन के ज्ञानों का स्रोत समझते हैं, अतः उसे विशेष महत्त्व देकर उसके साथ अरबी पद्य और उसके मूल सूत्रों की शिक्षा भी देते हैं। अरबी भाषा-शास्त्र के नियम भी रटाते हैं, पत्र-व्यवहार

को भी विशेष महत्त्व देते हैं, यहाँ तक कि बालक युवावस्था को प्राप्त होते-होते अरबी भाषा एवं पद्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लेता है। पत्र-व्यवहार एवं सुलेख में तो वह पूर्ण रूप से दक्ष हो जाता है और इस योग्य हो जाता है कि यदि वहाँ उच्च शिक्षा का भी प्रबंध हो तो वह अन्य विषयों में भी बहुत कुछ कुशलता प्राप्त कर सकता है। पर वहाँ उच्च शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं है। अतः उसकी शिक्षा बस वहीं रुक जाती है। फिर भी यदि उसे कोई अच्छा गुरु प्राप्त हो जाय तो शिष्य में अच्छी ख़ासी योग्यता पैदा हो जाती है, जो बाद में ज्ञान-विज्ञान के द्वार खोल देती है।

इफ़रीक़ियावालों के यहाँ शिक्षा की यह विधि है कि क़ुरान शरीफ़ की शिक्षा के साथ-साथ अधिकांश हदीस की भी शिक्षा दी जाती है और विज्ञान के सिद्धान्त एवं समस्याएँ भी साथ ही साथ याद करायी जाती हैं। किन्तु क़ुरान शरीफ़ को अधिक महत्त्व दिया जाता है। क़ुरान शरीफ़ को भली-भाँति समझ लेने के उपरान्त उसके विभिन्न उच्चारणों की शिक्षा को बड़ा महत्त्व दिया जाता है और साथ-ही-साथ पत्र-व्यवहार की शिक्षा की भी उपेक्षा नहीं की जाती। संक्षेप में उनकी शिक्षा-विधि, उन्दुलुस की शिक्षा-विधि से बहुत कुछ मिलती-जुलती है, कारण कि इफ़रीक़िया में शिक्षा उन्दुलुस के विद्वानों द्वारा, जब वे ईसाइयों से पराजित होकर स्वदेश त्यागकर तूनुस पहुँचे और तूनुसवालों ने उनसे शिक्षा प्राप्त करनी प्रारम्भ की, पहुँची है।

पूर्ववालों के विषय में भी यही सुना जाता है कि वहाँ भी क़ुरान शरीफ़ की शिक्षा के साथ अन्य विद्याओं की भी शिक्षा दी जाती है, किन्तु यह पता नहीं कि वे किस बात पर अधिक जोर देते हैं। जहाँ तक हमें ज्ञात है, वे युवावस्था में क़ुरान शरीफ़, धार्मिक विद्याओं तथा उनके सिद्धान्तों की शिक्षा देते हैं और लिखना साथ-साथ नहीं सिखाते, अपितु उसे सिखाने के लिए उनके यहाँ सुलेखवेत्ता पृथक् होते हैं, जो अन्य विद्याओं के समान सुलेख की शिक्षा अलग से देते हैं। संक्षेप में बच्चों की पाठशालाओं में इसका कोई उचित प्रबंध नहीं। बच्चों को केवल तख़्तियाँ दे दी जाती हैं जिन पर वे साधारण रूप से लिखना सीख जाते हैं। जिसको लिखने की कला में कुशलता प्राप्त करनी होती है वह अपनी योग्यतानुसार अलग से समय निकालकर इस कला में जो लोग कुशल होते हैं, उनके पास जाता है।

क्योंकि इफ़रीक़िया तथा मग़रिबवाले शिक्षा को क़ुरान शरीफ़ तक सीमित रखते हैं, अतः उन्हें (अरबी) भाषा का कोई ज्ञान नहीं हो पाता। कारण कि यह बात स्पष्ट है कि क़ुरान शरीफ़ मनुष्य की रचना नहीं, जिसे उदाहरण-स्वरूप अपने समक्ष रखकर उसीके समान लिखने का कोई अभ्यास कर सके। इसी कारण विद्यार्थियों को

रोका जाता है कि वे क़ुरान शरीफ़ की शैली का अनुकरण न करें, कारण कि मनुष्य ईश्वर की शैली का अनुकरण कर ही कैसे सकता है। उधर उन लोगों को क़ुरान शरीफ़ की रचनाशैली के अतिरिक्त किसी अन्य रचनाशैली का अभ्यास भी नहीं कराया जाता, जिनमें उन्हें कुशलता प्राप्त हो। इसी वजह से इफ़रीक़िया तथा मग़रिबवाले अरबी भाषा-शास्त्र के ज्ञान में कच्चे होते हैं और लेखों को आँख बन्द करके रटा करते हैं। यदि उन्हें किसी विषय पर कई तरीक़ों से कुछ लिखने का आदेश दे दिया जाय तो उनका कोई बस नहीं चलता। इनमें भी इफ़रीक़िया वालों को कुछ थोड़ा-बहुत आता भी है, कारण कि जैसा हम उल्लेख कर चुके हैं, वे क़ुरान शरीफ़ के साथ अन्य विद्याओं की भी शिक्षा पाते हैं। इस प्रकार मग़रिबवालों की अपेक्षा उन्हें अरबी भाषा-शास्त्र का भी कुछ ज्ञान होता है, किन्तु अधिक योग्यता उनको भी नहीं होती। अब रहे उन्दुलुसवाले, तो वे विभिन्न विज्ञानों की प्रारम्भ से ही शिक्षा देते हैं और अरबी भाषा-शास्त्र एवं पद्य में शुरू से ही अभ्यास कराने लगते हैं। अतः उनको पूर्ण कुशलता प्राप्त हो जाती है और अरबी भाषा-शास्त्र में दक्ष लोग उनमें मिल जाते हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि मूल विज्ञान, क़ुरान शरीफ़ एवं हदीस का उनका ज्ञान कच्चा रहता है। उन्दुलुसवालों में अरबी भाषा-शास्त्र के बड़े-बड़े विद्वान् भी मिलते हैं और साधारण ज्ञाता भी। बाल्यावस्था से ही जैसी शिक्षा लोगों को दी जाती है, वैसी ही उन्हें योग्यता प्राप्त हो जाती है।

क़ाज़ी अबू बक्र बिन अल अरबी[1] ने "रेहलह" नामक अपने ग्रंथ में शिक्षा-विधि का एक अनोखा नियम लिखा है और उसी पर बार-बार ज़ोर दिया है। उसने उन्दुलुस वालों के समान अरबी भाषा-शास्त्र की शिक्षा को समस्त ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा पर प्राथमिकता प्रदान की है और इसका कारण यह लिखा है कि पद्य अरब के इतिहास एवं साहित्य का स्रोत हैं, अतः अरबी भाषा-शास्त्र की रक्षा हेतु सर्वप्रथम पद्य की ही शिक्षा होनी चाहिए। तदुपरान्त उसने गणित की शिक्षा का महत्त्व बताया है। उसमें पूर्ण अभ्यास प्राप्त हो जाने के उपरान्त क़ुरान शरीफ़ की शिक्षा को महत्त्व प्रदान किया है। क़ाज़ी अबू बक्र का मत है कि इस शिक्षा-विधि से क़ुरान शरीफ़ का पढ़ना बड़ा सरल हो जाता है। उसने अपने देश की अशुद्ध शिक्षा-विधि पर खेद प्रकट किया है और लिखा है कि लोग क्यों बच्चों को प्रारम्भ से क़ुरान शरीफ़ रटाया करते हैं। वे एसी वस्तु को पढ़ते हैं जिसे वे नहीं समझते और उन बातों के लिए परिश्रम करते हैं जिनका उनके लिए

१. उसने 'मराक़े अज़् ज़ुल्फ़ा' नामक अपने ग्रन्थ में शिक्षा की समस्याओं पर बड़े विस्तार से लिखा है।

कोई महत्त्व नहीं। उसने बताया है कि सर्वप्रथम धर्म के सिद्धान्त, फिर फ़िक़ह के सिद्धान्त, उसके उपरान्त वाद-विवाद के नियम और फिर हदीस की शिक्षा दी जाय। क़ाज़ी अबू बक्र ने भी दो विद्याओं को एक साथ पढ़ाने का विरोध किया है और इसकी अनुमति उसी अवस्था में दी है जब कि विद्यार्थी में असाधारण उत्तम बुद्धि एवं विवेक पाया जाता हो।

इसमें सन्देह नहीं कि यह शिक्षा-विधि अत्यन्त समीचीन है। किन्तु प्रचलित प्रथा इसके विरुद्ध है। प्रथाएँ बड़ी प्रबल होती हैं। क़ुरान को सर्वप्रथम पढ़ाने की प्रथा इसी प्रकार चली कि इसका उद्देश्य पुण्य तथा आशीर्वाद प्राप्त करना होता था। इसके अतिरिक्त इसका उद्देश्य उस ख़तरे से बचना होता था जो किसी दुर्घटनावश बाल्यावस्था में ही शिक्षा की समाप्ति के कारण उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि उस हालत में बालक क़ुरान शरीफ़ की शिक्षा से भी वंचित रह जाता है। फिर यह भी है कि बच्चा जब तक अबोध होता है तब तक वह हर प्रकार से अधिकार में रहता है। उसको जो चाहिए सिखाइए। पर जब वयस्क होकर वह अधिकार से बाहर हुआ तो न जाने किस मार्ग पर निकल जाय। इसी कारण क़ुरान शरीफ़ बाल्यावस्था में ही पढ़ा देते हैं कि आगे चलकर क़ुरान शरीफ़ से तो वह अनभिज्ञ न रहे। यदि किसी प्रकार विश्वास हो जाय कि शिक्षा बन्द न हो जायगी, अपितु चलती रहेगी, तो फिर क़ाज़ी अबू बक्र की विधि ही उचित है। वह पूर्व एवं पश्चिम की शिक्षा-पद्धतियों से उत्तम है।

"ईश्वर ही निर्णय करता है और कोई भी उसके निर्णय में परिवर्तन नहीं कर सकता।"

(३५) विद्यार्थियों के प्रति कठोरता उनके लिए हानिकारक होती है

शिक्षा में कठोरता का प्रदर्शन बड़ा हानिकारक है। छोटे-छोटे बच्चों पर उसका विशेषतः बुरा प्रभाव होता है, कारण कि यह अयोग्यता का प्रमाण है। केवल शिष्यों के ही प्रति कठोरता से हानि नहीं होती, अपितु दासों तथा सेवकों के प्रति भी यदि कठोरता का व्यवहार किया जाय तो वे हताश हो जाते हैं। उनके हृदय में कोई उमंग, उल्लास एवं संतोष नहीं रह जाता है। वे शिथिल हो जाते हैं और झूठ, धूर्तता एवं चालबाज़ी से काम लेने लगते हैं। कुछ दिन इसी प्रकार रहने से, ये सब दोष आदत एवं स्वभाव के रूप में उनके हृदय में बैठ जाते हैं। यह सब कुछ दंड एवं कठोरता के भय से होता है। उससे विद्यार्थी के हृदय का स्वाभिमान एवं मर्यादा-पालन तथा अपनी और अपने घरवालों की प्रतिरक्षा की क्षमता समाप्त हो जाती है। वह अन्य लोगों पर बोझ बन जाता है। न उसमें किसी योग्य बनने की रुचि रहती है और न नैतिक

आचरण की इच्छा। संक्षेप में वह मानवता के गुणों को भूल जाता है और अपावन बातों का आदी होकर अपमान के निम्नतम गर्त में गिर जाता है। केवल व्यक्तिगत जीवन की ही यह कहानी नहीं है, अपितु क़ौमों की भी यही दशा है। जब वे आतंक एवं कोप के बंधनों में जकड़ी रहती हैं, अत्याचार एवं ज़ुल्म के वातावरण में पलती हैं, तो उनमें से मानवता निकल जाती है। यहूदियों की क़ौम को देख लीजिए कि उनके हृदय में दुष्टता कितनी आरूढ़ हो गयी है। प्रत्येक देश में वे दुष्टता, छल एवं धूर्तता के लिए कुप्रसिद्ध हैं। इसका भी वही कारण है जिसका हमने उल्लेख किया।

इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए शिक्षक को अपने शिष्य के तथा पिता को अपने पुत्र के प्रति अधिक कठोरता एवं दंड का प्रयोग न करना चाहिए। मुहम्मद बिन ज़ैद ने शिक्षकों एवं विद्यार्थियों से सम्बन्धित आदेशों के विषय में जिस ग्रन्थ की रचना की है, उसमें लिखा है कि यदि बालकों को दंड देने की आवश्यकता ही पड़ जाय, तो तीन कोड़ों से अधिक न मारना चाहिए। हज़रत उमर का कथन है कि "जिन्हें शरा द्वारा शिक्षा नहीं प्राप्त हो सकती उन्हें ईश्वर शिक्षा नहीं प्रदान करता।" उनका उद्देश्य यह था कि वे आत्मा को अनुशासन सम्बन्धी दंड के अपमान से सुरक्षित रखना चाहते थे और उन्हें इस बात का विश्वास था कि अनुशासन सम्बन्धी जो दंड शरा में बताये गये हैं, वे मनुष्य को नियंत्रण में रखने के लिए पर्याप्त हैं, कारण कि शरा में मनुष्य के हित का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

इसी प्रकार रशीद ने जब अपने पुत्र मुहम्मद अल अमीन को उसके गुरु खलफ़[1] बिन अहमर के सुपुर्द किया तो शिक्षा सम्बन्धी बड़े बहुमूल्य आदेश दिये। उसने कहा—"अहमर! तुम जानते हो कि मैंने अपनी जान तथा अपने दिल के टुकड़े को तुम्हारे नियंत्रण में दिया है। उस पर अपना पूरा अधिकार रखो। उसे अपना आज्ञाकारी बनाओ। उसके सम्मुख तुम अपना वही स्थान रखो जो मैंने तुम्हें प्रदान किया है। उसको क़ुरान पढ़ाओ। इतिहास सुनाओ। पद्य एवं कविता की शिक्षा दो। मुहम्मद साहब की सुन्नत की भी शिक्षा दो। उसको यह सिखाओ कि किस अवसर पर बात करे और किस प्रकार अपनी बात प्रारम्भ करे। विशेष अवसरों के अतिरिक्त उसको हँसने से रोको। इसकी आदत डालो कि जब बनी हाशिम[2] के गण्य-मान्य लोग आयें

१. खलफ़ बिन अहमर की मृत्यु ७९६ ई० तथा ८०५ ई० के मध्य में हुई।

२. खलीफ़ा के अब्बासी रिश्तेदार।

तो वह उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया करे। इसी प्रकार जब सेनापति आया करें तो भी वह उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया करे। संक्षेप में कोई क्षण ऐसा व्यतीत न हो जिसमें तुम उसे कोई न कोई शिक्षा न दो। किन्तु इस बात का भी ध्यान रखो कि वह उकता न जाय। उसका उत्साह समाप्त न हो जाय और उसमें शिथिलता उत्पन्न न होने पाये। उसको अधिक छूट भी न दो कि वह स्वतंत्र ही हो जाय और इसी का आदी बन जाय। सर्वप्रथम उसे नरमी एवं कृपापूर्वक ठीक करो। यदि इस प्रकार वह ठीक न हो तो कठोरता एवं दंड से काम लो।"

(३६) ज्ञान हेतु स्वदेश त्यागने एवं समकालीन विद्वानों के साक्षात्कार से ज्ञान की वृद्धि होती है

इसका कारण यह है कि मनुष्य विज्ञान, नैतिकता, धर्म एवं गुणों की शिक्षा या तो दीक्षा द्वारा प्राप्त करता है, या साक्षात् विचार-विनिमय द्वारा। किन्तु जो बात साक्षात् विचार-विनिमय द्वारा प्राप्त होती है, वह हृदयंगम हो जाती है। शिक्षकों की संख्या जितनी अधिक होगी उतना ही अभ्यास अधिक एवं दृढ़ होगा। इसके अतिरिक्त शिक्षा के पारिभाषिक शब्द अलग-अलग तथा भिन्न-भिन्न होते हैं, यहाँ तक कि विद्यार्थी को इस बात का भ्रम हो जाता है कि ये पारिभाषिक शब्द उसी विज्ञान के अंग हैं या नहीं। जब वह विभिन्न विद्वानों से भेंट करता है और उनकी नाना प्रकार की शिक्षा-विधियों से परिचित होता है तो उसकी आँखें खुल जाती हैं और वह पारिभाषिक शब्दों का विवेचन करने योग्य होता है और उन्हें वास्तविक विज्ञान से पृथक् समझने लगता है। उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि पारिभाषिक शब्द केवल शिक्षा के ऐसे साधन हैं जिनका विद्वान् लोग सुविधा के लिए प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त उनका कोई मूल्य नहीं। अतः मौलिक ज्ञान एवं परिभाषाओं का अन्तर समझ लेने की योग्यता के कारण विद्यार्थी को दक्षता प्राप्त करने में सुगमता हो जाती है और विद्वत्ता के द्वार उसके लिए खुल जाते हैं। इन्हीं कारणों से विद्यार्थियों का विद्वानों की गोष्ठी में उपस्थित रहना परमावश्यक बताया गया है और इसी कारण यात्रा करना भी उपादेय कहा गया है।

"ईश्वर ही जिसे चाहता है, सन्मार्ग हेतु उसका पथ-प्रदर्शन करता है।"

(३७) विद्वान् लोग राजनीति से अपरिचित एवं अनभिज्ञ होते हैं[1]

१. इसका अनुवाद नहीं किया गया।

(३८) इस्लाम के अधिकांश विद्वान् अजमी हैं

यह एक आश्चर्यजनक बात है कि शरा तथा बुद्धि सम्बन्धी दोनों प्रकार के ज्ञानों में अजमियों को अरबों से अधिक श्रेष्ठता प्राप्त है, हालाँ कि इस्लाम धर्म अरब से निकला और स्वयं हज़रत मुहम्मद अरबों में सर्वश्रेष्ठ थे, इसके विरुद्ध बिरला ही कोई उदाहरण मिलेगा। इसका कारण यह है कि अरब प्रारम्भ में बदवी एवं सरल स्वभाव के होने के कारण ज्ञान-विज्ञान से अपरिचित तथा कला-कौशल से अनभिज्ञ थे। लोग शरा सम्बन्धी आदेशों को उचित तथा अनुचित कार्यों के रूप में एक-दूसरे तक पहुँचाते थे और मुहम्मद साहब एवं उनके मित्रों की शिक्षा के आशीर्वाद से इन आदेशों के स्रोत क़ुरान तथा सुन्नत का उचित ज्ञान उन्हें हो चुका था। सभ्यता की इस अवस्था को "अरब" अवस्था कहा जाता है। उस युग में वैज्ञानिक ढंग से पठन-पाठन तथा ग्रंथ रचना की चर्चा न थी और न उस समय तक उनको इनकी आवश्यकता ही पड़ी थी। मुहम्मद साहब के मित्रों तथा उनके बाद के लोगों में ज्ञान-विज्ञान एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति तक पहुँचते रहे और लिखित शब्दों एवं पृष्ठों के बन्धन की उन्हें आवश्यकता नहीं हुई।

उस युग के विद्वान् क़ुर्रा की उपाधि द्वारा सम्बोधित किये जाते थे, कारण कि वे पुस्तकें पढ़ सकते थे, पर उनकी गणना उम्मियों में न होती थी। मुहम्मद साहब के मित्र क्योंकि अरब (बदवी) थे, अतः उनमें साधारण रूप से यह गुण पाया जाता था। इसी कारण क़ुर्रा की उपाधि द्वारा अल्लाह की किताब को पढ़नेवालों को सम्मानित किया जाता था। इस प्रकार वे अल्लाह की किताब एवं मुहम्मद साहब की सुन्नत को पढ़नेवाले ही होते थे और उन्हीं से शरा सम्बन्धी आदेश निकलते थे। हदीस को क़ुरान शरीफ़ की टीका के समान सम्मानित समझा जाता था। मुहम्मद साहब ने स्वयं कहा है—"मैं तुम में दो चीज़ें छोड़े जा रहा हूँ। जब तक तुम उनको थामे रहोगे, कभी न बहकोगे। वे दोनों चीज़ें हैं अल्लाह की किताब तथा मेरी सुन्नत।"

रवायतों का क्रम जब व्यक्तिशः मौखिक संवाद द्वारा चलते-चलते हारूनुर्रशीद के राज्य काल के प्रारम्भ तक मंद पड़ा, तो इस बात की आवश्यकता हुई कि क़ुरान की टीका एवं हदीस के ज्ञान को ग्रंथों का रूप दिया जाय, ताकि ये ज्ञान कहीं इसी प्रकार नष्ट न हो जायँ। फिर साथ-साथ इस बात की आवश्यकता हुई कि ठीक-ठीक प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त किया जाय। रवायतों की चर्चा करनेवालों की सत्यता एवं असत्यता की जाँच की जाय, ताकि ठीक हदीस को ग़लत हदीस से पृथक् किया जा सके। इसके उपरान्त जब साधारण से साधारण घटना का क़ुरान शरीफ़ तथा सुन्नत से प्रमाण

ढूंढ़ा जाने लगा तो अजम के मेल-जोल से अरबी भाषा में दोष आ गये। जब यह दशा हुई तो व्याकरण के नियम बनाये गये। शरा सम्बन्धी विषयों के लिए अन्य सहायक विद्याओं की भी आवश्यकता पड़ी, जिनसे अरबी भाषा-शास्त्र के नियमों का उद्भव हुआ और तुलनात्मक युक्तियों एवं तर्क के सिद्धान्तों का भी प्रचार हुआ। क्योंकि इस्लाम में अधर्म भी प्रचलित हो गया था, अतः इस बात की भी आवश्यकता होने लगी कि तर्क पर आधारित दलीलों द्वारा इस्लामी सिद्धान्तों एवं नियमों की पुष्टि की जाय। उनके प्रति जो सन्देह किया जाता है तथा जो आलोचनाएँ होती हैं, उनका निराकरण किया जाय। अतः इस ज्ञान-भण्डार ने कला का रूप धारण कर लिया और उसकी शिक्षा दी जाने लगी।

पिछले अध्यायों में हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि कला का जन्म नगर के जीवन एवं सभ्यता की उन्नति के कारण होता है, और यह भी उल्लेख हो चुका है कि अरब-वाले नगर की सभ्यता से अपरिचित थे, अतः वे इस ज्ञान से भी अनभिज्ञ रहे। किन्तु अजम, मवाली तथा नगर-सभ्यता से परिचित अन्य क़ौमें, जो कला-कौशल में अजम के समान थीं, नगर-संस्कृति एवं सभ्यता में दक्ष हो गयीं। उनकी अतीत से यही दशा चली आ रही थी, अतः यह नया ज्ञान उन्हीं के यहाँ अधिक प्रचलित हुआ। व्याकरण में सीबावै को और उसके बाद फ़ारिसी तथा ज़ज्जाज को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। वे सबके-सब कुल-क्रमानुसार अजमवंशी थे। किन्तु उन्होंने अरबी भाषा-भाषियों के मध्य आँखें खोली थीं और अरबों की गोष्ठियों में पले-बढ़े थे, अतः उन्होंने व्याकरण के नियमों को विज्ञान का रूप देकर भावी संतानों के लिए उन्हें सरल बना दिया।

इसी प्रकार हदीस के विद्वान् एवं हाफ़िज़ भी अजम ही थे, जिनकी भाषा अरबी थी। इसी तरह फ़िक़ह एवं कलाम के सिद्धान्तों के विद्वान् भी सबके-सब अजमी थे। क़ुरान शरीफ़ के टीकाकार भी अजमी ही हुए हैं। संक्षेप में इस्लाम के धार्मिक ज्ञान की रक्षा एवं संकलन का ठेका इन्हीं अजमवालों ने ले रखा था। मुहम्मद साहब ने सत्य ही कहा है कि "यदि विद्वत्ता आकाश के किसी कोने में अटक जायगी तो भी अजमवाले उसे प्राप्त कर लेंगे।"

इसके बाद वह युग आया जब अरबों का भी नगर की सभ्यता से परिचय हो गया और उन्होंने बदवियत की पोशाक उतार फेंकी, किन्तु वे शासन एवं राजनीति के झगड़ों में ऐसे फँस गये कि उनको किसी अन्य कार्य के लिए अवकाश ही न मिल सका। ऐसी अवस्था में भला वे ज्ञान-विज्ञान की चिन्ता किस प्रकार करते? इसके

अतिरिक्त उस काल में विद्वत्ता की गणना कला में की जाती थी और अरब लोग राज्य के स्वामी होने के कारण कला की उपेक्षा करते रहे थे। अतः ये लोग ज्ञान-विज्ञान से अनभिज्ञ रहे और उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व अजम एवं अजम की संतान को सौंप दिया गया। अरब लोग विद्वानों का बड़ा आदर-सम्मान करते थे, कारण कि वे अरब के ही धर्म एवं ज्ञान का बोझ अपने कंधों पर लिये हुए थे। फिर जब राज्यसत्ता अरबों के हाथ से निकलकर अजम के अधीन हुई तो ज्ञान-विज्ञान का कोई आश्रयदाता न रहा। अजमवाले भी उसी देश के निवासी हो गये। उन्होंने ज्ञान-विज्ञान से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। अब रहे अन्य विद्वान् तो उनका सम्मान समाप्त हो गया और उनके विषय में समझा जाने लगा कि वे ऐसे कार्यों में व्यस्त हैं जिनसे शासन अथवा राजनीति को कोई लाभ नहीं। इन्हीं कारणों से शरा सम्बन्धी विषयों के विद्वान् प्रायः अजम लोग ही हुए।

शरा सम्बन्धी ज्ञान की यह दशा थी। अब रहा बुद्धिवादी ज्ञान सो वह इस्लाम में उस समय आया जब विद्वानों एवं लेखकों का एक पृथक् वर्ग बन चुका और ज्ञान-विज्ञान ने कला-कौशल का रूप धारण कर लिया। अतः यह ज्ञान भी विशेष रूप से अजमवालों तक ही सीमित रहा और अरब उससे दूर ही रहे। उन्होंने उसकी ओर ध्यान न दिया। इस प्रकार इराक़, ख़ुरासान तथा मावराउन्नहर जो नगर की सभ्यता एवं संस्कृति के केन्द्र थे, ज्ञान-विज्ञान के भी केन्द्र रहे। जब उनका पतन हुआ और सभ्यता मिटी तो उसके साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान का भी वहाँ अन्त हो गया और वह वहाँ जा पहुँचा जहाँ सभ्यता एवं संस्कृति का राज्य था। आजकल मिस्र देश नागर संस्कृति का सबसे बड़ा केन्द्र, इस्लाम का घर तथा ज्ञान-विज्ञान एवं कला-कौशल का स्रोत समझा जाता है।

मावराउन्नहर में अभी नागर सभ्यता के कुछ चिह्न पाये जाते हैं। इसी अनुपात से वहाँ ज्ञान-विज्ञान एवं कला-कौशल की चर्चा भी है। इसका प्रमाण हमें वहाँ के एक बहुत बड़े विद्वान् सादुद्दीन तफ़ताज़ानी[1] के महान् व्यक्तित्व एवं उनकी उन रचनाओं से जो हमें प्राप्त हो सकीं, मिलता है। अजम के शेष देशों में हमें इमाम इब्नुल ख़तीब एवं नसीरुद्दीन तूसी के अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य प्रसिद्ध विद्वान् नहीं मिल सका जो विद्वत्ता में अद्वितीय हो।

(३९) अरबी भाषा-सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान।

(४०) भाषा एक वैज्ञानिक अभ्यास है।

१. मसऊद बिन उमर ७२२–७९२ हि० (१३२२ ई०–१३९०)।

(४१) सामयिक अरबी भाषा एक पृथक् भाषा है और मुज़र तथा हिमयार की भाषा से भिन्न है

(४२) नगर-वासियों तथा एक स्थान पर स्थायी रूप से निवास करने-वालों की भाषा मुज़र की भाषा से पृथक् है

(४३) मुज़र की भाषा की शिक्षा

(४४) मुज़र की भाषा के अभ्यास का अरबी भाषा-शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं

(४५) साहित्यिक समालोचकों के अनुसार 'रुचि' का विवेचन और इसका प्रमाण कि जो अजमी, अरबों की नक़ल ही करते हैं उनकी 'रुचि' वे उत्पन्न नहीं कर पाते

(४६) जब स्वयं नगरवासी ही साधारण शिक्षा के बल पर अरबी भाषा-शास्त्र का वास्तविक अभ्यास नहीं पैदा कर पाते, तब ऐसे लोगों के लिए जिनकी मातृ-भाषा अरबी नहीं उसमें दक्षता प्राप्त करना कष्टसाध्य होता है

इसका कारण यह है कि जब नगर का विद्यार्थी जिसका वैयक्तिक स्वभाव मूल अरबी जीवन और स्वभाव से भिन्न और अजमी स्वभाव से प्रभावित होता है, मूल अरबी भाषा[1] सीखने का प्रयत्न करता है तो उसका स्वभाव ही उसके उद्देश्य की पूर्ति में बाधक होता है। उसे अरबी भाषा-शास्त्र का अभ्यास नहीं हो पाता। इसी विचार से दूरदर्शी शिक्षक बच्चों को सर्वप्रथम भाषा की शिक्षा देते हैं और व्याकरण के विद्वान्, व्याकरण के नियमों को सिखाते हैं, किन्तु भाषा के शिक्षक ही ठीक मार्ग पर होते हैं कारण कि उपर्युक्त अभ्यास भाषा की शिक्षा में ही व्यस्त रहकर प्राप्त हो सकता है यद्यपि व्याकरण से भी मनुष्य को थोड़ी बहुत सफलता प्राप्त हो जाती है।

जिन नगरवासियों की भाषा अजम से अधिक प्रभावित है और मुज़री भाषा से बहुत दूर है वे मुज़री भाषा सीखने एवं उसमें कुशलता प्राप्त करने में असमर्थ रहेंगे, कारण कि जो विरोधाभासी बातें उनकी तथा मुज़र की भाषा में हैं वे उनके लिए बाधक बनेंगी। नगरों की दशा पर दृष्टि डालकर आप हमारे कथन पर विश्वास कर लीजिए। इसका उदाहरण भी सामने है। इफ़रीक़िया तथा मग़रिबवालों पर

१. मुज़र।

अजमियों की छाप पड़ी थी और वे मुज़री भाषा से अनभिज्ञ थे, अतः वे शिक्षा द्वारा मुज़री भाषा में अभ्यास न पैदा कर सके। इब्नुर्रफ़ीक़ ने क़ैरवान के किसी सचिव का पत्र उद्धृत किया है जो वास्तव में विचारणीय[1] है।

उन्दुलुसवालों को निःसन्देह भाषा पर बड़ा अधिकार है। इसका कारण यह है कि उन्होंने इस दिशा में घोर प्रयत्न किये हैं। उन्हें गद्य तथा पद्य, हर प्रकार की रचनाओं के उद्धरणों पर अधिकार प्राप्त है। इतिहासकार इब्ने हय्यान उन्हीं लोगों में हुआ है। वह अरबी भाषा-शास्त्र का अद्वितीय विद्वान् था और उसने अपनी योग्यता के झंडे गाड़ रखे थे। इब्ने अब्द रब्बेह अल-क़स्तल्ली तथा अन्य कवियों ने मुलूकुत्तवाएफ़ के राज्य तक में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। उस समय उन्दुलुस में भाषा एवं साहित्य को बड़ी उन्नति प्राप्त थी और सैकड़ों वर्षों तक वहाँ यही दशा रही। फिर ईसाइयों के प्रभुत्व के कारण जब लोगों ने स्वदेश त्यागना प्रारम्भ कर दिया तो ज्ञान-विज्ञान की ओर ध्यान देना भी छोड़ दिया और सभ्यता का पतन होने लगा। इस प्रकार समस्त कला-कौशल का ह्रास होने लगा। उन्दुलुसवालों की विद्वत्ता की काष्ठा ऐसी घटी कि उसकी दशा अवनततम हो गयी। अन्त में सालेह बिन शरीफ़ तथा मालिक बिन अल मुरह्हल, जो अशबीलिया के साहित्यकारों का शिष्य था, के बाद उन्दुलुसवालों की विद्वत्ता एवं अरबी भाषा-शास्त्र ज्ञान का अन्त हो गया। स्वदेश त्यागते समय उन्दुलुस ने अपने विद्वान् अशबीलिया एवं सिब्ता के समुद्रीय तट की ओर भेजे और उन्हें उन्दुलुस के पूर्व इफ़रीक़िया की ओर रवाना किया, किन्तु वहाँ उनको प्रसिद्धि न प्राप्त हो सकी, कारण कि उनकी भाषा अजमी भाषा से अत्यधिक प्रभावित हो गयी थी और उसमें एवं उन्दुलुसवालों की भाषा में बड़ा अन्तर था।

युग के परिवर्तन के कारण जब उन्दुलुस में पुनः ज्ञान-विज्ञान की उन्नति हुई तो इब्ने शिबरीन, इब्ने जाबिर, इब्ने अल-जय्याब तथा उनके समान अन्य विद्वान् पैदा हुए। उनके पश्चात् इबराहीम अस्साहिली अत्तुवैजिन सरीखे विद्वान् हुए। तदुपरान्त इब्नुल ख़तीब का युग आया, किन्तु वह शत्रुओं की चुग़ली के कारण शहीद कर दिया गया। अरबी भाषा-शास्त्र में उसकी योग्यता अपार थी। उसके शिष्यों ने उसका अनुकरण करके उसकी ख्याति को अमर बना दिया। संक्षेप में इस समय उन्दुलुस में अरबी भाषा एवं साहित्य बड़ी उन्नति पर हैं। उस देश की शिक्षा-विधि भी सरल है। ऊपर हम

१. पत्र का, जो अशुद्धियों से परिपूर्ण है, अनुवाद नहीं किया गया।

बता चुके हैं कि उन्दुलुसवालों ने साहित्य के विस्तार तथा प्रचार और उसकी रक्षा के प्रयत्न में बड़े कष्ट भोगे हैं। उन्होंने अरबी साहित्य के विज्ञानों की भली-भाँति रक्षा की है। जिन अजमियों की भाषा वहाँ बिगड़ी हुई दृष्टिगत होती है, वे केवल वहाँ के अस्थायी निवासी हैं। अतः उन्दुलुस में अजमी प्रभाव को स्थायित्व प्राप्त नहीं होता। इसके विपरीत मग़रिब एवं इफ़रीक़िया के बरबर निवासी अजम से बुरी तरह प्रभावित थे, इसी कारण वे अरबी भाषा का पूर्ण ज्ञान न प्राप्त कर सके।

बनी उमय्या एवं बनी अब्बास के राज्यकाल में पूर्वीय देशों की भी यही दशा थी। उनके यहाँ भी उन्दुलुस के समान अरबी भाषा का ज्ञान पूर्णरूप से वर्त्तमान था, कारण कि वे बहुत बड़ी सीमा तक अजमियों से दूर रहते थे। यही कारण है कि वहाँ बड़ी उच्चकोटि के गद्य एवं पद्य लिखनेवाले हुए। वहाँ खरे और ठेठ अरब मिलते थे। वे क्यों अपना रंग बदलते। इसका खुला हुआ दृष्टान्त हमारे सामने "किताबुल अग़ानी" है जो अरब के उच्चकोटि के शुद्ध गद्य एवं पद्य का अनुपम रत्न है। इसमें सब कुछ है और यह वास्तव में अरब की पूर्ण उन्नत एवं श्रेष्ठ दशा का द्योतक है। इस ग्रंथ में हमें अरबी भाषा, अरब के इतिहास और अरब के रसूल का जीवन वृत्त सभी कुछ मिलता है। उसमें अरबों के धार्मिक संगठन का भी वर्णन है और उनकी खिलाफ़त एवं सल्तनत का इतिहास भी। इससे अरबों की कविता एवं संगीत का भी ज्ञान प्राप्त होता है। संक्षेप में अरब के विषय में सविस्तर जानकारी का केवल एक यही ग्रन्थ है। इस प्रकार दोनों सल्तनतों के युग में अरबी भाषा-शास्त्र का अभ्यास दृढ़तापूर्वक होता रहा।

इसके उपरान्त फिर वह युग आया जब अरब की भाषा बिगड़ी ही नहीं, मिट भी गयी। अरबों के राज्य एवं शासन का युग समाप्त हुआ। प्रभुत्व अजमियों को प्राप्त हुआ और उनके राज्य भी स्थापित हो गये। यह समय वह था जब दैलम एवं सलजूक़ वंशों का राज्य प्रारम्भ हुआ। उनका सम्पर्क नगर की बहुसंख्यक जनता से था। ज़मीन उनकी भाषा बोलनेवालों से भर गयी थी और अजमी भाषाभाषियों को नगर की जनसंख्या एवं सभ्यता पर प्रभुत्व प्राप्त हो गया। इस प्रकार लोग अरबी भाषा तथा उसके अभ्यास से दूर हो गये। जो लोग इसका अध्ययन करते थे इस पर अधिकार न प्राप्त कर पाते थे। उनकी भाषा की आज भी यही दशा है। इससे उनका गद्य एवं पद्य दोनों ही प्रभावित हैं, यद्यपि दोनों में ही रचनाएँ पर्याप्त हो रही हैं।

"ईश्वर, जिस वस्तु का सर्जन करना चाहता है, करता है। सब कुछ उसी की इच्छा से होता है।"

(४७) भाषा के दो भाग—गद्य तथा पद्य।

(४८) गद्य तथा पद्य दोनों में एक साथ कुशलता बिरले ही किसी व्यक्ति को प्राप्त होती है।

(४९) पद्य एवं उसकी शिक्षा-विधि।

(५०) गद्य तथा पद्य शब्दों पर आधारित होते हैं, न कि विचारों पर।

(५१) भाषा में अभ्यास अरबों की रचनाओं को अधिक से अधिक संख्या याद करने से प्राप्त होता है।

(५२) उच्च श्रेणी के लोगों को कविता में रुचि नहीं होती।

(५३) समकालीन अरबों एवं नगर-वासियों की कविताएँ।

अब हम प्रथम पुस्तक को यहीं समाप्त करते हैं, कारण कि यदि हमने अधिक कुछ लिखा तो हम अपने विषय के क्षेत्र से बाहर निकल जायँगे। हमने इस पुस्तक का विषय सभ्यता एवं तत्सम्बन्धी समस्याएँ रखा था। हम समझते हैं कि इस विषय के अन्तर्गत सभी बातों का विवरण हमने दे दिया है। कोई बात छोड़ी नहीं है, किन्तु फिर भी सम्भव है कि हमारे बाद कोई बहुत बड़ा विद्वान् एवं बुद्धिमान ऐसा पैदा हो जाय जो इन समस्याओं का हमसे अधिक विस्तार से उल्लेख कर सके। वास्तव में एक विज्ञान के आविष्कारक के लिए यह आवश्यक भी नहीं है कि वह उस विज्ञान की समस्त समस्याओं का उल्लेख कर दे। उसका कर्त्तव्य यह है कि वह अपने विज्ञान के विषयों को निश्चित कर दे, उनकी परिभाषा बता दे तथा उनकी विभिन्न शाखाओं का उल्लेख कर दे। फिर बाद में आनेवाले लोग उन समस्याओं में थोड़ी-बहुत वृद्धि करके उस विज्ञान को पूर्ण कर देते हैं।

"ईश्वर जानता है और तुम नहीं जानते।"

पुस्तक का लेखक (ईश्वर उसे मुक्ति दे) कहता है, "मैंने इस प्रथम पुस्तक की रचना एवं संकलन संशोधन एवं सुधार को छोड़कर, पाँच मास में ७७९ हि० के मध्य (नवम्बर १३७७ ई०) में समाप्त कर लिया था। तदुपरान्त मैंने पुस्तक में सुधार एवं संशोधन किये। साथ ही साथ मैंने विभिन्न क़ौमों के इतिहास भी जिनकी योजना मैं प्रारम्भ में बना चुका था और जिसका उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ, जोड़ दिये।"

"ज्ञान ईश्वर की ओर से, जो शक्तिशाली एवं बुद्धिमान् है, प्राप्त होता है।"

परिशिष्ट

(१) .कुरैश की वंशावली
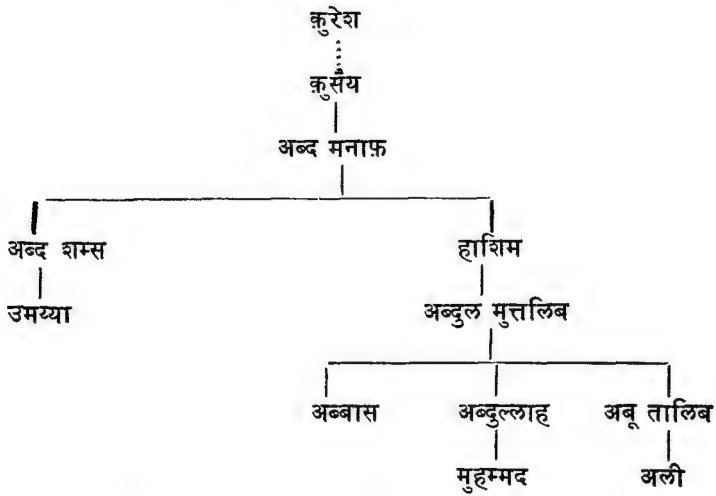
हज़रत मुहम्मद के प्रथम चार ख़लीफ़ा

हज़रत अबू बक्र	६३२-६३४ ई०
हज़रत उमर	६३४-६४४ ई०
हज़रत उस्मान	६४४-६५६ ई०
हज़रत अली	६५६-६६१ ई०

(२) बनी उमय्या की वंशावली

(३) बनी अब्बास की वंशावली

(४) बुवहिद प्रभुत्व काल के अब्बासी ख़लीफ़ा

(५) सलजूक़ प्रभुत्व काल के अब्बासी ख़लीफ़ा

(२६) अल-क़ाएम (१०३१-१०७५ ई०)
|
मुहम्मद
|
(२७) अल-मुक़तदी (१०७५-१०९४ ई०)
|
(२८) अल-मुस्तज़हिर (१०९४ ई०—१११८ ई०)

- (२९) अल-मुस्तरशिद (१११८-११३५ ई०)
  - (३०) अल-राशिद (११३५-११३६ ई०)
- (३१) अल-मुक़तफ़ी (११३६-११६० ई०)
  - (३२) अल-मुस्तनजिद (११६०-११७० ई०)
  - (३३) अल-मुस्तदी (११७०-११८० ई०)
  - (३४) अल-नासिर (११८०-१२२५ ई०)

(६) अन्तिम अब्बासी ख़लीफ़ा

(३४) अल-नासिर (११८०-१२२५ ई०)
|
(३५) अल-ज़ाहिर (१२२५-१२२६ ई०)
|
(३६) अल-मुस्तनसिर (१२२६-१२४२ ई०)
|
(३७) अल-मुस्तासिम (१२४२-१२५८ ई०)

(७) हज़रत अली के वंशज एवं १२ इमाम

नोट—कोष्ठ में मृत्यु तिथि दी गयी है।

(८) क़ुरतबा (कारडोवा) के उमय्या अमीर

(१) अब्दुर्रहमान प्रथम (७५६-७८८ ई०)
|
(२) हिशाम प्रथम (७८८-७९६ ई०)
|
(३) अल-हकक प्रथम (७९६-८२२ ई०)
|
(४) अब्दुर्रहमान द्वितीय (८२२-८५२ ई०)
|
(५) मुहम्मद प्रथम (८५२-८८६ ई०)
|
(६) अल-मुनज़िर (८८६-८८८ई०) — (७) अब्दुल्लाह (८८८-९१२ ई०)
|
मुहम्मद
|
(८) अब्दुर्रहमान तृतीय (९१२-९२९ ई०)
ख़लीफ़ा (९२९-८६१ ई०)

(९) कारडोवा के उमय्या ख़लीफ़ा
(१) अब्दुर्रहमान तृतीय (९२९–९६१ ई०)
२ अल हकम द्वितीय (९६१-९७६ ई०)
अब्दुल जब्बार
सुलेमान
अब्दुल मलिक
उबैदुल्लाह
हिशाम
अल-हकम
मुहम्मद
अब्दुर्रहमान
(३) हिशाम द्वितीय (९७६-१००९ ई०) (१०१०-१०१३ ई०)
(४) मुहम्मद द्वितीय (१००९-१०१० ई०)
(५) सुलेमान (१००९-१०१० ई०) (१०१३-१०१६) ई०
(६) अब्दुर्रहमान चतुर्थ (१०१८ ई०)
(७) अब्दुर्रहमान पंचम (१०२३ ई०)
(९) हिशाम तृतीय (१०२७-१०३१ ई०)
(८) मुहम्मद तृतीय (१०२३-१०२५)

(१०) मिस्र के फ़ातेमी ख़लीफ़ा

(१) अल-महदी (९०९-९३४ ई०)
|
(२) अल-क़ाएम (९३४-९४६ ई०)
|
(३) अल-मनसूर (९४६-९५२ ई०)
|
(४) अल-मुइज़्ज़ (९५२-९७५ ई०)
|
(५) अल-अजीज (९७५-९९६ ई०)
(६) अल-हाकिम (९९६-१०२१ ई०)
(७) अल-ज़ाहिर (१०२१-१०३५ ई०)
(८) अल-मुस्तनसिर (१०३५-१०९४ ई०)

(९) अल-मुस्ताली १०९४-११०१ ई० — मुहम्मद

(१०) अल-आमिर (११०१-११३० ई०) — (११) अह हाफ़िज़ (११३०-११४९ ई०)

यूसुफ़ — (१२) अल ज़ाफ़िर (११४९-११५४ ई०)

(१३) अल-आज़िद (११६०-११७१ ई०) — (१३) अल फ़ाएज़ (११५४-११६० ई०)

(११) मिस्र के बहरी ममलूक
(अल-सालेह अय्यूब)

*

* शजर अल दुर

* १ ऐबक (१२५०-१२५७ ई०)
— (२) नूरुद्दीन अली (१२५७-१२५९ ई०)

* (३) क़ूतुज़ (१२५९-१२६० ई०)
— (५) बरकह (१२७७-१२७९ ई०)
— (६) सलामिश (१२७९ ई०)

* (४) बैबर्स (१२६०-१२७७ ई०)

* * * * * (७) क़लाबून (१२७९-१२९० ई०)
— (८) ख़लील (१२९०-१२९३ ई०)
— (९) अल-नासिर (१२९३-१२९४ ई०) (१२९८-१३०८ ई०) (१३०९-१३४० ई०)
— * (१०) कितबुग़ा (१२९४-१२९६ ई०)
— * (११) लाजीन (१२९६-१२९८ई०)
— * (१२) बैबर्स द्वितीय (१३०८-१३०९ ई०)

(९) अल-नासिर की संतान:
— (१३) अबूबक्र (१३४०-४१ ई०)
— (१४) क़ूजूक (१३४१–२ ई०, १३४२ ई०)
— (१५) अहमद
— (१६) इस्माईल (१३४२–५ ई०)
— (१७) अल-कामिल शाबान (१३४५–६ ई०)
— (१८) अल मुजफ़्फ़र हाज्जी (१३४६–७ ई०)
— (१९) अलहसन (१३४७–५१ ई०, १३५४–६१ ई०)
— (२०) अल-सालेह (१३५१–४ ई०)
— अलहुसेन
  — (२२) अल-अशरफ़ शाबान (१३६३–१३७६ ई०)
    — (२३) अलाउद्दीन अली (१३७६–१३८१ ई०)
    — (२४) अल-सालेह हाज्जी (१३८१–२ ई०, १३८९-९० ई०)

(१८) अल मुजफ़्फ़र हाज्जी — (२१) मुहम्मद (१३६१–३ई०)

नोट—तारांकित लाइन स्वामी तथा दास के सम्बन्ध हेतु है।

(१२) मिस्र के बजरी ममलूक

(१) अल–ज़ाहिर सैफ़ुद्दीन बरक़ूक़ १३८२ ई०
(बहरी हाज्जी द्वारा राज्य पर अधिकार १३८९-९० ई०)
(२) अल नासिर नासिरुद्दीन फ़रज १३९८ ई०
(३) अल मनसूर इज्जुद्दीन अब्दुल अज़ीज़ १४०५ ई०
अल-नासिर फ़रज़ (पुनः) १४०६ ई०
(४) अल-आदिल अल मुस्तइन १४१२ ई०

× × ×

(२३) अल-अशरफ़ तूमान बाय १५१६-१५१७ ई०

सहायक-ग्रंथ-सूची

(केवल मुक़द्दमे से सम्बन्धित)

अरबी

अली अब्दुल वाहिद वाफ़ी — मुक़द्दमा इब्ने ख़लदून (क़ाहेरा १९५७-५८ ई०)

इब्ने ख़लदून — किताब-अल-इब्र, व-दीवान अल-मुब्तदा व-अल ख़बर (बूलाक़ १८६७-६८ ई०) ७ भागों में

अत्तारीफ़ बे इब्ने ख़लदून व रहलतहू ग़रबन व शरक़न (क़ाहेरा १९५१ ई०)

Prolégoménes d 'Ebn-Khaldoun संकलनकर्ता E. Quatremere

उर्दू

अब्दुररहमान — मुक़द्दमये तारीख़े इब्ने ख़लदून (लाहौर)

अहमद हुसेन इलाहाबादी — तरजुमये तारीख़े अल्लामा इब्ने ख़लदून (इलाहाबाद)

साद हसन खां यूसुफ़ी — मुक़द्दमये इब्ने ख़लदून

फ़ारसी

सईद नफ़ीसी — इब्ने ख़दूलन फ़रहंग नामये पारसी (तेहरान १९५० ई०)

अंग्रेजी

वाल्टर जे फ़िशेल की सूची पर आधारित

Alatas, Husein:—"Objectivity and the Writing of History; The Conceptions of History by Al-Ghazali, Ibn Khaldun. ....," *The Islamic Review* (Woking) XLII (1954)

Arendonk, Cornelis Van:—"Ibn Khaldun" in *Encyclopaedia of Islam* (q.v.) Cf. *Supplement.*

Arnold, Sir Thomas Walker:—*The Caliphate.* Oxford, 1924.

Barnes, Harry Elmer:—"Sociology before Comte," *American journal of Sociology* (Chicago), XXIII, No. 2 (Sept. 1917).

Do *A History of Historical Writing.* Norman (Okla.) 1937.

Barnes, Harry Elmer and Becker, Howard:—*Social Thought from Lore to Science.* 2d ed. Washington, 1952. 2 vols.

Bel, Alfred:—"Ibn Khaldun" in *Encyclopaedia of Islam* (q.v.).

Boer, Tjitze J. De:—*The History of Philosophy in Islam.* London, 1903.

Bosch, Kheirallah G.:—"Ibn Khaldun on Evolution," *The Islamic Review* (Woking), XXXVIII (1950).

Brockelmann, Carl:—*History of the Islamic Peoples.* New York, 1947.

Browne, Edward Granville:—*A Literary Hisory of Persia.* London and Cambridge, 1902-1924. 4 vols.

Bukhsh, Salahuddin Khuda:—"Ibn Khaldun and his History of Islamic Civilization," *Islamic Culture* (Hyderabad), 1. (1927).

Do tr. *Contributions to the History of Islamic Civilization* Calcutta, 1929-1930. 2 vols.

Cook, Stanley Arthur:—"The Semites: The Writing of History" in *The Cambridge Ancient History*. Cambridge University Press: New York, 1923-1951. 12 vols.

Darbishire, Robert S.:—"The Philosophical Rapprochement of Christendom and Islam in Accordance with Ibn Khaldun's Scientific Criticism," *The Moslem World* (Hartford), XXX (1940),

Donaldson, Dwight M.:—"The Shiah Doctrine of the Imamate," *The Moslem World* (Hartford), XXI (1931).

Enan, Muhammad Abdullah:—*Ibn Khaldun: His Life and Work*. Lahore, 1941; reprinted 1944; 2d ed., 1946.

Farrukh, Umar:—*The Arab Genius in Science and Philosophy*. The American Council of Learned Societies: Near East Translation Program, Publication 10. Tr. John B. Hardie. Washington, 1954.

Fischel, Walter Joseph:—*Ibn Khaldun and Tamerlane: Their Historic Meeting in Damascus*, A.D. 1401 (803 A.H.), A study based on Arabic Manuscripts of Ibn Khaldun's "Autobiography," with a translation into English, and a commentary, Berkeley and Los Angeles, 1952.

Do "The Biography of Ibn Khaldun" in *Year Book: The American Philosophical Society*: 1953. Philadelphia, 1954.

Do "Ibn Khaldun's Use of Jewish and Christian Sources" in *Proceedings of the 23rd International Congress of Orientalists*. Cambridge, 1954.

Do "Ibn Khaldun and Josippon" in *Homenaje a Millas-Vallicrosa*. Barcelona, 1954-1956. 2 vols.

Fischel, Walter Joseph:—"Ibn Khaldun's 'Autobiography' in the Light of External Arabic Sources" in *Studi Orientalistici in onore di Giorgio Levi Della Vida.* Rome, 1956. 2 vols.

Do "Ibn Khaldun's Sources for the History of Jenghiz Khan and the Tatars," *Journal of the American Oriental Society* (Baltimore), XXVI (1956).

Do "Ibn Khaldun: On the Bible, Judaism and Jews' in *Ignace Goldziher Memorial Volume.* Budapest, 1948; Jerusalem, 1956.

Do "A New Latin Source on Tamerlane's Conquest of Damascus (1400-1401): B. de Mignanelli's *Vita Tamerlani* (1416), Translated into English with an Introduction and a Commentary," Oriens (Leiden), IX (1956).

Do "Ibn Khaldun's Contribution to Comparative Religion" in *University of California publications in Semitic Philology* (Berkeley and Los Angeles).

Flint, Robert:—*History of the Philosophy of History in France, Belgium, and Switzerland.* Edinburgh, 1893.

Gibb, Hamilton Alexander Rosskeen:—*Arabic Literature.* Oxford, 1926.

Do "The Islamic Background of Ibn Khaldun's Political Theory," *Bulletin of the School of Oriental Studies* (London), VII (1933-1935).

Do "Tarikh" in *Encyclopaedia of Islam* (q.v.) 4. Supplement, pp. 233–45.

Do *Modern Trends in Islam.* Chicago 1947.

Goitein, Solomon Dob Fritz, "An Arab on Arabs: Ibn Khaldun's Views on the Arab Nation," *The New East, Quarterly of the Israel Oriental Society* (Jerusalem), I (1950).

Graberg Af Hemso, Jakob Grefve:—"An Account of the Great Historical Work of the African Philosopher Ibn Khaldun," *Transactions of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland* (London), III (1835).

Guillaume, Alfred:—"Arabian Views on Prophecy (Ibn Khaldun)" in *Prophecy and Divination among the Hebrews and Othor Semites*. The Bampton Lectures. New York, 1938.

Do and Arnold, Sir Thomas Walker, eds:—*The Legacy of Islam*. Oxford, 1931.

Hitti, Philip Khuri:—*History of the Arabs*, London and New York, 1951.

Iqbal, Sir Mohammad:—*The Reconstruction of Religious Thought in Islam*. Oxford, 1934.

Issawi, Charles:—tr. *An Arab Philosophy of History: Selections from the Prolegomena of Ibn Khaldun of Tunis* (1332-1406). The Wisdom of the East Series. London 1950.

Do "Arab Geography and the Circumnavigation of Africa," *Osiris* (Bruges), X (1952).

Levy, Reuben.:—*An Introduction to the Sociology of Islam*. London, 1931-1933. 2 vols.

Do *The Social Structure of Islam*. Cambridge University Press, 1957.

Lewis, Bernard:—*The Arabs in History*. London, 1950.

Macdonald, Duncan Black:—*Ibn Khaldun: A Selection from the Prolegomena of Ibn Khaldun. With Notes and an English-German Glossary*. Semitic Study Series, iv. Leiden, 1905; reprinted 1948.

Do *Aspects of Islam*. New York, 1911.

Do *The Religious Attitude and Life in Islam.* 2d ed. Chicago, 1912.

Do "Kalam" and "al-Mahdi" in *Encyclopaedia of Islam* (q.v.)

Mahdi, Muhsin:—*Ibn Khaldun's Philosophy of History:—A Study in the Philosophic Foundation of the Science of Culture.* London, 1957.

Maqqari, Ahmad B. Muhammad Al:—*The History of the Mohammedan Dynasties in Spain......*Tr. Pascual de Gayangos. London, 1840-1843. 2 vols.

Margoliouth, David Samuel:—*Lectures on Arabic Historians.* Calcutta. 1930.

Nashaat, Mohammad Ali:—"Ibn Khaldun, Pioneer Economist," *L'Egypte contemporaine* (Cairo), XXXV (1945).

Do *The Economic Ideas in the Prolegomena of Ibn Khaldun.* Cairo, 1944.

Nicholson, Reynold Alleyne:—*Translations of Eastern Poetry and Prose.* Cambridge, 1922.

Do *A Literary History of the Arabs.* London, 1923.

Prakash, Buddha:-"Ibn Khaldun's Philosophy of History," *Islamic Culture* (Hyderabad), XXVIII (1954), XXIX (1955).

Qadir, Abd Al:—"The Social and Political Ideas of Ibn Khaldun," *The Indian Journal of Political Science* (Allahabad), III (1941).

Do "The Economic Ideas of Ibn Khaldun," *Ibid.*, XXII (1942).

Ritter, Hellmut:—"Irrational Solidarity Groups: A Socio-Psychological Study in connection with Ibn Khaldun," *Oriens* (Leiden), I (1948).

Riza Hamid:—"Ibn Khaldun, the Philosopher of History," *Islamic Review* (Woking), XXVI (1938).

Rosenthal, Erwin Isak Jakob:—"Ibn Khaldun: A North African Muslim Thinker of the 14th Century," *Bulletin of the John Rylands Library* (Manchester), XXIV (1940).

Do "Some Aspects of Islamic Political Thought," *Islamic Culture* (Hyderabad), XXII (1948).

Rosenthal, Franz:—*The Technique and Approach of Muslim Scholarship.* Analecta Orientalia, 24, Rome, 1947.

Do *A History of Muslim Historiography*. Leiden. 1952.

Do *Ibn Khaldun: The Muqaddimah; An Introduction to History.* New York (Bollingen Series XLIII) London, 1958. 3 vols.

Sarton, George Alfred Leon:—*Introduction to the History of Science.* Carnegie Institution of Washington. Baltimore, 1927-1948. 3 vols.

Schmidt, Nathaniel:—"The Manuscripts of Ibn Khaldun," *Journal of the American Oriental Society* (Baltimore), XLVI (1926).

Do "Ibn Khaldun" in *The New International Encyclopaedia.* 2d. ed. New York, 1925. 25 vols.

Do *Ibn Khaldun: Historian, Sociologist and Philosopher.* New York, 1930.

Do "Ibn Khaldun and His Prolegomena," *The Moslem World* (Hartford), XXII (1932).

Sherwani, Haroon Khan:—"*Political Theories of Certain Early Islamic Writers,*" The Indian Journal of Political Science (Allahabad), III (1942).

Do *Studies in Muslim Political Thought and Administration* Lahore, 1945.

Do "The Genesis and Progress of Muslim Socio-Political Thought," *Islamic Culture* (Hyderabad), XXVII (1953)

Syrier, Miya:—"Ibn Khaldun and Islamic Mysticism," *Islamic Culture* (Hyderabad), XXI (1947).

Toynbee, Arnold Joseph:—"The Relativity of Ibn Khaldun's Historical Thought" in *A Study of History*. London, 1934-1954. 10 vols.

नामानुक्रमणिका